[हिन्द]ी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान मासिक मुखपत्र

[अं]क ७ ] आश्विन, संवत् २०१२ : : अक्टूबर, सन् १९५५ ई० [ वार्षिक ७) : एक प्रति

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सहकारी

श्रीरञ्जन सूरिदेव



सम्पादकीय

श्री जगदीश पाण्डेय ९ उदात्त की भावना

श्री परशुराम चतुर्वेदी १५ संत कवियों के प्रेमाख्यान

श्री अगरचंद नाहटा २१ जैनागमों की वर्णनात्मक शैली

श्री कार्तिकनाथ मिश्र ३० हिन्दी लिपि

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य ३७ सांख्य-दर्शन में ईश्वर की सत्ता

श्री जयशंकर त्रिपाठी शास्त्री ५० शिवपुराण में जैन धर्म की चर्चा

डा० कन्हैयालाल सहल ५७ विदेशी कहावतों का इतिहास

श्री परमानन्द पाण्डेय ६२ कवि कुसलसिंघ-कृत रामरत्नगीता

श्री गोविन्द झा ६८ अन्तःथ य् और व्

डा० देवसहाय त्रिवेद ७२ भारतीय पञ्चाङ्ग

संकलन : समीक्षा

## सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

सभापति—श्री देवव्रत शास्त्री ( नवराष्ट्र-संपादक ), उपसभापति—पं० श्री छविनाथ पाण्डेय, श्री श्यामनन्दन सहाय ( कुलपति, बिहार-विश्वविद्यालय ); प्रधानमन्त्री—श्री व्रजशङ्कर वर्मा ( योगी-सम्पादक ); अर्थमन्त्री—श्री उमानाथ, एम्० ए० ( उपनिर्देशक, जन-संपर्क-विभाग); साहित्य-मन्त्री—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; प्रचार-मन्त्री श्री रामदयाल पाण्डेय, ( भूतपूर्व पाटल-संपादक ); प्रबन्ध-मन्त्री—श्री बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल ( प्रबन्धक, हिन्दुस्थान-समाचार-एजेंसी ); कला-मन्त्री—श्री व्रजनन्दन आजाद ( संयुक्त संपादक, इण्डियन नेशन ); पुस्तकालय-मन्त्री—कवि श्री आरसी प्रसाद सिंह। सदस्य—सर्वश्री शिवपूजन सहाय; प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम्० एल्० सी०; लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम्० एल्० ए० ( अवन्तिका-सम्पादक ); रामवृक्ष बेनीपुरी ( नई धारा-सम्पादक ); कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर', एम्० पी०; श्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार ( आर्यावर्त्त-सम्पादक ); गंगाशरण सिंह; मुकुटधारी सिंह, ( युगान्तर-सम्पादक, झरिया ); राधाकृष्ण ( नाटक-निर्माता, आकाशवाणी, पटना ), प्रिंसिपल कपिल ( मुँगेर-कालेज ); नीतीश्वरप्रसाद सिंह, एम्० एल्० ए० ( हृद्-संघ, मुजफ्फरपुर ); डा० गयाप्रसाद; डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, (प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कालेज, भागलपुर) शम्भुनाथ बलियासे 'मुकुल' (प्रकाश-सम्पादक, देवघर) प्रो० यमुना वर्मा, एम्० ए०।

### 'साहित्य' के नवीन संस्करण की पूरी फाइल

'साहित्य' के विगत पाँच वर्षों के दुर्लभ अंकों की कुछ फाइलें प्राप्य हैं। विद्वानों ने शोध और साहित्यालोचन के क्षेत्रों में इन अंकों को प्रतिष्ठा का अधिकारी माना है। विद्यानुरागी सज्जन तथा स्थायी साहित्य के संग्रहालय एवं पुस्तकालय इन फाइलों को 'साहित्य'-व्यवस्थापक से पत्र-व्यवहार कर मँगा सकते हैं।

एक वर्ष के चार अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ७) रुपये। डाकखर्च अलग।
पाँच वर्ष के बीस अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ३५) रुपये। डाकखर्च अलग।

### 'साहित्य' के प्राचीन संस्करण की फुटकर फाइल

'साहित्य' के पुराने संस्करण की कुछ प्रतियाँ बच गई हैं, जिनमें से प्रत्येक प्रति का मूल्य आठ आना है। यद्यपि वे प्रतियाँ दुर्लभ हैं, तथापि साहित्य-प्रचार की दृष्टि से उनका वही मूल्य लिया जायगा, जो उस समय था। सम्मेलन ने पुराने या नये संस्करण के अंकों का मूल्य इसलिए नहीं बढ़ाया है कि उनका उद्देश्य केवल साहित्य का अधिकाधिक प्रचार ही है। पुराने और नये संस्करण के अंक विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तर वर्ग के विद्यार्थियों और साहित्यिक शोध करनेवाले अनुसंधायकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और लाभदायक हैं।

—'साहित्य'-व्यवस्थापक, सम्मेलन-भवन, पटना-३
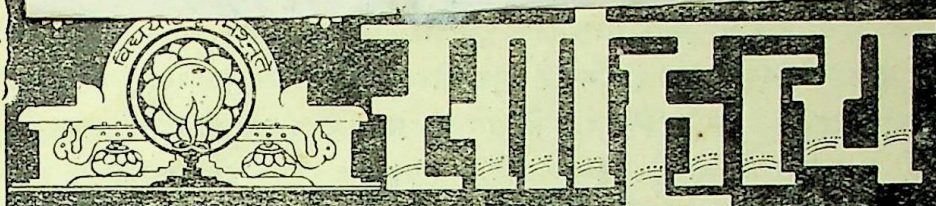
★ बिहार हिन्दी साहित्य सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान मासिक मुखपत्र ★

वर्ष ६ ] आश्विन, संवत् २०१२ : अक्टूबर, सन् १९५५ ई० [ अंक ७

सम्पादक—शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

# सम्पादकीय

## लेखक-पाठक-प्रकाशक

हिन्दी में लेखक बहुत अधिक हैं; पाठक और प्रकाशक बहुत कम हैं। यह एक विचारणीय समस्या है। लेखकों और कवियों की असंख्य रचनाएँ अप्रकाशित पड़ी हैं, प्रकाशक नहीं मिलते, प्रकाशक को पाठक नहीं मिलते। सम्भव है, अधिकांश रचनाएँ निम्नकोटि की हों, पर कुछ जो उच्च कोटि की हैं वे भी अप्रकाशित पड़ी हैं। प्रकाशक कभी प्रतिभा को परखते नहीं और न मेधावी को ढूँढ़ते हैं। लेखक और कवि ही प्रकाशक ढूँढ़ते फिरते हैं। प्रकाशक केवल यशोधनों को ही अपनाते हैं, उदीयमानों पर विशेष ध्यान नहीं देते। किन्तु, यशोधन भी तभी अपनाये जाते हैं जब प्रकाशक का दरवाजा खटखटाते हैं। उदीयमान से तो प्रकाशक आजीवन कृतज्ञता की आशा करता है। प्रकाशक 'दावा' करता है कि वह यदि 'कृपा' न करता तो 'बेचारा' उदीयमान 'कभी' प्रकाश में न आता। प्रकाशक की मर्जी पर लेखक की जिन्दगी है!

लेन-देन में सचाई का व्यवहार करनेवाले प्रकाशक 'कनिष्ठिकाधिष्ठित' हैं। लेखकों में भी कुछ ऐसे हैं जो दूध के धुले नहीं हैं। पर, साहित्य की प्रगति में बाधा पड़ने का मुख्य कारण है समर्थ और दूरदर्शी प्रकाशकों की कमी। जो प्रकाशक सचमुच समर्थ हैं वे विशेषतः बाजार का रुख देखते रहते हैं, साहित्य के अभावों की पूर्त्ति पर बहुत कम ध्यान देते हैं। साहित्य की आवश्यकताओं पर दृष्टि रखनेवाले प्रकाशकों का अभाव-सा है, इसी कारण वैसे लेखकों का भी अभाव है। युग की माँग पूरी करनेवाले सुयोग्य लेखकों की खोज करके उन्हें उपयुक्त काम में नियोजित करने की चिन्ता से प्रकाशक मुक्त हैं। लेखकों की बेकारी का कारण यह भी है।

पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने का व्यसन अभी जनता में नहीं पैदा हुआ है। घरेलू खर्च के बजट में पुस्तकों और पत्रिकाओं को शायद ही कहीं जगह मिलती है। इनका प्रवेश

या समावेश अभी तक जीवन की आवश्यकताओं में नहीं हुआ है। हिन्दी-जगत् के पाठकों में क्रयशक्ति की कमी नहीं है, कमी है केवल साहित्यानुराग की। कवि-कण्ठ-काकली सुननेवाले असंख्य हैं, पर कवि की पुस्तक खरीदनेवाले मुट्ठी-भर हैं। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों में भी भाषा और साहित्य के श्रद्धालु भक्त इने-गिने हैं। मुफ्तखोर पाठकों की बाढ़ हर तरफ है। प्रकाशकों की यही शिकायत है कि हिन्दी-क्षेत्र के विस्तार की तुलना में पाठकों की संख्या नगण्य है। हिन्दी में, पाठकों की ओर से, पुस्तकों की माँग बढ़ने पर ही प्रकाशक उत्साहित हो सकते हैं। प्रकाशकों को प्रोत्साहन मिलेगा तो लेखकों के भी सुदिन बहुरेंगे। हिन्दीभाषियों की विराट् संख्या के अनुपात में हिन्दी-पाठकों की संख्या तो कम है ही, उच्च स्तर का साहित्य पढ़नेवाले उच्च श्रेणी के पाठक भी बहुत कम हैं। हिन्दी-क्षेत्र के धनी-मानी सज्जन हिन्दी-पुस्तकें और हिन्दी-पत्र-पत्रिकाएँ बहुत कम खरीदते तथा पढ़ते हैं। यही हाल उस क्षेत्र के उच्च शिक्षाप्राप्त महानुभावों का भी है।

भारत की प्रमुख प्रादेशिक भाषाओं की स्थिति हिन्दी से अच्छी जान पड़ती है। उन भाषाओं में पाठकों की संख्या हिन्दी की अपेक्षा बहुत अधिक है। यहाँ तक कि उर्दू में भी अच्छे लेखकों की प्रतिष्ठा हिन्दी से अधिक है। उर्दू में अपेक्षाकृत अधिक पाठक भी हैं। बँगला, मराठी आदि की तो बात ही क्या। प्रेस-कमीशन की रिपोर्ट से यह रहस्य प्रकट हो गया है।

हिन्दी के जो लेखक स्वयं प्रकाशक बन गये हैं, वे संकटग्रस्त हैं। उन्हें ईमानदार पुस्तक-विक्रेता बहुत कम मिलते हैं। लेखक स्वयं अपनी पुस्तक छापकर या किसी प्रकाशक द्वारा प्रकाशित कराकर उसकी बिक्री या रायल्टी के पैसे निश्चिन्तता से पाता रहे, ऐसी सुव्यवस्था बहुत ही कम जगहों में देखने में आती है। कठिनाइयाँ भी चिन्तनीय हैं।

संघबद्ध होकर अन्य व्यवसाय करने की प्रवृत्ति तो समाज में है; पर पुस्तक-पत्र-प्रकाशन का व्यवसाय अधिकतर व्यक्तिगत रूप में ही होता है। प्रकाशन-कम्पनियाँ बहुत बड़े पैमाने पर संघटित और संचालित हों तथा उनमें पर्याप्त धनराशि लगाकर सुप्रबन्ध किया जाय, तो राष्ट्रभाषा के गौरवानुकूल प्रकाशन-कार्य हो सकता है। संघशक्ति के अभाव में दुटपुँजिया लोगों से अब काम न सरेगा। पूँजीपति की मनोवृत्ति के लोग प्रकाशन-क्षेत्र में अवतीर्ण होकर भी साहित्य का अभीष्ट हित-साधन नहीं कर सकते। ये समस्याएँ चिन्त्य और जटिल हैं। इनपर विस्तार से निरन्तर विचार होना चाहिए। —शिव०

## एक दक्षिणी हिन्दी-लेखक का शुभ प्रयास

आन्ध्र-राज्य की राजधानी ( कुरनूल ) के एक साहित्यिक नागरिक श्रीबालशौरि रेड्डी ने 'पंचामृत' नामक एक पुस्तक लिखी है। वह हैदराबाद ( दक्षिण ) की हिन्दी-प्रचारक सभा से प्रकाशित हुई है। आन्ध्र-हिन्दी-परिषद् की प्रेरणा से वह रची गई है। उसमें तेलुगु भाषा के पाँच प्राचीन प्रतिनिधि कवियों का संक्षिप्त परिचय तथा उनकी कुछ उत्कृष्ट रचनाओं का हिन्दी-अनुवाद-सहित संकलन है। तेलुगु-भाषी श्री रेड्डी महोदय हिन्दी के भी विद्वान् हैं।

उनका हिन्दी-अनुवाद सुबोध और सरस है। मूल कविताएँ देवनागरी-अक्षरों में छपी हैं और साथ-साथ गद्यानुवाद भी है। अनुवाद की सुगमता से मूल रचना का जो भाव हृदयंगम होता है वह बड़ा मधुर और हृदयग्राही है। पुस्तक पढ़ने पर उत्तर और दक्षिण-भारत के साहित्य में सांस्कृतिक एकता परिलक्षित होती है।

पुस्तक के आरम्भिक चालीस पृष्ठों में विद्वान् अनुवादक ने तेलुगु भाषा के साहित्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। पुस्तक के अन्त में तेलुगु-हिन्दी-पर्याय-शब्दार्थ-कोष रहने से तुलनात्मक अध्ययन का भी कुछ आनन्द मिल जाता है। चुनी हुई पुरानी तेलुगु-कविताओं के मनोहर भाव सरल हिन्दी-गद्य में पढ़कर मन यह चाहता है कि पाँच पुराने प्रमुख हिन्दी-कवियों की उत्तमोत्तम रचनाओं का तेलुगु-अनुवाद भी प्रकाशित किया जाता तो बड़ा अच्छा होता। इतना ही नहीं, दक्षिण की मुख्य साहित्यिक भाषाओं में से ऐसे हिन्दी-ग्रन्थों का प्रामाणिक अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए, जिनसे उत्तर-दक्षिण-भारत के सांस्कृतिक समन्वय का आधार पुष्ट हो।

सुनने में आया है कि भारत-सरकार हिन्दी के कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद प्रमुख भारतीय भाषाओं में करा रही है। अखिल भारतीय और प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों तथा नागरी-प्रचारिणी सभा-जैसी समर्थ संस्थाओं को भी इस दिशा में अग्रसर होना चाहिए। हिन्दी-संसार में अब इस तरह का साहित्यिक आदान-प्रदान होने लगा है। दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार सभा का मुखपत्र 'दक्षिण भारत' इस क्षेत्र में विशेष सजग है। 'कल्पना', 'अजन्ता' पत्रिकाओं से भी इस विषय में आलोक मिलता रहता है। अन्यान्य हिन्दी-पत्रिकाएँ भी हिन्दीतर भाषाओं की साहित्यिक प्रगति से हिन्दी-पाठकों को परिचित कराती रहती हैं। किन्तु, स्वतंत्र पुस्तक के रूप में हिन्दीतर भाषाओं के श्रेष्ठ साहित्य का हिन्दी-अनुवाद और उच्चकोटि की हिन्दी-पुस्तकों का अन्य भारतीय भाषाओं में अनुवाद यथेष्ट रीति से नहीं हो रहा है, जिसकी इस समय नितान्त अपेक्षा है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् को गोस्वामी तुलसीदासकृत 'रामचरितमानस' का बँगला-भाषा में पद्यानुवाद प्रकाशनार्थ प्राप्त हुआ है। पुरुलिया-(मानभूमि)-निवासी श्रीमदनमोहन चौधरी ने बड़ी सफलता से समश्लोकी बंगानुवाद किया है—बाँयें-दाँयें मूल—अनुवाद साथ-साथ हैं (जैसा दिल्ली के हिन्दुस्तान टाइम्स प्रेस ने रामचरित मानस का ही अँगरेजी-पद्यानुवाद प्रकाशित किया है)। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की ओर से तमिलप्रबन्धम्, तेलुगु की 'द्विपाद-रामायण', तमिल की 'कम्ब-रामायण', कन्नड़ की 'पम्प-रामायण' और मलयलम् के 'रामचरित' का हिन्दी-अनुवाद कराने का भी प्रयत्न हो रहा है। आशा है कि निकट भविष्य में हिन्दी के अनेक प्रभावशाली ग्रन्थ अन्य भारतीय भाषाओं में भी अनूदित हो जायँगे, जिससे उत्तर-दक्षिण की राष्ट्रीय एकता का सूत्र दृढ़ होगा। —शिव०

## श्रीरामचन्द्र वर्मा की 'शब्द-साधना'

आजकल भाषा की शुद्धता और शैली की सुन्दरता पर बहुत कम लोग ध्यान देते

हैं। शब्दों के भाव, अर्थ और प्रयोग का यथार्थ ज्ञान हुए बिना न भाषा शुद्ध हो सकती है, न शैली सुन्दर। वर्तमान समय में शब्दों के वास्तविक अर्थ और उनके उपयुक्त प्रयोग पर विचार करने का अवकाश बहुत कम सज्जनों को है। पहले के प्रमुख साहित्यिकों का यही व्यसन था। शब्दों के अर्थ और प्रयोग पर विचार करते रहने का अभ्यास उनका स्वभाव-सा बन गया था। वैसे हिन्दी-भक्त साहित्यकारों में अब काशी-निवासी श्रीरामचन्द्र वर्मा ही शेष दृष्टिगोचर होते हैं।

हिन्दी के सौभाग्य से अब एकमात्र वर्मा जी ही काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा के 'बृहत् हिन्दी-शब्द-सागर' के स्वनामधन्य सम्पादकों में से बच रहे हैं। शब्द-ब्रह्म की अनवरत उपासना में ही उनके जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता है। लगभग पचास वर्षों से वे भाषा की प्रकृति और शैली की सुबोधता पर गहन विचार करते आ रहे हैं। संक्षिप्त हिन्दी-शब्द-सागर, प्रामाणिक हिन्दीकोष, अच्छी हिन्दी, हिन्दी-प्रयोग आदि महत्त्वपूर्ण पुस्तकें रचकर उन्होंने ही शब्दों की आत्मा और भाषा के शुद्ध रूप की परख तथा शैली के परिष्कार की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया। वृद्धावस्था में दृष्टि-शक्ति क्षीण होने पर भी वे निरन्तर हिन्दी भाषा के सुधारने-सँवारने में ही तन्मय रहा करते हैं। उनकी चिरस्मरणीय सेवाओं की ओर हिन्दी-संसार और सरकार को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

इधर वर्मा जी की एक नई पुस्तक प्रकाशित हुई है—'शब्द-साधना'। यह पुस्तक हिन्दी के विचारशील विद्वानों को एक नवीन दिशा में सोचने-समझने की प्रेरणा देती है। इसकी विश्लेषणात्मक शैली में उनकी सूक्ष्मदर्शिता ध्यान देने योग्य है। हिन्दी के समभावात्मक एवं पर्यायवाची शब्दों के प्रकृत अर्थ तथा सार्थक प्रयोग में कहाँ कितना अन्तर होता है, इसका उन्होंने बड़े विशद ढंग से विवेचन किया है। विश्वास है कि भाषा-सम्बन्धी अराजकता के इस युग में यह पुस्तक अभय वरदान सिद्ध होगी।

इस पुस्तक का प्रवेश और प्रचार सभी शिक्षण-संस्थाओं में अनिवार्य रूप से होना अत्यावश्यक है। अध्यापकों और विद्यार्थियों को इसका अध्ययन-मनन करके इसकी उद्भावनाओं एवं मान्यताओं पर मनोयोगपूर्वक विचार करना चाहिए। इसके अन्त के इकतालीस पृष्ठों में जो दोहरी ( हिन्दी-अँगरेजी और अँगरेजी-हिन्दी ) अनुक्रमणिका है उससे सरकारी दफ्तरों तथा अनुवाद-विभागों में इसकी विशेष उपयोगिता प्रमाणित होगी। हिन्दी शब्दों के अर्थ और प्रयोग के सम्बन्ध में सम्प्रति जो भ्रम-सन्देह फैल रहा है उसका निवारण तथा भाषा-विशारदों को विचारमग्न करने में यह पुस्तक बहुत दूर तक समर्थ हो सकती है। भाषा-विषयक भ्रान्ति और अनिश्चितता दूर करने के लिए वर्मा जी ने जो इतनी बड़ी पुस्तक लिखकर हिन्दी-हित-साधन का प्रयत्न किया है उसके निमित्त साहित्य-संसार के शब्द-शिल्पियों की ओर से हम उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

—शिव०

## शब्द-साधना

शब्द-साधना की कोटि से ही किसी भाषा के स्तर का निर्धारण किया जा सकता है।

हिंदी के ऐसे लेखक जो शब्द-शिल्पी तो कहलाना पसंद करते हैं, पर शब्द-साधना को बाल की खाल निकालना वगैरह कह कर हँसी में उड़ा देना चाहते हैं, धड़ल्ले से भिज्ञ, स्तित्व, स्रष्टा और स्थायीत्व के प्रयोग द्वारा अपने शिल्प के स्तर का परिचय दे रहे हैं। हिंदी का क्षेत्र बहुत विस्तृत है, हिंदी की कृतियों की माँग पूर्ति से अधिक होती जा रही है, फलतः साक्षर-मात्र भी लेखक बन जाते हैं, और इतना ही क्यों, अपनी कृतियाँ खपाने में भी सफल हो जाते हैं। उनकी दृष्टि में उनकी कृतियों का खप जाना उनकी उत्कृष्टता का असंदिग्ध प्रमाण होता है। ऐसे लेखकों को जब आलोचकों से प्रशंसा नहीं मिलती तब ये उनका मखौल कर संतोष प्राप्त करते हैं। बाहुल्य और त्वरा के इस युग में यह सब शायद होता ही है। स्व० महावीरप्रसाद द्विवेदी आज होते भी तो क्या रोक-थाम कर पाते!

अज्ञान और असावधानी के कारण दुष्प्रयुक्त शब्द तभी तक चल सकते हैं जब तक पाठक-वर्ग भी अधिकांशतः साक्षरमात्र है। पाठक-वर्ग की रुचि थोड़ी भी परिमार्जित हो जाने पर साक्षरता लेखक की पर्याप्त योग्यता नहीं रह जाती। किंतु, कभी-कभी सुशिक्षित लेखक जब समाज की अपरिचित श्रेणियों में प्रचलित शब्दों का व्यवहार कर यथार्थता का आभास देना चाहते हैं तो स्थिति हास्यास्पद हो जाती है। हिंदी के एक बहुज्ञ और बहुश्रुत कवि ने अपनी हाल में छपी एक पुस्तक की पहली कविता में 'मचिया' शब्द का प्रयोग किया है—कुटिया के अर्थ में! ऐसे लेखक भी होते ही हैं जो कुछ भी दूसरों के लिए छोड़ना नहीं चाहते। इस लेखक ने, शायद एक शब्द के प्रयोग से ही, आंचलिक शैली पर भी अपना अधिकार सिद्ध करना चाहा है! शब्द-साधना में अज्ञान बाधक होता है तो शब्द-लोभ खतरनाक!

और जब साक्षर लेखक संपादक बन बैठते हैं तब तो वस्तु-स्थिति नितांत चित्य बन जाती है। एक पत्रिका में, जो कभी शब्द-साधना का गुरु-मंत्र देने के लिए प्रसिद्ध थी, उसके वर्त्तमान संपादक ने पहले पृष्ठ से शुरु होनेवाली अपनी टिप्पणियों में एक बार नहीं बार-बार 'पूँछना' का प्रयोग किया है। हम इस पत्रिका के अंक-विशेष को उसमें प्रकाशित एक लेख के सिलसिले में देख रहे थे, जिसमें शैली के लिए गलत या सही प्रसिद्धि पा चुके हुए एक लेखक की भाषा-संबंधी त्रुटियों की प्रशंसनीय आलोचना थी!

छोटे बच्चों के लिए प्रकाशित होनेवाली पत्रिकाओं के लिए, भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ होने पर, कठोरतम दंड की व्यवस्था होनी चाहिए। हिंदी की सब से अधिक बिकनेवाली ऐसी पत्रिकाओं में से एक तो ऐसी है, जिस पर 'हारर कामिक्स' वाला सरकारी प्रतिबंध लगना उचित होगा—उसके विषय या चित्र न सही, पर अशुद्ध शब्द उसे भयानक बना देते हैं! हम अपने उस सहयोगी का अभिनंदन करते हैं जिसने ऐसी अशुद्धियों के निर्देश के लिए एक स्तंभ ही आयोजित किया है।

—न० वि० श०

## हिंदी का टंकन-यंत्र

हम 'साहित्य' के प्रस्तुत अंक में नागरी लिपि के सुधार की एक नवीन परि-

कल्पना प्रकाशित कर रहे हैं। हम कबूल करते हैं कि हम ऐसी परिकल्पनाओं में रुचि रखते हैं। किंतु, हमारा सुनिश्चित सिद्धांत है कि नागरी के वर्त्तमान रूप में केवल ऐसे ही परिवर्त्तन ग्राह्य हो सकते हैं, जिनसे परिचित रूप में विशेष अंतर न पड़े। कुछ दिनों पहले तक लिपि को टंकन तथा मुद्रण-यंत्रों के अनुरूप बनाने के निमित्त परिवर्त्तन को अनिवार्य बताया जाता था। परन्तु, जिन यंत्रों के नाम पर लिपि-विशारद और वैज्ञानिक नागरी का व्यवहार करनेवालों को परिवर्त्तन स्वीकार करने के लिए बाध्य करना चाहते थे, उनके निर्माताओं ने इन्हीं विशेषज्ञों की सहायता से, यंत्रों की बहुत बड़ी माँग की संभावना देखते ही, ऐसे टंकन और मुद्रण-यंत्रों से बाजार को पाट दिया जिनमें लिपि अपरिवर्त्तित बनी रही, उन यंत्रों में भले ही कुछ गौण परिवर्त्तन कर लिये गये हों।

जब मुद्रण-यंत्रों के लिए लिपि में परिवर्त्तन की कोई आवश्यकता न रह गई तो राज्य-विशेष की सरकार ने एक व्यय और समय-साध्य समिति नियुक्त कर कुछ सर्वथा अवांछनीय परिवर्त्तनों पर अपनी मुहर लगा दी! अन्य राज्यों ने इन्हें अस्वीकृत कर विवेकशीलता का ही परिचय दिया।

अब भारत-सरकार ने हिंदी टंकन-यंत्र के तालिका-पट्ट का नया रूप प्रस्तावित किया है। वस्तुतः, यह निर्देशन बहुत पहले भारत-सरकार की ओर से मिलना चाहिए था। ऐसा होता तो अब तक अंतिम निश्चय हो गया रहता और अव्यवस्था और अनिश्चय का वातावरण नहीं रहता। अधिक खेदजनक बात यह है कि भारत-सरकार का सुझाव देर से भी आया और दुरुस्त भी नहीं है।

भारत-सरकार के प्रस्तावित पट्ट की सर्वत्र प्रतिकूल आलोचना हो रही है। इसकी अव्यावहारिकता और अपूर्णता का नीचे बहुत संक्षेप में उल्लेख है:

इसमें ख, घ, और थ के अर्ध रूप छोड़ दिये गये हैं जिसके फलस्वरूप मुख्य, विघ्न, स्वास्थ्य जैसे शब्द टंकित करने में हलंत के चिह्न के लिए एक अतिरिक्त आघात की आवश्यकता होगी जब कि कम से कम यंत्र-विशेष में अतिरिक्त आघात के बिना ही काम चलता है।

ख, घ और थ के अर्ध रूपों का अभाव भ्रष्ट है तो च, ध, भ, श के पूर्ण रूपों का अभाव भ्रष्टतर। चरखा, धीरे, भारत, शरीर जैसे बहु-व्यवहृत शब्दों के टंकन में भी ऊपर-वाली दिक्कत है।

दस तालिकाओं पर सर्वथा असमान वर्णों को एक दूसरे के ऊपर-नीचे रखकर टंकक की परेशानी बढ़ा दी गई है। ये असमान वर्ण हैं ठ-ए, घ-ङ, ड-अ, थ-ि, झ-र, ख-१, ज्ञ-ा, छ-ह, ढ-द, ट-य।

ये अनेक में से कुछ त्रुटियाँ हैं। हम नहीं कह सकते कि जब इन त्रुटियों से रहित हिंदी का टंकन-यंत्र बन चुका है और सफलतापूर्वक व्यवहृत भी हो रहा है तो उसे मान्यता प्रदान करने के बदले ऐसे पट्ट को क्यों प्रस्तावित और समर्थित किया गया है।

जिस आदर्श टंकन-यंत्र का उल्लेख हमने किया है उसके विलक्षण मेधावी आविष्कर्त्ता के संबंध में हम अपनी ओर से कुछ न कह कर श्री जगचंद्र विद्यालंकार के इन शब्दों को

कल्पना प्रकाशित कर रहे हैं। हम कबूल करते हैं कि हम ऐसी परिकल्पनाओं में रुचि रखते हैं। किंतु, हमारा सुनिश्चित सिद्धांत है कि नागरी के वर्तमान रूप में केवल ऐसे ही परिवर्तन ग्राह्य हो सकते हैं, जिनसे परिचित रूप में विशेष अंतर न पड़े। कुछ दिनों पहले तक लिपि को टंकन तथा मुद्रण-यंत्रों के अनुरूप बनाने के निमित्त परिवर्त्तन को अनिवार्य बताया जाता था। परन्तु, जिन यंत्रों के नाम पर लिपि-विशारद और वैज्ञानिक नागरी का व्यवहार करनेवालों को परिवर्त्तन स्वीकार करने के लिए बाध्य करना चाहते थे, उनके निर्माताओं ने इन्हीं विशेषज्ञों की सहायता से, यंत्रों की बहुत बड़ी माँग की संभावना देखते ही, ऐसे टंकन और मुद्रण-यंत्रों से बाजार को पाट दिया जिनमें लिपि अपरिवर्त्तित बनी रही, उन यंत्रों में भले ही कुछ गौण परिवर्त्तन कर लिये गये हों।

जब मुद्रण-यंत्रों के लिए लिपि में परिवर्त्तन की कोई आवश्यकता न रह गई तो राज्य-विशेष की सरकार ने एक व्यय और समय-साध्य समिति नियुक्त कर कुछ सर्वथा अवांछनीय परिवर्त्तनों पर अपनी मुहर लगा दी! अन्य राज्यों ने इन्हें अस्वीकृत कर विवेकशीलता का ही परिचय दिया।

अब भारत-सरकार ने हिंदी टंकन-यंत्र के तालिका-पट्ट का नया रूप प्रस्तावित किया है। वस्तुतः, यह निर्देशन बहुत पहले भारत-सरकार की ओर से मिलना चाहिए था। ऐसा होता तो अब तक अंतिम निश्चय हो गया रहता और अव्यवस्था और अनिश्चय का वातावरण नहीं रहता। अधिक खेदजनक बात यह है कि भारत-सरकार का सुझाव देर से भी आया और दुरुस्त भी नहीं है।

भारत-सरकार के प्रस्तावित पट्ट की सर्वत्र प्रतिकूल आलोचना हो रही है। उसकी अव्यावहारिकता और अपूर्णता का नीचे बहुत संक्षेप में उल्लेख है:

इसमें ख, घ, और थ के अर्ध रूप छोड़ दिये गये हैं जिसके फलस्वरूप मुख्य, विघ्न, स्वास्थ्य जैसे शब्द टंकित करने में हलंत के चिह्न के लिए एक अतिरिक्त आघात की आवश्यकता होगी जब कि कम से कम यंत्र-विशेष में अतिरिक्त आघात के बिना ही काम चलता है।

ख, घ और थ के अर्ध रूपों का अभाव भ्रष्ट है तो च, ध, भ, श के पूर्ण रूपों का अभाव भ्रष्टतर। चरखा, धीरे, भारत, शरीर जैसे बहु-व्यवहृत शब्दों के टंकन में भी ऊपर-वाली दिक्कत है।

दस तालिकाओं पर सर्वथा असमान वर्णों को एक दूसरे के ऊपर-नीचे रखकर टंकक की परेशानी बढ़ा दी गई है। ये असमान वर्ण हैं ठ-ए, घ-ड, ड-अ, थ-ि, झ-र, ख-१, ज्ञ-ा, छ-ह, ढ-द, ट-य।

ये अनेक में से कुछ त्रुटियाँ हैं। हम नहीं कह सकते कि जब इन त्रुटियों से रहित हिंदी का टंकन-यंत्र बन चुका है और सफलतापूर्वक व्यवहृत भी हो रहा है तो उसे मान्यता प्रदान करने के बदले ऐसे पट्ट को क्यों प्रस्तावित और समर्थित किया गया है।

जिस आदर्श टंकन-यंत्र का उल्लेख हमने किया है उसके विलक्षण मेधावी आविष्कर्त्ता के संबंध में हम अपनी ओर से कुछ न कह कर श्री जयचंद्र विद्यालंकार के इन शब्दों को

उद्धृत कर देना पर्याप्त समझते हैं—"बिहार के प्रो० कृपानाथ मिश्र ने कुछ समय से इस समस्या को सुलझाने की ओर ध्यान दिया है। हाल में मुझे उनकी पद्धति को देखने का अवसर मिला। श्री कृपानाथ मिश्र इस क्षेत्र में पराभूत मनोवृत्ति के साथ नहीं उतरे। आधुनिक यंत्रों के अनुसार भारतीय लिपि को तोड़ने-मरोड़ने का यत्न करने के बजाय उन्होंने आधुनिक यंत्रों को अपनी लिपि के अनुसार पलटा है। उनके कार्य ने इस दिशा में हुए अब तक के सभी प्रयत्नों को मात कर दिया है। उनकी जीत का एक प्रमाण यह है कि उनकी मात्रा टीपने की पद्धति को जर्मन लिपिवाले अपनी लिपि के विशेष चिह्नों के लिए अपनाने का यत्न कर रहे हैं।...भारत की अपनी विशेषता में गहरी आस्था को लिये हुए यंत्रों और पुर्जों के नये-नये रूप निकालनेवाली अपनी अनूठी प्रतिभा से श्री कृपानाथ मिश्र इस दिशा में बराबर आगे बढ़ रहे हैं। आशा है, उनकी कृति यह सिद्ध करेगी कि जिस भारत ने प्राचीन काल में ऊँचे विचारों और आदर्शों को जन्म दिया था वह आधुनिक जीवन के लिए आवश्यक यंत्रों को भी अपने उन विचारों और आदर्शों के साँचे ढाल सकता है।"

ये विचार सन् १९५२ ई० में व्यक्त किये गये थे। अब मिश्र-टंकन-यंत्र सर्वापेक्षया अधिक संतोषजनक यंत्र सिद्ध हो चुका है। उसमें एक ओर तो नागरी लिपि के समस्त आवश्यक संकेत सुरक्षित हैं और दूसरी ओर टंकक की सुविधा और मुद्रण की अधिकतम क्षिप्रता की व्यवस्था है। टंकन-यंत्र के किसी नये पट्ट को तभी विचार के योग्य माना जा सकता है जब वह मिश्र-पट्ट से उत्कृष्टतर हो। —न० वि० श०

## भारत-सरकार और हिंदी के पारिभाषिक शब्द

हिंदी में पारिभाषिक शब्दों के अनेक कोष तैयार हो गये हैं। उनमें से एक तो बहुत ही व्यापक, विशाल और प्रामाणिक है। उसके रहते हुए भी भारत-सरकार की ओर से विभिन्न विषयों के छोटे-मोटे हिंदी पारिभाषिक कोष तैयार कराये जा रहे हैं। पहली बात तो यह कि भारत-सरकार को यह काम बहुत पहले करना उचित था। दूसरी यह कि इतने विलंब से वह आरम्भ हुआ है तो उसे वर्त्तमान प्रयासों की अपेक्षा बहुत बड़े पैमाने पर होना चाहिए। किंतु, यह भी संतोष का ही विषय है कि इस कार्य की परिधि को सीमित रखा गया है, क्योंकि उसका जो रूप देखने को मिल रहा है वह जितना ही सीमित हो उतना ही अच्छा! जिन अनेक आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए और विषयों के शब्द रचे जा रहे हैं उनमें एक सैन्य-शब्दावली भी है। वह आंशिक रूप में पत्रों में प्रकाशित हो चुकी है, यद्यपि उस पर हमें उनमें से किसी के विचार पढ़ने को नहीं मिले।

हिंदी के पारिभाषिक शब्दों के निर्माण के जो सिद्धांत सरकार द्वारा स्वीकृत और घोषित हुए थे, उन्हें देखते हुए हम आश्वस्त थे। किंतु, व्यवहार में देखने को यह मिल रहा है कि क्रमशः आज से कुछ पहले की 'हिंदुस्तानी-शैली' को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास हो रहा है। भारत-सरकार के द्वारा प्रकाशित अन्य शब्दावलियों में इस प्रयास का बीजमात्र था। 'अकादमी' पर हो-हल्ला नहीं हुआ—शायद यह समझ कर कि एक शब्द की बात ठहरी!

हम हिंदी के विद्वानों और संपादकों से अनुरोध करेंगे कि वे ध्यानपूर्वक निम्नोक्त सैन्य-शब्दावली देखें और उसके विषय में अपनी सम्मति व्यक्त करें। सरलता के नाम पर पारिभाषिक शब्दावली को गरिमा को ही समाप्त करने का यह प्रयास सर्वथा प्रतिक्रियावादी है।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित इस शब्दावली के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं : स्टैंड ईजी—आराम से; आइज फ्रण्ट—सामने देख; नम्बर—गिनती कर; राइट आर लेफ्ट टर्न—दाहिने या बाएँ मुड़; फाल इन—लाइन बन; फाल आउट—लाइन तोड़; डबल मार्च—दौड़ के चल; हाल्ट—थम; सैल्यूट—सिलूट; प्रेजेंट आर्म्स—सलामी दो; जेनेरल सैल्यूट—जेनेरल सिलूट; नैशनल सैल्यूट—राष्ट्रीय सिलूट; कंपनी—कंपनी; बैटालियन—बैटालियन; गार्ड—गार्ड; पैरेड—पैरेड !

'प्राविजनल लिष्ट आव टेक्निकल टर्म्स इन हिन्दी : डिफेन्स ४' से भी कुछ शब्द उद्धृत हैं : एयर फोटोग्राफिक रिकनासाँ—हवाई-फोटो-टोह; एयरक्रैफ्ट लोडिंग टेबल—लदान-तालिका; एलाएड स्टाफ—मित्रराष्ट्र अमला; एसाल्ट एरिया—हमला-क्षेत्र; बैराज फायर—बाढ़ शलक; बाइलैटेरल इंफ्राष्ट्रक्चर—दुराष्ट्रीय अवस्थापना; बिल्ड-अप कण्ट्रोल—जमाव नियन्त्रण संगठन; डेट-टाइम ग्रूप—तारीख-समय वर्ग; डीप फोर्डिंग—गहरा पाँफना; एष्टैब्लिशमेंट—सिब्बन्दी (तथा प्रतिष्ठान) फायर पावर अम्ब्रेला—शलक छतरी; फ्लीट ट्रेन—फ्लीट ट्रेन; फ्लाइट—फ्लाइट, डार; फोर्डेबिलिटी—माँफना; शैलो फोर्डिंग—उथले पाँफनेवाला, उथला पाँफना; डीप फोर्डिंग—गहरे माँफने वाला, गहरे माँफ; फ्री ड्रापिंग—विना छतरी अवपातन; इम्मीडिएट एयर सपोर्ट—फौरी हवाई सहायता; लोड-शीट—लदान-पर्चा; लाँगरेंज फोटोग्राफिक रिकनासाँ एयरक्राफ्ट—दूर परास फोटो-टोह विमान ! —न० वि० श०

## बिहार में प्रेमाख्यान-संबंधी शोध

आचार्य शुक्ल ने प्रेमाख्यान-परंपरा की जिस व्यापकता और महत्ता की उद्भावना की थी, उसके लिए उपलब्ध सामग्री से अधिक उनकी क्रांतदर्शिकता को ही श्रेय है। इधर पटना-कालेज के इतिहास-विभागाध्यक्ष श्री अस्करी ने बिहार के खानकाहों और प्राचीन मुस्लिम परिवारों के निजी संग्रहालयों से सूफियों के द्वारा रचित प्रेमाख्यानों का जीर्णोद्धार कर आचार्य शुक्ल की उद्भावना के समर्थन में प्रभूत प्रामाणिक सामग्री प्रकाश में ला दी है।

श्री अस्करी को मनेर में पद्मावत और अखरावट की जो प्राचीन पांडुलिपि मिली थी उसका महत्त्व डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसी पत्रिका के अंक-विशेष में प्रकाशित अपने निबन्ध में प्रतिपादित किया था। श्री अस्करी को मनेर में ही हाल में मौलाना दाऊद और शेख कुतबन की चंदाइन (चंदाबन या चंदायत) तथा मृगावत्ती की अत्यन्त प्राचीन पांडुलिपियों के अंश प्राप्त हुए हैं। इनका सविस्तर विवरण पटना-कालेज की शोध-पत्रिका 'करेंट स्टडीज' के नवीन अंक में प्रकाशित है। हिन्दी की शोध तथा साहित्यिक संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे श्री अस्करी के अनुसंधानों से लाभ उठायें और उनके लिए ऐसे साधन सुलभ कर दें कि वे इस दिशा में अधिकाधिक कार्य कर सकें। —न० वि० श०

# उदात्त की भावना

(सैद्धान्तिक पक्ष)

श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है वह उदात्त कहलाता है। शब्दों में 'ओ३म्' उदात्त है। गंगावतरण का लोकान्त हरहर उदात्त है। नियाग्रा प्रपात का भैरव-घोष उदात्त है। प्रलय के महाविप्लव को झेलती मनु की नौका का दृश्य उदात्त है। क्षितिज तक जलमग्न दृष्टि-प्रसार के बीच 'केवल' आलोक-स्तम्भ की स्थिति उदात्त है। अर्द्धरात्रि के महासंख्य तारों का जमाव उदात्त है। मानापमान में समबुद्धि रखनेवाला सन्त उदात्त है। शिव की अविचल मंगल-शान्ति उदात्त है। वस्तुतः शिव की कल्पना में उदात्त की इति-श्री है। प्रेम के वेग में तुलसी का साँप-रस्सीवाला मोह उदात्त है। भोले शिशु की निर्विकल्प नग्नता तथा अधरों पर प्रस्फुटित ईषत् हास उदात्त है। राम या भरत का शील उदात्त है। रात्रि की शून्य, नीरव दिगन्त-व्याप्ति उदात्त है। शताब्दियों से मौन तथा अपने आप में अक्षुण्ण पुरकोट उदात्त है। युगों से दूर-दूर तक जड़ों और शाखाओं का सघन साम्राज्य फैलाये वटवृक्ष उदात्त है। मृगराज की गर्दन और आँखों का दर्प उदात्त है। प्रभंजन का धूलि-धूम शक्ति-तांडव उदात्त है। दारुण प्रारब्ध से संघर्ष करनेवाला अजेय तथा अपराजित संकल्पवीर उदात्त है। अन्तरात्मा की धर्मबुद्धि तथा ग्लानि से सर्वथा मुक्त, स्वार्थ की क्रूर चण्डी-सी लगनेवाली, महत्त्वाकांक्षा की नारी उदात्त है!

और फाँसी पर चढ़ने के पहले 'एक सिगरेट दोगे, बाबूजी?" कहनेवाला पात्र भी उदात्त है!

इन उदाहरणों में जातीय एकता है तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण रूपगत भिन्नता है। इन उदाहरणों का ध्यान करने से एक सत्य का साक्षात्कार हो जायगा। वह यह कि प्रभाव की दृष्टि से आश्रय के चित्त की भूमिका की उत्क्रान्ति या आरोह उदात्त की कसौटी है। लेकिन, प्रश्न यह उठता है कि आलम्बन में कौन-से धर्म होते हैं जो हमारे चित्त की भूमिका को ऊपर उठाते हैं। यह प्रश्न अधिक अन्तर्निष्ठ है और इसके लिए उदाहरणों का विश्लेषण अनिवार्य है।

(२)

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें कौन-से गुण हैं? 'ओ३म्' में ऊर्जस्वित प्राण है। गंगावतरण में लोकातिशय वेग है। मनु की नौका में निःशेष सहिष्णुता है। आलोक-स्तम्भ में आत्यन्तिक घनीभूत एकान्त है। तारों के जमाव में संख्या का निस्सीमप्राय विस्तार है। सन्त में समता की अतिशयता है, शिव में शान्ति की अविचलता। तुलसी में लगन का पूरा पागलपन है, बरगद में विराट् की छाया-सा लगनेवाला विस्तार है, फाँसीवाले पात्र में प्रमाद का अतिगुणन है, वीर में अध्यवसाय, राम में त्याग और भरत में अनुराग

असामान्यता है। महत्वाकांक्षावाली नारी तो एक विकार के निःशरीरीकृत प्रत्यक्ष-जैसी ही दीखती है। दूसरी बात यह कि इन उदाहरणों में बरगद का स्थूल कायिक प्रसार है तो आँधी का सूक्ष्म नर्त्तन भी; एक ओर संत का सत्त्व है तो दूसरी ओर फाँसी पड़नेवाले का तमस् तथा साथ ही नारी का रजस् भी। राम के त्याग की बात एक ओर लीजिए तो Lady Macbeth की कल्पना कीजिए जो राजमुकुट के लिए दूध पीते अपने ही लाल की खोपड़ी अपने हाथों चूर कर देने की बात कर सकती है! अवश्य ही नैतिक मूल्य या स्वार्थ-भोग, गति या स्थिति, नाद या नीरवता, एक या अनेक में से किसी के लिए उदात्त पर सामान्य प्रतिबन्ध नहीं दीखता, न किसी की विशेष अपेक्षा दीखती है। आगे चलकर हम विचार करेंगे कि जब प्रतिबन्ध नहीं दीखता, तो प्रभाव में भेद आ जाता है या नहीं। आदमी अपनी नाक-कान कटाये, इसके लिए कोई प्रतिबन्ध ऊपर से नहीं, लेकिन तब उसके चित्र पर भी प्रतिबन्ध नहीं रह जाता! 'जिनहिं निरखि मग साँपिनि बीछी, तजहिं विषम विष तामस तीछी' के माधुर्य की कल्पना कीजिए। फिर 'अंतावरी गहि उड़त गीध पिशाच कर गहि धावहीं, संग्रामपुरबासी मनहुँ बहु बालगुडी उड़ावहीं' में बीभत्स के रूपान्तर, उन्नयन को देखिए। मुँह का वमन काँख की गुदगुदी बन गया है, वह भी अतिमानवों के संदर्भ में। लेकिन, फिर भी दोनों के प्रभाव में भेद है या नहीं? इसपर विचार करना आवश्यक है। विलायतवालों के आग्रह की परीक्षा इस दृष्टि से करनी होगी। हम आगे चलकर ऐसा करेंगे।

(३)

जिन भिन्न उदाहरणों को तनिक भीतर से देखा गया है उनमें जातीय एकता कहाँ है। जातीय एकता है–एक पत्र के उभय पृष्ठ-जैसे स्थित 'लोकातिशयता' तथा 'उत्कर्ष' में। जहाँ कहीं किसी वस्तु, स्थिति, घटना तथा शील में हम उत्कर्ष के साथ लोकातिशयता, अथवा लोकातिशयता के साथ उत्कर्ष के दर्शन करते हैं, वहाँ हमें उदात्त के दर्शन हो जाते हैं। असल में जैसे-जैसे किसी पदार्थ या व्यक्ति की भौतिक सीमाओं का बंधन टूटता जाता है, वैसे-वैसे उसमें सूक्ष्मता, व्याप्ति तथा उद्धार की योग्यता आती जाती है। इस तरह वह अपनी अतिशयता अथवा महाशयता से आश्रय को आक्रान्त करता है, परास्त करता है, आत्मसात् करता है। कोई स्वार्थकामी जब लोकमंगल का अनुरागी हो जाता है, तो उसके प्रेम की अतिशयता परिवार, सम्प्रदाय या प्रान्त तक ही सीमित नहीं रहती, सारे विश्व को समेट सकती है। किसी नायिका के साथ उद्यान में केलि करनेवाले की अपेक्षा पड़ोसी, परिवार, प्रान्त, देश तथा विश्व की ओर क्रमशः उन्मुख होनेवाला नायक उदात्त की सोपान-सरणि बनाता है। उसका प्रेम विस्तृत भी होता है, जिसमें हम अतिशयता देखते हैं, तथा शुद्धतर भी होता है, जिसमें हम उत्कर्ष देखते हैं। यदि वह शुद्ध न हो तो विस्तृत न हो, यदि विस्तृत न हो तो शुद्ध न हो।

आलम्बन के इसी उत्कर्ष, इसी लोकातिशयता के वातायन से हम उसके तात्त्विक स्रोत, उसके अव्यक्त मूल, उसके प्रेरक अन्तर्हेतु की रहस्य-भावना में रमण करने लगते हैं।

उदात्त में इस रहस्य-भावना को प्रेरित करने की शक्ति आवश्यक है। यदि बात ऐसी नहीं, तो वह उदात्त मात्र—'बॉम्बास्ट' है।

लोकातिशय से अलौकिक का भ्रम नहीं होना चाहिए। दोनों के भेद देख लें।

(४)

अलौकिक में कार्य-कारण का निषेध-चमत्कार होता है। राम के छूते ही परशुराम का धनुष आप-से-आप चढ़ गया, यह रहा अलौकिक। लेकिन विकट भटों के भयंकर कटक के साथ क्रुद्ध-क्रूर खर-दूषण जब प्रतिशोध की लपटें फेंकते आते हैं और राम को देख कहते हैं, 'यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहि पुरुष अनूपा' तो सौन्दर्य के लोकातिशय माधुर्य के दर्शन होते हैं। यहाँ कार्य-कारण व्यापार का सर्वथा अभाव नहीं। सौंदर्य के प्रति राग तो निसर्गनिष्ठ है। लंका में सुन्दरियाँ आहार नहीं, बल्कि श्रृङ्गार बनकर रहती थीं।

लेकिन, राक्षस-शत्रु हृदय में धधकती हुई समराग्नि लेकर आयें और शत्रु की छवि-माधुरी को देखकर ठिठके-से रह जायँ, स्तब्ध-मुग्ध हो जायँ, क्षण भर के लिए समाधिस्थ हो जायँ, इसमें हमारे विकास की भूमिका से अतिशयता है। खर-दूषण का कहना है, 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते, देखे जिते हते हम तेते', फिर भी 'देखी नहिं अस सुन्दरताई।'

किसी को देखकर वे इतने से बाज नहीं आये, लेकिन यहाँ उनके हाथ रुक गये। 'नाग असुर सुर नर मुनि' लोक की चर्चा कर देने से ही राम का सौंदर्य अलौकिक नहीं कहलायगा। भक्त के लिए ऐसा भले ही हो, इस संदर्भ में काव्य-रसिक के लिए नहीं। खर-दूषण के लिए ये लोक उसी तरह सामान्य गति के हैं जिस तरह विदेश हम लोगों के लिए! हमलोग कहते, 'अमेरिका देखा, रूस देखा, भारत का कोना-कोना छान डाला, लेकिन ऐसा सौंदर्य नहीं देखा', इसलिए अनेक लोकों की तुलना में श्रेष्ठता से ही अलौकिकता नहीं होती। अलौकिकता तो तब होती जब चेहरा बम का काम करता, जब राम के सौंदर्य को देखते ही भय-परास्त हो शत्रु भाग जाते। यहाँ भी स्पष्ट है कि सौंदर्य की मात्र अतिशयता ही उदात्त का काम नहीं करती। मात्रागुणन से ही उदात्त की सृष्टि हो तब तो मात्र अतिशयोक्ति से काम चल जाता। यहाँ तो राम के सौंदर्य का गुणकल्प भी अमोघ है। उस सौंदर्य को देख आत्मीयता, करुणा, वात्सल्य, प्रेम का कुछ ऐसा उद्रेक होता है कि द्वेष अनुराग में बदल जाता है, रोने को जी चाहता है। राक्षस ऊपर उठ जाता है, उसका उन्नयन हो जाता है, वह अपने से, अपने दल से, अपने लक्ष्य से ऊपर उठ, एक क्षण के लिए राम में खो जाता है। राम का शील उसका शील हो जाता है।

अलौकिक में अनुभव की आमूल क्रान्ति होती है, वह Transubstantiation-सा लगता है, जैसे लोहे का पारस-स्पर्श से सोना हो जाना। लेकिन, आग में लकलक करता लाल लोहा कच्चे लोहे का रूपान्तर है, परिष्कार है, Transformation है। कच्चे लोहे की भूमिका पर स्थित आश्रय के लिए वह लोहे का उदात्त-स्वरूप है।

उदात्तता के ठीक विपरीत, मात्रा के विचार से, 'इयत्ता' तथा, गुण की दृष्टि से, 'इत्थमेवता' है। एक में हमारी परिमित दृष्टि का प्रसार तथा दूसरे में नत दृष्टि की उन्नति होती है।

इस तरह उदात्त के साक्षात्कार से संभावनाओं की अप्रत्याशित विभूति का आलोक-लाभ दो प्रकार से होता है—(१) प्रसार से, और (२) परिष्कार से।

देश के लिए हँसते-हँसते सूली चूमनेवाले शहीद में (१) हमसे उत्सर्ग करानेवाली प्रेम की अतिशयता के रूप में 'प्रसार' के तथा (२) शरीर के प्रेम या स्वार्थ-संग्रह से शुद्धोन्नत देशभक्ति के रूप में 'उत्कर्ष' के दर्शन होते हैं।

उदात्त इस तरह Twin principle of superabundance and transcendence ठहरता है। इसे ही एक पत्र के उभय पृष्ठ-जैसी लोकातिशयता और उत्कर्ष की स्थिति कहा गया है।

(५)

अतिशयता दो प्रकार की ठहरती है—(१) जो हमें प्रवाह की ओर बहा ले जाय, और (२) जो धारा के स्रोत की रहस्य-भावना में हमें रमा दे। तूफान-एक्सप्रेस को साठ की रफ्तार डाँकते देखें तो दो प्रतिक्रियाएँ होंगी—(१) 'वह गयी! वहाँ पहुँची! वहाँ... आँ...ओझल हो रही है!'—यह प्रवाह की ओर गति है। (२) 'आह! यह गति! कहाँ से इतनी शक्ति आती है? अपनी शुद्ध मौलिकता में यह शक्ति क्या है? कैसी है?' यह धारा के स्रोत की रहस्य-भावना है।

पहली प्रतिक्रिया विस्मय की है या, अधिक से अधिक, तन्मयता की। तन्मयता तो गाड़ी की गति के साथ गहराई से अपने को मिला देने में है। कल्पना में हम भी, अधिक से अधिक, तूफानगाड़ी हो जाते हैं। इस तन्मयता से (और गंगासागर से गंगोत्री की स्थिति ऊँची है) ऊपर उठकर जब हम उसके निर्गुण स्रोत की जिज्ञासा में खो जाते हैं, तो हमारी अवस्था 'उन्मयता' की हो जाती है। जो अतिशयता हमें इस रहस्य-भावना में रमा देती है, 'उन्मयता' में, स्रोत-कल्पना में, निमग्न कर देती है, वही उदात्त कोटि की होती है। निःस्तब्ध अर्द्धरात्रि में बाहर खड़े होकर देखिए। यदि ध्यान में आये—'यह रात्रि! यह अन्धकार! यहीं नहीं, वहाँ भी है, और वहाँ भी, और वहाँ, इस पार चारों ओर! पशु-पक्षी भी रात्रि में मग्न हैं...सारा भूमंडल निद्रामग्न हो पड़ा है!' तो भी बढ़ते-बढ़ते अतिशयता का विराट् हाथ लग सकता है, लेकिन उदात्त नहीं!

उदात्त का लाभ तो तभी हो सकता है जब अतिशयता हमें अन्तर्मुख कर दे और हम यह सोचते-सोचते निमग्न हो जाएँ—'आह! यह रात! इतनी गहन! सारा संसार मग्न! कहीं शब्द नहीं! इतनी नीरव शून्य! वह कौन-सी अन्धगुफा है जिससे इतना अन्धकार आता है, जिसमें अखिल विश्व का दिवा-कोलाहल विलीन हो जाता है?'

सागर और विष्णुचरण की ओर देखने से गंगा के दो स्वरूप हाथ लगते हैं—एक अनन्त की ओर समगति है, दूसरा उदात्त की ओर उन्नति। उदात्त में उद्गम की तन्मयता है, अनन्त में विराम की अचिन्त्यता है। उद्गम की अपेक्षा प्रवाह स्थूल होता है। धारा से राधा की कल्पना सूक्ष्मतर है। Sublime इसी अर्थ में मूलाधारदृष्टिसम्पन्न होता है।

मात्र अतिशय आकर्षण आलम्बन का कृष्णपक्ष है, उसकी राधाचेतना (स्रोत की रहस्य-भावना) में उदात्त की शुक्लपूर्णिमा है। शिव को देख हम सोचते हैं—इस शान्ति, इस आनन्द-स्मित का स्रोत कहाँ है। अवश्य ही उनके ज्ञान के, पूर्ण साक्षात्कार के मधुप्रकाश में। 'उमा' का अर्थ ही है ब्रह्मज्ञान। इसी उमा-रमण में शिव की उदात्तता है।

(६)

उत्कर्ष की चर्चा होती आयी है। उत्कर्ष सदा ही शुद्धीकरण से होता है। जिस तरह प्राकृत शरीर के बाद भी यशःशरीर की कल्पना है, उसी तरह प्राणी या पदार्थ, शील या परिस्थिति का यशःकल्प होता है। यह चार प्रकार से होता है—

(१) 'स्व' से ऊपर उठने पर,
(२) 'उपयोगिता' से ऊपर उठने पर,
(३) स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने पर, और
(४) सीमा से विस्तार की ओर जाने पर।

पेट की गड़बड़ी के कारण उपवास करने की अपेक्षा व्रत-भावना उत्कृष्ट है। फूल सूँघनेवाले की अपेक्षा प्रकृतिकलाकार की भूमिका उत्कृष्ट है। जड़ अन्न से क्रमशः प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की भूमिकाएँ उत्कृष्ट हैं। 'प्रसाद' का दाण्ड्यायन इस बात का साक्षी है कि चमकीले रत्नों से भूमा का आभास मात्र भी उत्कृष्ट है। गुरुनख की भूमा-कल्पना भारतीय श्रद्धा के उत्कृष्टतम स्वरूपों में है।

प्रत्यक्ष त्वचा-संपर्क की अपेक्षा कल्पना का मानस-स्पर्श उत्कृष्ट उपासना है। Platonic love या The Desire of the Moth for the Star भी उदाहरणीय है। व्यावहारिक राजनीति का उत्कृष्ट स्वरूप गाँधीवाद में है। गोरे मुखमण्डल की, उत्कृष्ट ही नहीं, उदात्त कल्पना है 'छबि गृह दीपशिखा जनु बरई'।

क्रिया और कर्मकांड के उत्कृष्ट स्वरूप क्रमशः भाव और प्रतीक-भावना हैं। प्रेम के एक बेलपत्र के सामने दर्प मस्तक की भेंट कुछ नहीं। शाक्तों का मैथुन, मैथुन नहीं, शक्ति-होम के कुण्ड-प्रतीकत्व के कारण उदात्त है (उत्कर्ष के साथ इसमें अतिशयता ही नहीं 'अखिलशयता' है)। पशुत्व का देवत्व में उत्कर्ष बिना झगड़े का उत्कर्ष है। व्याहतभोग की उत्कृष्ट कल्पना स्वर्ग में है। कोई अपने लड़के की बीमारी से दुखी होता है, फिर बुद्ध की, घायल हंस या प्राणिमात्र के प्रति, करुणा की कल्पना कीजिए। शुक्ल जी ने लोभ को सामान्यविषयक तथा प्रेम को विरलविषयक कहा है। वस्तुतः एक से प्रेम करनेवाला तो लोभी है, जैसे बाप अपने इकलौते का। प्रेम अद्वितीयता में नहीं, अनन्यता में है, अर्थात्—

'सो अनन्य जाकर अस मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥'

सर्वत्र अपने प्रिय को देखनेवाला ही पूरा प्रेम कर सकता है। जीवन की सापेक्षताओं में इस एक के नाते जितनों से प्रेम कर सकें उतने ही बड़े प्रेमी हम होंगे। स्त्री के प्रति आसक्त आदमी और देशभक्त की बात एक साथ सोचिए! राज के लिए मरनेवाले की अपेक्षा प्रेम अथवा मूल्यों के लिए मरनेवाले की अधिक महत्ता है। शाहखर्च बहुत होते हैं, लेकिन वह तबीयत का महाप्राण उदात्त था जिसने उपनिषदों-जैसा यह महावाक्य कह डाला, 'इस धन ने मेरे पूर्वजों को खा डाला है। इसे मैं खा जाऊँगा।' यहाँ धन, रुपये-पैसे का स्थूल ढेर न होकर, एक अशरीरी तत्त्व हो गया, जिसमें एक अदृश्य दानव की विकरालता भी है। धन और धनी दोनों सूक्ष्म होकर उत्कृष्ट हो गये। एक मुकद्दमेबाज की अपेक्षा वह करुणोदात्त नायक उत्कृष्ट है जो अखिल व्यापक प्रारब्ध से संघर्ष करता है। यहाँ विस्तार के चलते उत्कर्ष है तथा विस्तार की अतिशय व्याप्ति के चलते 'अहं' की उदात्तता है। चौदह वर्ष वन में साथ-साथ कष्ट झेलनेवाले लक्ष्मण से नन्दी गाँव में विरह के चौदह वर्ष बितानेवाले भरत का प्रेम उत्कृष्ट है, क्योंकि वह सूक्ष्म का भोग है। यदि इस तरह विचारा जाय कि भरत ने तो नीति का पालन किया और प्रेम में लक्ष्मण ने उसकी भी परवाह न की, तो लक्ष्मण श्रेष्ठतर हो जाते हैं। उसी तरह इष्ट-लाभ या अनिष्ट-शमन के लिए की गयी पूजा की अपेक्षा निष्काम भक्ति धर्म का उत्कृष्ट स्वरूप है। इस तरह 'स्व', 'स्थूल', 'उपयोगिता' तथा 'सीमा' के उत्तरोत्तर उत्क्रमण की आवश्यकता है। यही उदात्त की सरणि का उत्तर दर्शन है। यह उत्कर्ष या परिष्कार इसलिए प्रतीत होता है कि हमारी भूमिका ही नीची है, नहीं तो जिसे हम उत्कृष्ट कहते हैं वही शुद्ध स्वभाव है। प्राकृत तो तात्त्विक की जड़भूत, अधोगत अवस्था है।

आँधी के स्थूल प्रत्यक्ष ( वृक्षों का हिलना, धूलि का बादल छा जाना ) का उत्कर्ष वह सूक्ष्म शक्ति नहीं जो नर्त्तन करती है। वह सूक्ष्म शक्ति ही असल तत्त्व है जिसकी स्थूल अभिव्यक्ति वृक्षों के हिलने, धूल के छा जाने आदि में है। हमारे सामान्य विकास की भूमि ही ऐसी है कि जब तक अतिशयता हमें अभिभूत नहीं करती, हम स्रोत की कल्पना नहीं करते। लोक-मंगल की भावना हमारा स्वभाव है, क्योंकि उससे हमारी 'जातीय एकता' है, हम स्वयं बद्ध होकर स्वार्थकामी हो जाते हैं जो हमारी 'मानी हुई भिन्नता' है। उत्कर्ष की इस दृष्टि से उदात्त के चार स्वरूप हाथ लगते हैं:—

( १ ) सूक्ष्मोदात्त—जिसे Existentialistic Sublime कह सकते हैं,
( २ ) मूल्योदात्त—जिसे Value-Sublime कह सकते हैं,
( ३ ) परोदात्त—जिसके लिए Altro-Sublime अपेक्षित दीखता है, और
( ४ ) विस्तारोदात्त—इसे Extentionistic Sublime कहिए।

इन पर तनिक विस्तार से विचार करेंगे। [ क्रमशः ]

# संत कवियों के प्रेमाख्यान

श्री परशुराम चतुर्वेदी

हिन्दी के प्रेमाख्यानों में हम एक विशिष्ट स्थान उन रचनाओं को भी दे सकते हैं जो सन्त कवियों द्वारा लिखी गई हैं। ऐसी उपलब्ध कतिपय रचनाओं में एक दुखहरन की 'पुहुपावती' है और दूसरी धरणीदास की 'प्रेमप्रगास'।

'पुहुपावती' की कथा इस प्रकार है :—

राजपुर के नरेश ने पुत्र की इच्छा से घोर तपस्या की। तब देवी के वरदान से पुत्रोत्पत्ति हुई। पण्डितों ने बालक के विषय में बतलाया कि वह बीस वर्ष की आयु में किसी सुन्दरी के प्रेम में पड़कर घर छोड़ देगा, किन्तु होगा वह भाग्यवान्। बालक जब पढ़-लिख कर कुछ बड़ा हुआ, तो उसने अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं राज्य के शत्रुओं पर चढ़ाई करूँगा। राजा ने उसे रोका, तो दुखी होकर वह रात को निकल गया। चलते-चलते वह अनूपनगर में पहुँचा, जहाँ के राजा अम्बरसेन की रूपवती कन्या का नाम पुहुपावती था। जब वह महल से लगी फुलवारी में गया, तो वहाँ पर उसे पुहुपावती ने अपने झरोखे से देखा और वह प्रेमासक्त हो गई। पुहुपावती उस दिन से उदास रहने लगी। वह अब सदा प्रेम-चर्चा के लिए उत्सुकता प्रकट करती थी, जिसके कारण उसके गुरुजनों को अनेक प्रकार के सन्देह भी होने लगे।

राजकुमार फुलवारी की मालिन के घर ठहरा था, जो पुहुपावती की पुष्पशय्या बिछाया करती थी। जब मालिन ने एक दिन पुहुपावती को पुष्पशय्या से अलग सोते देखा और इसका कारण पूछा तो उसने उससे सारा भेद कह दिया। मालिन ने तब पुहुपावती को राजकुँवर का पता दे दिया। उसने लौट कर राजकुँवर से भी पुहुपावती के सौन्दर्य की प्रशंसा की, जिसे सुन कर वह मूर्च्छित हो गया। मालिन उस समय से दूती का काम करने लगी और उसने दोनों के मिलने का समय निश्चित किया।

निश्चित समय पर जब राजकुँवर और पुहुपावती एक दूसरे से मिले, तो वे सहसा मूर्च्छित हो गये। मालिन ने दोनों के अधरों को, उन्हें लिटा कर, मिला दिया, जिससे उन्हें फिर चेतना आ गई और दोनों ने प्रेम की बातें भी कीं।

एक दिन राजा अम्बरसेन जब आखेट करते समय किसी सिंह को मार न सके, तो राजकुँवर ने प्रकट होकर उसे मार डाला, और इस प्रकार वह उनका भी प्रियपात्र बना, किन्तु इस आखेट के समय वह लौटने का मार्ग भूल गया और उसके लिए चारों ओर खोज की जाने लगी। पुहुपावती को राजकुँवर के खो जाने से मार्मिक कष्ट होने लगा। उधर वह भी उसके विरह में व्याकुल रहने लगा। वन में भटकते समय एक दिन उसे अपने पिता की ओर से उसे ढूँढ़ने के लिए भेजा गया सज्ञान नामक व्यक्ति मिला, जिसने उसे पकड़ लिया और उसके पिता के पास ले गया। राजकुँवर के पिता को जब उसके प्रेम-व्यापार का पता चला, तो उसने उसका विवाह काशी के चित्रसेन की कन्या रूपावती के साथ कर दिया।

इधर पुहुपावती का कष्ट देखकर अम्बरसेन उसका उपचार कराते हैं, किन्तु कोई लाभ नहीं होता। पुहुपावती मालिन दूती के हाथ राजकुँवर को एक पत्र पठाती है। दूती अपना सरमुंडा कर एवं संन्यासी बन कर राजपुर पहुँचती है तथा मधुर गीत गाने लग जाती है। उसके संगीतसे आकृष्ट हो कर वहाँ राजकुँवर भी आता है, उसे पहचान लेता है तथा पुहुपावती का पत्र पढ़ कर वैरागी के वेष में मालिन के साथ चल देता है। राजकुँवर तथा मालिन किसी प्रकार चलते-चलते बेगमपुर गाँव में आते हैं, जिसका राजा बेगमराय है और उसकी लड़की रंगीली है। इस कन्या को एक दानव उठा ले जाता है और उसके अनुरूप वर को ढूँढ़ता हुआ राजकुँवर के पास आ पहुँचता है। दानव राजकुँवर का विवाह रंगीली के साथ कर देता है, और जब स्वयं वैराग्य धारण कर लेता है, तो रंगीली एवं राजकुँवर पुहुपावती के नगर की ओर चलते हैं। बीच में वे एक समुद्र में डूबते-डूबते किसी प्रकार बच पाते है, किन्तु दोनों एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं।

दैवयोग से मालिन-दूती एवं राजकुँवर से भेंट होती है और वे दोनों आगे बढ़ते हैं। उधर पुहुपावती के लिए राजा अंबरसेन ने स्वयंवर की रचना की थी। देश-देशान्तर से आये राजाओं में से उसने किसी का वरण नहीं किया। इसी समय मालिन ने आ कर उसे समाचार दिया और जब उसने राजकुँवर को भी वैरागी के वेष में प्रत्यक्ष कर दिया, तो पुहुपावती ने उसी के गले में जयमाल डाल दी। राजा अंबरसेन पहले तो अप्रसन्न हुआ, किन्तु फिर उसे पहचान कर प्रसन्न भी हुआ और पुहुपावती एवं राजकुँवर का विवाह भी कर दिया। इधर रूपावती भी विरह में कष्ट झेल रही थी, जिस कारण उसने 'उपकारी' नामक मैना को उसके निकट भेजा। मैना ने राजकुँवर से सब समाचार कहे जिससे प्रभावित हो कर वह पुहुपावती के साथ राजपुर की ओर चल पड़ा। मार्ग में राजकुँवर का उज्जैन के राजा से घोर युद्ध हुआ। मैना उधर रूपावती की ओर जाते समय एक तीर्थ में चला गया, जहाँ उसे रंगीली ध्यान में बैठी मिल गई। मैना ने लौटकर राजकुँवर से जब रंगीली का हाल बतलाया, तो वह उसके यहाँ भी चला गया और उसे उज्जैन ले आया। यहाँ पर पुहुपावती चिंता में पड़ी थी। इसलिए उनके आते ही वह प्रसन्न हो उठी और सारा दल राजपुर की ओर अग्रसर हुआ। मैना ने तब तक यहाँ रूपावती को भी सूचना दे दी थी, इसलिए वह भी अपने पिता की स्वीकृति के अनुसार उसमें सम्मिलित हो गई। राजकुँवर ने राजपुर पहुँच कर एक नया किला बनवाया, जिसमें तीन महल थे जिनमें उसने रानियों को पृथक्-पृथक् रखा। रूपावती श्वेत महल में रही, रंगीली काले में गई और पुहुपावती लाल महल में आई, जहाँ से उसे भगवान् ने अतिथि साधु के वेष में आ कर, ले लिया।

'पुहुपावती' की कहानी लम्बी-चौड़ी है और घटनाओं के बाहुल्य से जटिल भी दीख पड़ती है। इसमें अन्य बहुत-से प्रेमाख्यानों की भांति, केवल एक या दो ही नायिकाएं नहीं हैं, प्रत्युत तीन-तीन तक आ जाती हैं। फिर भी, नायक की रुचि के अनुसार पुहुपावती को ही हम प्रधान नायिका कह सकते हैं और रूपावती एवं रंगीली उपनायिका अथवा प्रति-नायिका कही जा सकती हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रधान नायिका पुहुपवाटी

जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्रभावित होती है, वहाँ नायक राजकुँवर केवल गुण-श्रवण द्वारा ही उसकी ओर आकृष्ट हो उठता है और दोनों एक दूसरे को देखकर जब मूर्च्छित हो जाते हैं, तो मालिन उन्हें उनके अधरों को मिलाकर सचेत करती है। इस कथा में केवल राजकुँवर और पुहुपावती ही ऐसे हैं, जिनका पारस्परिक प्रेम प्रायः एक-सी गंभीरता का है। रूपावती एवं रंगीली के प्रति उस नायक का प्रेम उतना उत्कट नहीं जान पड़ता, जितना इन दोनों प्रेमिकाओं का उसके प्रति जान पड़ता है। दुखहरन ने इस कथा में एक और भी ऐसी बात दिखलाई है जो अन्यत्र नहीं पायी जाती और पत्नी पुहुपावती के सर्वाधिक प्रेयसी होने पर भी वह उसे एक साधु के माँगने पर समर्पित कर देता है जो कदाचित् उसके प्रेम से भी कहीं अधिक त्याग के प्रति निष्ठावान् होने के कारण है और यही बात संभवतः, इस प्रेमाख्यान के रचयिता का मत भी सिद्ध कर देती है। रूपावती एवं रंगीली के महलों का रंग क्रमशः श्वेत एवं कृष्ण है, जहाँ पुहुपावती का लाल है और ये तीनों एक ही दुर्ग में निर्मित हैं। क्या ये तीनों महल राजकुँवर के हृदय में वर्तमान क्रमशः सतोगुणी, तमोगुणी एवं रजोगुणी वृत्तियों के आधारस्वरूप तो नहीं हैं, जिनमें से सर्वाधिक सक्रिय तीसरी को कवि अपने इष्ट परमतत्त्व के प्रति अर्पित अथवा उसमें तल्लीन कर देने के पक्ष में है? अर्पित करने योग्य सतोगुणी अथवा तमोगुणी वृत्तियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये दोनों एक दूसरी की विरोधिनी ठहरती हैं। रजोगुणी, इन दोनों की मध्यवर्त्तिनी होने के अतिरिक्त, स्वभावतः क्रियाशील भी है और यही सारे प्रपंच या सृष्टि के मूल में भी वर्तमान है। इस प्रेम-कथा के अंतर्गत एक यह बात भी विचारणीय है कि रूपावती का सम्बन्ध राजकुँवर के साथ उसके पिता के माध्यम से होता है, जहाँ पर रंगीली उसे किसी दानव के देने से मिलती है और केवल पुहुपावती ही ऐसी है जो उसे सर्वप्रथम, प्रेम-व्यापार में प्रकट करती है और वही अंत तक उसके सारे प्रयत्नों का लक्ष्य होती हुई भी, पूर्णतः उपलब्ध हो जाने पर उसके त्याग की प्रमुख वस्तु भी बन जाती है।

स्वयं दुखहरन ने ऐसा कहीं नहीं कहा है और न सारी कथा के रूपक को समझाने की कहीं चेष्टा ही की है। उन्होंने अपनी रचना के केवल उज्जैन-खंड में कथा के कुछ रहस्यात्मक प्रसंगों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। वहाँ पर उज्जैन को काया का प्रतीक बतलाया गया है, राजा 'रोठगँवार' को जीव का प्रतिनिधि ठहराया गया है, सभी इंद्रियों को कुछ न कुछ बाह्य रूप दिया गया है और ममता, वैर आदि तक के रूपक बांधे गये हैं। फिर, इसी प्रकार अन्यत्र कुँवर ने भी 'आप' को ब्रह्म, माता को मुक्ति, चित्त को चैतन्य, गुरु को ज्ञान, मन को मन्त्री, दिल को दीवान, आदि कहा है। परन्तु, पूरी कथा का आशय सुव्यवस्थित रूप में कहीं भी प्रकट किया गया नहीं जान पड़ता। दुखहरन ने कथा का आरंभ करने से पहले इस रचना के अन्तर्गत यहाँ तक कह डाला है कि इसका मर्म जो जैसा समझ सकेगा वैसा ही जानेगा, मैं भी अपनी सूझ के अनुसार ही कहता हूँ :

"संवत सत्रह सै छब्बीसा। हुत सन सहँस दुइ चालीसा।
कहेउ कथा तब अस मोहि भ्याना। कोइ छनि रोवत कोइ हंसाना॥

जेही जस बुधी तैस तेइ बूझा । जेही जस सूझी तैस तेहि सूझा ॥
बहुतन्ह के मन सरगुन आवा । बहुतन्ह निरगुन पटतर लावा ॥
बहुतन सुनिके हिअ मंह राखा । बहुतन्ह सुनि के रोख न माखा ॥
मोहि जस ग्यान रहा हिय माहीं । कहेउ सभै किछु छाड़ेउ नाहीं ।
एक एक अछर खोजि बनावा । मुरुखन्ह दुख पंडितन्ह सुख पावा ॥"

दुखहरन से १३ वर्ष पहले बाबा धरणीदास ने भी एक ऐसी ही कथा 'प्रेमप्रगास' नाम से लिखी थी, जिसमें उन्होंने लगभग ऐसे ही शब्दों के प्रयोग किये थे। उनका कहना है :

"धरनी के मन अनुभौ भैऊ । प्रेम प्रगास कथा एक ठनेऊ ॥
सहीजहि जीव ऊपजो अनुरागा । सोअतहुँते चिहुँकि जन जागा ॥
उतपति कहो कथा किछु आगे । भगतिभाव अभिअंतर लागे ॥
सरगुनिआ सरगुन लै लावे । निरगुनिआ निरगुन ही सुनावे ॥
संमत सत्रह सौ चलि गैऊ । तेरह अधिक ताहि पर भैऊ ॥
शाहजहाँ छोड़ि दुनिआई । पसरी औरंगजेब दोहाई ॥
सोच विसारी आत्मा जागी । धरनी धरेउ भेख बैरागी ॥"

उपर्युक्त दोनों कवि समकालीन थे, दोनों संतपरम्परा के थे और दोनों के निवास-स्थानों अर्थात् क्रमशः गाजीपुर एवं माँझी के बीच कदाचित् चालीस कोसों का भी अन्तर न था—

फिर भी, बाबा धरणीदास के प्रेमप्रगासवाले प्रेमाख्यान की घटनाएँ उतनी अधिक या जटिल भी नहीं प्रतीत होतीं। कथा का सार यह है—कश्मीर की ओर एक पंचवटी नामक नगर था, जिसके राजा का नाम देवनारायण था। देवनारायण के पुत्र का नाम मनमोहन था। एक दिन मनमोहन के निकट कोई सौदागर आया, जिसने उसे एक मैना दिया जो बड़ा पंडित और बुद्धिमान् था। सौदागर को राजकुमार ने इसके बदले एक महत्त्वपूर्ण माला दी और मैना को 'परमारथी' का नाम देकर वह उसे सुन्दर पिंजरे में रखने लगा। राजकुमार उसे बड़ा प्यार करता था, इसलिए मैना ने भी उसे वचन दिया कि मैं तुम्हारा विवाह किसी 'देवमूरति' कन्या से करा दूँगा। तदनुसार वह एक दिन शुभलग्न में पिंजरे से बाहर उड़ा और कहीं पर एकत्र अन्य अनेक पक्षियों से परामर्श किया कि राजकुमार को कौन-सी सुन्दरी दी जाय। उनमें से एक ने सागर-पार बसे हुए 'पारसनगर' के ध्यानदेव राजा की कन्या 'प्रानमती' के सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। परमारथी को प्रानमती पसन्द आई, जिसके कारण वह उसी ओर उड़ चला, किन्तु भूख-प्यास के कारण वह समुद्र में गिर भी पड़ा। उसे देखकर इधर से व्यापार के लिए डोंगी से जाते हुए एक महाजन ने उठा लिया और उसे अन्न-जल देकर फिर तीर पर उड़ा दिया। परमारथी तब वहाँ से उड़ता हुआ किसी जंगल में पहुँचा, जहाँ के पक्षियों से उसने पारसनगर का पूरा पता जान लिया और फिर वह

उस नगर में भी चला गया। किन्तु, उसने उस दिन वहाँ के एक उद्यान में बसेरा लिया, जहाँ पर ऊँघ जाने के कारण वह किसी व्याध द्वारा पकड़ लिया गया।

व्याध ने मैना को लेकर वहाँ की राजकुमारी प्रानमती को भेंट कर दिया, जिसने उसे बड़े स्नेह के साथ सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन एकांत पाकर मैना परमारथी ने प्रानमती को सोते से जगाया और उससे बातचीत करके जान लिया कि वह अपने लिए उपयुक्त वर की आशा से बराबर शिवाराधन किया करती है तथा उसने राजकुमारी को इस सम्बन्ध में सहायता देने का भी वचन दिया। परमारथी ने राजकुमारी से एक वर्ष की अवधि ली और कई दिनों तक अनेक प्रकार के कष्ट झेलता हुआ पंचवटी में मनमोहन के पास चला आया। राजकुमार के पूछने पर उसने अपनी यात्रा की पूरी कहानी सुनाई, जिससे प्रभावित हो वह एक दिन आखेट के बहाने निकल पड़ा और उसने मैना का पिंजरा भी ले लिया। मार्ग में विश्राम करते समय उसे कामसेन राजा के साथ युद्ध भी करना पड़ा जिसका अन्त केवल पर्वतराज बुद्धिसेन के बीच-बचाव करने से हो सका। फिर, वहाँ से राजकुमार आगे बढ़ा तो पता चला कि उसका पिंजरा कहीं खो गया है जिसके कारण दुःखी होकर मनमोहन योगी बन गया। फिर किसी 'सीधा' (सिद्ध) की गोटिका की सहायता से वह परमारथी के पिंजरे को भी पा लिया और अपने अन्य साथियों से अपने वापस आने तक ठहरने को कहा और फिर पिंजरे के साथ वह आगे बढ़ा। आगे इसे दुरमत नाम का एक दानव मिला जिससे इसे लड़ना पड़ा और इसने उसे मार भी डाला, किन्तु उसकी गोटिका कहीं खो गई। दानव के मारे जाने पर वहाँ के राजा 'ग्यानदेव' ने इसका बड़ा आदर-सत्कार किया और इस पर प्रसन्न होकर उसने अपनी कन्या ज्ञानमती इसे समर्पित कर दी। किन्तु, यह उस राजा के उदयपुर नगर में अधिक समय तक नहीं ठहर सका और परमारथी को लेकर वह फिर और भी आगे चल पड़ा।

वहाँ से चलकर वे दोनों पारसनगर या श्रीपुर पहुँच गये, जहाँ मनमोहन एक सरोवर पर ठहर गया और परमारथी प्रानमती के पास पहुँच गया। परमारथी ने राजकुमारी से बड़ी भूमिका बाँधी और अपने कथन द्वारा उसे मनमोहन के प्रति प्रेमासक्त भी कर दिया। तदनुसार प्रानमती ने अपने माता-पिता से कहकर दूसरे दिन योगी, यती आदि को खिलाने की व्यवस्था करायी। उसने पहले ही दिन सन्ध्या समय मनमोहन के लिए अपनी चेरी से एक पकान्न की थाल भी भेजी, जहाँ पर उस राजकुमार को देखकर चेरी अत्यन्त प्रभावित हुई। निश्चित समय पर जब मनमोहन अन्य साधुओं के साथ बैठा खा रहा था कि प्रानमती ने उसे झरोखे से देखा और वह बेहोश हो गई। सचेत होने पर उसने उन्हें मनमोहन का पूरा परिचय दिया, जिससे वे दोनों प्रसन्न हुईं और उन्होंने उसके पास अपना विप्र भेजा। मनमोहन ने पहले तो आनाकानी की, किन्तु वह फिर राजी हो गया और तदनुसार वहाँ के राजा ने एक उत्सव की तैयारी करके बहुत से अन्य राजकुमारों को भी निमन्त्रित किया। जब अन्य राजकुमारों को एक योगी के साथ प्रानमती के भावी सम्बन्ध का पता चला, तो उन्होंने इसका घोर विरोध किया। फलतः, निश्चय

हुआ कि शिवमूर्ति के निकट एक जयमाल रखी जाय और सभी राजकुमार बारी-बारी उसकी प्रदक्षिणा करें तथा प्रणाम करें। उनके सिर के झुकते ही जयमाल के उनके गले में आपसे आप पड़ जाने की बात थी जो मनमोहन के ही सम्बन्ध में पूरी हुई और उसके गले में जयमाल पड़ गई। मनमोहन और प्रानमती का फिर विधिवत् विवाह हो गया और वे वहाँ पर एक वर्ष तक ठहर गये। किन्तु, किसी दिन एक योगी ने वहाँ आकर उदयपुर के 'ग्यानदेव' तथा उनकी राजकुमारी प्रानमती का समाचार कह सुनाया, जिससे मनमोहन परम दुःखी हो गया और वह लौटने की तैयारी करने लगा। वहाँ तो उदयपुर तक उसके साथ ध्यानदेव भी आये, जहाँ पर उससे प्रानमती की विवाह-विधि सम्पन्न हुई और फिर दोनों पत्नियों को लेकर वह आगे बढ़ा। समुद्र को पार कर वह अपने साथियों से मिला और अन्त में एक साथ होकर सभी पंचवटी लौट आये।

बाबा धरणीदास ने 'प्रेमप्रगास' की प्रारम्भिक पंक्तियों में एक 'अस्लोक' दिया है जो इस प्रकार है :

"पंचवटी च ऊदयेपुरस्य श्रीपुरे मध्येपत्तथा ॥
जः जनति चतुरस्थानं धरनी तस्य नमस्क्रीत ॥" [बिस्राम ३]

इससे प्रकट होता है कि पंचवटी, उदयपुर, श्रीपुर (पारसनगर) और मध्येप इन चारों का कोई रहस्यात्मक अर्थ है। इनमें से पहले तीन तो कथा में ही क्रमशः देवनारायण ज्ञानदेव तथा ध्यानदेव की राजधानियों के रूप में दिये गये हैं। ये फिर क्रमशः मनमोहन राजकुमार तथा ज्ञानमती एवं प्रानमती नाम की राजकुमारियों के भी स्थान कहे जा सकते हैं। ये सभी नाम सार्थक अवश्य प्रतीत होते, किन्तु इनकी सार्थकता बहुत स्पष्ट नहीं है और न इन्हें समझने के लिए कवि ने कहीं पर्याप्त संकेत ही दिये हैं। इनके साथ मध्येप भी चौथा स्थान बनकर दीख पड़ता है, किन्तु इसका उल्लेख अन्यत्र स्पष्ट नहीं है। बाबा धरणीदास के मध्यदीप 'माझस्थान' अथवा 'मेहसिनग्र' से यदि उसका कोई सम्बन्ध हो, तो भी इसका पता नहीं। इसी प्रकार एक अन्य 'अस्लोक' द्वारा कवि ने यह भी बतलाया है कि स्त्री आत्मा का प्रतीक है और पुरुष परमात्मा का। सौदागर गुरु प्रतीक का है और मैना मन के लिए इस कथा में है। आत्मा एवं परमात्मा एक दूसरे से 'बिछुरे' जान पड़ते हैं और इन्हीं के 'मेराव' अथवा 'सम्मिलन का प्रसंग' इस कथा में दिया गया है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि कवि कहीं सूफी मत के ही अनुसार न वर्णन कर रहा हो। किन्तु, इसका भी सामंजस्य सर्वत्र बिठाना सरल नहीं है।

वास्तव में इस कथा के अन्तर्गत हमें उतना भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता जितना 'पुहुपावती' में पाया जाता है। 'प्रेमप्रगास' की रचना-शैली पर जायसी की पद्मावत-जैसी सूफी प्रेमगाथाओं का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। फिर भी, इसमें सूफी प्रेमगाथाओं के बाह्य लक्षण बहुत कम लक्षित होते हैं और इसे पढ़ने पर ऐसा लगता है कि संभव है, इसका कवि इसके द्वारा कहीं संतमत का ही प्रतिपादन न कर रहा हो। प्रेमप्रगास का मनमोहन

पद्मावत के रतनसेन-जैसा है, इसकी प्रानमती उसकी पद्मिनी की पद्मावती है, किन्तु इसका मैना उसके सुवा-सा लगता हुआ भी यहाँ गुरु या पीर का प्रतिनिधि नहीं माना गया है। प्रत्युत वह यहाँ मित्र का प्रतीक है और गुरु का स्थान यहाँ सौदागर ने लिया है। बाबा धरणीदास के ही शब्दों में :

"गायते आत्मा इस्त्रिणां पुरुष च परमात्मा।
सौदागर गुरु यस्य, मन मैना वीस्तर कथा॥"

किंतु आत्मा के स्त्री होने पर भी यहाँ प्रयत्न मनमोहन की ओर से होते हैं। वहीं रतनसेन की भाँति अपने साथियों के साथ अपनी प्रेम-यात्रा में अग्रसर होता है, प्रायः वैसे ही कष्ट झेलता है और वैसे ही पहुँचता है। रतनसेन के सूए की भाँति यहाँ भी इसका मैना साथ नहीं छोड़ता और यदि कुछ समय के लिए छूट भी जाता है, तो फिर वह इसे लेकर ही आगे बढ़ता है। अंतर केवल इतना ही है कि सूफी सालिक का पीर जहाँ उसकी प्रत्येक बाधा या उलझन के समय उसका साथ देता जान पड़ता है, वहाँ संत साधक का गुरु उसको अपने 'सबद' के बाण से बेधकर उसके हृदय में विरह जागरित कर देता है और तब से उसको अपने आप सँभलने के प्रयत्न करने पड़ते हैं तथा सदा चंचल रहकर इधर-उधर उड़ने-फिरनेवाला भी उसका मन उसका सहायक बन जाता है। पुरुष मनमोहन की ओर से स्त्री प्रानमती के लिए किये गये रतनसेन-जैसे प्रयत्न भी यहाँ केवल सूफियों के ही अनुकरण में प्रदर्शित नहीं कहे जा सकते। परमात्म-तत्त्व को प्रेमपात्र का रूप देकर पुरुष आत्मा की ओर से उसे पाने का प्रयत्न करना सभी सूफियों ने भी एक समान नहीं दिखलाया है। जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है जिन सूफी कवियों ने युसूफ एवं जुलेखा की प्रेम-कहानी को अपनी प्रेम-गाथा का विषय बनाया है, उन्हें इस नियम के विपरीत चलना पड़ गया है। क्योंकि, वहाँ जुलेखा के ही प्रेम की प्रधानता मिलती है। इसके सिवाय तमिळ प्रांत के प्रसिद्ध भक्त कवि माणिक्क वाचकर जिन्हें सूफियों द्वारा प्रभावित कहने का कोई प्रमाण नहीं है और अपने रहस्यवादी प्रबंधकाव्य ( तिरुक्कोवैयार ) के अन्तर्गत परमात्मा को प्रेमिका के रूप में तथा जीवात्मा को प्रेमी के रूपमें वर्णन करते दीख पड़ते हैं[1] और इसी की संभावना यहाँ भी मान ली जा सकती है।

१. श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् लिखित 'तमिल और उसका साहित्य' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ) पृ० ५२।



## जैनागमों की वर्णनात्मक शैली

श्री अगरचन्द नाहटा

जैनागमों का भाषा-विज्ञान, इतिहास, कला, संस्कृति, धर्म आदि अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है, पर अभी तक उनका अध्ययन इन दृष्टियों से बहुत कम ही किया गया है।

फलतः, हम उनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य बातों से अपरिचित-से हैं। जैन विद्वान् उनका अध्ययन तो करते हैं, किंतु धार्मिक दृष्टि से। अतः, उनके लिए अन्य बातें गौण हो जाती हैं। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने इनके महत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उन पर काम किया है, पर वह बहुत ही थोड़ा है। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से मैंने समय-समय पर उनके कुछ नमूने प्रकाशित करने का विचार किया है। कुछ वर्ष पूर्व 'जैनागमों में कृष्ण-चरित्र' लेख प्रकाशित कर यह आशा की थी कि इन ग्रंथों में अन्य महापुरुषों, नगरों, प्राचीनकाल के धार्मिक आचरणों, विविध प्रकार के उपासकों और तत्कालीन साहित्य, इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी जो बिखरी हुई सामग्री इन ग्रंथों में पड़ी है, उसे अन्य विद्वान् एकत्र कर प्रकाश में लावेंगे। पर आशानुरूप कार्य नहीं हुआ है।

बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन इन दृष्टियों से किया जा रहा है और उनके आधार पर भारतीय इतिहास-ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की जा रही है। जैन ग्रंथों का, जिनका निर्माण भारत में विगत ढाई हजार वर्षों से विविध प्रान्तों और विविध भाषाओं में होता रहा है, महत्त्व भी किसी दृष्टि से कम नहीं है। सत्य तो यह है कि बौद्ध धर्म शताब्दियों तक भारत के बाहर ही जीवित रहा है, अतः उसमें थोड़ी भी मध्यकालीन सामग्री नहीं मिलती। इसकी पूर्ति भी जैन साहित्य ही करता है। तात्पर्य यह कि भारतीय इतिहास की जो सामग्री जैन ग्रंथों में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जैन साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास समझने के लिए तो उनका अध्ययन अनिवार्य है।

जैनागमों की वर्णनात्मक शैली बहुत ही आकर्षक है। उनमें किये गये वर्णन, घटनाओं और वस्तुओं का चित्र-सा उपस्थित कर देते हैं। पर्यायवाची शब्दों के संग्रह की दृष्टि से भी उनका असाधारण महत्त्व है। देशी शब्दों का विकास-क्रम प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों से ही जाना जा सकता है। हमारे विद्वान् इसके लिए संस्कृत की ओर दौड़ते हैं, किंतु यह बहुत उपादेय नहीं है। अस्तु, अधिक अब मैं न लिखकर जैनागमों के कुछ वर्णनों के उदाहरण दे रहा हूँ। विद्वानों को इन ग्रंथों का अधिकाधिक अध्ययन कर लाभ उठाना चाहिए।

## पिशाच-रूप-वर्णन

मूलः—"सीसं से गोकिलंजसंठाणसंठियं सालिभसेल्लसरिसा से केसाकविलितेएणं दिप्पमाणा, महल्लउट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं निडालं, मुगुंसपुंछं व तस्स भुमगाओ फुग्गफुग्गाओ, विगयबीभच्छदंसणाओ सीसघडिविणिग्गयाइं अच्छीणि विगयबीभच्छदंसणाइं कण्णा जह सुप्पकत्तरं चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा, उरब्भपुडसन्निभा से नासा, झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया दोवि तस्स नासापुडया घोडयपुंछं व तस्स मंसूइं कविलकविलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं।" (उपासकदशासूत्र)

अर्थः—पिशाच का मस्तक गौ के खाने के लिए जो बाँस का बड़ा टोकरा रखा जाता है उसको औंधा करने से जो आकार बनता है, उसके जैसा विशाल था; चावल के भूसा के वर्ण जैसे पिंगल वर्णवाले चमकीले केश थे; मिट्टी के बड़े घड़े के समान कपाल था। घोड़े का निचला हिस्सा-जैसा बड़ा ललाट था। नेवला और गिलहरी की पूँछ-जैसी बिखरे हुए बालवाली कुटिल और भयंकर दोनों भौंहें थीं; घड़े के मुख-जैसी विशाल, बहुत भयानक चमकीली दोनों आँखें थीं; अनाज फटकने के सूप के टुकड़े-जैसे भयंकर दोनों कान थे; भेड़ की नाक-जैसी चिपटी नाक थी; दो मिली हुई भट्ठी-जैसी नासिका के बड़े-बड़े छिद्र थे; घोड़े की पूँछ-जैसे कड़े और भयंकर दाढी-मूँछ के बाल थे।

मूलः—"उट्ठाउट्टस्स चेव लंबा, फालसरिसा से दंता, जिब्भा जहा सुप्पकत्तरं चैव विगय-बीभच्छदंसणिज्जा, हलकुद्दालसंठिया से हणुया, गल्लकडिल्लं च तस्स खड्डं फुट्टकविलं फरुसं महल्लं मुइंगाकारोवमेसे खंधे, पुरवरकवाडो मेसे वच्छे, कोट्ठियासंठाणसंठिया दोवितस्स बाहा, निसापाहणसंठाणसंठिया दोवि तस्स अग्गहत्था, निसालोढ संठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ।"

(उपासकदशासूत्र)

अर्थः—ऊँट के जैसे लंबे-लंबे होंठ थे, लोहे के कुश या फावड़े के समान लंबे-लंबे दाँत थे; सूप-जैसी भयंकर जिह्वा थी, हल की लकड़ी-जैसी लंबी और टेढ़ी ठुड्डी थी, लोहे की कड़ाह जैसे मध्य में गहरे, कुत्ते के जैसे फटे हुए बड़े कर्कश गाल थे; मृदंग के आकारवाले स्कंध थे; नगर-द्वार-जैसी विशाल छाती थी; अनाज भरने की कोठी-जैसी दोनों स्थूल भुजाएँ थीं; शिला के जैसे स्थूल और विशाल हाथ थे और शिला की लोढ़ी-जैसी हाथ की उँगलियाँ थीं।

मूलः—"सिप्पिपुडगसंठिया से नक्खा, गहावियपसेवओ व्व उरंसि लंबंति दोवि तस्स थणया पोट्टं अयकोट्ठओ व्व वट्टं, पाणकलंदसरिसा से नाहो, सिक्कगसंठाणसंठिया से नेत्ते, किण्णपुडसंठाणसंठियो दोवि तस्स वसणा, जमलकोट्ठियासंठाणसंठिया दोवि तस्स ऊरू।"

(उ० सू०)

अर्थः—सीप के संपुट-जैसे ऊँचे और लंबे-लंबे नख थे। नापित के उस्तुरे आदि रखने की थैली-जैसी छाती में दोनों स्तन लटकते थे। लोहे की कोठी-जैसा गोल पेट था। पानी की कुंडी-जैसी गहरी नाभि थी। छींका के आकारवाले नेत्र थे। तंदुल आदि कण भरने के गोण के जैसे दोनों वृषण थे। कोठियों के जोड़े-जैसी स्थूल और लंबी दोनों जाँघें थीं।

मूलः—"अज्जुणगुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ अहीरीलोढसंठाणसंठिया दोवि तस्स पाया, अहीरीलोढ-संठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से नक्खा, लडहमडहजाणुए विगय-भग्गभुग्गभुमए।"

(उपासकदशासूत्र)

अर्थः—अर्जुन वृक्ष की गांठ-जैसी बहुत कुटिल और अति बीभत्स भयंकर जानु थी। जंघा के ऊपर कुटिल और भयंकर कठोर रोमावली थी। मसाला पीसने की शिला के जैसे पाँव थे। पीसने की लोढ़ी-जैसी पाँव की उँगलियाँ थीं। सीप के संपुट-जैसे स्थूल

नख थे। शिथिल बंधनवाले और स्थूल होने पर भी छोटे बेडौल घुटने थे। बड़ी स्थूल और टेढ़ी भृकुटि थी।

मूलः—"अवदालियवयणविवरनिल्लालियग्गजीहे, सरठकयमालियाए उंदुरमालापरिणद्ध-सुकयचिंधे नउलकयकण्णपूरे सप्पकयवेगच्छे।" (उ० सू०)

अर्थः—मुख को फाड़ कर जिह्वाग्र को बाहर निकाले हुए गिरगिटों और चूहों की माला पहने हुए, न्यौले का कुंडल कान में लटकाये हुए, साँप का दुपट्टा ओढ़े हुए।

मूलः—"अप्फोडंते अभिगज्जंते भीमसक्कट्टहासे नाणाविह पंचवण्णेहिं लोमेहिं उवचिए एगं महंनीलुप्पलगवलगुलिका अयसिकुसुमप्पगासं असि खुरधारं महालं उवागच्छइ।"

(उ० सू०)

अर्थः—इस प्रकार भयंकर रूप बनाकर करस्फोट (ताल) करता हुआ, मेघ के समान गर्जन करता हुआ, भयंकर अट्टहास करता हुआ, अनेक प्रकार के पंच वर्ण के रोम से युक्त नीलकमल के वर्णवाली, भैंस के सींग के वर्णवाली नील भतसी पुष्प के समान, तीक्ष्ण धार-वाली तलवार हाथ में लेकर महल में आया।

## युद्ध-वर्णन

मूलः—"तते णं ते दोण्हि वि राईणं अणीया सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणा मंगतितेहि फलतेहिं निक्कट्ठाहिं असीहिं अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं-समुल्लालिताहिं डावाहिं ओसारियाहिं उरूघंटाहिं छिप्पत्तरेणं वज्जमाठोणं महया उक्किट्ठसीहनाप बोल कलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पिव करेमाणा संव्विड्ढीए जावरवेणं हय गया हयगएहिं गयगया गयगतेहिं रहगया रहगतेहिं पायत्तिया पायत्तिएहिं अन्नेमन्नेहिं सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था। तते णं ते दोण्हवि राया णं अणीया णियगसामी सरसणाणुरुता महता जणक्खयं जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं नच्चंतकवंधवारभीमं रुहिरकद्दमं करेमाणा अन्नमन्नेणं सद्धिं जुज्झंति।"

(निर्यावलिसूत्र)

अर्थः—उसके बाद उन दोनों राजाओं के सैनिक कवच पहनकर तैयार हुए, उन्होंने आयुध और प्रहरण ग्रहण किये, फलों को हाथों में ले लिया, खड्ग को म्यान से बाहर खींच लिया, तरकस को कंधे के ऊपर लटका दिया। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा दी और तरकस से बाणों को बाहर खींचा। बरछी को उछालने लगे। जंघा में बंधे घुँघरू हटा दिये और अधिक शीघ्रता से बाजे बजाने लगे। खूब जोरों से सिंहनाद और कल-कल शब्द करने लगे, जैसे समुद्र का गर्जन हो। ऐसे सर्व-समृद्धि-सहित, समस्त प्रकार के बाजों के शब्द-सहित अश्वा-रोही, गजारोही और रथिक इत्यादि परस्पर एक दूसरे के साथ युद्ध करने लगे।

उसके बाद उन दोनों राजा के सैनिक अपने स्वामी की आज्ञा के अनुरूप होने से योद्धाओं का, जनों का क्षय करते, मर्दन करते, संवर्त्तक वायु की तरह, चारों तरफ से जिस प्रकार वस्तुओं को वह एकत्र करता है, उसी प्रकार लोगों को काट-काट कर एक के बाद

दूसरे को एकत्र करते हुए, नृत्य करते हुए, कबंध और हाथ में से छूटे हुए मदिरा-पात्रों से रणभूमि को भयंकर करते हुए तथा रुधिर की कीच बनाते हुए, परस्पर युद्ध करने लगे।

### तपस्वी-वर्णन

मूलः—"धन्नस्स णं अणगारस्स पादाणं अयमेयारूवे तवरूव-लावन्ने होत्था, से जहा-णामते सुक्क-छल्लीति वा कट्ठ-पाउयाति वा जरग्ग-ओवाहणाति वा, एवामेव धन्नस्स अणगारस्स पाया सुक्का णिम्मंसा अट्ठि-चम्म-छिरत्ताए पणायंति णो चेव णं मंससोणियत्ताए। धन्नस्स णं अणगारस्स पायंगुलियाणं अयमेयारूवे० से जहाणाम ते कल-संगलियाति वा मुग्ग-सं० वा मास-संगलियाति वा तरुणिया छिन्ना उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी मिलायमाणीर चिट्ठति। एवामेव धन्नस्स पायंगुलियातो सुक्कातो जाव सोणियत्ताते।"

(अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र : तृतीय वर्ग)

अर्थः—धन्य अनगार के पैरों का तप से ऐसा लावण्य हो गया, जैसे सूखी हुई वृक्ष की छाल, लकड़ी की खड़ाऊँ या जीर्ण जूता हो। इसी प्रकार धन्य अनगार के पैर केवल हड्डी, चमड़ा और नसों से ही पहचाने जाते थे, न कि मांस और रुधिर से। धन्य अनगार की पैरों की उँगलियों का ऐसा तपजनित लावण्य हुआ, जैसा कलाय धान्य की फलियाँ, मूँग की फलियाँ अथवा माष की फलियाँ कोमल ही तोड़कर धूप में डाली हुई मुरझा जाती हैं। धन्य अनगार की उँगलियाँ भी इतनी मुरझा गई थीं कि उनमें केवल हड्डी, नस और चमड़ा ही नजर आता था, मांस और रुधिर नहीं।

मूलः—"धन्नस्स जंघाणं अयमेवारूवे० से जहा० काक-जंघाति वा कंक-जंघाति वा ढेणियालिया जंघाति वा जावणो सोणियत्ताए, धन्नस्स जाणूणं अयमेयारूवे० से जहा कालि-पोरेति वा मयूर-पोरेति वा ढेणियालिया-पोरेति वा, एवं जावनो सोणियत्ताए। धण्णस्स ऊरुस्स० जहाणामते सामकरील्लेति वा बोरी-करील्लेति वा सल्लति० सामली० तरुणिते उण्हे जाव चिट्ठति, एवामेव धन्नस्स ऊरू जाव सोणियत्ताए।" (अनुत्तर० सूत्र०)

अर्थः—धन्य अनगार की जंघाएँ तप के कारण इस प्रकार निर्मांस हो गईं, जैसे काक (कौवे) की, कङ्कपक्षी की और ढेणिक (ढंक) पक्षी की जंघाएँ होती हैं। वे सूखकर इस तरह की हो गईं कि और रुधिर देखने को भी नहीं रह गया। धन्य अनगार की जानु तप से इस प्रकार सुशोभित हुई, जैसे कालि नामक वनस्पति, मयूर और ढेणिक पक्षी के पर्व (गाँठ) होते हैं। वे भी मांस और रुधिर से नहीं पहचाने जाते थे। धन्य अनगार के उरोजों की भी तप से इतनी सुन्दरता हो गई जैसे प्रियंगु, बदरी, शल्यकी और शाल्मली वृक्षों की कोमल-कोमल कोपलें, तोड़कर धूप में रखी हुई मुरझा जाती हैं। ठीक इस तरह धन्य अनगार के ऊरु भी मांस और रक्त से रहित होकर मुरझा गये थे।

मूलः—"धन्नस्स कडिपत्तस्स इमेयारूवे० से जहाणामए उट्टपादेति वा जरग्गपादेति वा जाव सोणियत्ताए, धन्नस्स उदरभायणस्स इमे० से जहा० सुक्क-द्रिएति वा भज्जणय-कमल्लेति वा कट्ठ-कोलंबएति वा, एवामेव उदरं सुक्कं। धन्न० पंसुलिय-कडयाणं इमे० से जहा० भासयावलीति वा पाणावलीति वा मुंडावलीति वा। धन्नस्स पिट्ठि-करंडयाणं अयमेयारूवे०

से जहा० कन्नावलीति वा गोलावलीति वा वट्टयावलीति वा। एवमे० धन्नस्स उर-कडयस्स अय० से जहा० चित्तकटरेति वा वियणपत्तेति वा तालियंट-पत्तेतिवा, एवामेव० ।" (अनु० सू०

अर्थः—धन्य अनगार के कटि-पत्र का इस प्रकार का तप-जनित लावराय हुआ, जैसे ऊँट का पैर हो। उसमें मांस और रुधिर का सर्वथा अभाव था। धन्य अनगार का उदर भाजन इतना सुन्दराकार हो गया था, जैसे सूखी मशक हो, चने आदि भूनने का भाराड़ ह अथवा लकड़ी का, बीच में मुड़ा हुआ, पात्र हो। उसका उदर भी ठीक इसी प्रकार सू गया था। धन्य अनगार की पार्श्व की अस्थियाँ तप से इतनी सुन्दर हो गई थीं, जैसे दर्पण की पंक्ति हो, पाण नामक पात्रों की पंक्ति हो अथवा स्थाणुओं की पंक्ति हो। धन्य अनगा के पृष्ठ-प्रदेश के उन्नत भाग इतने सुन्दर हो गये थे जैसे कान के भूषणों की पंक्ति हो गोलक-वर्तुलाकार पाषाणों की पंक्ति हो अथवा वर्तक-लाख आदि के बने हुए बच्चों खिलौनों की पंक्ति हो। इसी प्रकार धन्य अनगार के पृष्ठ-प्रदेश भी सूखकर निर्मांस गये थे। धन्य अनगार के वक्षःस्थल के कटकों की इतनी सुन्दरता हो गई थी, जैसे गौ चरने के कुराड का अधोभाग होता है, बाँस आदि का पंखा होता है अथवा ताड़ के पत्ते का पंखा होता है। ठीक इसी प्रकार उसका वक्षःस्थल भी सूखकर मांस और रुधिर रहित हो गया था।

मूलः—"धन्नस्स बाहाणं० से जहाणामते समिसंगलियाति वा अगत्थिय-संगलियाति वा एवामेव०। धन्नस्स हत्थाणं० से जहा० सुक्क-छगणियाति वा वडपत्तेति वा पलास-पत्ते वा एवामेव०। धन्नस्स हत्थंगुलियाणं० से जहा० कलायसंगलियाति वा मुग्ग० मास तरुणिया छिन्ना आयेव दिन्ना सुक्का समाणी एवामेव।" (अनुत्तर० सू

अर्थः—मांस और रुधिर के अभाव से धन्य अनगार की भुजाएँ इस प्रकार हो थीं, जैसे शमी, बाहाय और अगस्तिक वृक्ष की सूखी हुई फलियाँ हों। धन्य अनगार के हा सूखकर इस प्रकार हो गये थे, जैसे सूखा गोला होता है अथवा वट और पलाश के सू पत्ते होते हैं। उस तप के प्रभाव से धन्य अनगार की उंगलियाँ भी सूख गई थीं और ऐ प्रतीत होती थीं मानो कलाय, मूँग अथवा माष की फलियाँ, जो कोमल-कोमल तोड़ धूप में रखी हुई हों। जिस प्रकार ये मुरझा जाती हैं उसी प्रकार उनकी उँगलियाँ भी मां और रुधिर के अभाव से मुरझा कर सूख गई थीं।

मूलः—"धन्नस्स जीवाए० से जहा० करग-गीवाति वा कुंडिया-गीवाति वा उच्चट्ठवणते वा एवामेव० धन्नस्स णं हणुआए से जहा० लाउय-फलेति वा हकुव-फलेति वा अंबगुट्टि याति वा एवामेव०। धन्नस्स उट्ठाणं से जहा० सुक्क-जलोयाति वा सिलेस-गुलियाति अलत्तग-गुलियाति वा एवामेव०। धन्नस्स जिब्भाए० से जहा० वडपत्तेति वा पलास-पत्ते वा सागपत्तेति वा एवामेव०।" (अनुत्तर० सू

अर्थः—धन्य अनगार की ग्रीवा मांस और रुधिर के अभाव में सूखकर इस तर दिखाई देती थी, जैसी सुराही, कुरिडका [कमराडलु] और किसी ऊँचे मुखवाले पात्र की ग्रीवा होती है। उनका चिबुक भी इसी प्रकार सूख गया था और ऐसा दिखाई देता थ

जैसा तुम्बे या इकुब का फल अथवा आम की गुठली होती है। ओठों की भी यही दशा थी। वे भी सूखकर ऐसे ही हो गये थे, जैसी सूखी हुई जोंक होती है अथवा श्लेष्म या मेंहदी की गुटिका होती है। उनमें रक्त का बिलकुल अभाव हो गया था। जिह्वा में भी बिलकुल रक्त का अभाव हो गया था, वह ऐसी दिखाई देती थी, जैसा वह वटवृक्ष या पलाश का पत्ता हो या सूखे हुए शाक का पत्ता हो।

मूलः—"धन्नस नासाए से जहा अंबग-पेसियाति वा अंबा-डग-पेसियाति वा मातुलुंग पेसियाति वा तरुणिया० एवामेव०। धन्नस्स अच्छीण० से जहा० वीणा-छिड्डे ति वा बद्धीसग-छिड्डे ति वा पाभातिय-तारिगाइ वा एवामेव०। धन्नस्स कण्णाणं० से जहा० मूलछल्लियाति वा वालुक० कोरल्लय-छल्लियाति वा एवामेव० धन्नस्स सीसस्स से जहा० तरुणग-लाउएति वा तरुणग-एलालुयत्ति वा सिग्हालएति वा तरुणए जाव चिट्ठति एवामेव धन्नस्स अणगारस्स सीसं सुक्कं लुक्खं णिम्मंसं अट्ठि-चम्म-च्छिरत्ताए पन्नायति णो चेव णं मंस-सोणियत्ताए, एवं सव्वत्थ, णवरं उदरभायणकण्ण-जीहा-उट्ठाएएंसि अट्ठीण भन्नति चम्मच्छिरत्ताए पण्णाय इति भन्नति।" (अनुत्तर० सू०)

अर्थः—धन्य अनगार की नासिका तप के कारण सूखकर ऐसी हो गई थी, जैसी एक आम, आम्रातक या मातुलुंग फल की फाँक कोमल-कोमल काटकर धूप में सुखा देने से हो जाती है। धन्य अनगार की आँखें इस प्रकार दिखाई देती थीं, जैसा वीणा या बद्धीसग (वाद्यविशेष) का छिद्र हो अथवा प्रभात काल का टिमटिमाता हुआ तारा हो। इसी तरह उसकी आँखें भी भीतर धँस गई थीं। धन्य अनगार के कान ऐसे हो गये थे, जैसे मूली का छिलका होता है अथवा चिर्भटी की छाल होती है या करेले का छिलका होता है। जिस प्रकार ये सूखकर मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उनके कान भी मुरझा गए थे। धन्य अनगार का सिर ऐसा हो गया था जैसा कोमल तुम्बक, कोमल आलू और शेफालक धूप में रखे हुए सूख जाते हैं। इसी प्रकार, उनका सिर सूख गया था, रूखा हो गया था और उसमें केवल अस्थि, चर्म और नासा-जाल ही दिखाई देता था, किन्तु मांस और रुधिर नाममात्र के लिए भी शेष नहीं रह गया था। इसी प्रकार, सब अंगों के विषय में जानना चाहिए। विशेषता केवल इतनी है कि उदर-भाजन, कान, जिह्वा और होंठ इनके विषय में अस्थि नहीं कहना चाहिए, किन्तु केवल चर्म और नासा-जाल से ही ये पहचाने जाते थे, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि इन अंगों में अस्थि नहीं होती।

मूलः—"धन्नेणं अणगारेणं सुक्केणं भुक्खेणं पात-जंघोरुणा विगत-तडिकरालेणं कडि-कडाहेणं पिट्ठमवस्सिएणं उदर-भायणेणं, जोइज्जमाणेहि पांसुलिकडएहि, अक्ख-सुत्त-मालाति वा गणिज्जमालाति वा गणेजमणिहिं, पिट्ठि-करंडगसंधीहिं, गंगा-तरंगभूएणं उर-कडग-देस-भाएणं सुक्क-सप्प-समाणाहिं बाहाहिं, सिढ़िल-कडाली विव चलंतेहि य अग्ग-हत्थेहि, कंपणवातिओ विव वेवमाणीए सीस-घडीए पव्वाय-वदण-कमले, उब्भड-घडामुहे, उब्बुडणयणकोसे, जीवं जीवेणं गच्छति, जीवं जीवेणं चिट्ठति, भासं भासिस्सामीति गिलातिइ! से जहाणामते

इंगाल सगडिया ति वा जहा खंदओ तहा जाव हुयासग इव भस्स-रासिपलिच्छन्ने तवेणं तेएणं, तवतेयसिरीए उव-सोभेमाणे २ चिट्ठति ।" (अनुत्तर० सू० ३)

अर्थः—धन्य अनगार मांस आदि के अभाव से सूखे हुए, भूख के कारण रूखे पैर, जंघा और उससे भयंकर रूप से प्रान्त भागों में उन्नत हुए कटिकटाह से, पीठ के साथ मिले हुए उदर-भाजन से, पृथक्-पृथक् दिखाई देती हुई पसलियों से, रुद्राक्षमाला के समान स्पष्ट गिनी जानेवाली पृष्ठकरण्डक (पीठ के उन्नत-प्रदेशों) की सन्धियों से, गंगा की तरंगों के समान उदर-कटक के प्रान्त भागों से, सूखे हुए साँप के समान भुजाओं से, घोड़े की ढीली लगाम के समान चलते हुए हाथों से, कम्पन वायुरोगवाले पुरुष के शरीर के समान काँपती हुई शीर्षघटी से, मुरझाये हुए मुख-कमल से क्षीण ओष्ठ होने के कारण घड़े के मुख के समान विकराल मुख से और आँखों के भीतर धँस जाने के कारण इतना कृश हो गया था कि उसमें शारीरिक बल बिलकुल भी बाकी नहीं रह गया था। वह केवल जीव के बल से ही चलता, फिरता और खड़ा होता था। थोड़ा-सा कहने के लिए भी वह स्वयं खेद मानता था। जिस प्रकार कोयलों की गाड़ी चलते हुए शब्द करती है, इसी प्रकार उसकी अस्थियाँ भी चलते हुए शब्द करती हैं। इसी प्रकार, उसकी अस्थियाँ भी चलते हुए शब्द करती थीं। वह स्कन्दक के समान हो गया था। भस्म से ढँकी हुई आग के समान वह भीतर से दीप्त हो रहा था। वह तेज से, तप से और तप की शोभा से शोभायमान होता हुआ विचरता था।

## जेल-वर्णन

हे गोतम! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बू द्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सिंहपुर नाम का एक ऋद्धस्तिमित और समृद्ध नगर था। वहाँ सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। उसका दुर्योधन नाम का एक चारकपाल कारागृह-रक्षक (जेलर) था जो अधर्मी और दुष्प्रत्यानंद (कठिनाई से प्रसन्न होनेवाला) था। उसके निम्नोक्त चारक भांड (कारगार के उपकरण) थे।

अनेकविध लोहमय कुंडियाँ थीं, जिनमें से कई एक ताम्र से पूर्ण थीं। कई एक त्रपु से परिपूर्ण थीं। कई एक सीसक (सीसे) से पूर्ण थीं, कितनी एक चूर्णमिश्रित जल से भरी हुई और कितनी एक क्षारयुक्त तेल से भरी हुई थीं जो अग्नि पर रखी रहती थीं।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के पास अनेक उष्ट्रों के पृष्ठभाग के समान बड़े-बड़े वर्द्धन (मटके) थे। उनमें से कुछ अश्वमूत्र से भरे हुए थे कुछ हस्तिमूत्र से कुछ उष्ट्रमूत्र से, कुछ गोमूत्र से कुछ महिषमूत्र से, कुछ एक अजमूत्र से और कुछ भेड़ों के मूत्र से।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के अनेक हस्तान्दुक (हाथ में बाँधने का बन्धन-विशेष), पादान्दुक (पाँव में बांधने का काष्ठ-निर्मित बन्धन-विशेष), हडि—काठ की बेड़ी, निगड़—लोहे की बेड़ी और श्रृङ्खला, लोहे की जंजीरों के पुंज (शिखरयुक्त राशि) तथा निकर (शिखररहित ढेर) लगाये हुए रखे थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक वेणुलताओं—बांस के चाबुकों, बेंत के चाबुकों, चिंचा (इमली) के चाबुकों, कोमल चर्म के चाबुकों तथा सामान्य चाबुकों और वल्कल-रश्मियों (वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुकों) के पुंज और निकर रखे पड़े थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक शिलाओं, लकड़ियों, मुद्गरों, के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेकविध चमड़े की रस्सियों, सामान्य रस्सियों, वल्कल-रज्जुओं (वृक्षों की त्वचा से निर्मित रज्जुओं), केशरज्जुओं और सूत्र की रज्जुओं के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास असिपत्र (कृपाण) करपत्र (आरा), क्षुरपत्र (उस्तरा) और कदम्बचीरपत्र—(शस्त्रविशेष) के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेकविध लोह-कील, वंश-शलाका, चर्मपट्ट और अलपट्ट के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेक सुइयों, और लघु मुद्गरों के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेक प्रकार के शस्त्र, पिप्पल (लघु छुरे) कुठार, नखच्छेदक और दर्भ (डाभ, कुश) के पुंज और निकर रखे हुए थे।

तदन्तर वह दुर्योधन नामक चारकपाल (कारागार का प्रधान नायक अर्थात् जेलर) सिंहरथ राजा के अनेक चोर पारदारिक, ग्रन्थिभेदक, राजापकारी ऋणधारक, बालघाती, विश्वासघाती, जुआड़ी और धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़ा कर ऊर्ध्वमुख गिराता है। गिरा कर लोहदंड से मुख का उद्घाटन कराता है अर्थात् खुलवाता है। मुख खोलकर कितनों को तप्त पिघला हुआ ताम्र पिलाता है। कितनों को त्रपु, सीसक चूर्णादिमिश्रित जल अथवा कलकल करता हुआ उष्णात्युष्ण जल और क्षारयुक्त तैल पिलाता है तथा कितनों का उन्हीं से अभिषेक कराता है। कितनों को ऊर्ध्वमुख अर्थात् सीधा गिराकर उन्हें अश्वमूत्र, हस्ति या भेड़ों का मूत्र पिलाता है, कितनों को अधोमुख गिरा कर घल-घल शब्दपूर्वक वमन कराता है तथा कितनों को उसीके द्वारा पीड़ा देता है। कितनों को हस्तान्दुकों, पादान्दुकों, तथा निगड़ों के बन्धनों से युक्त कराता है। कितनों के शरीर को सिकोड़ने का आदेश देता है, कितनों को शृङ्खलाओं से बँधवाता है तथा कितनों का हस्तच्छेदन कराता है। कितनों को वेणुलताओं और वल्कल-रश्मियों से पिटवाता है।

कितनों को ऊर्ध्वमुख गिराकर उनके वक्षःस्थल पर शिला और लक्कड़ धराकर राजपुरुष द्वारा उस शिला तथा लक्कड़ का उत्कंपन कराता है। कितनों के हाथों और पैरों को सूत्र-रज्जुओं से बँधवाता है। बँधवाकर कूप में उलटा लटकाता है। लटका कर गोते खिलाता है तथा कितनों का असिपत्र से छेदन कराता है और उसपर क्षारयुक्त तैल की मालिश कराता है। कितनों के मस्तकों, जानुओं और गुल्फों-गिट्टों में लोह-कीलें तथा वंश-शलाकाओं को ठुकवाता है तथा वृश्चिकंटकों—बिच्छू के कांटों को शरीर में प्रविष्ट कराता है। कितनों की

हस्तांगुलियों और पादांगुलियों में मुद्गरों के द्वारा सुइयों और दम्भनों को प्रविष्ट कराता है तथा (उन्हीं हाथों से) भूमि को खुदवाता है। कितनों के अंगों को शस्त्रों से छिलवाता है और मूलसहित दर्भ तथा आर्द्रचर्म के द्वारा बँधवा देता है। तदन्तर धूप में गिराकर उनके सूखने पर चड़-चड़ शब्दपूर्वक उनका उत्पाटन कराता है। (विपाक सूत्र)

ऐसे वर्णन सैकड़ों है। यहाँ उदाहरण के लिए ही थोड़े-से दिये हैं। इन वर्णनों की परम्परा जैसे साहित्य में पीछे भी रही है। १५ वीं से १८ वीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा में वाग्विलास, सभा-शृंगार, सभा-कौतूहल आदि संज्ञावाले स्वतन्त्र वर्णनात्मक लेख भी लिखे गये, जिनका कुछ परिचय राजस्थान-भारती में प्रकाशित किया गया है। उनका एक संग्रह-ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) से संपादित कर प्रकाशित करवा रहा हूँ।

# हिन्दी लिपि

श्री कार्त्तिकनाथ मिश्र

[ इस प्रबन्ध के लेखक पटना-विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हैं। इन्होंने कविता और कहानी के क्षेत्रों में भी प्रयोग किये हैं। हम इनके लिपि-सम्बन्धी सुझावों से असहमत होते हुए भी इनकी वैज्ञानिक विवेचन-प्रणाली के कायल हैं। —सं० ]

## प्राक्कथन

हमारा उद्देश्य, देवनागरी लिपि में सुधारकर, एक ऐसी नई लिपि का सर्जन करना है, जो देवनागरी लिपि के गुणों की रक्षा करते हुए भी इतनी सुगम हो कि देवनागरी लिपि के विरोधी भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लें।

नागरी के सुधार की इस योजना में किसी भी वर्ण के प्रति धार्मिक मोह नहीं रखा गया है। इससे मुद्रण में काफी सुविधा होगी। परन्तु, केवल मुद्रण की सुविधा के लिए ही नागरी लिपि को विकलांग बना देना उचित नहीं समझा गया है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इस लिपि में कहीं भी देवनागरी लिपि का आमूल परिवर्त्तन दृष्टिगोचर न होगा। इसमें केवल देवनागरी लिपि के विकास-क्रम की दिशा का निष्पक्ष रूप से अध्ययन कर, स्वाभाविक गति से भविष्य में स्वतः आ सकनेवाले उसके स्वरूप का निर्देश किया है। 'हिन्दी लिपि' को इस प्रकार, एक वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा की गई है।

## विषय-प्रवेश

'हिन्दी लिपि' में कुल पचीस वर्ण हैं, जिनमें सोलह तो 'मुख्य वर्ण' हैं और नौ

'सहायक वर्ण अथवा मात्राएँ' हैं। उनके मेल से देवनागरी के प्रायः सभी वर्ण लिख लिये जाते हैं, जिनके द्वारा ध्वनियों को लिपिबद्ध करने की क्षमता में, वह प्रायः देवनागरी की समकक्ष हो जाती है। 'सहायक वर्ण' और 'मुख्य वर्ण' की संख्या का भी बड़ा अपूर्व मेल है : $३^२+४^२=५^२$। ये क्रमशः इस प्रकार हैं:—

सहायक वर्ण (मात्राएँ) : १. ı; २. ी; ३. ु; ४. े; ५. ो; ६. ं; ७. २; ८. ‿; ९. ..।
मुख्य वर्ण : १. अ; २. क; ३. ग; ४. চ; ५. ज; ६. ट; ७. ड; ८. त; ९. द;
१०. न; ११. प; १२. ब; १३. म; १४. र; १५. ल; १६. स।

सहायक मात्राओं का विश्लेषण

प्रथम 'सहायक मात्रा' का नाम 'दीर्घ मात्रा' रखा गया है। इसका रूप पूर्ण विराम-सा है। इसका स्थान प्रत्येक वर्ण के माथे पर होता है। इसमें ऐसी शक्ति है कि यह 'अ-कार' की ध्वनि को 'आकार', 'इ-कार' को 'ईकार', 'उ-कार' को 'ऊकार', 'ए-कार' को 'ऐकार,' एवं 'ओ-कार' को 'औकार' में बदल देता है।

उदाहरण:—अ + ı = अ̇ (आ)
क + ı = क̇ (का)
कि + ı = कि̇ (की)
कु + ı = कु̇ (कू)
के + ı = के̇ (कै)
को + ı = को̇ (कौ)

द्वितीय 'सहायक मात्रा' का नाम 'ह्रस्व इ-मात्रा' रखा गया है। इसकी शक्ति नागरी लिपि के 'ह्रस्व इ-कार' मात्रा के बराबर है; साथ ही 'अ' के साथ मिल कर यह नागरी लिपि के 'इ' का भी निर्माण करती है। इसका रूप नागरी लिपि की 'ह्रस्व इ-कार' मात्रा की प्रतिबिम्बित मूर्त्ति (Reflected Image) की तरह है; परन्तु इसे वर्णों के पहले न लिखकर बाद में लिखा जाता है।

तृतीय, चतुर्थ, पंचम, और षष्ठ, मात्रागण क्रमशः 'ह्रस्व उ-मात्रा', 'ए-मात्रा', 'ओ-मात्रा' एवं 'अं-मात्रा' कहलाते हैं। ये क्रमशः 'ह्रस्व उ-कार', 'ए-कार' 'ओ-कार', एवं 'अनुस्वार' का तो काम करते ही हैं, 'अ' के साथ 'ह्रस्व उ-मात्रा' मिलकर देवनागरी लिपि के 'उ', और 'अ' के साथ 'ए' मात्रा मिलकर देवनागरी लिपि के 'ए' का भी निर्माण करते हैं।

टिप्पणी : 'अ' द्वारा विभिन्न मात्राओं के साथ मिलकर उसी मात्रा जैसे ध्वनित एक वर्ण का सर्जन करना कुछ नया नहीं है; आ, ओ, औ, अं, अः इसके सफल उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत लिपि में इसका क्षेत्र थोड़ा विस्तृत कर, 'इ-कार' और 'उ-कार' में भी ऐसे प्रयोग किये गये हैं।

सप्तम सहायक मात्रा को 'महाप्राण मात्रा' कहा गया है। इसका रूप बँगला के ह '२' से मिलता-जुलता है। यह प्रत्येक वर्ण के दाहिनी ओर सट सकता है। इसमें ऐसी शक्ति है कि 'क' बदल कर 'ख'; ग—घ; च—छ; ज—झ; ट—ठ; ड—ढ; त—थ; द—ध; प—फ; ब—भ; और स बदल कर श हो जाता है। 'अ' के साथ मिलकर यह 'ह' भी बनता है।

उदाहरणः—क + २ = क२ (ख); ग + २ = ग२ (घ)
च (च)+२ = छ (छ); ज + २ = ज२ (झ)
ट + २ = ट२ (ठ); ड + २ = ड२ (ढ)
त + २ = त२ (थ); द + २ = द२ (ध)
प + २ = प२ (फ); ब + २ = ब२ (भ)
स + २ = स२ (श); अ + २ = अ२ (ह)

टिप्पणी : १. 'महाप्राण वर्णों' का इस प्रकार बनना कुछ नया नहीं है। देवनागरी में फ और बँगला में छ ( छ ) इसी प्रकार बने हैं।

२. शब्दों के संगठन में भी 'अल्पप्राण वर्ण' अपने बाद में आनेवाले 'ह' से मिल कर Corresponding महाप्राण में बदल जाते हैं।

जैसे :—अब+ही—अभी
गदहा—गधा
अगहन—अगहनुवाँ—अघनुवाँ
अहाता—हाता

हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे हैं।

अष्टम 'सहायक मात्रा' को 'संयुक्त मात्रा' कहते हैं। इसका काम देवनागरी के हलन्त का है। प्रस्तुत लिपि में दो वर्णों का संयुक्त रूप इसी मात्रा के द्वारा होता है। संयुक्त होनेवाले दो वर्णों में प्रथम को आधा काट कर दूसरे से मिलानेवाली देवनागरी की परिपाटी इस लिपि में नहीं है। इसमें दोनों वर्णों के निचले भाग को एक ऊर्ध्वमुख अर्द्धचन्द्राकार मात्रा से मिला दिया जाता है।

जैसे :— गेनुद —गेन्दा
चमपु —चम्पा

नवम और अन्तिम मात्रा को 'बिन्दी मात्रा' कहते हैं। यह 'ड' और 'ढ' में मिलकर 'ड़' और 'ढ़' की रचना तो सदा से करता आया ही है, क, ग, ज, झ, फ, आदि कुछ वर्णों के साथ लगकर कुछ अरबी, फारसी एवं अँगरेजी (जैसे, V-भी) ध्वनि

को भी लिपिबद्ध कर सकता है। साथ ही ब, न, और अ के साथ लगा कर इन्हें क्रमशः 'व', 'ण' एवं 'य' में परिवर्तित कर देने की विशेष क्षमता इसे प्राप्त है।

जैसेः— ब़ ≡ व
ऩ ≡ ण, रा
अ़ ≡ य

मुख्य वर्णों का विश्लेषण

हिन्दी के मुख्य वर्ण संख्या में सोलह हैं।

१. अ; २. क; ३. ग ; ४. ट; ५. ज; ६. ट; ७. ड; ८. त; ९. द; १०. न; ११. प; १२. ब; १३. म; १४. र; १५. ल; १६. स; ।

सहायक मात्राओं के मेल से देवनागरी लिपि के जिन वर्णों की रचना की जा सकती है, वे इस प्रकार हैं :—

| | | |
|---|---|---|
| १. | अ | अ |
| २. | आ | अं |
| ३. | इ | अी |
| ४. | ई | अी |
| ५. | उ | अु |
| ६. | ऊ | अु |
| ७. | ऋ | ? |
| ८. | ॠ | ? |
| ९. | ऌ | ? |
| १०. | ॡ | ? |
| ११. | ए | अे |
| १२. | ऐ | अै |
| १३. | ओ | आे |
| १४. | औ | आैं |
| १५. | अं | अं |
| १६. | अः | ? |
| १७. | क | क |
| १८. | ख | क |
| १९. | ग | ग |
| २०. | घ | गे |
| २१. | ङ | ? |

| | | |
|---|---|---|
| २२. | च | ट |
| २३. | छ | टर |
| २४. | ज | ज |
| २५. | झ | जर |
| २६. | ञ | ? |
| २७. | ट | ट |
| २८. | ठ | टर |
| २९. | ड | ड |
| ३०. | ढ | डर |
| ३१. | ण | न |
| ३२. | त | त |
| ३३. | थ | तर |
| ३४. | द | द |
| ३५. | ध | दर |
| ३६. | न | न |
| ३७. | प | प |
| ३८. | फ | फ |
| ३९. | ब | ब |
| ४०. | भ | बर |
| ४१. | म | म |
| ४२. | य | अ़ |

| | | |
|---|---|---|
| ४३. | र | र |
| ४४. | ळ | ळ |
| ४५. | व | ब़ |
| ४६. | श | स२ |
| ४७. | ष | ? |
| ४८. | स | स |
| ४९. | ह | अ२ |
| ५०. | क्ष | ? |
| ५१. | त्र | ? |
| ५२. | ज्ञ | ? |

## हिन्दी लिपि के वर्णों की विशद व्याख्या

१. अ : 'अ' का रूप वैसा ही रहता है, जैसा नागरी में। लिखने की सुविधा का खयाल कर 'अ' का दूसरा रूप 'अ' स्वीकार नहीं किया गया है।

२. आ : 'अ' और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अ॰।

३. इ : 'अ' और 'ह्रस्व इ-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अि।

४. ई : ह्रस्व इ (अि) और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अीं।

५. उ : 'अ' और 'ह्रस्व उ-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अु।

६. ऊ : ह्रस्व उ (अु) और 'दीर्घ मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, अुं।

११. ए : 'अ' और 'ए-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अे।

१२. ऐ : अे और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अैं।

१३. ओ : अ और 'ओ-मात्रा' के मेल से बनता है; फलस्वरूप, इसका रूप देवनागरी के 'ओ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, ओ।

१४. औ : ओ और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ओं।

१५. अं : अ के साथ 'अं मात्रा' के मेल से बनता है। इसका भी रूप देवनागरी के 'अ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, अं।

१७. क : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

१८. ख : क और महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे। क२।

१९. ग : यह देवनागरी और बँगला के ग का मिश्रित रूप है। देवनागरी का ग दो स्वतंत्र हिस्सों ( ॽ ) और ( ा ) के मेल से बना है। प्रत्येक वर्ण को एक ही इकाई (Unit) में रखने के प्रयास में बँगला के ग ( গ ) की विशेषता को अपनाया गया है; फिर भी त एवं ज से Confusion हो जाने के भय से बँगला के 'ग' को पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इसे लिखने के लिए, देवनागरी का ग लिखकर इसके प्रथम खंड के ऊपरी भाग और दूसरे खंड के निचले भाग को एक कर्ण (Diagonal) द्वारा मिला दिया जाता है। जैसे– ग।

२०. घ : ग के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे ग२।

२२. च : इसके लिए बँगला का 'च' ( চ ) स्वीकार कियागया है। ऐसा देखने

आता है कि अधिकांश वर्णों का Centre of Gravity बाईं ओर है। बँगला का 'च' इस तरह एक प्रकार की एकरूपता एवं उससे होनेवाले Confusion से हमारी रक्षा करता है। जैसे, ঢ।

२३. छ : च (·ঢ) के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। संयोग से यह बँगला के 'छ' (ছ) से भी मिलता-जुलता है। जैसे, ঢ + ৲=ছ

२४. ज : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

२५. झ : ज के साथ 'महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, ज+२= [illegible]

२७. ट : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

२८. ठ : ट के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ट+२= [illegible] ।

२९. ड : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३०. ढ : ड के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ड+२= [illegible] ।

३१. ण : दन्त्य 'न' के साथ 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, ऩ।

३२. त : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३३. थ : त के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, [illegible] ।

३४. द : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३५. ध : द के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, [illegible] ।

३६. न : देवनागरी के ही रूप में रहता है।

३७. प : देवनागरी लिपि के हा रूप में रहता है।

३८. फ : प के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है।

इसका रूप कुछ-कुछ नागरी के 'फ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, प+२= [illegible] ।

३९. ब : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४०. भ : ब और महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, ब+२= [illegible] ।

४१. म : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४२. य : अ और 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, अ़।

४३. र : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४४. ल : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४५. व : ब और 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, ब़।

४६. श : दन्त्य स के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, स+२= [illegible] ।

४८. स : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४९. ह : अ और 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है, जैसे, अ+२= [illegible] ।

## देवनागरी लिपि के लुप्तप्राय वर्ण

देवनागरी लिपि के जिन वर्णों के लुप्त होने की क्रिया में इस नवीन लिपि के उद्भव

द्वारा गतिवृद्धि लायी गयी है, वे हैं:—

७ ८ ९ १० १६ २१ २६ ४७ ५० ५१ ५२
ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, अः, ङ, ञ, ष, क्ष, त्र, ज्ञ,

८ ९ १०
इनमें ॠ, ऌ, और ॡ के लिए हिन्दी-जगत् में आँसू बहानेवाला शायद अब कोई न होगा। हिन्दी के लिए ये वर्ण लुप्त हो गये।

२१ २६
ङ और ञ की रक्षा करने कुछ लोग भले ही निकल आयें, परन्तु इन वर्णों का व्यवहार अब एक विलास भर रह गया है। इन दोनों वर्णों का स्थान अनुस्वार ने पूरी तरह ले लिया है; जैसे, कंगन (कङ्गन), गंगा (गङ्गा), शंख (शङ्ख), चंचल (चञ्चल), मंजुल (मञ्जुल) आदि। यह दूसरी बात है कि वर्णमाला में ये अब भी हैं और हिन्दी सीखनेवालों को इन्हें भी सीखना पड़ता है, (भले ही, इसका व्यवहार वे कभी न करें)। ङ और ञ को बनाये रखने का कारण एक तो जातिसाहित्य है और दूसरा यह कि उन्हें हटा देने से व्यंजन-वर्णमाला की श्रृङ्खला टूट जाती है।

विसर्ग का प्रयोग हिन्दी में करीब-करीब समाप्त हो चुका है। जहाँ कहीं वे अब भी बचे हैं, ह में हलन्त लगाकर, [ह्] बिना किसी प्रकार की हानि के उन्हें लुप्त होने में मदद दी जा सकती है।

जैसे:— अ॒ऽह्॒ अह् अः
छ्रिऽह्॒ छिह् छिः

४७
ष का उच्चारण-स्थान प्रत्येक व्याकरण में दिया होता है; फिर भी हम सभी इसका उच्चारण करने में असमर्थ हैं। श और ष की ध्वनि-विभिन्नता इतनी कम है कि वेद-पाठ में 'ष' के 'ख' की तरह उच्चारण की भी छूट है। जैसी आज स्थिति है, अहिन्दी-भाषियों एवं हिन्दी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवालों के लिए 'ष' के शुद्ध उच्चारण करने और लिखने में बड़ी कठिनाई होती है, इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए 'ष' का स्थान 'श' को देना ही श्रेयस्कर लगता है।

७ ५० ५१ ५२
देवनागरी लिपि के ऋ, क्ष, त्र, ज्ञ, इन चार वर्णों और 'श' एवं 'र' के संयुक्त रूप (श्र) के प्रति लोगों का इतना अधिक मोह है कि प्रायः बौद्धिक स्तर पर भी इसपर विचारने को वे तैयार नहीं होते। साधारण विवेचन करने पर ऋ और रि (अधिक झंकृत ध्वनि के लिए र्रि), क्ष और क्श, त्र और त्र्, ज्ञ और ग्य, (भारत के पश्चिमी प्रदेशों में ग्न एवं ज्न), उसी प्रकार श्र और श्र् की ध्वनियों में हम भेद नहीं कर पाते। वैसे ही, किसी वर्ण के ऊपर रेफ लगाने के स्थान पर यदि र और उस वर्ण के संयुक्त रूप व्यवहार में लाये जायँ, तो कोई भी भेद नहीं जाना जा सकता है; जैसे, कार्य-कार्‍य; कर्म-करम आदि।

कविताओं में इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी के आदि काल से होते चले आ रहे हैं। ऐसी दशा में इनकी स्थिति बनाये रखने से हिन्दी को प्रगति में अवरोध की ही अधिक सम्भावना है।

### उपसंहार

जब से 'हिन्दी के कुछ प्रमुख लेखकों ने प्रकाशक की वृत्ति उठायी है, उनके द्वारा सर्जन-कार्य तो समाप्त हुआ ही, हिन्दी जगत् में निहित स्वार्थवाले शक्तिशाली हो गये हैं। ऐसे लोग ही 'स्थिरीकरण' के नाम पर लिपि और भाषा को, बिना समुचित विचार किये एक गतिरहित (statical) रूप दे देना चाहते हैं। वे समझते तो होंगे ही कि आनेवाले कल की हिन्दी आज की हिन्दी से भिन्न होगी—तब इसमें गुजराती, तमिल, बँगला, महाराष्ट्री आदि समुन्नत साहित्य के विद्वान् अधिकाधिक संख्या में पदार्पण कर नई जान फूँक देंगे। इनकी सम्मिलित भाषा आज की हिन्दी भाषा से भिन्न होगी; उसका व्याकरण भी भिन्न होगा—संस्कृत के व्याकरण की जटिलताओं से मुक्त। आशा है, प्रस्तुत हिन्दी लिपि इस शुभ कार्य में यथाशक्ति सहायक होगी।

| | |
|---|---|
| पस्फुअेम स्फरदअ्रु स्फतं | पश्येम शरदः शतम, |
| जींव्रेम स्फरद्अ्रु स्फतं | जीवेम शरदः शतम्, |
| स्फुरीनुअ्रम स्फरदअ्रु स्फतं | श्रृणुयाम शरदः शतम्, |
| पुरब्रुरव्रम स्फरदअ्रु स्फतं | प्रब्रवाम शरदः शतम्, |
| अदीनअ्रु सअ्रम स्फरदअ्रु स्फतं | अदीनाः स्याम शरदः शतम्, |
| कुअस्फुच स्फरदअ्रु स्फतत् । | भूयश्च शरदः शतात् । |

## सांख्य-दर्शन में ईश्वर की सत्ता

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

जबसे इस देश में आधुनिक शिक्षा की अतिवृद्धि से मोक्ष-दर्शन का केवल शब्दाश्रित अध्ययन का आरम्भ हुआ, तबसे प्रत्येक दर्शन पर नये-नये निरर्थक संशय किये जा रहे हैं। आधुनिक विद्वान् केवल शब्दाश्रित विचार के बल पर उन प्रश्नों के उत्तर भी देते हैं। किंच, आजकल मोक्षदर्शनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी किया जा रहा है और आधुनिक ऐतिहासिक मोक्षदर्शन के पदार्थ और मत के विकास में ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करते हैं।

हम इन प्रयासों को ठीक वैसा ही समझते हैं, जैसे नासिका से रूप का विचार या कहीं-कहीं अल्प आलोक से सूक्ष्म वस्तु-दर्शन की व्यर्थ प्रचेष्टा। जबतक किसी भी मोक्ष-दर्शन के मूल पदार्थों का स्वरूप तथा उसके अन्तिम लक्ष्य का अविपर्यस्त ज्ञान न किया जाय, तबतक किसी भी मोक्ष-दर्शन पर कुछ भी अभिमत प्रकाशित नहीं करना चाहिए। अस्तु, परिस्थिति

कुछ भी हो, आजकल यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि सांख्य सेश्वर है या निरीश्वर। आधुनिक काल के आलोचकों ने इसके कई उत्तर दिये हैं, यथा—(क) सांख्य पहले सेश्वर था बाद में किसी कारण से निरीश्वर हुआ, (ख) सांख्य पहले निरीश्वर ही था, बाद में अपनी कमी की पूर्त्ति के लिए किसी ने उसमें ईश्वर का अन्तर्भाव किया, (ग) सांख्य के कुछ आचार्य ईश्वरवादी थे, कुछ निरीश्वरवादी (घ) सांख्य वस्तुतः निरीश्वरवादी ही है इत्यादि।

हम इन सभी समाधानों को पूर्णतः अलीक कल्पना-प्रसूत तथा सांख्य में अशिक्षित व्यक्ति के मत समझते हैं। हम प्रमाणित करेंगे कि जिन लोगों ने सांख्य के बल पर केवल अस्पष्ट बाह्य ज्ञान प्राप्त किया है, उपर्युक्त मत उन्हीं लोगों के है। सांख्य समझने के बाद यह दर्शन सेश्वर या निरीश्वर है—यह प्रश्न उठता ही नहीं है।

यदि आधुनिक शंकक से पूछा जाय कि आप जब सांख्य सेश्वर या निरीश्वर है—ऐसा कहते हैं, तब आप ईश्वर से क्या तात्पर्य लेते हैं—तो शंकक को उत्तर देना कठिन हो जाता है। आधुनिक आलोचकों के मन में ईश्वर-स्वरूप-सम्बन्धी एक शिशूचित अस्पष्ट धारणा रहती है (जो न्यायमार्जित नहीं है) और वह अपनी अलंस्कृत बुद्धि से ईश्वर-स्वरूप की चिन्ता कर जब सांख्य की सेश्वरता या निरीश्वरता का ख्यापन करता है, तब सांख्य यदि कह दे कि मैं तुम्हारी चिन्ता के अनुसार सेश्वर या निरीश्वर होने के लिए बाध्य नहीं हूँ—तो आधुनिक शंकक को और अधिक अग्रसर नहीं होना होगा। हम देख चुके हैं कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में आधुनिक आलोचक (प्राच्य तथा प्रतीच्य) की धारणा इतनी निम्न कोटि की है कि वह किसी भी दर्शन (जो आन्वीक्षिकी की प्रथा में है) में स्थान पाने योग्य नहीं है।

पर यदि शंकक न्यायानुसार ईश्वर का लक्षण करे (जैसा, जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है इत्यादि) और पूछे कि सांख्य-दर्शन में ऐसी ऐशी सत्ता स्वीकृत है या नहीं, तब अवश्य ही सांख्य को उत्तर देना होगा। सांख्य-सूत्र में स्पष्ट ही कथित हुआ है—'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता', 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' (३।५६—५७), अतः इस प्रकार का ईश्वर सांख्य मानता है—यह सिद्ध हुआ।

पर इसके ऊपर भी कुछ आक्षेप हैं, जो समाधेय हैं। शंकक कहता है—'सांख्यसूत्र में ही कहा गया है 'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२), अतः हो सकता है कि इन दोनों सूत्रों में से कोई बाद का हो।[1] किंच, सांख्य का जो ईश्वर मान्य है (३।५७), वह जगत् का स्रष्टा, पालक, नाशक आदि है या नहीं, इसमें भी सन्देह होता है। अपि च, सांख्यकारिका में ईश्वर का कहीं भी प्रसंग नहीं है। यदि ईश्वर सांख्य का मौलिक प्रमेय होता, तो उसका उल्लेख अवश्य होता इत्यादि।

१. या यह भी हो सकता है कि ईश्वरसिद्धि सांख्य का एकदेशीय मत हो। जो कुछ हो—'ईश्वरासिद्धेः' कहने से सांख्यमत में ईश्वर की असिद्धि है—इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है—ऐसा शंकक कहता है।

अब हम इन शंकाओं के उत्तर में सांख्य की ओर से जो कुछ वक्तव्य है—उसका उपस्थापन करने जा रहा हूँ:—

पहले हमको सांख्य विद्या का स्वरूप जानना होगा। सांख्य विद्या का सर्वादिम शिक्षक परमर्षि कपिल हैं। उन्होंने ही सबसे पहले बिना मानुष गुरु के उपदेश के पूर्वजन्म के संस्कार से मूल पर्यन्त सभी तत्त्वों का साक्षात् कर आसुरि को इस विद्या का उपदेश किया था। यह एक ऐतिहासिक घटना है। सभी आर्ष शास्त्र एक स्वर से इस घटना को मानते हैं, अतः इसके ऊपर अपने अन्धविश्वास से संशय किया जा सकता है (जैसे, कुछ पाश्चात्त्य ऐतिहासिकों ने किया है)। पर, संशयमात्र से किसी प्रतिष्ठित घटना का अपलाप नहीं हो जाता। इस लेख में यद्यपि कपिलर्षि के काल के विषय में कुछ कहने का अवकाश नहीं है, तथापि यह घटना इस सृष्टि से बहुत प्राचीनकाल की है—यह शास्त्रसिद्ध है (लेखान्तर में इसका विशेष विचार द्रष्टव्य)।

परमर्षि ने यह उपदेश जिस रूप में किया था, उसका दार्शनिक विवरण पंचशिख ने किया है, यथा—'आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' (१।२५, व्यासभाष्य में उद्धृत; यह पंचशिख वाक्य है, ऐसा टीकाकारों का मत है)। वाक्य में कहा गया है कि परमर्षि ने निर्माणचित्त में अधिष्ठान कर सांख्य विद्या को कहा था।[1] इस वाक्य ने सांख्य विद्या के स्वरूप को स्पष्ट रूप से दिखाया है, तथा जो लोग कपिल को आधुनिक जड़ विज्ञानी की ही तरह समझते हैं या आजकल के भौतिक विज्ञान आदि की तरह सांख्य विद्या को समझते हैं—उन कुसंस्कार-प्रसूत धारणाओं का निराकरण भी यह वाक्य करता है। यथा:—

निर्माणचित्त में अधिष्ठान कर परमर्षि ने सांख्य-ज्ञान दिया। अदिम वक्ता प्राथमिक उपदेश में जब निर्माणचित्त की सहायता लेता है, तब यह प्रमाणित होता है कि सांख्य-ज्ञान के सम्यक् उपदेश के लिए निर्माणचित्त की आवश्यकता अवश्यम्भावी है। निर्माणचित्त अस्मितामात्र से समाधिसिद्ध योगी ही बना सकते हैं (द्र० योग-सूत्र ४।४)। समाधि भी यम-नियम के अभ्यास के बिना नहीं हो सकती, अतः निर्माण-चित्त शब्द से ही यह प्रमाणित हुआ कि कपिल महान् योगसिद्ध थे, वे कोई आधुनिक जड़ विज्ञानी की तरह नहीं थे।[2] सुतरां सांख्यज्ञान का उपदेश भी कैवल्य के लिए ही हुआ था, क्योंकि

---

१. सांख्य विद्या की उत्पत्ति के विषय में पुराणादि में अन्यत्र जो कहा गया है, उससे भी पंचशिख-वाक्य की पुष्टि होती है। किंच, पंचशिख प्राचीनकाल में कपिल की तरह सम्मानित थे (शान्तिपर्व), और उनका विवरण सर्वथा प्रामाणिक और निर्दोष है, सुतरां इस वाक्यज्ञापित तथ्य पर संशय नहीं करना चाहिए।

२. सांख्यीय पदार्थों (भूत, तन्मात्र आदि) के साक्षात् ज्ञान के लिए योग ही एकमात्र उपाय है, लौकिक या यान्त्रिक प्रयत्न से उन पदार्थों का ज्ञान करना

योगसिद्ध महात्मा निःसार जगत्-तत्त्व का उपदेश जगत्-ज्ञान के लिए करेगा ही नहीं—ये सब योग-विद्या के रहस्य हैं।

जब यह सिद्ध हुआ कि कपिल योग-सिद्ध थे, और समाधिसिद्धि ईश्वर-प्रणिधान के विना नहीं हो सकती (योग-सूत्र २।४५), तो सांख्य विद्या में ईश्वर की सत्ता स्वतः सिद्ध हुई—इसमें सन्देह नहीं है।

शंका होगी कि तब सांख्य के सब ग्रन्थों में ईश्वर का स्पष्टतः उल्लेख क्यों नहीं है। उत्तर में वक्तव्य है, हमें 'सांख्य-विद्या' तथा 'सांख्य-ग्रन्थ' (=सांख्य विद्या पर आचार्यों का उपदेश) इन दोनों में भेद करना होगा। हम विद्या के किसी एक प्राचीन या नवीन ग्रन्थ में किसी पदार्थ की अनुक्ति देखकर उसकी असत्ता या अज्ञातता का निश्चय नहीं कर सकते। ग्रन्थ में अनुक्ति देखकर इतना ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। पर, यह नहीं कहा जा सकता है कि यह पदार्थ ग्रन्थकार का सम्मत नहीं है, या ग्रन्थकार को अज्ञात था या इस शास्त्र का सम्मत नहीं है—जैसा कि आजकल के आलोचक समझते हैं। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

(क) जब कोई उपदेश किया जाता है, तो किसी शिष्यस्तरीय चित्तवृत्ति को लक्ष्य कर उपदेश किया जाता है, इसलिए सब ग्रन्थों में उपदेश में सामान्य-विशेष-भाव अनुस्यूत रहता है। जिस स्तरीय चित्त को लक्ष्य कर उपदेश किया गया (या ग्रन्थ लिखा गया), उसका जो साक्षात् प्रयोजनीय नहीं है, ऐसे विषय छोड़ दिये जाते थे-यह पूर्वाचार्यों की शैली है। पर, मौलिक प्रमेयों या मूलकारणों का त्याग कभी नहीं किया जाता था, यह भी जानना चाहिए। प्राचीन आचार्यों की उपदेश-पद्धति आजकल की ग्रन्थ-निर्माण-पद्धति से विलक्षण है, अतः आजकल ग्रन्थानुक्ति से जो कुछ प्रमाणित किया जा सकता है, वह प्राचीनकाल के आचार्यों के उपदेशों में चरितार्थ नहीं होता, यह जानना चाहिए—(विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य)।

(ख) परवर्त्ती काल के शास्त्रों का प्रणयन एक निश्चित दृष्टिकोण से होता था। उस विशिष्ट दृष्टिकोण में जितने पदार्थ नहीं आते थे, उनका उल्लेख ग्रन्थ में स्वतः नहीं किया जाता था, यद्यपि मूल प्रमेयों का उल्लेख अवश्य ही किया जाता था (क्योंकि, उसके त्याग से शास्त्र का ही त्याग होगा)।

(ग) हम देखते हैं कि किसी भी शास्त्र में मूल प्रमेयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के विवरण में यह भी देखा जाता है कि उन मुख्य-मुख्य तथ्यों का ही उल्लेख किया गया है, अनेक अवान्तर विषय छोड़ दिये गये हैं, जो अन्य दृष्टि में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थलों पर अनुक्ति को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि ये विषय ग्रन्थकार को अज्ञात थे, क्योंकि अभ्यास करने से वे विषय जैसे मुझको ज्ञात होते हैं, वैसे उनको भी ज्ञात अवश्य

---

संभव नहीं है। सांख्यशास्त्र का साधनकांड ही योगशास्त्र है जिसमें क्रियायोग की प्रधानता है। सांख्य में तत्त्वों का वर्णन प्रधान है और कुछ ज्ञान-योग का उपदेश भी है—अन्यत्र इसका विचार द्रष्टव्य।

होगा (क्योंकि, साधनमार्ग समान है)। आधुनिक विद्वानों की अपकृष्ट बुद्धि इस रहस्य को नहीं समझ पाता, वे प्रत्येक पदार्थ के लिए शब्दतः उक्ति का अन्वेषण करते हैं। पर, हमारे यहाँ मोक्ष-विद्या के ग्रन्थों में अधिकांश ज्ञात पदार्थों का उल्लेख ग्रन्थकार विस्तार-भय से या अन्य कारण से नहीं करते (जिनका ऊहनपूर्वक ज्ञान शास्त्रीय पद्धति से अनुशीलनकारी कर ही लेता है)—कोई कुछ का उल्लेख करते हैं, तो कोई अन्य कुछ का—जिसको आधुनिक आलोचक 'दर्शन का विकास' समझते हैं, पर वस्तुतः वह उनकी बुद्धि की जड़ता है, जो निम्नांकित उदाहरण से प्रमाणित होगा। शास्त्र में प्राणायाम-अभ्यास, अभ्यास-क्रम, क्रमोन्नति का बाह्य लक्षण इत्यादि विषय कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार से वर्णित हैं। यदि कोई भी अभ्यासी किसी एक शास्त्र के अनुसार यथार्थ रूप से अभ्यास करना आरम्भ कर दे, तो उसको और अनेक अनुभव या फल आदि का साक्षात् ज्ञान होगा, जिनका उल्लेख किसी भी शास्त्र में नहीं है। क्या यहाँ यह कहा जायगा कि पूर्वाचार्यों को उन फलों का ज्ञान नहीं था? उन्हीं के उपदिष्ट मार्ग में साधन करके जो फल मिल रहा है, वह पूर्वाचार्यों को ज्ञात नहीं था—यह आधुनिक आलोचक की कुत्सित बुद्धि ही कह सकती है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्राणायाम के कुछ प्रसिद्ध अनुभव और फलों का उल्लेख आचार्यों ने कर दिया। अभ्यासी चाहे तो और भी विशेष विवरण देकर नूतन ग्रन्थ लिख सकता है या पूर्वविवरण का भी कुछ अंश छोड़कर संक्षिप्त ग्रन्थ लिख सकता है—उससे विद्या की कुछ हानि नहीं। पर प्राणायाम-विवरण में अधिक और कम तथ्यों को तथा विलक्षण विवरणों को देखकर आधुनिक अशिक्षित आलोचक वहाँ 'क्रमिक विकास', 'अन्य मत का प्रभाव', 'विभिन्न सम्प्रदाय का मिलन' आदि कपोलकल्पित आपत्तियाँ करेंगे, जो विशुद्ध अनृत भाषण हैं—यद्यपि उनको विद्वान् समझा जाता है !!

इस दृष्टि से हमें देखना होगा कि सांख्यकारिका या अन्य किसी सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ में यदि ईश्वर का उल्लेख नहीं है, तो उसका कारण क्या है? हमने पहले ही बताया है कि सांख्यज्ञान समाधिमूलक है और समाधि-सिद्धि के लिए ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है। जब तक आधुनिक आलोचक यह नहीं प्रमाणित करेंगे (कण्ठ की शक्ति से नहीं, प्रत्युत न्याय-प्रयोग से) कि ईश्वरप्रणिधान (जो ईश्वर उनके अन्धविश्वास के अनुसार नहीं, प्रत्युत योग-विद्या के अनुसार है) के विना भी समाधि-सिद्धि होती है, तब तक पूर्वोक्त युक्ति प्रतिष्ठित ही रहेगी। कपिल को 'सिद्धेश', 'सिद्धेश्वर', 'सिद्ध' आदि विशेषणों से विशेषित किया जाता है, अतः कपिल महायोगी थे—यह कपिलसत्ताप्रतिपादक शास्त्र ही कहते हैं।

सांख्यकारिका में जो ईश्वर का उल्लेख नहीं है, उसका कारण ईश्वरकृष्ण के उपदेश का अपना वैशिष्ट्य है, अर्थात् वे अपने ग्रन्थ में जिस दृष्टि से जिस प्रकार के पदार्थों का वर्णन करना चाहते थे, उस परिधि में ईश्वर की सत्ता नहीं आ सकी। आधुनिक आलोचक जब सांख्य-दर्शन को सेश्वर-तथा निरीश्वर-रूप में विभक्त करते हैं, तब वे भूल जाते हैं कि ऐसा विभाग हो भी सकता है या नहीं। सांख्य-विद्या के साथ ईश्वर का स्वरूप-ज्ञान पाठकों को जब हो जायगा, तब पाठक देखेंगे कि सांख्य का पूर्वोक्त विभाग ठीक वैसा ही है, जैसा

'मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, एक शरीरयुक्त, दूसरा शरीरहीन'। ईश्वरसत्ताज्ञान के प्रति सम्यक् अज्ञ आधुनिक आलोचकों की इदक् ईश्वरसापेक्ष-विभाग की निकृष्टता इस लेख में स्वतः प्रमाणित होगी।

सांख्यकारिका में ईश्वर का प्रसंग इसलिए नहीं आ पाया कि सांख्यकारिका में तत्त्वों का विवरण है तथा प्रत्येक तत्त्व के कार्यभूत पदार्थों का विवरण है। ईश्वर (वक्ष्यमाण-लक्षणक) चूँकि, न ग्राह्यतत्त्व है न ग्रहणतत्त्व है और न ग्रहीतृतत्त्व या विशुद्ध पुरुषतत्त्व ही है, अतः ईश्वरकृष्ण को ईश्वर का प्रसंग करने का अवकाश प्राप्त नहीं हुआ। ईश्वर वस्तुतः 'पुरुष+ईश्वरतायुक्त' अन्तःकरण का समाहारभूत द्रव्य है (सांख्यीय दृष्टि में), अतः तत्त्वों की गणना के प्रसंग में ईश्वर का उल्लेख अवश्य प्रसक्त नहीं होता। हाँ, यदि कोई ग्रन्थकार गुणतारतम्यप्रयुक्त अन्तःकरण के विभिन्न परिणामों का विवरण प्रस्तुत करे, तो उसको अवश्य ही ईश्वर का उल्लेख करना होगा। तात्त्विक दृष्टि में ईश्वर की सत्ता आती नहीं है, क्योंकि केवल प्रकृति से जैसे अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं, ईश्वर उस रूप से सिद्ध नहीं होता, अतः तत्त्वाख्यापनपरायण कारिका में ईश्वर का उल्लेख नहीं है, [ सांख्यकारिका में वर्णित पदार्थों से ईश्वर की सिद्धि कैसे होती है, यह अन्यत्र द्रष्टव्य है ]।

शंका की जा सकती है कि कारिका में मोक्षसाधन का भी तो उल्लेख है, और साधन के लिए ईश्वरप्रणिधान आवश्यक है, अतः 'ईश्वरप्रसंग' प्रसक्त होता है, तब भी जब कारिकाकार ने उल्लेख नहीं किया, तो क्या उससे कारिका का निरीश्वरस्वरूप प्रमाणित नहीं होता ? उत्तर में वक्तव्य है कि सांख्यकारिका में जो साधन-पथ दिखाया है—वह ज्ञानयोगाश्रित पथ है, उसमें जगत्स्रष्टा ईश्वर का परिधान आवश्यक नहीं होता, उसमें तत्त्वों का समाधिज प्रत्यक्ष कर वैराग्य से शाश्वत चित्त-निरोध कर कैवल्य-सिद्धि की जाती है। यह पद्धति ज्ञानयोगप्रदर्शक कठ आदि उपनिषदों में भी दीख पड़ती है। इनमें ज्ञानयोग से कैवल्यलाभ का उपाय बताया गया है और कहीं भी ईश्वर (जगत्सर्जक) का प्रसंग नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् में जो 'सर्वेश्वर' शब्द है, वहां भी ईश्वर का प्रचलित अर्थ घटता नहीं है जो ध्यान से देखने से विज्ञात होगा।

शंकक कहेंगे कि अभी कहा गया है कि समाधि-सिद्धि के लिए ईश्वरप्रणिधान आवश्यक है, और यहाँ कहा जा रहा है कि ईश्वर-प्रणिधान के विना भी योग-सिद्धि हो सकती है। क्या इन दोनों कथनों में विरोध नहीं हुआ ? उत्तर यह है कि विज्ञ उपदेष्टा से यौगिक साधनमार्ग के ज्ञान न होने से ही ऐसा विरोध प्रतीत होता है। क्रियायोग में ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है, पर ज्ञान-योग में मुक्त पुरुष या उच्च महापुरुषों से भी प्रणिहित होकर ज्ञान प्राप्त कर तत्त्वसाक्षात्कारपूर्वक समाधि-सिद्धि हो सकती है। परमर्षि कपिल ने तो हिरण्यगर्भ से ही ज्ञान प्राप्त किया था, उनका कोई मानुष नहीं था[1], अतः ईश्वरसत्ता की साक्षात्कारवती प्रज्ञा उनमें थी ( जिस ज्ञान का अणुभाग भी सेश्वरवादी आलोचकों में नहीं है ), यह सामान्यतः सिद्ध होता है। किंच, समाधि सिद्ध होने के बाद

१. द्र० श्वेताश्वतर उपनिषद्।

अन्तःकरण के सभी परिणामों का ज्ञान हो जाता है (यह योगविद्या का प्रसिद्ध तथ्य है, जिसे अद्यतनीय साधनहीन निर्वीर्य गवेषक जान भी नहीं सकता), अतः कापिली विद्या में ईश्वरसत्ता सुप्रतिष्ठित है। परमर्षि यदि क्रियायोग से समाधिसिद्ध थे, तब तो ईश्वरसत्ता का ज्ञान उनमें अवश्य ही था और यदि केवल ज्ञानयोग से सिद्ध थे तब भी उनमें ईश्वरज्ञान था—यह सिद्ध हुआ। चूँकि, ईश्वरस्वरूप को समझने के लिए सांख्यीय तत्त्व की ही उपयोगिता है, अतः सांख्य में ईश्वर असिद्ध है,—ऐसा कहना 'जिसके पास मिट्टी है और घट-परिणाम का ज्ञान है, उसे घटद्रव्य का ज्ञान नहीं है' इस कथन के समान होगा। बाद में यह युक्ति और परिस्फुट होगी।

शंकक कहता है कि यदि सांख्य विद्या में ईश्वर की सत्ता अवश्यंभावी रूप से है; तो सांख्य-सूत्र में यह क्यों कहा गया—'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२)। इस शंका का उत्तर दिया जा रहा हैः—

यह सूत्र एक पूर्वपक्ष का उत्तर है। पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रत्यक्ष का कथित लक्षण ईश्वर में नहीं घटता। पूर्वपक्षी ने जब ऐसा कहा, तब उन्होंने ईश्वर का एक स्वरूप अवश्य ही सोच लिया था, और उस ईश्वर में सांख्यीय प्रत्यक्ष लक्षण नहीं घटता—ऐसा कहा है। सांख्य तब उत्तर देता है कि तुम्हारा वह ईश्वर (मेरी दृष्टि में) असिद्ध है, हेतु यह है कि 'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् न तत्सिद्धिः' (१।९३)। उक्त दो सूत्रों को ध्यान से देखने से पता लगता है कि पूर्वपक्षी ने ईश्वर को मुक्त होता हुआ भी जगत्-स्रष्टा इत्यादिरूप माना था (जैसा कि अनेक वैष्णवादिसंप्रदाय में माना जाता है), पर सांख्य युक्तिविरुद्ध (१।९४ सूत्रोक्त) होने के कारण उस ईश्वर को असिद्ध मानता है। ईश्वर के विषय में सांख्यमत क्या है, उसका प्रसंग यहाँ नहीं है, और न ईश्वर-विचार का यहाँ कोई अवकाश है, अतः पराभिमत ईश्वरनिराकरणपरायण इस सूत्र से सांख्य का निरीश्वरत्व कैसे सिद्ध हुआ—यह आधुनिक आलोचक जब तक न्याय्य पन्था से नहीं सिद्ध कर पायेंगे, तब तक उनका कथन बालप्रलापवत् अश्रद्धेय ही रहेगा।

आजकल ईश्वर के ऊपर जितना जोर दिया जाता है, वह अनावश्यक है। कुंभकार जिस प्रकार अर्थादिलाभार्थ घट का निर्माण करता है, सांख्यसम्मत जन्येश्वर के उस रूप से जगत् की सृष्टि नहीं होती। जन्येश्वर जब अपने ऐश्वर्य के साथ नूतन सृष्टि में प्रकाशित होता है, तब स्वतः स्वाभाविक रूप से उनके शरीरभूत एक ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है। उनके चित्त की जो अतिसामान्य व्यक्तता है, उसीसे जगत् व्यक्त रहता है। सृष्टि में अभिव्यक्त प्राणी अपने संचित अनभिव्यक्त संस्कार के अनुसार भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि करता रहता रहती है। जीवों के पुरुषार्थाचरण में ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं है, जैसा कि गीता में स्पष्ट कहा गया है—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः, न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते' (५।१४)। जीव यदि ईश्वर में समाहित होगा, तो स्वाभाविक ऐश-नियमन के अनुसार उसे समाधि सिद्ध होगी--इसमें भी ईश्वर का कोई प्रयत्न नहीं है। विश्व का कार्यकारणभाव स्वतः होता है, प्रत्येक परिणाम के लिए ईश्वर के अभिध्यान की कुछ भी

अपरिहार्यता नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर-कर्त्तृत्व भी (जैसा लोग समझते हैं) नहीं है, अभिव्यक्ति के चरम निमित्त होने के कारण अतिसूक्ष्म अधीशत्व है, जिससे ब्रह्माण्ड के स्थिति-सृष्टि-नाश होते हैं। जगद्व्यापार में ईश्वर का योग नहीं के बराबर होने से सांख्यमत के प्रसंग में सर्वत्र ईश्वरप्रसंग नहीं किया गया। अन्य संप्रदायों में ईश्वर के विषय में जितना अधिक कहा गया है, वे सब अलीक और असंभव हैं। प्रचारार्थ उन सिद्धान्तों की उपयोगिता है, पर दार्शनिक तत्त्व-विचार के लिए नहीं है।[1]

ईश्वर के विषय में सांख्य का जो मत है—उसे अब संक्षेप में दिखाया जा रहा है। निबन्ध में मत का प्रतिपादन ही किया जायगा, बहु-संख्यक वचनों का उद्धार कर विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है, क्योंकि सांख्यीय दृष्टि से ईश्वरसत्ता के ज्ञान हो जाने से पाठक स्वयं शास्त्रीय वचनों का अर्थ कर पायेंगे। सांख्य का पदार्थ और मत मूल तक न्याय से सिद्ध किया जा सकता है, उसमें वक्ता के उपदेशों की अधिक आवश्यकता भी नहीं है। कोई भी व्यक्ति थोड़ा-सा साधन कर इन विषयों में निःसंशय हो सकता है।

सांख्य में दो प्रकार की सृष्टि कथित है। एक—लिंग-शरीर-सृष्टि और द्वितीय—ब्रह्माण्ड-सृष्टि। विशुद्ध चिद्रूप पुरुष से प्रकृति के संयोग[2] से प्रकृति के स्वतः जितने अनादि परिणाम होते हैं, उससे ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं होती, पर लिंग-शरीर (पंचतन्मात्र+५ ज्ञानेन्द्रिय+५ कर्मेन्द्रिय+मन+बुद्धि+अहंकार; इसमें पंच प्राण, चित्त आदि स्वतः गणित हैं) की सृष्टि होती है। सांख्यदर्शन के तत्त्वगणनात्मक 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः…'

---

१. पुराणादि में सर्वत्र ईश्वर के विषय में जो कुछ कथित होता है, वह सब सर्वत्र एक समान प्रामाणिक नहीं। शास्त्र जब साधन की दृष्टि से उपदेश करता है, तब ईश्वर के जिन गुण-कर्मों का उल्लेख करता है, वह तात्त्विक नहीं है, प्रत्युत 'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासना सिद्धस्य वा' (सांख्यसूत्र १।०५) है। जगत्स्रष्टा यद्यपि बद्धपुरुष तथा सगुण हैं, पर उपासना की दृष्टि से उनको मुक्त और निर्गुण कहा जाता है इत्यादि। साधन की दृष्टि में ऐसे कथनों की उपयोगिता है—यह योगशास्त्र का रहस्य है। इसी दृष्टि से अमूर्त्त हरि को शास्त्र प्रथमाधिकारी के लिए मूर्त्त कहता है—ये सब साधन-सापेक्ष उपदेश हैं। शास्त्र में कुछ ही स्थलों पर तात्त्विक उपदेश भी रहता है और इन उपदेशों के अनुसार ही विचार करना चाहिए—अर्थवादों के अनुसार नहीं। वैष्णवादि संप्रदायों में यह भ्रम सर्वाधिक है। पृथ्वी का सर्वप्राचीन मोक्ष-दर्शन सांख्य में ही ईश्वर का न्यायमार्जित स्वरूप विवृत है, अन्यत्र बुद्धिमोह से उनके ऐश्वर्य का अविशुद्ध वर्णन है—यह बाद में सुप्रमाणित होगा।

२. यह संयोग दैशिक या कालिक नहीं है, अतः अयोगी व्यक्ति से इस संयोग की स्वरूप-चिन्ता यथार्थतः हो नहीं सकती। लेखान्तर में इसका निरूपण किया जायगा।

(१।६१) इस प्रसिद्ध सूत्र में केवल तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम दिखाया गया है, परन्तु ब्रह्माण्ड की सृष्टि कैसे होती है; वह यहाँ उक्त नहीं है। ब्रह्माण्ड कोई तत्त्व नहीं है, अतः सांख्यकारिका में भी उसका कोई प्रसंग नहीं है। सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'जन्येश्वर' से होता है, अर्थात् पूर्वकल्प में जो सास्मित समाधि-सिद्ध था, वह प्रलय के बाद जब व्यक्त होगा, तब उसके साथ 'सर्व' अर्थात् लोकालोक भी व्यक्त होगा।[1] जन्येश्वर को इसीलिए पूर्वसिद्ध कहा जाता है (योगभाष्य ३।४५)। सांख्यसिद्ध इस सर्ववित् सर्वकर्त्ता (ध्यान देना चाहिए कि अन्य कोई संप्रदाय ईश्वर के विषय में इससे अधिक और कुछ न्यायसंगत कल्पना नहीं करते हैं) महापुरुष का वैदिक नाम 'हिरण्यगर्भ' है और वेद में हिरण्यगर्भसम्बन्धीय सांख्यमत की अविकल प्रतिध्वनि मिलती है—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋग्वेद), अर्थात् हिरण्यगर्भ पहले विद्यमान थे, इस कल्प में अभिव्यक्त प्रजाओं के पति हो गये।

सांख्य 'हिरण्यगर्भ किससे निर्मित है और उससे जगत् की सृष्टि (कारण से कार्य का पृथक्करण) कैसे होती है'—इसका युक्तियुक्त समाधान देता है।[2] अन्य दर्शन आनुमानिक उपपत्ति (Theory) मात्र करता है, पर सांख्य अपने योग-बल से मूलपर्यन्त साक्षात्कार कर सब घटनाओं की उपपत्ति करता है। जगत्-सृष्टि जिस चेतनपुरुष से संभव होती है उसके विषय में सांख्य ही बताता है कि अन्तःकरण (बुद्धि) के धर्मज्ञान ऐश्वर्य-वैराग्य रूप सात्विक रूप का कैसा परिणाम होने से उस बुद्धि में सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्व आहित होता है और वह 'सर्व' (ब्रह्माण्ड) की अभिव्यक्ति कराने में कैसे समर्थ होता है। जगत्-स्रष्टा होने के

---

१. इस विषय में सांख्य की उपपत्ति इस प्रकार है—सास्मित समाधि-सम्पन्न योगी में सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता (सर्वव्यापित्व) भी रहती है। प्रलय के बाद एतादृश महापुरुष जब व्यक्त होंगे, तब सर्वज्ञ तथा सर्वशक्त चित्त का विषय—लोकालोक या ब्रह्माण्ड—भी व्यक्त होगा। इस रहस्य को शास्त्रों में ईश्वरसंकल्पजात ब्रह्माण्ड कहा गया है। ऐसा संकल्प हमलोगों के संकल्प की तरह साशय नहीं है, इसलिए ईश्वर में वैषम्य या नैर्घृण्य दोष की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि प्राणियों के जाति-आयु-भोग अपने कर्म-संस्कारवासनादि के अनुसार होते हैं, उसमें ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं है। लोकालोक व्यक्त होने से असिद्ध प्राणियों में, जिसका जैसा संस्कार था, तदनुसार व्यक्त होगा और देहधारण करेगा। देहधारण के विषय में सर्गादि काल में जो नियम था, या किसी एक लोक में जो नियम है, बाद में उस नियम में अन्यथात्व होता है या लोकान्तर में वह नियम नहीं चलता—यह विषय लेखान्तर में आलोचित होगा।

२. इस विषय के ज्ञान के लिए आचार्य हरिहरानन्दस्वामी के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। उनका एक ग्रन्थ 'कापिलाश्रमीय योगदर्शन' लखनऊ-विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। आज हमलोग सांख्य विद्या पर जो कुछ कहते हैं, वह उनके वचनों का ही अनुवादमात्र है।

लिए कितनी योग्यता चाहिए तथा उस योग्यता की प्राप्ति कैसे हो सकती है—यह सांख्य विद्या की आनुषंगिक बात है। सांख्य को छोड़कर अन्य कोई भी दर्शन 'ईश्वर किससे निर्मित है' इस विषय पर कुछ भी चर्चा नहीं करता है, केवल ईश्वर सत्ता को मान कर चलता है।

इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि सांख्यषडध्यायी, तत्त्वसमास, कारिका आदि में सांख्य विद्या की प्रधान-प्रधान बातें ही संकलित हैं। उस विद्या के प्रयोगात्मक तथ्यादि पुराणों में तथा महाभारत में (वेद के ब्राह्मणग्रन्थ में भी) यथास्थान विशद रूप से वर्णित हैं। ईश्वर के प्रसंग में इन ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसकी उपपत्ति केवल सांख्य-विद्या से ही हो सकती है, यदि आन्वीक्षिकी की प्रथा से कोई समझना चाहे, अन्य किसी भी दर्शन से इन विषयों की उपपत्ति सम्यक् नहीं होती।

एक बात और। सांख्य कभी नहीं कहता कि प्रकृति स्वयं परिणत होकर बुद्धि आदि की उत्पत्ति करती है। सांख्य का ठीक मत है—'पुरुष से अधिष्ठित होकर प्रकृति परिणत होती है।' सांख्य के परम प्राचीन षष्ठितन्त्र ग्रन्थ में कहा गया है—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते' (द्र० सांख्यकारिका, गौडपादभाष्य, कारिका १७)। गीता, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में सांख्यमत के उपस्थापन में सर्वत्र साक्षात् रूप से या कहीं-कहीं असाक्षात् रूप से भी यह बात कही गई है। हमने आगे युक्ति से भी इस मत को प्रमाणित किया है। जैसे, बुद्धि-अहंकार आदि परिणामों के लिए पुरुष का सान्निध्य अपरिहार्य है, वैसे ब्रह्माण्ड-सृष्टि के लिए भी किसी महापुरुष का ऐश संकल्प आवश्यक है। इस विषय में सांख्य का मत यह है कि ब्रह्माण्ड शब्दादिमय है। शब्दादि का ज्ञान प्रत्येक जीव के भूतादि अभिमान का परिणाम है, पर शब्दादिज्ञान के लिए जहाँ से बाह्य उद्रेक आता है, वह भी भूतादिसंज्ञक तामस अभिमान है। अभिमान अन्तःकरण में प्रतिष्ठित है, और अन्तःकरण भी किसी न किसी पुरुष से उपदृष्ट होकर ही अस्तित्व में रह सकता है। इस दृष्टि से सांख्य यह भी कह सकता है कि जगत् की सृष्टि केवल प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वों से ही हुआ है—ईश्वर का प्रसंग करना अनिवार्य नहीं है। बात यह है कि ईश्वर भी पुरुष+ऐश अन्तःकरण है। यह अन्तःकरण प्रकृतिसंभूत है (जैसे, प्रत्येक जीव में है—और ईश्वर भी एक जीव है, भेद केवल उनमें ज्ञान और शक्ति का असाधारण उत्कर्ष है), अतः तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर जगत् का कारण नहीं है, पर व्यावहारिक या साधना की दृष्टि से ईश्वर को जगत्कारण मानकर चलना चाहिए, क्योंकि ऐश संकल्प से जगत् व्यक्त हुआ है। ईश्वर और जीव में, चूँकि तत्त्व-दृष्टि से कोई भी भेद नहीं है, अतः सांख्य में जीव के प्रसंग से ही ईश्वर का प्रसंग हो जाता है। मूल कारण की दृष्टि से ईश्वर भी जगत्कारण नहीं है, अतः जगत्सृष्टि के प्रसंग में भी यदि कहीं ईश्वर का प्रसंग न हो, तो वह दोषावह नहीं है—यह विवेचनीय है।

सांख्य कहता है कि जगत्सर्जक हिरण्यगर्भ (=जन्येश्वर) मुक्त पुरुष नहीं है। ईश्वरतायुक्त उनके अन्तःकरण की अभिव्यक्ति से ब्रह्माण्ड की व्यक्तता होती है और इस सूक्ष्म ऐश्वर्य के प्रति भी जब उनका वैराग्य सिद्ध हो जायगा, तब उनका अन्तःकरण शाश्वत काल के

अव्यक्त में लीन होगा—यह ब्रह्माण्ड का प्रलय है। हिरण्यगर्भ के इस चित्तलय तथा तत्-प्रयुक्त ब्रह्माण्ड के प्रलय का तथ्य पुराणादि सब शास्त्रों में समान रूप से वर्णित है। इस विषय पर पुराणादि का जो विवरण मिलता है—सांख्यविद्या से ही उसकी उपपत्ति की जा सकती है, न्यायवैशेषिक या रामानुजादि दर्शनों से उन स्थलों की न्यायसंगत उपपत्ति नहीं की जा सकती—इस विषय को कोई भी प्रत्यक्ष अनुशीलनपूर्वक स्वयं देख सकता है।

सांख्य शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि जन्येश्वर के भूतादि अभिमान से ब्रह्माण्ड सृष्ट है। सांख्य का यह मत युक्ति से भी सिद्ध होता है। यथा—'बाह्य क्रिया देशान्तर-प्राप्ति-स्वरूप है और देशज्ञान शब्दादिज्ञान का सहभावी है। बाह्यमूल में चूँकि शब्दादि नहीं है, अतः उसकी क्रिया देशान्तरगति रूप नहीं हो सकती। अतः बाह्यमूल की क्रिया अदेशाश्रित है। अदेशाश्रित क्रिया अन्तःकरण की ही हो सकती है, सुतरां बाह्यमूलद्रव्य अस्मितास्वरूप है—यह सिद्ध हुआ' (सांख्यतत्त्वालोक)। जगत् का अन्तःकरणात्मकत्व अनुभव से भी सिद्ध होता है। वह अनुभव पूर्वोक्त ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित है—"तन्मात्रसाक्षात्कारे विषयस्य सूक्ष्म-चाञ्चल्यात्मकत्वमनुभूयते, तत इन्द्रियाणामपि अभिमानात्मकत्वमुपलभ्यते। तस्य चाभि-मानस्य ग्राह्यकृतोद्रेकाज्ज्ञानम्। यदभिमानं चालयति, तदभिमानसजातीयं स्यादिति। तस्माद् ग्राह्याभिमानात्मकमित्यनया दिशा ग्राह्यमूलग्रहणयोः सजातीयत्वं निश्चीयते।" (प्रकरण ६०)। जिस पुरुष का यह अभिमान है, उसको विराट् पुरुष या हिरण्यगर्भ कहा जाता है। ब्रह्माण्ड की अन्तःकरणात्मकता के विषय में शास्त्रीय वचनों का उद्धरण विस्तार-भय से छोड़ दिया जाता है।

ब्रह्माण्ड और हिरण्यगर्भ के इस सांख्यीय मत को सुनने के बाद अपक्वमति व्यक्तियों के मन में कुछ शंकाएँ होती हैं, जिनका उल्लेखपूर्वक निराकरण यहाँ किया जा रहा हैः—

शंका होती है कि सांख्यीय मत के अनुसार तो बहुसंख्यक हिरण्यगर्भ से अभिव्यक्त अनेक ब्रह्माण्ड होंगे, और यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो, तो क्या कभी ब्रह्माण्डों का परस्पर संघर्ष नहीं हो सकता? यह आपत्ति आपाततः जितनी सुदृढ़ जान पड़ती है, वस्तुतः वैसी नहीं। ब्रह्माण्डस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण ही यह आपत्ति उठती है। हमने पहले यह सिद्ध किया है कि ब्रह्माण्ड मूलतः जन्येश्वर के अन्तःकरण का विकार है, सुतरां वस्तुस्थिति में ब्रह्माण्ड मनोद्रव्य है; जैसे दो मन का परस्पर संघर्ष नहीं होता, ठीक वैसे दो ब्रह्माण्डों की भी परस्पर टक्कर नहीं होगी। जीव ज्ञान-शक्ति की संकीर्णता के कारण घट-पट, कठिन-कोमल, वायवीय-ज्योतिर्मय आदि ज्ञान करता रहता है। यह ज्ञान चित्त की अशक्ति का फल है। ब्रह्माण्ड का यथार्थ स्वरूप है—प्रकाश-क्रिया और स्थिति का वैषम्य। घट-पटादि ज्ञान-इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति का स्तरसापेक्ष है, अर्थात् जिस चित्तस्तर में जो आग्नेय द्रव्य अवभात होता है, चित्तस्तर बदल जाने से वह जलीय या वायवीय प्रतिभात होगा। चित्त-शक्ति की अत्यन्त जड़ता के कारण हमलोगों का दृश्यज्ञान अभ्यस्त तथा अतिसंकीर्ण है, जिसके फलस्वरूप स्थान-मान-हीन प्रकाश-क्रिया-स्थिति के वैषम्य मात्र को हम घट-पटादि के रूप में बोध करते हैं। ब्रह्माण्ड, चूँकि वस्तुतः और मूलतः मनोद्रव्य है (और इस स्थिति में

जगत् का दैशिक परिमाण आदि नहीं है, क्योंकि वैसा ज्ञान भी नहीं होता), अतः दोनों ब्रह्माण्डों का संघर्ष नहीं होता, क्योंकि मनोद्रव्य में उस प्रकार का संघर्ष सम्भव नहीं है।

किंच, ब्रह्माण्ड की स्थिति हिरण्यगर्भ की दृष्टि से क्षणमात्रव्यापी है। हिरण्यगर्भ का चित्त व्यक्त होकर रुद्ध होने के लिए जितना समय लेता है (जिसकी अभिकल्पना मानवीय चिन्ता कर नहीं सकती), उतना समय किसी एक ब्रह्माण्ड की स्थिति का है। इस विषय में देश और काल का आश्रय लेकर जितनी शंकाएँ की जा सकती हैं, उन सबके उत्तर देने के पहले सभी को एक विषय जानना चाहिए कि देश और काल का बोध पदार्थान्तरसापेक्ष तथा परस्परसापेक्ष भी है। चूँकि, प्रकृति की सत्ता दैशिक या कालिक नहीं है, इसलिए सृष्टि और प्रलय तथा ब्रह्माण्ड के तात्त्विक परिमाण के विषय में देशकालाश्रित संशय अप्रयोज्य ही रहता है, क्योंकि देश-काल-सम्बन्धी हमलोगों का ज्ञान अतिस्थूल भौतिक पदार्थ-परिमाण तथा परिणाम पर आश्रित है, सुतरां उस स्तर के अतिक्रमणमात्र से हमारे सब तर्क अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड का स्थिति-काल जैसे क्षणमात्र है, (जो हमलोगों की ज्ञानशक्ति में बहुकोटि वर्ष प्रतीत होता है) वैसे ब्रह्माण्ड का परिमाण भी अणुमात्र है (योगभाष्य ३।२६), पर वह असंख्यप्राय योजनात्मक प्रतीत होता है।

इस विषय में संक्षेप से इतना और जानना चाहिए कि ब्रह्माण्ड, चूँकि परिणामवान् है, इसलिए वह ससीम है और वह 'अव्यक्त' से आवृत है। उसकी उत्पत्ति किसी काल में हुई है—यह नहीं कि अनादि काल से एक ब्रह्माण्ड चला आ रहा है। यह ब्रह्माण्ड मूलतः ऐश मन की व्यक्तावस्था है, पर उसमें जो शब्द-स्पर्श आकृति आदि का बोध होता है, वह ज्ञाता की ज्ञानशक्ति की अशक्ति है। जैसे-जैसे किसी का चित्त आवरण-चाञ्चल्य-हीन होता जायगा, वैसे-वैसे वह ब्रह्माण्ड को पंचभूत-पंचतन्मात्र-भूतादि-प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-प्रकाशक्रिया-स्थितिवैषम्य-गुणसाम्य इस क्रम से अनुभव करने लगेगा। सांख्यीय दृष्टि में ब्रह्माण्ड का जो यथार्थ स्वरूप है, उसको अन्यत्र दिखाया जायगा। पुराणादि में इस विषय में जो कुछ लिखा है—उसकी उपपत्ति सांख्य ज्ञान से ही हो सकता है। वस्तुतः ब्रह्माण्ड में कोई घट-पटादि द्रव्य नहीं है, केवल प्रकाश-क्रिया-स्थिति की ससीम व्यक्तावस्था है (हिरण्यगर्भ जिसका निमित्त है)। ज्ञानशक्ति के विभिन्न स्तर में वही वैषम्य भूत-तन्मात्र आदि की तरह अवभात होता है। भूत-तन्मात्र ज्ञान भी अनापेक्षिक नहीं है—इत्यादि विषय लेखान्तर में विवृत होगा।

पातंजल योग में जो ईश्वर स्वीकृत है (१।२४) वह सांख्यसम्मत है या नहीं—ऐसा प्रश्न हो सकता है। सांख्यीय पदार्थों को ठीक से समझने पर ऐसा प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि सांख्यीय युक्ति का अवलम्बन कर कोई भी व्यक्ति स्वयं समझ सकता है कि योग का ईश्वर सांख्य का भी अनुमत है (यद्यपि सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता)। आधुनिक साधनहीन अल्प मेधावी आलोचक दार्शनिक सब पदार्थों को शब्दतः प्रोक्त देखना चाहते हैं—यह उनकी बुद्धि की अक्षमता है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में परममूलभूत प्रमेयों के अतिरिक्त अन्य सब अवान्तर प्रमेयों का कृत्स्नशः उल्लेख

नहीं मिलता और न हमारे पूर्वाचार्य ऐसा करने के लिए बाध्य थे। चूँकि, ग्रन्थ में जो कथित नहीं है, अतः वह ग्रन्थकार से अज्ञात या अस्वीकृत है, यह तर्क अद्यतनीय विद्वानों पर शायद पूर्णतः घटता हो, पर हमारे पूर्वाचार्यों में यह नियम अप्रयोज्य है (प्रत्यक्षबाधित होने के कारण)। यदि अद्यतनीय आलोचक पुनरपि यह कहें कि हम लोगों में जो नियम चरितार्थ हो रहा है, वह सांख्याचार्यों में क्यों नहीं चरितार्थ होगा—तो उसके उत्तर में वक्तव्य है कि आप लोगों में चरितार्थ होने के कारण सांख्याचार्यों में भी चरितार्थ होगा—यह कथन 'कालात्ययापदिष्ट' रूप हेत्वाभास दोष से दुष्ट है (द्र० न्याय सूत्र १।२।९)। अयोगित्वनिबन्धन ग्रन्थोपदेश में आप जिस रीति से पदार्थोपदेश करते हैं, योगी उस रूप में नहीं करता—यह आप स्वयं योग-संस्कार से संस्कृत होने के बाद स्वीकार करेंगे। मोक्ष-दर्शन के ग्रन्थों में अवान्तर प्रमेयों में पर्वभूत विशिष्ट बातों का ही उल्लेख रहता है। वह भी ग्रन्थकार-संस्कार-सापेक्ष है तथा कदाचित् ग्रन्थावयव या ग्रन्थरचना-प्रयोजन-सापेक्ष है, सुतरां सांख्य के संक्षिप्त उपदेशात्मक ग्रन्थों में योगशास्त्रीय ईश्वर का अनुल्लेख देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि योग का ईश्वर सांख्य का अनुमत नहीं है। अब हम सांख्यीय युक्ति से सिद्ध करेंगे कि योग का ईश्वर भी सांख्य-सम्मत है:—

सांख्य पुरुष के साथ प्रकृति के संयोग को अनादि मानता है—'अनादिरर्थकृतः संयोगः।' सुतरां, यह भी सिद्ध होता है कि धर्मी के साथ अनादि-संयोग होने के कारण बुद्धि आदि का संयोग भी अनादि है, जैसा कि पंचशिख ने कहा है—'धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः' (२।२२ योगभाष्योद्धृत)। इस वाक्य से पुनश्च यह भी सिद्ध होगा कि बद्धजातीय चित्त जैसे अनादिकाल से वर्त्तमान है, वैसे मुक्तजातीय चित्त भी अनादि है। इस विषय में हेतु यह है कि त्रिगुणरूप अनादि मूलकारण के नित्यपरिणामी होने से वस्तुओं की जाति अनादिकाल से है, यह सिद्ध होता है। एतादृश अनादिमुक्त चित्त से कोई भी पुरुष व्यपदिष्ट हो सकता है, क्योंकि मूल कारणद्वय नित्य होने से सर्वप्रकार का संयोग-वियोग सर्वदा है—ऐसी विनिगमना न्याय्य होती है। ऐसा पुरुष योग-सूत्र (१।२४) में अभिहित है, और वह सांख्यीय दृष्टि से भी संगत होता है। सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में इस ईश्वर के अनुल्लेख का कारण यही प्रतीत होता है कि यह पुरुष सर्वथा जगद्व्यापारवर्ज है, अतः तत्त्व और तत्त्वों के कार्य की दृष्टि से इनका उल्लेख नहीं किया गया। इनकी उपयोगिता साधन की दृष्टि से ही है, अतः साधनकाण्डात्मक योगशास्त्र में इनका विशद उल्लेख है। यह भी जानना चाहिए कि महाभारत के शान्तिपर्व के अध्याय ३०१ में इस योगसम्मत ईश्वर का निर्देश सांख्यमत के प्रसंग में आया है—ऐसा प्रतीत होता है, अतः शास्त्र-युक्ति से योगीय ईश्वर भी सांख्य-सम्मत है—यह सिद्ध हुआ।

उपसंहार में हमें सांख्यविद्या के विषय में कुछ तथ्य कहना है। वह यह कि सांख्यविद्या का निरवशेष उल्लेख सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में है—अनुल्लिखित विषय सांख्य का नहीं है, ऐसी चिन्ता भ्रमात्मक है। महाभारत, पुराण आदि में जो सांख्यमत उल्लिखित है, सांख्य के ग्रन्थों से उसका कहीं भी तात्त्विक विरोध नहीं है। इन सब ग्रन्थों में जो मतपार्थक्य या

हम हिंदी के विद्वानों और संपादकों से अनुरोध करेंगे कि वे ध्यानपूर्वक निम्नोक्त सैन्य-शब्दावली देखें और उसके विषय में अपनी सम्मति व्यक्त करें। सरलता के नाम पर पारिभाषिक शब्दावली की गरिमा को ही समाप्त करने का यह प्रयास सर्वथा प्रतिक्रियावादी है।

समाचार-पत्रों में प्रकाशित इस शब्दावली के कुछ नमूने दिये जा रहे हैं : स्टैंड ईजी—आराम से; आइज फ्रण्ट—सामने देख; नम्बर—गिनती कर; राइट आर लेफ्ट टर्न—दाहिने या बाएँ मुड़; फाल इन—लाइन बन; फाल आउट—लाइन तोड़; डबल मार्च—दौड़ के चल; हाल्ट—थम; सैल्यूट—सिलूट; प्रेजेंट आर्म्स—सलामी दो; जेनेरल सैल्यूट—जेनेरल सिलूट; नैशनल सैल्यूट—राष्ट्रीय सिलूट; कंपनी—कंपनी; बैटालियन—बैटालियन; गार्ड—गार्ड; पैरेड—पैरेड !

'प्राविजनल लिष्ट आव टेक्निकल टर्म्स इन हिन्दी : डिफेन्स ४' से भी कुछ शब्द उद्धृत हैं : एयर फोटोग्राफिक रिकनासाँ—हवाई-फोटो-टोह; एयरक्रैफ्ट लोडिंग टेबल—लदान-तालिका; एलाएड स्टाफ—मित्रराष्ट्र अमला; एसाल्ट एरिया—हमला-क्षेत्र; बैराज फायर—बाढ़ शलक; बाइलैटेरल इंफ्रास्ट्रक्चर—दुराष्ट्रीय अवस्थापना; बिल्ड-अप कण्ट्रोल—जमाव नियन्त्रण संगठन; डेट-टाइम ग्रूप—तारीख-समय वर्ग; डीप फोर्डिंग—गहरा पाँफना; एष्टैब्लिशमेंट—सिब्बन्दी (तथा प्रतिष्ठान) फायर पावर अम्ब्रेला—शलक छतरी; फ्लीट ट्रेन—फ्लीट ट्रेन; फ्लाइट—फ्लाइट, डार; फोर्डेबिलिटी—माँफना; शैलो फोर्डिंग—उथले पाँफनेवाला, उथला पाँफना; डीप फोर्डिंग—गहरे माँफने वाला, गहरे माँफ; फ्री ड्रापिंग—विना छतरी अवपातन; इम्मीडिएट एयर सपोर्ट—फौरी हवाई सहायता; लोड-शीट—लदान-पर्चा; लाँगरेंज फोटोग्राफिक रिकनासाँ एयरक्राफ्ट—दूर परास फोटो-टोह विमान ! —न० वि० श०

## बिहार में प्रेमाख्यान-संबंधी शोध

आचार्य शुक्ल ने प्रेमाख्यान-परंपरा की जिस व्यापकता और महत्ता की उद्भावना की थी, उसके लिए उपलब्ध सामग्री से अधिक उनकी क्रांतदर्शिकता को ही श्रेय है। इधर पटना-कालेज के इतिहास-विभागाध्यक्ष श्री अस्करी ने बिहार के खानकाहों और प्राचीन मुस्लिम परिवारों के निजी संग्रहालयों से सूफियों के द्वारा रचित प्रेमाख्यानों का जीर्णोद्धार कर आचार्य शुक्ल की उद्भावना के समर्थन में प्रभूत प्रामाणिक सामग्री प्रकाश में ला दी है।

श्री अस्करी को मनेर में पद्मावत और अखरावट की जो प्राचीन पांडुलिपि मिली थी उसका महत्त्व डा० माताप्रसाद गुप्त ने इसी पत्रिका के अंक-विशेष में प्रकाशित अपने निबन्ध में प्रतिपादित किया था। श्री अस्करी को मनेर में ही हाल में मौलाना दाउद और शेख कुतबन की चंदाइन (चंदाबन या चंदायत) तथा मृगावती की अत्यन्त प्राचीन पांडुलिपियों के अंश प्राप्त हुए हैं। इनका सविस्तर विवरण पटना-कालेज की शोध-पत्रिका 'करेंट स्टडीज' के नवीन अंक में प्रकाशित है। हिन्दी की शोध तथा साहित्यिक संस्थाओं का यह कर्त्तव्य है कि वे श्री अस्करी के अनुसंधानों से लाभ उठायें और उनके लिए ऐसे साधन सुलभ कर दें कि वे इस दिशा में अधिकाधिक कार्य कर सकें। —न० वि० श०

# उदात्त की भावना

(सैद्धान्तिक पक्ष)

श्री जगदीश पाण्डेय, एम्० ए०

जो आलम्बन हमारे चित्त को मात्र आकर्षित न कर, उसका उन्नयन या उत्कर्षण करता है वह उदात्त कहलाता है। शब्दों में 'ओ३म्' उदात्त है। गंगावतरण का लोकान्त हरहर उदात्त है। नियाग्रा प्रपात का भैरव-घोष उदात्त है। प्रलय के महाविप्लव को झेलती मनु की नौका का दृश्य उदात्त है। क्षितिज तक जलमग्न दृष्टि-प्रसार के बीच 'केवल' आलोक-स्तम्भ की स्थिति उदात्त है। अर्द्धरात्रि के महासंख्य तारों का जमाव उदात्त है। मानापमान में समबुद्धि रखनेवाला सन्त उदात्त है। शिव की अविचल मंगल-शान्ति उदात्त है। वस्तुतः शिव की कल्पना में उदात्त की इति-श्री है। प्रेम के वेग में तुलसी का सांप-रस्सीवाला मोह उदात्त है। भोले शिशु की निर्विकल्प नग्नता तथा अधरों पर प्रस्फुटित ईषत् हास उदात्त है। राम या भरत का शील उदात्त है। रात्रि की शून्य, नीरव दिगन्त-व्याप्ति उदात्त है। शताब्दियों से मौन तथा अपने आप में अक्षुण्ण पुरकोट उदात्त है। युगों से दूर-दूर तक जड़ों और शाखाओं का सघन साम्राज्य फैलाये वटवृक्ष उदात्त है। मृगराज की गर्दन और आँखों का दर्प उदात्त है। प्रभंजन का धूलि-धूम शक्ति-तांडव उदात्त है। दारुण प्रारब्ध से संघर्ष करनेवाला अजेय तथा अपराजित संकल्पवीर उदात्त है। अन्तरात्मा की धर्मबुद्धि तथा ग्लानि से सर्वथा मुक्त, स्वार्थ की क्रूर चण्डी-सी लगनेवाली, महत्त्वाकांक्षा की नारी उदात्त है!

और फाँसी पर चढ़ने के पहले 'एक सिगरेट दोगे, बाबूजी?'' कहनेवाला पात्र भी उदात्त है!

इन उदाहरणों में जातीय एकता है तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के कारण रूपगत भिन्नता है। इन उदाहरणों का ध्यान करने से एक सत्य का साक्षात्कार हो जायगा। वह यह कि प्रभाव की दृष्टि से आश्रय के चित्त की भूमिका की उत्क्रान्ति या आरोह उदात्त की कसौटी है। लेकिन, प्रश्न यह उठता है कि आलम्बन में कौन-से धर्म होते हैं जो हमारे चित्त की भूमिका को ऊपर उठाते हैं। यह प्रश्न अधिक अन्तर्निष्ठ है और इसके लिए उदाहरणों का विश्लेषण अनिवार्य है।

(२)

ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें कौन-से गुण हैं? 'ओ३म्' में ऊर्जस्वित प्राण है। गंगावतरण में लोकातिशय वेग है। मनु की नौका में निःशेष सहिष्णुता है। आलोक-स्तम्भ में आत्यन्तिक घनीभूत एकान्त है। तारों के जमाव में संख्या का निस्सीमप्राय विस्तार है। सन्त में समता की अतिशयता है, शिव में शान्ति की अविचलता। तुलसी में लगन का पूरा पागलपन है, बरगद में विराट् की छाया-सा लगनेवाला विस्तार है, फाँसीवाले पात्र में प्रमाद का अतिगुणन है, वीर में अध्यवसाय, राम में त्याग और भरत में अनुराग

असामान्यता है। महत्वाकांक्षावाली नारी तो एक विकार के निःशरीरीकृत प्रत्यक्ष-जैसी ही दीखती है। दूसरी बात यह कि इन उदाहरणों में बरगद का स्थूल कायिक प्रसार है तो आँधी का सूक्ष्म नर्त्तन भी; एक ओर संत का सत्त्व है तो दूसरी ओर फाँसी पड़नेवाले का तमस् तथा साथ ही नारी का रजस् भी। राम के त्याग की बात एक ओर लीजिए तो Lady Macbeth की कल्पना कीजिए जो राजमुकुट के लिए दूध पीते अपने ही लाल की खोपड़ी अपने हाथों चूर कर देने की बात कर सकती है! अवश्य ही नैतिक मूल्य या स्वार्थ-भोग, गति या स्थिति, नाद या नीरवता, एक या अनेक में से किसी के लिए उदात्त पर सामान्य प्रतिबन्ध नहीं दीखता, न किसी की विशेष अपेक्षा दीखती है। आगे चलकर हम विचार करेंगे कि जब प्रतिबन्ध नहीं दीखता, तो प्रभाव में भेद आ जाता है या नहीं। आदमी अपनी नाक-कान कटाये, इसके लिए कोई प्रतिबन्ध ऊपर से नहीं, लेकिन तब उसके चित्र पर भी प्रतिबन्ध नहीं रह जाता! 'जिनहिं निरखि मग साँपिनि बीछी, तजहिं विषम विष तामस तीछी' के माधुर्य की कल्पना कीजिए। फिर 'अंतावरी गहि उड़त गीध पिशाच कर गहि धावहीं, संग्रामपुरबासी मनहुँ बहु बालगुडी उड़ावहीं' में बीभत्स के रूपान्तर, उन्नयन को देखिए। मुँह का वमन काँख की गुदगुदी बन गया है, वह भी अतिमानवों के संदर्भ में। लेकिन, फिर भी दोनों के प्रभाव में भेद है या नहीं? इसपर विचार करना आवश्यक है। विलायतवालों के आग्रह की परीक्षा इस दृष्टि से करनी होगी। हम आगे चलकर ऐसा करेंगे।

(३)

जिन भिन्न उदाहरणों को तनिक भीतर से देखा गया है उनमें जातीय एकता कहाँ है। जातीय एकता है—एक पत्र के उभय पृष्ठ-जैसे स्थित 'लोकातिशयता' तथा 'उत्कर्ष' में। जहाँ कहीं किसी वस्तु, स्थिति, घटना तथा शील में हम उत्कर्ष के साथ लोकातिशयता, अथवा लोकातिशयता के साथ उत्कर्ष के दर्शन करते हैं, वहाँ हमें उदात्त के दर्शन हो जाते हैं। असल में जैसे-जैसे किसी पदार्थ या व्यक्ति की भौतिक सीमाओं का बंधन टूटता जाता है, वैसे-वैसे उसमें सूक्ष्मता, व्याप्ति तथा उद्धार की योग्यता आती जाती है। इस तरह वह अपनी अतिशयता अथवा महाशयता से आश्रय को आक्रान्त करता है, परास्त करता है, आत्मसात् करता है। कोई स्वार्थकामी जब लोकमंगल का अनुरागी हो जाता है, तो उसके प्रेम की अतिशयता परिवार, सम्प्रदाय या प्रान्त तक ही सीमित नहीं रहती, सारे विश्व को समेट सकती है। किसी नायिका के साथ उद्यान में केलि करनेवाले की अपेक्षा पड़ोसी, परिवार, प्रान्त, देश तथा विश्व की ओर क्रमशः उन्मुख होनेवाला नायक उदात्त की सोपान-सरणि बनाता है। उसका प्रेम विस्तृत भी होता है, जिसमें हम अतिशयता देखते हैं; तथा शुद्धतर भी होता है, जिसमें हम उत्कर्ष देखते हैं। यदि वह शुद्ध न हो तो विस्तृत न हो; यदि विस्तृत न हो तो शुद्ध न हो।

आलम्बन के इसी उत्कर्ष, इसी लोकातिशयता के वातायन से हम उसके तात्त्विक कोष, उसके अव्यक्त मूल, उसके प्रेरक अन्तर्हेतु की रहस्य-भावना में रमण करने लगते हैं।

उदात्त में इस रहस्य-भावना को प्रेरित करने की शक्ति आवश्यक है। यदि बात ऐसी नहीं, तो वह उदात्त मात्र—'बौम्बाष्ट' है।

लोकातिशय से अलौकिक का भ्रम नहीं होना चाहिए। दोनों के भेद देख लें।

(४)

अलौकिक में कार्य-कारण का निषेध-चमत्कार होता है। राम के छूते ही परशुराम का धनुष आप-से-आप चढ़ गया, यह रहा अलौकिक। लेकिन विकट भटों के भयंकर कटक के साथ क्रुद्ध-क्रूर खर-दूषण जब प्रतिशोध की लपटें फेंकते आते हैं और राम को देख कहते हैं, 'यद्यपि भगिनी कीन्ह कुरूपा, बध लायक नहि पुरुष अनूपा' तो सौन्दर्य के लोकातिशय माधुर्य के दर्शन होते हैं। यहाँ कार्य-कारण व्यापार का सर्वथा अभाव नहीं। सौंदर्य के प्रति राग तो निसर्गनिष्ठ है। लंका में सुन्दरियाँ आहार नहीं, बल्कि शृङ्गार बनकर रहती थीं।

लेकिन, राक्षस-शत्रु हृदय में धधकती हुई समराग्नि लेकर आयें और शत्रु की छवि-माधुरी को देखकर ठिठके-से रह जायँ, स्तब्ध-मुग्ध हो जायँ, क्षण भर के लिए समाधिस्थ हो जायँ, इसमें हमारे विकास की भूमिका से अतिशयता है। खर-दूषण का कहना है, 'नाग असुर सुर नर मुनि जेते, देखे जिते हते हम तेते', फिर भी 'देखी नहिं अस सुन्दरताई।'

किसी को देखकर वे हतने से बाज नहीं आये, लेकिन यहाँ उनके हाथ रुक गये। 'नाग असुर सुर नर मुनि' लोक की चर्चा कर देने से ही राम का सौंदर्य अलौकिक नहीं कहलायगा। भक्त के लिए ऐसा भले ही हो, इस संदर्भ में काव्य-रसिक के लिए नहीं। खर-दूषण के लिए ये लोक उसी तरह सामान्य गति के हैं जिस तरह विदेश हम लोगों के लिए! हमलोग कहते, 'अमेरिका देखा, रूस देखा, भारत का कोना-कोना छान डाला, लेकिन ऐसा सौंदर्य नहीं देखा', इसलिए अनेक लोकों की तुलना में श्रेष्ठता से ही अलौकिकता नहीं होती। अलौकिकता तो तब होती जब चेहरा बम का काम करता, जब राम के सौंदर्य को देखते ही भय-परास्त हो शत्रु भाग जाते। यहाँ भी स्पष्ट है कि सौंदर्य की मात्र अतिशयता ही उदात्त का काम नहीं करती। मात्रागुणन से ही उदात्त की सृष्टि हो तब तो मात्र अतिशयोक्ति से काम चल जाता। यहाँ तो राम के सौंदर्य का गुणकल्प भी अमोघ है। उस सौंदर्य को देख आत्मीयता, करुणा, वात्सल्य, प्रेम का कुछ ऐसा उद्रेक होता है कि द्वेष अनुराग में बदल जाता है, रोने को जी चाहता है। राक्षस ऊपर उठ जाता है, उसका उन्नयन हो जाता है, वह अपने से, अपने दल से, अपने लक्ष्य से ऊपर उठ, एक क्षण के लिए राम में खो जाता है। राम का शील उसका शील हो जाता है।

अलौकिक में अनुभव की आमूल क्रान्ति होती है, वह Transubstantiation-सा लगता है, जैसे लोहे का पारस-स्पर्श से सोना हो जाना। लेकिन, आग में लकलक करता लाल लोहा कच्चे लोहे का रूपान्तर है, परिष्कार है, Transformation है। कच्चे लोहे की भूमिका पर स्थित आश्रय के लिए वह लोहे का उदात्त-स्वरूप है।

उदात्तता के ठीक विपरीत, मात्रा के विचार से, 'इयत्ता' तथा, गुण की दृष्टि से, 'इत्थमेवता' है। एक में हमारी परिमित दृष्टि का प्रसार तथा दूसरे में नत दृष्टि की उन्नति होती है।

इस तरह उदात्त के साक्षात्कार से संभावनाओं की अप्रत्याशित विभूति का आलोक-लाभ दो प्रकार से होता है—(१) प्रसार से, और (२) परिष्कार से।

देश के लिए हँसते-हँसते सूली चूमनेवाले शहीद में (१) हमसे उत्सर्ग करानेवाली प्रेम की अतिशयता के रूप में 'प्रसार' के तथा (२) शरीर के प्रेम या स्वार्थ-संग्रह से शुद्धोन्नत देशभक्ति के रूप में 'उत्कर्ष' के दर्शन होते हैं।

उदात्त इस तरह Twin principle of superabundance and transcendence ठहरता है। इसे ही एक पत्र के उभय पृष्ठ-जैसी लोकातिशयता और उत्कर्ष की स्थिति कहा गया है।

(५)

अतिशयता दो प्रकार की ठहरती है—(१) जो हमें प्रवाह की ओर बहा ले जाय, और (२) जो धारा के स्रोत की रहस्य-भावना में हमें रमा दे। तूफान-एक्सप्रेस को साठ की रफ्तार डांकते देखें तो दो प्रतिक्रियाएँ होंगी—(१) 'वह गयी! वहाँ पहुँची! वहाँ... आँ...ओझल हो रही है!'—यह प्रवाह की ओर गति है। (२) 'आह! यह गति! कहाँ से इतनी शक्ति आती है? अपनी शुद्ध मौलिकता में यह शक्ति क्या है? कैसी है?' यह धारा के स्रोत की रहस्य-भावना है।

पहली प्रतिक्रिया विस्मय की है या, अधिक से अधिक, तन्मयता की। तन्मयता तो गाड़ी की गति के साथ गहराई से अपने को मिला देने में है। कल्पना में हम भी, अधिक से अधिक, तूफानगाड़ी हो जाते हैं। इस तन्मयता से (और गंगासागर से गंगोत्री की स्थिति ऊँची है) ऊपर उठकर जब हम उसके निर्गुण स्रोत की जिज्ञासा में खो जाते हैं, तो हमारी अवस्था 'उन्मयता' की हो जाती है। जो अतिशयता हमें इस रहस्य-भावना में रमा देती है, 'उन्मयता' में, स्रोत-कल्पना में, निमग्न कर देती है, वही उदात्त कोटि की होती है। निःस्तब्ध अर्द्धरात्रि में बाहर खड़े होकर देखिए। यदि ध्यान में आये—'यह रात्रि! यह अन्धकार! यहीं नहीं, वहाँ भी है, और वहाँ भी, और वहाँ, उस पार चारों ओर! पशु-पक्षी भी रात्रि में मग्न हैं...सारा भूमंडल निद्रामग्न हो पड़ा है!' तो भी बढ़ते-बढ़ते अतिशयता का विराट् हाथ लग सकता है, लेकिन उदात्त नहीं!

उदात्त का लाभ तो तभी हो सकता है जब अतिशयता हमें अन्तर्मुख कर दे और हम यह सोचते-सोचते निमग्न हो जाएँ—'आह! यह रात! इतनी गहन! सारा संसार मग्न! कहीं शब्द नहीं! इतनी नीरव शून्य! वह कौन-सी अन्धगुफा है जिससे इतना अन्धकार आता है, जिसमें अखिल विश्व का दिवा-कोलाहल विलीन हो जाता है?'

सागर और विष्णुचरण की ओर देखने से गंगा के दो स्वरूप हाथ लगते हैं—एक अनन्त की ओर समगति है, दूसरा उदात्त की ओर उद्गति। उदात्त में उद्गम की तन्मयता है, अनन्त में विराम की अचिन्त्यता है।उद्गम की अपेक्षा प्रवाह स्थूल होता है। धारा से राधा की कल्पना सूक्ष्मतर है। Sublime इसी अर्थ में मूलाधारदृष्टिसम्पन्न होता है।

मात्र अतिशय आकर्षण आलम्बन का कृष्णपक्ष है, उसकी राधाचेतना (स्रोत की रहस्य-भावना) में उदात्त की शुक्लपूर्णिमा है। शिव को देख हम सोचते हैं—इस शान्ति, इस आनन्द-स्मित का स्रोत कहाँ है। अवश्य ही उनके ज्ञान के, पूर्ण साक्षात्कार के मधुप्रकाश में। 'उमा' का अर्थ ही है ब्रह्मज्ञान। इसी उमा-रमण में शिव की उदात्तता है।

(६)

उत्कर्ष की चर्चा होती आयी है। उत्कर्ष सदा ही शुद्धीकरण से होता है। जिस तरह प्राकृत शरीर के बाद भी यशःशरीर की कल्पना है, उसी तरह प्राणी या पदार्थ, शील या परिस्थिति का यशःकल्प होता है। यह चार प्रकार से होता है—

(१) 'स्व' से ऊपर उठने पर,
(२) 'उपयोगिता' से ऊपर उठने पर,
(३) स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने पर, और
(४) सीमा से विस्तार की ओर जाने पर।

पेट की गड़बड़ी के कारण उपवास करने की अपेक्षा व्रत-भावना उत्कृष्ट है। फूल सूँघनेवाले की अपेक्षा प्रकृतिकलाकार की भूमिका उत्कृष्ट है। जड़ अन्न से क्रमशः प्राण, मन, विज्ञान और आनन्द की भूमिकाएँ उत्कृष्ट हैं। 'प्रसाद' का दाण्ड्यायन इस बात का साक्षी है कि चमकीले रत्नों से भूमा का आभास मात्र भी उत्कृष्ट है। गुरुनख की भूमा-कल्पना भारतीय श्रद्धा के उत्कृष्टतम स्वरूपों में है।

प्रत्यक्ष त्वचा-संपर्क की अपेक्षा कल्पना का मानस-स्पर्श उत्कृष्ट उपासना है। Platonic love या The Desire of the Moth for the Star भी उदाहरणीय है। व्यावहारिक राजनीति का उत्कृष्ट स्वरूप गाँधीवाद में है। गोरे मुखमण्डल की, उत्कृष्ट ही नहीं, उदात्त कल्पना है 'छवि गृह दीपशिखा जनु बरई'।

क्रिया और कर्मकांड के उत्कृष्ट स्वरूप क्रमशः भाव और प्रतीक-भावना हैं। प्रेम के एक बेलपत्र के सामने दप मस्तक की भेंट कुछ नहीं। शाक्तों का मैथुन, मैथुन नहीं, शक्ति-होम के कुण्ड-प्रतीकत्व के कारण उदात्त है (उत्कर्ष के साथ इसमें अतिशयता ही नहीं 'अखिलशयता' है)। पशुत्व का देवत्व में उत्कर्ष बिना झगड़े का उत्कर्ष है। व्याहतभोग की उत्कृष्ट कल्पना स्वर्ग में है। कोई अपने लड़के की बीमारी से दुखी होता है, फिर बुद्ध की, घायल हंस या प्राणिमात्र के प्रति, करुणा की कल्पना कीजिए। शुक्ल जी ने लोभ को सामान्यविषयक तथा प्रेम को विरलविषयक कहा है। वस्तुतः एक से प्रेम करनेवाला तो लोभी है, जैसे बाप अपने इकलौते का। प्रेम अद्वितीयता में नहीं, अनन्यता में है, अर्थात्—

'सो अनन्य जाकर अस मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ॥'

सर्वत्र अपने प्रिय को देखनेवाला ही पूरा प्रेम कर सकता है। जीवन की सापेक्षताओं में हम एक के नाते जितनों से प्रेम कर सकें उतने ही बड़े प्रेमी हम होंगे। स्त्री के प्रति आसक्त आदमी और देशभक्त की बात एक साथ सोचिए! राज के लिए मरनेवाले की अपेक्षा प्रेम अथवा मूल्यों के लिए मरनेवाले की अधिक महत्ता है। शाहखर्च बहुत होते हैं, लेकिन वह तबीयत का महाप्राण उदात्त था जिसने उपनिषदों-जैसा यह महावाक्य कह डाला, 'इस धन ने मेरे पूर्वजों को खा डाला है। इसे मैं खा जाऊँगा।' यहाँ धन, रुपये-पैसे का स्थूल ढेर न होकर, एक अशरीरी तत्त्व हो गया, जिसमें एक अदृश्य दानव की विकरालता भी है। धन और धनी दोनों सूक्ष्म होकर उत्कृष्ट हो गये। एक मुकद्दमेबाज की अपेक्षा वह करुणोदात्त नायक उत्कृष्ट है जो अखिल व्यापक प्रारब्ध से संघर्ष करता है। यहाँ विस्तार के चलते उत्कर्ष है तथा विस्तार की अतिशय व्याप्ति के चलते 'अहं' की उदात्तता है। चौदह वर्ष वन में साथ-साथ कष्ट झेलनेवाले लक्ष्मण से नन्दी गाँव में विरह के चौदह वर्ष बितानेवाले भरत का प्रेम उत्कृष्ट है, क्योंकि वह सूक्ष्म का भोग है। यदि इस तरह विचारा जाय कि भरत ने तो नीति का पालन किया और प्रेम में लक्ष्मण ने उसकी भी परवाह न की, तो लक्ष्मण श्रेष्ठतर हो जाते हैं। उसी तरह इष्ट-लाभ या अनिष्ट-शमन के लिए की गयी पूजा की अपेक्षा निष्काम भक्ति धर्म का उत्कृष्ट स्वरूप है। इस तरह 'स्व', 'स्थूल', 'उपयोगिता' तथा 'सीमा' के उत्तरोत्तर उत्क्रमण की आवश्यकता है। यही उदात्त की सरणि का उत्तर दर्शन है। यह उत्कर्ष या परिष्कार इसलिए प्रतीत होता है कि हमारी भूमिका ही नीची है, नहीं तो जिसे हम उत्कृष्ट कहते हैं वही शुद्ध स्वभाव है। प्राकृत तो तात्त्विक की जड़भूत, अधोगत अवस्था है।

आँधी के स्थूल प्रत्यक्ष (वृक्षों का हिलना, धूलि का बादल छा जाना) का उत्कर्ष वह सूक्ष्म शक्ति नहीं जो नर्त्तन करती है। वह सूक्ष्म शक्ति ही असल तत्त्व है जिसकी स्थूल अभिव्यक्ति वृक्षों के हिलने, धूल के छा जाने आदि में है। हमारे सामान्य विकास की भूमि ही ऐसी है कि जब तक अतिशयता हमें अभिभूत नहीं करती, हम स्रोत की कल्पना नहीं करते। लोक-मंगल की भावना हमारा स्वभाव है, क्योंकि उससे हमारी 'जातीय एकता' है, हम स्वयं बद्ध होकर स्वार्थकामी हो जाते हैं जो हमारी 'मानी हुई भिन्नता' है। उत्कर्ष की इस दृष्टि से उदात्त के चार स्वरूप हाथ लगते हैं:—

(१) सूक्ष्मोदात्त—जिसे Existentialistic Sublime कह सकते हैं,
(२) मूल्योदात्त—जिसे Value-Sublime कह सकते हैं,
(३) परोदात्त—जिसके लिए Altro-Sublime अपेक्षित दीखता है, और
(४) विस्तारोदात्त—इसे Extentionistic Sublime कहिए।

इन पर तनिक विस्तार से विचार करेंगे। [क्रमशः]

# संत कवियों के प्रेमाख्यान

श्री परशुराम चतुर्वेदी

हिन्दी के प्रेमाख्यानों में हम एक विशिष्ट स्थान उन रचनाओं को भी दे सकते हैं जो सन्त कवियों द्वारा लिखी गई हैं। ऐसी उपलब्ध कतिपय रचनाओं में एक दुखहरन की 'पुहुपावती' है और दूसरी धरणीदास की 'प्रेमप्रगास'।

'पुहुपावती' की कथा इस प्रकार है :—

राजपुर के नरेश ने पुत्र की इच्छा से घोर तपस्या की। तब देवी के वरदान से पुत्रोत्पत्ति हुई। पण्डितों ने बालक के विषय में बतलाया कि वह बीस वर्ष की आयु में किसी सुन्दरी के प्रेम में पड़कर घर छोड़ देगा, किन्तु होगा वह भाग्यवान्। बालक जब पढ़-लिख कर कुछ बड़ा हुआ, तो उसने अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं राज्य के शत्रुओं पर चढ़ाई करूँगा। राजा ने उसे रोका, तो दुखी होकर वह रात को निकल गया। चलते-चलते वह अनूपनगर में पहुँचा, जहाँ के राजा अम्बरसेन की रूपवती कन्या का नाम पुहुपावती था। जब वह महल से लगी फुलवारी में गया, तो वहाँ पर उसे पुहुपावती ने अपने झरोखे से देखा और वह प्रेमासक्त हो गई। पुहुपावती उस दिन से उदास रहने लगी। वह अब सदा प्रेम-चर्चा के लिए उत्सुकता प्रकट करती थी, जिसके कारण उसके गुरुजनों को अनेक प्रकार के सन्देह भी होने लगे।

राजकुमार फुलवारी की मालिन के घर ठहरा था, जो पुहुपावती की पुष्पशय्या बिछाया करती थी। जब मालिन ने एक दिन पुहुपावती को पुष्पशय्या से अलग सोते देखा और इसका कारण पूछा तो उसने उससे सारा भेद कह दिया। मालिन ने तब पुहुपावती को राजकुँवर का पता दे दिया। उसने लौट कर राजकुँवर से भी पुहुपावती के सौन्दर्य की प्रशंसा की, जिसे सुन कर वह मूर्च्छित हो गया। मालिन उस समय से दूती का काम करने लगी और उसने दोनों के मिलने का समय निश्चित किया।

निश्चित समय पर जब राजकुँवर और पुहुपावती एक दूसरे से मिले, तो वे सहसा मूर्च्छित हो गये। मालिन ने दोनों के अधरों को, उन्हें लिटा कर, मिला दिया, जिससे उन्हें फिर चेतना आ गई और दोनों ने प्रेम की बातें भी कीं।

एक दिन राजा अम्बरसेन जब आखेट करते समय किसी सिंह को मार न सके, तो राजकुँवर ने प्रकट होकर उसे मार डाला, और इस प्रकार वह उनका भी प्रियपात्र बना, किन्तु इस आखेट के समय वह लौटने का मार्ग भूल गया और उसके लिए चारों ओर खोज की जाने लगी। पुहुपावती को राजकुँवर के खो जाने से मार्मिक कष्ट होने लगा। उधर वह भी उसके विरह में व्याकुल रहने लगा। वन में भटकते समय एक दिन उसे अपने पिता की ओर से उसे ढूँढ़ने के लिए भेजा गया सज्ञान नामक व्यक्ति मिला, जिसने उसे पकड़ लिया और उसके पिता के पास ले गया। राजकुँवर के पिता को जब उसके प्रेम-व्यापार का पता चला, तो उसने उसका विवाह काशी के चित्रसेन की कन्या रूपावती के साथ कर दिया।

इधर पुहुपावती का कष्ट देखकर अम्बरसेन उसका उपचार कराते हैं, किन्तु कोई लाभ नहीं होता। पुहुपावती मालिन दूती के हाथ राजकुँवर को एक पत्र पठाती है। दूती अपना सरमुंडा कर एवं संन्यासी बन कर राजपुर पहुँचती है तथा मधुर गीत गाने लग जाती है। उसके संगीतसे आकृष्ट हो कर वहाँ राजकुँवर भी आता है, उसे पहचान लेता है तथा पुहुपावती का पत्र पढ़ कर वैरागी के वेष में मालिन के साथ चल देता है। राजकुँवर तथा मालिन किसी प्रकार चलते-चलते बेगमपुर गाँव में आते हैं, जिसका राजा बेगमराय है और उसकी लड़की रंगीली है। इस कन्या को एक दानव उठा ले जाता है और उसके अनुरूप वर को ढूँढ़ता हुआ राजकुँवर के पास आ पहुँचता है। दानव राजकुँवर का विवाह रंगीली के साथ कर देता है, और जब स्वयं वैराग्य धारण कर लेता है, तो रंगीली एवं राजकुँवर पुहुपावती के नगर की ओर चलते हैं। बीच में वे एक समुद्र में डूबते-डूबते किसी प्रकार बच पाते है, किन्तु दोनों एक दूसरे से बिछुड़ जाते हैं।

दैवयोग से मालिन-दूती एवं राजकुँवर से भेंट होती है और वे दोनों आगे बढ़ते हैं। उधर पुहुपावती के लिए राजा अंबरसेन ने स्वयंवर की रचना की थी। देश-देशान्तर से आये राजाओं में से उसने किसी का वरण नहीं किया। इसी समय मालिन ने आ कर उसे समाचार दिया और जब उसने राजकुँवर को भी वैरागी के वेष में प्रत्यक्ष कर दिया, तो पुहुपावती ने उसी के गले में जयमाल डाल दी। राजा अंबरसेन पहले तो अप्रसन्न हुआ, किन्तु फिर उसे पहचान कर प्रसन्न भी हुआ और पुहुपावती एवं राजकुँवर का विवाह भी कर दिया। इधर रूपावती भी विरह में कष्ट झेल रही थी, जिस कारण उसने 'उपकारी' नामक मैना को उसके निकट भेजा। मैना ने राजकुँवर से सब समाचार कहे जिससे प्रभावित हो कर वह पुहुपावती के साथ राजपुर की ओर चल पड़ा। मार्ग में राजकुँवर का उज्जैन के राजा से घोर युद्ध हुआ। मैना उधर रूपावती की ओर जाते समय एक तीर्थ में चला गया, जहाँ उसे रंगीली ध्यान में बैठी मिल गई। मैना ने लौटकर राजकुँवर से जब रंगीली का हाल बतलाया, तो वह उसके यहाँ भी चला गया और उसे उज्जैन ले आया। यहाँ पर पुहुपावती चिंता में पड़ी थी। इसलिए उनके आते ही वह प्रसन्न हो उठी और सारा दल राजपुर की ओर अग्रसर हुआ। मैना ने तब तक यहाँ रूपावती को भी सूचना दे दी थी, इसलिए वह भी अपने पिता की स्वीकृति के अनुसार उसमें सम्मिलित हो गई। राजकुँवर ने राजपुर पहुँच कर एक नया किला बनवाया, जिसमें तीन महल थे जिनमें उसने रानियों को पृथक्-पृथक् रखा। रूपावती श्वेत महल में रही, रंगीली काले में गई और पुहुपावती लाल महल में आई, जहाँ से उसे भगवान् ने अतिथि साधु के वेष में आ कर, ले लिया।

'पुहुपावती' की कहानी लम्बी-चौड़ी है और घटनाओं के बाहुल्य से जटिल भी दीख पड़ती है। इसमें अन्य बहुत-से प्रेमाख्यानों की भाँति, केवल एक या दो ही नायिकाएं नहीं हैं, प्रत्युत तीन-तीन एक आ जाती हैं। फिर भी, नायक की रुचि के अनुसार पुहुपावती को ही हम प्रधान नायिका कह सकते हैं और रूपावती एवं रंगीली उपनायिका अथवा प्रति-नायिका कही जा सकती हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि प्रधान नायिका पुहुपवाटी

जहाँ प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा प्रभावित होती है, वहाँ नायक राजकुँवर केवल गुण-श्रवण द्वारा ही उसकी ओर आकृष्ट हो उठता है और दोनों एक दूसरे को देखकर जब मूर्च्छित हो जाते हैं, तो मालिन उन्हें उनके अधरों को मिलाकर सचेत करती है। इस कथा में केवल राजकुँवर और पुहुपावती ही ऐसे हैं, जिनका पारस्परिक प्रेम प्रायः एक-सी गंभीरता का है। रूपावती एवं रंगीली के प्रति उस नायक का प्रेम उतना उत्कट नहीं जान पड़ता, जितना इन दोनों प्रेमिकाओं का उसके प्रति जान पड़ता है। दुखहरन ने इस कथा में एक और भी ऐसी बात दिखलाई है जो अन्यत्र नहीं पायी जाती और पत्नी पुहुपावती के सर्वाधिक प्रेयसी होने पर भी वह उसे एक साधु के माँगने पर समर्पित कर देता है जो कदाचित् उसके प्रेम से भी कहीं अधिक त्याग के प्रति निष्ठावान् होने के कारण है और यही बात संभवतः, इस प्रेमाख्यान के रचयिता का मत भी सिद्ध कर देती है। रूपावती एवं रंगीली के महलों का रंग क्रमशः श्वेत एवं कृष्ण है, जहाँ पुहुपावती का लाल है और ये तीनों एक ही दुर्ग में निर्मित हैं। क्या ये तीनों महल राजकुँवर के हृदय में वर्तमान क्रमशः सतोगुणी, तमोगुणी एवं रजोगुणी वृत्तियों के आधारस्वरूप तो नहीं हैं, जिनमें से सर्वाधिक सक्रिय तीसरी को कवि अपने इष्ट परमतत्त्व के प्रति अर्पित अथवा उसमें तल्लीन कर देने के पक्ष में है? अर्पित करने योग्य सतोगुणी अथवा तमोगुणी वृत्तियाँ नहीं हो सकतीं, क्योंकि ये दोनों एक दूसरी की विरोधिनी ठहरती हैं। रजोगुणी, इन दोनों की मध्यवर्त्तिनी होने के अतिरिक्त, स्वभावतः क्रियाशील भी है और यही सारे प्रपंच या सृष्टि के मूल में भी वर्तमान है। इस प्रेम-कथा के अंतर्गत एक यह बात भी विचारणीय है कि रूपावती का सम्बन्ध राजकुँवर के साथ उसके पिता के माध्यम से होता है, जहाँ पर रंगीली उसे किसी दानव के देने से मिलती है और केवल पुहुपावती ही ऐसी है जो उसे सर्वप्रथम, प्रेम-व्यापार में प्रकट करती है और वही अंत तक उसके सारे प्रयत्नों का लक्ष्य होती हुई भी, पूर्णतः उपलब्ध हो जाने पर उसके त्याग की प्रमुख वस्तु भी बन जाती है।

स्वयं दुखहरन ने ऐसा कहीं नहीं कहा है और न सारी कथा के रूपक को समझाने की कहीं चेष्टा ही की है। उन्होंने अपनी रचना के केवल उज्जैन-खंड में कथा के कुछ रहस्यात्मक प्रसंगों के स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया है। वहाँ पर उज्जैन को काया का प्रतीक बतलाया गया है, राजा 'रोठगँवार' को जीव का प्रतिनिधि ठहराया गया है, सभी इंद्रियों को कुछ न कुछ बाह्य रूप दिया गया है और ममता, वैर आदि तक के रूपक बाँधे गये हैं। फिर, इसी प्रकार अन्यत्र कुँवर ने भी 'आप' को ब्रह्म, माता को मुक्ति, चित्त को चैतन्य, गुरु को ज्ञान, मन को मन्त्री, दिल को दीवान, आदि कहा है। परन्तु, पूरी कथा का आशय सुव्यवस्थित रूप में कहीं भी प्रकट किया गया नहीं जान पड़ता। दुखहरन ने कथा का आरंभ करने से पहले इस रचना के अन्तर्गत यहाँ तक कह डाला है कि इसका मर्म जो जैसा समझ सकेगा वैसा ही जानेगा, मैं भी अपनी सूझ के अनुसार ही कहता हूँ:

"संवत सत्रह सै छब्बीसा। हुत सन सहेस हुइ चालीसा।
कहेउ कथा तब जस मोहि ग्याना। कोइ सुनि रोवत कोइ हंसाना॥

जेही जस बुधी तैस तेइ बूझा। जेही जस सूझी तैस तेहि सूझा ॥
बहुतन्ह के मन सरगुन आवा। बहुतन्ह निरगुन पटतर लावा ॥
बहुतन सुनिकै हिअ मंह राखा। बहुतन्ह सुनि कै रोख न माखा ॥
मोहि जस ग्यान रहा हिय माहीं। कहेउ सभै किछु घाड़ेउ नाहीं।
एक एक अछर खोजि बनावा। मुरुखन्ह दुख पंडितन्ह सुख पावा ॥"

दुखहरन से १२ वर्ष पहले बाबा धरणीदास ने भी एक ऐसी ही कथा 'प्रेमप्रगास' नाम से लिखी थी, जिसमें उन्होंने लगभग ऐसे ही शब्दों के प्रयोग किये थे। उनका कहना है :

"धरनी कै मन अनुभौ भैऊ। प्रेम प्रगास कथा एक ठनेऊ ॥
सहीजहि जीव ऊपजो अनुरागा। सोअतहुँते चिहुँकि जन जागा ॥
सतपति कहो कथा किछु आगे। भगतिभाव अभिअंतर लागे ॥
सरगुनिआ सरगुन लै लावे। निरगुनिआ निरगुन ही सुनावे ॥
संमत सत्रह सौ चलि गैऊ। तेरह अधिक ताहि पर भैऊ ॥
शाहजहाँ छोड़ि दुनिआई। पसरी औरंगजेब दोहाई ॥
सोच विसारी आतमा जागी। धरनी धरेउ भेख बैरागी ॥"

उपर्युक्त दोनों कवि समकालीन थे, दोनों संतपरम्परा के थे और दोनों के निवास-स्थानों अर्थात् क्रमशः गाजीपुर एवं माँझी के बीच कदाचित् चालीस कोसों का भी अन्तर न था—

फिर भी, बाबा धरणीदास के प्रेमप्रगासवाले प्रेमाख्यान की घटनाएँ उतनी अधिक या जटिल भी नहीं प्रतीत होतीं। कथा का सार यह है—कश्मीर की ओर एक पंचवटी नामक नगर था, जिसके राजा का नाम देवनारायण था। देवनारायण के पुत्र का नाम मनमोहन था। एक दिन मनमोहन के निकट कोई सौदागर आया, जिसने उसे एक मैना दिया जो बड़ा पंडित और बुद्धिमान् था। सौदागर को राजकुमार ने इसके बदले एक महत्त्वपूर्ण माला दी और मैना को 'परमारथी' का नाम देकर वह उसे सुन्दर पिंजरे में रखने लगा। राजकुमार उसे बड़ा प्यार करता था, इसलिए मैना ने भी उसे वचन दिया कि मैं तुम्हारा विवाह किसी 'देवमूरति' कन्या से करा दूँगा। तदनुसार वह एक दिन शुभलग्न में पिंजरे से बाहर उड़ा और कहीं पर एकत्र अन्य अनेक पक्षियों से परामर्श किया कि राजकुमार को कौन-सी सुन्दरी दी जाय। उनमें से एक ने सागर-पार बसे हुए 'पारसनगर' के ध्यानदेव राजा की कन्या 'प्रानमती' के सौन्दर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की। परमारथी को प्रानमती पसन्द आई, जिसके कारण वह उसी ओर उड़ चला, किन्तु भूख-प्यास के कारण वह समुद्र में गिर भी पड़ा। उसे देखकर उधर से व्यापार के लिए डोंगी से जाते हुए एक महाजन ने उठा लिया और उसे अन्न-जल देकर फिर तीर पर उड़ा दिया। परमारथी तब वहाँ से उड़ता हुआ किसी जंगल में पहुँचा, जहाँ के पक्षियों से उसने पारसनगर का पूरा पता जान लिया और फिर वह

उस नगर में भी चला गया। किन्तु, उसने उस दिन वहाँ के एक उद्यान में बसेरा लिया, जहाँ पर ऊँघ जाने के कारण वह किसी व्याध द्वारा पकड़ लिया गया।

व्याध ने मैना को लेकर वहाँ की राजकुमारी प्रानमती को भेंट कर दिया, जिसने उसे बड़े स्नेह के साथ सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन एकांत पाकर मैना परमारथी ने प्रानमती को सोते से जगाया और उससे बातचीत करके जान लिया कि वह अपने लिए उपयुक्त वर की आशा से बराबर शिवाराधन किया करती है तथा उसने राजकुमारी को इस सम्बन्ध में सहायता देने का भी वचन दिया। परमारथी ने राजकुमारी से एक वर्ष की अवधि ली और कई दिनों तक अनेक प्रकार के कष्ट झेलता हुआ पंचवटी में मनमोहन के पास चला आया। राजकुमार के पूछने पर उसने अपनी यात्रा की पूरी कहानी सुनाई, जिससे प्रभावित हो वह एक दिन आखेट के बहाने निकल पड़ा और उसने मैना का पिंजरा भी ले लिया। मार्ग में विश्राम करते समय उसे कामसेन राजा के साथ युद्ध भी करना पड़ा जिसका अन्त केवल पर्वतराज बुद्धिसेन के बीच-बचाव करने से हो सका। फिर, वहाँ से राजकुमार आगे बढ़ा तो पता चला कि उसका पिंजरा कहीं खो गया है जिसके कारण दुःखी होकर मनमोहन योगी बन गया। फिर किसी 'सीधा' (सिद्ध) की गोटिका की सहायता से वह परमारथी के पिंजरे को भी पा लिया और अपने अन्य साथियों से अपने वापस आने तक ठहरने को कहा और फिर पिंजरे के साथ वह आगे बढ़ा। आगे इसे दुरमत नाम का एक दानव मिला जिससे इसे लड़ना पड़ा और इसने उसे मार भी डाला, किन्तु उसकी गोटिका कहीं खो गई। दानव के मारे जाने पर वहाँ के राजा 'ग्यानदेव' ने इसका बड़ा आदर-सत्कार किया और इस पर प्रसन्न होकर उसने अपनी कन्या जानमती इसे समर्पित कर दी। किन्तु, यह उस राजा के उदयपुर नगर में अधिक समय तक नहीं ठहर सका और परमारथी को लेकर वह फिर और भी आगे चल पड़ा।

वहाँ से चलकर वे दोनों पारसनगर या श्रीपुर पहुँच गये, जहाँ मनमोहन एक सरोवर पर ठहर गया और परमारथी प्रानमती के पास पहुँच गया। परमारथी ने राजकुमारी से बड़ी भूमिका बाँधी और अपने कथन द्वारा उसे मनमोहन के प्रति प्रेमासक्त भी कर दिया। तदनुसार प्रानमती ने अपने माता-पिता से कहकर दूसरे दिन योगी, यती आदि को खिलाने की व्यवस्था करायी। उसने पहले ही दिन सन्ध्या समय मनमोहन के लिए अपनी चेरी से एक पकान्न की थाल भी भेजी, जहाँ पर उस राजकुमार को देखकर चेरी अत्यन्त प्रभावित हुई। निश्चित समय पर जब मनमोहन अन्य साधुओं के साथ बैठा खा रहा था कि प्रानमती ने उसे झरोखे से देखा और वह बेहोश हो गई। सचेत होने पर उसने उन्हें मनमोहन का पूरा परिचय दिया, जिससे वे दोनों प्रसन्न हुईं और उन्होंने उसके पास अपना विप्र भेजा। मनमोहन ने पहले तो आनाकानी की, किन्तु वह फिर राजी हो गया और तदनुसार वहाँ के राजा ने एक उत्सव की तैयारी करके बहुत से अन्य राजकुमारों को भी निमन्त्रित किया। जब अन्य राजकुमारों को एक योगी के साथ प्रानमती के भावी सम्बन्ध का पता चला, तो उन्होंने इसका घोर विरोध किया। फलतः, निश्चय

हुआ कि शिवमूर्ति के निकट एक जयमाल रखी जाय और सभी राजकुमार बारी-बारी उसकी प्रदक्षिणा करें तथा प्रणाम करें। उनके सिर के झुकते ही जयमाल के उनके गले में आपसे आप पड़ जाने की बात थी जो मनमोहन के ही सम्बन्ध में पूरी हुई और उसके गले में जयमाल पड़ गई। मनमोहन और प्रानमती का फिर विधिवत् विवाह हो गया और वे वहाँ पर एक वर्ष तक ठहर गये। किन्तु, किसी दिन एक योगी ने वहाँ आकर उदयपुर के 'ग्यानदेव' तथा उनकी राजकुमारी प्रानमती का समाचार कह सुनाया, जिससे मनमोहन परम दुःखी हो गया और वह लौटने की तैयारी करने लगा। वहाँ तो उदयपुर तक उसके साथ ध्यानदेव भी आये, जहाँ पर उससे प्रानमती की विवाह-विधि सम्पन्न हुई और फिर दोनों पत्नियों को लेकर वह आगे बढ़ा। समुद्र को पार कर वह अपने साथियों से मिला और अन्त में एक साथ होकर सभी पंचवटी लौट आये।

बाबा धरणीदास ने 'प्रेमप्रगास' की प्रारम्भिक पंक्तियों में एक 'अस्लोक' दिया है जो इस प्रकार है :

"पंचवटी च ऊदयेपुरस्य श्रीपुरे मध्येपस्तथा ॥
जः जनति चतुरस्थानं धरनी तस्य नमस्क्रीत ॥" [बिस्राम ३]

इससे प्रकट होता है कि पंचवटी, उदयपुर, श्रीपुर (पारसनगर) और मध्येप इन चारों का कोई रहस्यात्मक अर्थ है। इनमें से पहले तीन तो कथा में ही क्रमशः देवनारायण ज्ञानदेव तथा ध्यानदेव की राजधानियों के रूप में दिये गये हैं। ये फिर क्रमशः मनमोहन राजकुमार तथा ज्ञानमती एवं प्रानमती नाम की राजकुमारियों के भी स्थान कहे जा सकते हैं। ये सभी नाम सार्थक अवश्य प्रतीत होते, किन्तु इनकी सार्थकता बहुत स्पष्ट नहीं है और न इन्हें समझने के लिए कवि ने कहीं पर्याप्त संकेत ही दिये हैं। इनके साथ मध्येप भी चौथा स्थान बनकर दीख पड़ता है, किन्तु इसका उल्लेख अन्यत्र स्पष्ट नहीं है। बाबा धरणीदास के मध्यदीप 'माझस्थान' अथवा 'मेहसिनग्र' से यदि उसका कोई सम्बन्ध हो, तो भी इसका पता नहीं। इसी प्रकार एक अन्य 'अस्लोक' द्वारा कवि ने यह भी बतलाया है कि स्त्री आत्मा का प्रतीक है और पुरुष परमात्मा का। सौदागर गुरु प्रतीक का है और मैना मन के लिए इस कथा में है। आत्मा एवं परमात्मा एक दूसरे से 'बिछुरे' जान पड़ते हैं और इन्हीं के 'मेराव' अथवा 'सम्मिलन का प्रसंग' इस कथा में दिया गया है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि कवि कहीं सूफी मत के ही अनुसार न वर्णन कर रहा हो। किन्तु, इसका भी सामंजस्य सर्वत्र बिठाना सरल नहीं है।

वास्तव में इस कथा के अन्तर्गत हमें उतना भी स्पष्ट संकेत नहीं मिलता जितना 'पुहुपावती' में पाया जाता है। 'प्रेमप्रगास' की रचना-शैली पर जायसी की पद्मावत-जैसी सूफी प्रेमगाथाओं का प्रभाव स्पष्ट दीख पड़ता है। फिर भी, इसमें सूफी प्रेमगाथाओं के बाह्य लक्षण बहुत कम लक्षित होते हैं और इसे पढ़ने पर ऐसा लगता है कि संभव है, इसका कवि इसके द्वारा कहीं संतमत का ही प्रतिपादन न कर रहा हो। प्रेमप्रगास का मनमोहन

पद्मावत के रतनसेन-जैसा है, इसकी प्रानमती उसकी पद्मिनी की पद्मावती है, किन्तु इसका मैना उसके छवा-सा लगता हुआ भी यहाँ गुरु या पीर का प्रतिनिधि नहीं माना गया है। प्रत्युत वह यहाँ मित्र का प्रतीक है और गुरु का स्थान यहाँ सौदागर ने लिया है। बाबा धरणीदास के ही शब्दों में :

> "गायते आत्मा इस्त्रिणां पुरुष च परमात्मा ।
> सौदागर गुरु यस्य, मन मैना वीस्तर कथा ॥"

किंतु आत्मा के स्त्री होने पर भी यहाँ प्रयत्न मनमोहन की ओर से होते हैं। वहीं रतनसेन की भाँति अपने साथियों के साथ अपनी प्रेम-यात्रा में अग्रसर होता है, प्रायः वैसे ही कष्ट झेलता है और वैसे ही पहुँचता है। रतनसेन के सूए की भाँति यहाँ भी इसका मैना साथ नहीं छोड़ता और यदि कुछ समय के लिए छूट भी जाता है, तो फिर वह इसे लेकर ही आगे बढ़ता है। अंतर केवल इतना ही है कि सूफी सालिक का पीर जहाँ उसकी प्रत्येक बाधा या उलझन के समय उसका साथ देता जान पड़ता है, वहाँ संत साधक का गुरु उसको अपने 'सबद' के बाण से बेधकर उसके हृदय में विरह जागरित कर देता है और तब से उसको अपने आप सँभलने के प्रयत्न करने पड़ते हैं तथा सदा चंचल रहकर इधर-उधर उड़ने-फिरनेवाला भी उसका मन उसका सहायक बन जाता है। पुरुष मनमोहन की ओर से स्त्री प्रानमती के लिए किये गये रतनसेन-जैसे प्रयत्न भी यहाँ केवल सूफियों के ही अनुकरण में प्रदर्शित नहीं कहे जा सकते। परमात्म-तत्त्व को प्रेमपात्र का रूप देकर पुरुष आत्मा की ओर से उसे पाने का प्रयत्न करना सभी सूफियों ने भी एक समान नहीं दिखलाया है। जैसा पहले भी संकेत किया जा चुका है जिन सूफी कवियों ने युसुफ एवं जुलेखा की प्रेम-कहानी को अपनी प्रेम-गाथा का विषय बनाया है, उन्हें इस नियम के विपरीत चलना पड़ गया है। क्योंकि, वहाँ जुलेखा के ही प्रेम की प्रधानता मिलती है। इसके सिवाय तमिल प्रांत के प्रसिद्ध भक्त कवि माणिक्क वाचकर जिन्हें सूफियों द्वारा प्रभावित कहने का कोई प्रमाण नहीं है और अपने रहस्यवादी प्रबंधकाव्य ( तिरुक्कोवैयार ) के अन्तर्गत परमात्मा को प्रेमिका के रूप में तथा जीवात्मा को प्रेमी के रूपमें वर्णन करते दीख पड़ते हैं[1] और इसी की संभावना यहाँ भी मान ली जा सकती है।

---

१. श्री पूर्ण सोमसुन्दरम् लिखित 'तमिल और उसका साहित्य' (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ) पृ० ५२।



## जैनागमों की वर्णनात्मक शैली

श्री अगरचन्द नाहटा

जैनागमों का भाषा-विज्ञान, इतिहास, कला, संस्कृति, धर्म आदि अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है, पर अभी तक उनका अध्ययन इन दृष्टियों से बहुत कम ही किया गया है।

फलतः, हम इनके सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ज्ञातव्य बातों से अपरिचित-से हैं। जैन विद्वान् उनका अध्ययन तो करते हैं, किंतु धार्मिक दृष्टि से। अतः, उनके लिए अन्य बातें गौण हो जाती हैं। कुछ पाश्चात्त्य विद्वानों ने इनके महत्त्व पर अच्छा प्रकाश डाला है। कुछ भारतीय विद्वानों ने भी उन पर काम किया है, पर वह बहुत ही थोड़ा है। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के अध्ययन की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के उद्देश्य से मैंने समय-समय पर उनके कुछ नमूने प्रकाशित करने का विचार किया है। कुछ वर्ष पूर्व 'जैनागमों में कृष्ण-चरित्र' लेख प्रकाशित कर यह आशा की थी कि इन ग्रंथों में अन्य महापुरुषों, नगरों, प्राचीनकाल के धार्मिक आचरणों, विविध प्रकार के उपासकों और तत्कालीन साहित्य, इतिहास और संस्कृति-सम्बन्धी जो बिखरी हुई सामग्री इन ग्रंथों में पड़ी है, उसे अन्य विद्वान् एकत्र कर प्रकाश में लावेंगे। पर आशानुरूप कार्य नहीं हुआ है।

बौद्ध ग्रंथों का अध्ययन इन दृष्टियों से किया जा रहा है और उनके आधार पर भारतीय इतिहास-ग्रंथों में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की जा रही है। जैन ग्रंथों का, जिनका निर्माण भारत में विगत ढाई हज़ार वर्षों से विविध प्रान्तों और विविध भाषाओं में होता रहा है, महत्त्व भी किसी दृष्टि से कम नहीं है। सत्य तो यह है कि बौद्ध धर्म शताब्दियों तक भारत के बाहर ही जीवित रहा है, अतः उसमें थोड़ी भी मध्यकालीन सामग्री नहीं मिलती। इसकी पूर्ति भी जैन साहित्य ही करता है। तात्पर्य यह कि भारतीय इतिहास की जो सामग्री जैन ग्रंथों में है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रकार भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी जैन साहित्य का अत्यधिक महत्त्व है। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास समझने के लिए तो उनका अध्ययन अनिवार्य है।

जैनागमों की वर्णनात्मक शैली बहुत ही आकर्षक है। उनमें किये गये वर्णन, घटनाओं और वस्तुओं का चित्र-सा उपस्थित कर देते हैं। पर्यायवाची शब्दों के संग्रह की दृष्टि से भी उनका असाधारण महत्त्व है। देशी शब्दों का विकास-क्रम प्राकृत-अपभ्रंश ग्रंथों से ही जाना जा सकता है। हमारे विद्वान् इसके लिए संस्कृत की ओर दौड़ते हैं, किंतु यह बहुत उपादेय नहीं है। अस्तु, अधिक अब मैं न लिखकर जैनागमों के कुछ वर्णनों के उदाहरण दे रहा हूँ। विद्वानों को इन ग्रंथों का अधिकाधिक अध्ययन कर लाभ उठाना चाहिए।

## पिशाच-रूप-वर्णन

मूलः—"सीसं से गोकिलंजसंठाणसंठियं सालिभसेल्लसरिसा से केसाकविलितेएणं दिप्पमाणा, महल्लउट्टियाकभल्लसंठाणसंठियं निडालं, मुगुंसपुंछं व तस्स भुमगाओ फुग्गफुग्गाओ, विगयबीभच्छदंसणाओ सीसघडिविणिग्गयाइं अच्छीणि विगयबीभच्छदंसणाइं कण्णा जह सुप्पकत्तरं चेव विगयबीभच्छदंसणिज्जा, उरब्भपुडसन्निभा से नासा, झुसिरा जमलचुल्लीसंठाणसंठिया दोवि तस्स नासापुडया घोडयपुंछं व तस्स मंसूइं कविलकविलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं।" (उपासकदशासूत्र)

अर्थः—पिशाच का मस्तक गौ के खाने के लिए जो बाँस का बड़ा टोकरा रखा जाता है उसको औंधा करने से जो आकार बनता है, उसके जैसा विशाल था; चावल के भूसा के वर्ण जैसे पिंगल वर्णवाले चमकीले केश थे; मिट्टी के बड़े घड़े के समान कपाल था। घोड़े का निचला हिस्सा-जैसा बड़ा ललाट था। नेवला और गिलहरी की पूँछ-जैसी बिखरे हुए बालवाली कुटिल और भयंकर दोनों भौंहें थीं; घड़े के मुख-जैसी विशाल, बहुत भयानक चमकीली दोनों आँखें थीं; अनाज फटकने के सूप के टुकड़े-जैसे भयंकर दोनों कान थे; भेड़ की नाक-जैसी चिपटी नाक थी; दो मिली हुई भट्ठी-जैसी नासिका के बड़े-बड़े छिद्र थे; घोड़े की पूँछ-जैसे कड़े और भयंकर दाढी-मूँछ के बाल थे।

मूलः—"उट्ठाउट्टस्स चेव लंबा, फालसरिसा से दंता, जिब्भा जहा सुप्पकत्तरं चैव विगय-बीभच्छदंसणिज्जा, हलकुद्दालसंठिया से हणुया, गल्लकडिल्लं च तस्स खड्डं फुट्टकविलं फरुसं महल्लं मुइंगाकारोवमेसे खंधे, पुरवरकवाडो मेसे वच्छे, कोट्ठियासंठाणसंठिया दोवितस्स बाहा, निसापाहणसंठाणसंठिया दोवि तस्स अग्गहत्था, निसालोढ संठाणसंठियाओ हत्थेसु अंगुलीओ।"

(उपासकदशासूत्र)

अर्थः—ऊँट के जैसे लंबे-लंबे होंठ थे, लोहे के कुश या फावड़े के समान लंबे-लंबे दाँत थे; सूप-जैसी भयंकर जिह्वा थी, हल की लकड़ी-जैसी लंबी और टेढ़ी ठुड्डी थी, लोहे की कड़ाह जैसे मध्य में गहरे, कुत्ते के जैसे फटे हुए बड़े कर्कश गाल थे; मृदंग के आकारवाले स्कंध थे; नगर-द्वार-जैसी विशाल छाती थी; अनाज भरने की कोठी-जैसी दोनों स्थूल भुजाएँ थीं; शिला के जैसे स्थूल और विशाल हाथ थे और शिला की लोढ़ी-जैसी हाथ की उँगलियाँ थीं।

मूलः—"सिप्पिपुडगसंठिया से नक्खा, ण्हावियपसेवओ व्व उरंसि लंबंति दोवि तस्स थणया पोट्टं अयकोट्ठओव्व वट्टं, पाणकलंदसरिसा से नाही, सिक्कगसंठाणसंठिया से नेत्ते, किण्णपुडसंठाणसंठियो दोवि तस्स वसणा, जमलकोट्ठियासंठाणसंठिया दोवि तस्सा ऊरू।"

(उ० सू०)

अर्थः—सीप के संपुट-जैसे ऊँचे और लंबे-लंबे नख थे। नापित के उस्तुरे आदि रखने की थैली-जैसी छाती में दोनों स्तन लटकते थे। लोहे की कोठी-जैसा गोल पेट था। पानी की कुंडी-जैसी गहरी नाभि थी। छींका के आकारवाले नेत्र थे। तंदुल आदि कण भरने के गोण के जैसे दोनों वृषण थे। कोठियों के जोड़े-जैसी स्थूल और लंबी दोनों जाँघें थीं।

मूलः—"अज्जुणगुट्ठं व तस्स जाणूइं कुडिलकुडिलाइं विगयबीभच्छदंसणाइं, जंघाओ कक्खडीओ लोमेहिं उवचियाओ अहीरीलोढसंठाणसंठिया दोवि तस्स पाया, अहीरीलोढ-संठाणसंठियाओ पाएसु अंगुलीओ, सिप्पिपुडसंठिया से नक्खा, लडहमडहजाणुए विगय-भग्गभुग्गभुमए।"

(उपासकदशासूत्र)

अर्थः—अर्जुन वृक्ष की गांठ-जैसी बहुत कुटिल और अति बीभत्स भयंकर जानु थी। जंघा के ऊपर कुटिल और भयंकर कठोर रोमावली थी। मसाला पीसने की शिला के जैसे पाँव थे। पीसने की लोढ़ी-जैसी पाँव की उँगलियाँ थीं। सीप के संपुट-जैसे स्थूल

नख थे। शिथिल बंधनवाले और स्थूल होने पर भी छोटे बेडौल घुटने थे। बड़ी स्थूल और टेढ़ी भृकुटि थी।

मूलः—"अवदालियवयणविवरनिल्लालियग्गजीहे, सरठकयमालियाए उंदुरमालापरिणद्ध-छुकयचिंधे नउलकयकणपूरे सप्पकयवेगच्छे।" (उ० सू०)

अर्थः—मुख को फाड़ कर जिह्वाग्र को बाहर निकाले हुए, गिरगिटों और चूहों की माला पहने हुए, न्यौले का कुंडल कान में लटकाये हुए, साँप का दुपट्टा ओढ़े हुए।

मूलः—"अप्फोडंते अभिगज्जंते भीमसक्कट्टहासे नाणाविह पंचवणेहिं लोमेहिं उवचिए एगं महंनीलुप्पलगवलगुलिका अयसिकुसुमप्पगासं असिं खुरधारं महालं उवागच्छइ।"

(उ० सू०)

अर्थः—इस प्रकार भयंकर रूप बनाकर करस्फोट (ताल) करता हुआ, मेघ के समान गर्जन करता हुआ, भयंकर अट्टहास करता हुआ, अनेक प्रकार के पंच वर्ण के रोम से युक्त नीलकमल के वर्णवाली, भैंस के सींग के वर्णवाली नील अतसी पुष्प के समान, तीक्ष्ण धार-वाली तलवार हाथ में लेकर महल में आया।

## युद्ध-वर्णन

मूलः—"तते णं ते दोण्हि वि राईणं अणीया सन्नद्ध जाव गहियाउहपहरणा मेगतितेहि फलतेहिं निक्कट्ठाहिं असीहिं अंसागएहिं तोणेहिं सजीवेहिं धणूहिं समुक्खित्तेहिं सरेहिं-समुल्लालिताहिं डावाहिं ओसारियाहिं उरूघंटाहिं छिप्पत्तरेणं वज्जमाठोणं महया उक्किट्ठसीहनाप बोल कलकलरवेणं समुद्दरवभूयं पित्र करेमाणा संव्विड्ढीए जावरवेणं हय गया हयगएहिं गयगया गयगतेहिं रहगया रहगतेहिं पायत्तिया पायत्तिएहिं अन्नेमन्नेहिं सद्धिं संपलग्गा यावि होत्था। तते णं ते दोण्हवि राया णं अणीया णियगसामी सरसणाणुरुता महता जणक्खयं जणवहं जणप्पमद्दं जणसंवट्टकप्पं नच्चंतकवंधवारभीमं रुहिरकद्दमं करेमाणा अन्नमन्नेणं सद्धिं जुज्झंति।"

(निर्यावलिसूत्र)

अर्थः—उसके बाद उन दोनों राजाओं के सैनिक कवच पहनकर तैयार हुए, उन्होंने आयुध और प्रहरण ग्रहण किये, फलों को हाथों में ले लिया, खड्ग को म्यान से बाहर खींच लिया, तरकस को कंधे के ऊपर लटका दिया। धनुष पर प्रत्यंचा चढ़ा दी और तरकस से बाणों को बाहर खींचा। बरछी को उछालने लगे। जंघा में बंधे घुँघरू हटा दिये और अधिक शीघ्रता से बाजे बजाने लगे। खूब जोरों से सिंहनाद और कल-कल शब्द करने लगे, जैसे समुद्र का गर्जन हो। ऐसे सर्व-समृद्धि-सहित, समस्त प्रकार के बाजों के शब्द-सहित अश्वा-रोही, गजारोही और रथिक इत्यादि परस्पर एक दूसरे के साथ युद्ध करने लगे।

उसके बाद इन दोनों राजा के सैनिक अपने स्वामी की आज्ञा के अनुरूप होने से योद्धाओं का, जनों का क्षय करते, मर्दन करते, संवर्त्तक वायु की तरह, चारों तरफ से जिस प्रकार वस्तुओं को वह एकत्र करता है, उसी प्रकार लोगों को काट-काट कर एक के बाद

दूसरे को एकत्र करते हुए, नृत्य करते हुए, कबंध और हाथ में से छूटे हुए मदिरा-पात्रों से रणभूमि को भयंकर करते हुए तथा रुधिर की कीच बनाते हुए, परस्पर युद्ध करने लगे।

## तपस्वी-वर्णन

मूलः—"धन्नस्स णं अणगारस्स पादाणं अयमेयारूवे तवरूव-लावन्ने होत्था, से जहा-णामते सुक्क-छल्लाति वा कट्ठ-पाउयाति वा जरग्ग-ओवाहणाति वा, एवामेव धन्नस्स अणगारस्स पाया सुक्का णिम्मंसा अट्ठि-चम्म-छिरत्ताए पण्णायंति णो चेव णं मंससोणियत्ताए। धन्नस्स णं अणगारस्स पायंगुलियाणं अयमेयारूवे० से जहाणाम ते कल-संगलियाति वा मुग्ग-सं० वा मास-संगलियाति वा तरुणिया छिन्ना उण्हे दिन्ना सुक्का समाणी मिलायमाणीर चिट्ठति। एवामेव धन्नस्स पायंगुलियातो सुक्कातो जाव सोणियत्ताते।"

(अनुत्तरौपपातिकदशासूत्र : तृतीय वर्ग)

अर्थः—धन्य अनगार के पैरों का तप से ऐसा लावण्य हो गया, जैसे सूखी हुई वृक्ष की छाल, लकड़ी की खड़ाऊँ या जीर्ण जूता हो। इसी प्रकार धन्य अनगार के पैर केवल हड्डी, चमड़ा और नसों से ही पहचाने जाते थे, न कि मांस और रुधिर से। धन्य अनगार की पैरों की उँगलियों का ऐसा तपजनित लावण्य हुआ, जैसा कलाय धान्य की फलियाँ, मूँग की फलियाँ अथवा माष की फलियाँ कोमल ही तोड़कर धूप में डाली हुई मुरझा जाती हैं। धन्य अनगार की उँगलियाँ भी इतनी मुरझा गई थीं कि उनमें केवल हड्डी, नस और चमड़ा ही नजर आता था, मांस और रुधिर नहीं।

मूलः—"धन्नस्स जंघाणं अयमेवारूवे० से जहा० काक-जंघाति वा कंक-जंघाति वा ढेणियालिया जंघाति वा जावणो सोणियत्ताए, धन्नस्स जाणूणं अयमेयारूवे० से जहा कालि-पोरेति वा मयूर-पोरेति वा ढेणियालिया-पोरेति वा, एवं जावनो सोणियत्ताए। धण्णस्स ऊरुस्स० जहाणामते सामकरील्लेति वा बोरी-करील्लेति वा सल्लति० सामली० तरुणिते उण्हे जाव चिट्ठति, एवामेव धन्नस्स ऊरू जाव सोणियत्ताए।" (अनुत्तर० सूत्र०)

अर्थः—धन्य अनगार की जंघाएँ तप के कारण इस प्रकार निर्मांस हो गईं, जैसे काक (कौवे) की, कङ्कपक्षी की और ढेणिक (ढंक) पक्षी की जंघाएँ होती हैं। वे सूखकर इस तरह की हो गईं कि और रुधिर देखने को भी नहीं रह गया। धन्य अनगार की जानु तप से इस प्रकार सुशोभित हुई, जैसे कालि नामक वनस्पति, मयूर और ढेणिक पक्षी के पर्व (गाँठ) होते हैं। वे भी मांस और रुधिर से नहीं पहचाने जाते थे। धन्य अनगार के उरोजों की भी तप से इतनी सुन्दरता हो गई जैसे प्रियंगु, बदरी, शल्यकी और शाल्मली वृक्षों की कोमल-कोमल कोपलें, तोड़कर धूप में रखी हुई मुरझा जाती हैं। ठीक इस तरह धन्य अनगार के ऊरु भी मांस और रक्त से रहित होकर मुरझा गये थे।

मूलः—"धन्नस्स कडिपत्तस्स इमेयारूवे० से जहाणामए उट्टपादेति वा जरग्गपादेति वा जाव सोणियत्ताए, धन्नस्स उदरभाअणस्स इमे० से जहा० सुक्क-दिएति वा भज्जणय-कमल्लेति वा कट्ठ-कोलंबएति वा, एवामेव उदरं सुक्कं। धन्न० पंसुलिय-कडयाणं इमे० से जहा० भासयावलीति वा पाणावलीति वा मुंडावलीति वा। धन्नस्स पिट्ठि-करंडयाणं अयमेयारूवे०

से जहा० कन्नावलीति वा गोलावलीति वा वहयावलीति वा। एवमे० धन्नस्स उर-कडयस्स अय० से जहा० चित्तकटरेति वा वियणपत्तेति वा तालियंट-पत्तेतिवा, एवामेव०।" (अनु० सू०)

अर्थः—धन्य अनगार के कटि-पत्र का इस प्रकार का तप-जनित लावण्य हुआ, जैसे उँट का पैर हो। उसमें मांस और रुधिर का सर्वथा अभाव था। धन्य अनगार का उदर-भाजन इतना सुन्दराकार हो गया था, जैसे सूखी मशक हो, चने आदि भूनने का भाण्ड हो अथवा लकड़ी का, बीच में मुड़ा हुआ, पात्र हो। उसका उदर भी ठीक इसी प्रकार सूख गया था। धन्य अनगार की पार्श्व की अस्थियाँ तप से इतनी सुन्दर हो गई थीं, जैसे दर्पणों की पंक्ति हो, पाण नामक पात्रों की पंक्ति हो अथवा स्थाणुओं की पंक्ति हो। धन्य अनगार के पृष्ठ-प्रदेश के उन्नत भाग इतने सुन्दर हो गये थे जैसे कान के भूषणों की पंक्ति हो, गोलक-वर्तुलाकार पाषाणों की पंक्ति हो अथवा वर्तक-लाख आदि के बने हुए बच्चों के खिलौनों की पंक्ति हो। इसी प्रकार धन्य अनगार के पृष्ठ-प्रदेश भी सूखकर निर्मांस हो गये थे। धन्य अनगार के वक्षःस्थल के कटकों की इतनी सुन्दरता हो गई थी, जैसे गौ के चरने के कुण्ड का अधोभाग होता है, बाँस आदि का पंखा होता है अथवा ताड़ के पत्तों का पंखा होता है। ठीक इसी प्रकार उसका वक्षःस्थल भी सूखकर मांस और रुधिर से रहित हो गया था।

मूलः—"धन्नस्स बाहाणं० से जहाणामते समिसंगलियाति वा अगत्थिय-संगलियाति वा एवामेव०। धन्नस्स हत्थाणं० से जहा० सुक्क-छगणियाति वा वडपत्तेति वा पलास-पत्तेति वा एवामेव०। धन्नस्स हत्थंगुलियाणं० से जहा० कलायसंगलियाति वा मुग्ग० मास० तरुणिया छिन्ना आयेव दिन्ना सुक्का समाणी एवामेव।" (अनुत्तर० सू०)

अर्थः—मांस और रुधिर के अभाव से धन्य अनगार की भुजाएँ इस प्रकार हो गई थीं, जैसे शमी, बाहाय और अगस्तिक वृक्ष की सूखी हुई फलियाँ हों। धन्य अनगार के हाथ सूखकर इस प्रकार हो गये थे, जैसे सूखा गोला होता है अथवा वट और पलाश के सूखे पत्ते होते हैं। उस तप के प्रभाव से धन्य अनगार की उंगलियाँ भी सूख गई थीं और ऐसी प्रतीत होती थीं मानो कलाय, मूँग अथवा माष की फलियाँ, जो कोमल-कोमल तोड़कर धूप में रखी हुई हों। जिस प्रकार ये मुरझा जाती हैं उसी प्रकार उनकी उँगलियाँ भी मांस और रुधिर के अभाव से मुरझा कर सूख गई थीं।

मूलः—"धन्नस्स जीवाए० से जहा० करग-गीवाति वा कुंडिया-गीवाति वा उच्चट्टवणतेति वा एवामेव० धन्नस्स णं हणुआए से जहा० लाउय-फलेति वा हकुब-फलेति वा अंबगुट्ठियाति वा एवामेव०। धन्नस्स उट्ठाणं से जहा० सुक्क-जलोयाति वा सिलेस-गुलियाति वा अलत्तग-गुलियाति वा एवामेव०। धन्नस्स जिब्भाए० से जहा० वडपत्तेति वा पलास-पत्तेति वा सागपत्तेति वा एवामेव०।" (अनुत्तर० सू०)

अर्थः—धन्य अनगार की ग्रीवा मांस और रुधिर के अभाव में सूखकर इस तरह दिखाई देती थी, जैसी सुराही, कुण्डिका [कमण्डलु] और किसी ऊँचे मुखवाले पात्र की ग्रीवा होती है। उनका चिबुक भी इसी प्रकार सूख गया था और ऐसा दिखाई देता था,

जैसा तुम्बे या इकुब का फल अथवा आम की गुठली होती है। ओठों की भी यही दशा थी। वे भी सूखकर ऐसे ही हो गये थे, जैसी सूखी हुई जोंक होती है अथवा श्लेष्म या मेंहदी की गुटिका होती है। इनमें रक्त का बिलकुल अभाव हो गया था। जिह्वा में भी बिलकुल रक्त का अभाव हो गया था, वह ऐसी दिखाई देती थी, जैसा वह वटवृक्ष या पलाश का पत्ता हो या सूखे हुए शाक का पत्ता हो।

मूलः—"धन्नस नासाए से जहा अंबग-पेसियाति वा अंबा-डग-पेसियाति वा मातुलुंग पेसियाति वा तरुणिया० एवामेव०। धन्नस्स अच्छीण० से जहा० वीणा-छिड्डे ति वा बद्धीसग-छिड्डे ति वा पाभातिय-तारिगाइ वा एवामेव०। धन्नस्स कण्णाणं० से जहा० मूलछल्लियाति वा वालुक० कोरल्लय-छल्लियाति वा एवामेव० धन्नस्स सीसस्स से जहा० तरुणग-लाउएति वा तरुणग-एलालुयत्ति वा सिराहालएति वा तरुणए जाव चिट्ठति एवामेव धन्नस्स अणगारस्स सीसं सुक्कं लुक्खं णिम्मंसं अट्ठि-चम्म-च्छिरत्ताए पन्नायति णो चेव णं मंस-सोणिय-त्ताए, एवं सव्वत्थ, णवरं उदरभायणकण्ण-जीहा-उट्ठाएएसि अट्ठीण भन्नति चम्मच्छिरत्ताए पण्णाय इति भन्नति।" (अनुत्तर० सू०)

अर्थः—धन्य अनगार की नासिका तप के कारण सूखकर ऐसी हो गई थी, जैसी एक आम, आम्रातक या मातुलुंग फल की फाँक कोमल-कोमल काटकर धूप में सुखा देने से हो जाती है। धन्य अनगार की आँखें इस प्रकार दिखाई देती थीं, जैसा वीणा या बद्धीसग (वाद्यविशेष) का छिद्र हो अथवा प्रभात काल का टिमटिमाता हुआ तारा हो। इसी तरह उसकी आँखें भी भीतर धँस गई थीं। धन्य अनगार के कान ऐसे हो गये थे, जैसे मूली का छिलका होता है अथवा चिर्भटी की छाल होती है या करेले का छिलका होता है। जिस प्रकार ये सूखकर मुरझा जाते हैं उसी प्रकार उनके कान भी मुरझा गए थे। धन्य अनगार का सिर ऐसा हो गया था जैसा कोमल तुम्बक, कोमल आलू और शेफालक धूप में रखे हुए सूख जाते हैं। इसी प्रकार, उनका सिर सूख गया था, रूखा हो गया था और उसमें केवल अस्थि, चर्म और नासा-जाल ही दिखाई देता था, किन्तु मांस और रुधिर नाममात्र के लिए भी शेष नहीं रह गया था। इसी प्रकार, सब अंगों के विषय में जानना चाहिए। विशेषता केवल इतनी है कि उदर-भाजन, कान, जिह्वा और होंठ इनके विषय में अस्थि नहीं कहना चाहिए, किन्तु केवल चर्म और नासा-जाल से ही ये पहचाने जाते थे, ऐसा कहना चाहिए, क्योंकि इन अंगों में अस्थि नहीं होती।

मूलः—"धन्नेणं अणगारेणं सुक्केणं भुक्खेणं पात-जंघोरुणा विगत-तडिकरालेणं कडि-कडाहेणं पिट्ठमवस्सिएणं उदर-भायणेणं, जोइज्जमाणेहि पांसुलिकडएहिं, अक्ख-सुत्त-मालाति वा गणिज्जमालाति वा गणेजमणिहिं, पिट्ठि-करंडगसंधीहिं, गंगा-तरंगभूएणं उर-कडग-देस-भाएणं सुक्क-सप्प-समाणाहिं बाहाहिं, सिढ़िल-कडाली विव चलंतेहि य अग्ग-हत्थेहिं, कंपणवातिओ विव वेवमाणीए सीस-घडीए पव्वाय-वदण-कमले, उब्भडघडामुहे, उब्बुडणयणकोसे, जीवं जीवेणं गच्छति, जीवं जीवेणं चिट्ठति, भासं भासिस्सामीति गिलातिइ! से जहाणामते

इंगाल-सगडिधाति वा जहा खंदओ तहा जाव हुयासग इव भस्स-रासिपलिच्छन्ने तवेणं तेएणं, तवतेयसिरीए उव-सोभेमाणे २ चिट्ठति ।" (अनुत्तर० सू० ३)

अर्थः—धन्य अनगार मांस आदि के अभाव से सूखे हुए, भूख के कारण रूखे पैर, जंघा और उससे भयंकर रूप से प्रान्त भागों में उन्नत हुए कटिकटाह से, पीठ के साथ मिले हुए उदर-भाजन से, पृथक्-पृथक् दिखाई देती हुई पसलियों से, रुद्राक्षमाला के समान स्पष्ट गिनी जानेवाली पृष्ठकरण्डक (पीठ के उन्नत-प्रदेशों) की सन्धियों से, गंगा की तरंगों के समान उदर-कटक के प्रान्त भागों से, सूखे हुए साँप के समान भुजाओं से, घोड़े की ढीली लगाम के समान चलते हुए हाथों से, कम्पन वायुरोगवाले पुरुष के शरीर के समान काँपती हुई शीर्षघटी से, मुरझाये हुए मुख-कमल से क्षीण ओष्ठ होने के कारण घड़े के मुख के समान विकराल मुख से और आँखों के भीतर धँस जाने के कारण इतना कृश हो गया था कि उसमें शारीरिक बल बिलकुल भी बाकी नहीं रह गया था। वह केवल जीव के बल से ही चलता, फिरता और खड़ा होता था। थोड़ा-सा कहने के लिए भी वह स्वयं खेद मानता था। जिस प्रकार कोयलों की गाड़ी चलते हुए शब्द करती है, इसी प्रकार उसकी अस्थियाँ भी चलते हुए शब्द करती हैं। इसी प्रकार, उसकी अस्थियाँ भी चलते हुए शब्द करती थीं। वह स्कन्दक के समान हो गया था। भस्म से ढँकी हुई आग के समान वह भीतर से दीप्त हो रहा था। वह तेज से, तप से और तप की शोभा से शोभायमान होता हुआ विचरता था।

## जेल-वर्णन

हे गोतम ! उस काल तथा उस समय में इसी जम्बू द्वीप नामक द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष में सिंहपुर नाम का एक ऋद्धस्तिमित और समृद्ध नगर था। वहाँ सिंहरथ नाम का राजा राज्य करता था। उसका दुर्योधन नाम का एक चारकपाल कारागृह-रक्षक (जेलर) था जो अधर्मी और दुष्प्रत्यानंद (कठिनाई से प्रसन्न होनेवाला) था। उसके निम्नोक्त चारक भांड (कारगार के उपकरण) थे।

अनेकविध लोहमय कुंडियाँ थीं, जिनमें से कई एक ताम्र से पूर्ण थीं। कई एक त्रपु से परिपूर्ण थीं। कई एक सीसक (सीसे) से पूर्ण थीं, कितनी एक चूर्णमिश्रित जल से भरी हुई और कितनी एक क्षारयुक्त तेल से भरी हुई थीं जो अग्नि पर रखी रहती थीं।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के पास अनेक उष्ट्रों के पृष्ठभाग के समान बड़े-बड़े वर्तन (मटके) थे। उनमें से कुछ अश्वमूत्र से भरे हुए थे कुछ हस्तिमूत्र से कुछ उष्ट्रमूत्र से, कुछ गोमूत्र से कुछ महिषमूत्र से, कुछ एक अजमूत्र से और कुछ भेड़ों के मूत्र से।

दुर्योधन नामक उस चारकपाल के अनेक हस्तान्दुक (हाथ में बाँधने का बन्धन-विशेष), पादान्दुक (पाँव में बांधने का काष्ठ-निर्मित बन्धन-विशेष), हडि—काठ की बेड़ी, निगड़—लोहे की बेड़ी और श्रृङ्खला, लोहे की जंजीरों के पुंज (शिखरयुक्त राशि) तथा निकर (शिखररहित ढेर) लगाये हुए रखे थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक वेणुलताओं—बांस के चाबुकों, बेंत के चाबुकों, चिंचा (इमली) के चाबुकों, कोमल चर्म के चाबुकों तथा सामान्य चाबुकों और वल्कल-रश्मियों (वृक्षों की त्वचा से निर्मित चाबुकों) के पुंज और निकर रखे पड़े थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेक शिलाओं, लकड़ियों, मुद्गरों, के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेकविध चमड़े की रस्सियों, सामान्य रस्सियों, वल्कल-रज्जुओं (वृक्षों की त्वचा से निर्मित रज्जुओं), केशरज्जुओं और सूत्र की रज्जुओं के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास असिपत्र (कृपाण) करपत्र (आरा), क्षुरपत्र (उस्तरा) और कदम्बचीरपत्र—(शस्त्रविशेष) के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन चारकपाल के पास अनेकविध लोह-कील, वंश-शलाका, चर्मपट्ट और अलपट्ट के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेक सुइयों, और लघु मुद्गरों के पुंज और निकर रखे हुए थे।

उस दुर्योधन के पास अनेक प्रकार के शस्त्र, पिप्पल (लघु छुरे) कुठार, नखच्छेदक और दर्भ (डाभ, कुश) के पुंज और निकर रखे हुए थे।

तदन्तर वह दुर्योधन नामक चारकपाल (कारागार का प्रधान नायक अर्थात् जेलर) सिंहरथ राजा के अनेक चोर पारदारिक, ग्रन्थिभेदक, राजापकारी ऋणधारक, बालघाती, विश्वासघाती, जुआड़ी और धूर्त पुरुषों को राजपुरुषों के द्वारा पकड़ा कर ऊर्ध्वमुख गिराता है। गिरा कर लोहदंड से मुख का उद्घाटन कराता है अर्थात् खुलवाता है। मुख खोलकर कितनों को तप्त पिघला हुआ ताम्र पिलाता है। कितनों को त्रपु, सीसक चूर्णादिमिश्रित जल अथवा कलकल करता हुआ उष्णात्युष्ण जल और क्षारयुक्त तैल पिलाता है तथा कितनों का उन्हीं से अभिषेक कराता है। कितनों को ऊर्ध्वमुख अर्थात् सीधा गिराकर उन्हें अश्वमूत्र, हस्ति या भेड़ों का मूत्र पिलाता है, कितनों को अधोमुख गिरा कर घल-घल शब्दपूर्वक वमन कराता है तथा कितनों को उसीके द्वारा पीड़ा देता है। कितनों को हस्तान्दुकों, पादान्दुकों, तथा निगड़ों के बन्धनों से युक्त कराता है। कितनों के शरीर को सिकोड़ने का आदेश देता है, कितनों को शृङ्खलाओं से बँधवाता है तथा कितनों का हस्तच्छेदन कराता है। कितनों को वेणुलताओं और वल्कल-रश्मियों से पिटवाता है।

कितनों को ऊर्ध्वमुख गिराकर उनके वक्षःस्थल पर शिला और लक्कड़ धराकर राजपुरुष द्वारा उस शिला तथा लक्कड़ का उत्कंपन कराता है। कितनों के हाथों और पैरों को सूत्र-रज्जुओं से बँधवाता है। बँधवाकर कूप में उलटा लटकाता है। लटका कर गोते खिलाता है तथा कितनों का असिपत्रों से छेदन कराता है और उसपर क्षारयुक्त तैल की मालिश कराता है। कितनों के मस्तकों, जानुओं और गुल्फों-गिट्टों में लोह-कीलों तथा वंश-शलाकाओं को ठुकवाता है तथा वृश्चिककंटकों—बिच्छू के कांटों को शरीर में प्रविष्ट कराता है। कितनों की

हस्तांगुलियों और पादांगुलियों में मुद्गरों के द्वारा सुइयाँ और दम्भनों को प्रविष्ट कराता है तथा (उन्हीं हाथों से) भूमि को खुदवाता है। कितनों के अंगों को शस्त्रों से छिलवाता है और मूलसहित दर्भ तथा आर्द्रचर्म के द्वारा बँधवा देता है। तदन्तर धूप में गिराकर उनके सूखने पर चड़-चड़ शब्दपूर्वक उनका उत्पाटन कराता है। (विपाक सूत्र)

ऐसे वर्णन सैकड़ों है। यहाँ उदाहरण के लिए ही थोड़े-से दिये हैं। इन वर्णनों की परम्परा जैसे साहित्य में पीछे भी रही है। १५ वीं से १८ वीं शताब्दी की राजस्थानी भाषा में वाग्विलास, सभा-श्रृंगार, सभा-कौतूहल आदि संज्ञावाले स्वतन्त्र वर्णनात्मक लेख भी लिखे गये, जिनका कुछ परिचय राजस्थान-भारती में प्रकाशित किया गया है। उनका एक संग्रह-ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) से संपादित कर प्रकाशित करवा रहा हूँ।

●

# हिन्दी लिपि

श्री कार्त्तिकनाथ मिश्र

[ इस प्रबन्ध के लेखक पटना-विश्वविद्यालय में भौतिक विज्ञान के प्राध्यापक हैं। इन्होंने कविता और कहानी के क्षेत्रों में भी प्रयोग किये हैं। हम इनके लिपि-सम्बन्धी सुझावों से असहमत होते हुए भी इनकी वैज्ञानिक विवेचन-प्रणाली के कायल हैं। —सं० ]

## प्राक्कथन

हमारा उद्देश्य, देवनागरी लिपि में सुधारकर, एक ऐसी नई लिपि का सर्जन करना है, जो देवनागरी लिपि के गुणों की रक्षा करते हुए भी इतनी सुगम हो कि देवनागरी लिपि के विरोधी भी इसे सहर्ष स्वीकार कर लें।

नागरी के सुधार की इस योजना में किसी भी वर्ण के प्रति धार्मिक मोह नहीं रखा गया है। इससे मुद्रण में काफी सुविधा होगी। परन्तु, केवल मुद्रण की सुविधा के लिए ही नागरी लिपि को विकलांग बना देना उचित नहीं समझा गया है।

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय, तो इस लिपि में कहीं भी देवनागरी लिपि का आमूल परिवर्त्तन दृष्टिगोचर न होगा। इसमें केवल देवनागरी लिपि के विकास-क्रम की दिशा का निष्पक्ष रूप से अध्ययन कर, स्वाभाविक गति से भविष्य में स्वतः आ सकनेवाले उसके स्वरूप का निर्देश किया है। 'हिन्दी लिपि' को इस प्रकार, एक वैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा की गई है।

## विषय-प्रवेश

'हिन्दी लिपि' में कुल पचीस वर्ण हैं, जिनमें सोलह तो 'मुख्य वर्ण' हैं और नौ

'सहायक वर्ण अथवा मात्राएँ' हैं। उनके मेल से देवनागरी के प्रायः सभी वर्ण लिख लिये जाते हैं, जिनके द्वारा ध्वनियों को लिपिबद्ध करने की क्षमता में, वह प्रायः देवनागरी की समकक्ष हो जाती है। 'सहायक वर्ण' और 'मुख्य वर्ण' की संख्या का भी बड़ा अपूर्व मेल है : $३^२+४^२=५^२$। ये क्रमशः इस प्रकार हैं:—

सहायक वर्ण (मात्राएँ) : १. ı; २. ी; ३. ु; ४. े; ५. ो; ६. ं; ७. ः; ८. ‿; ९. ..।

मुख्य वर्ण : १. अ; २. क; ३. ग; ४. च; ५. ज; ६. ट; ७. ड; ८. त; ९. द; १०. न; ११. प; १२. ब; १३. म; १४. र; १५. ल; १६. स।

## सहायक मात्राओं का विश्लेषण

प्रथम 'सहायक मात्रा' का नाम 'दीर्घ मात्रा' रखा गया है। इसका रूप पूर्ण विराम-सा है। इसका स्थान प्रत्येक वर्ण के माथे पर होता है। इसमें ऐसी शक्ति है कि यह 'अ-कार' की ध्वनि को 'आकार', 'इ-कार' को 'ईकार', 'उ-कार' को 'ऊकार', 'ए-कार' को 'ऐकार,' एवं 'ओ-कार' को 'औकार' में बदल देता है।

उदाहरणः— अ + ı = अ̇ (आ)

क + ı = क̇ (का)

कि + ı = कि̇ (की)

कु + ı = कु̇ (कू)

के + ı = के̇ (कै)

को + ı = को̇ (कौ)

द्वितीय 'सहायक मात्रा' का नाम 'ह्रस्व इ-मात्रा' रखा गया है। इसकी शक्ति नागरी लिपि के 'ह्रस्व इ-कार' मात्रा के बराबर है; साथ ही 'अ' के साथ मिल कर यह नागरी लिपि के 'इ' का भी निर्माण करती है। इसका रूप नागरी लिपि की 'ह्रस्व इ-कार' मात्रा की प्रतिबिम्बित मूर्त्ति (Reflected Image) की तरह है; परन्तु इसे वर्णों के पहले न लिखकर बाद में लिखा जाता है।

तृतीय, चतुर्थ, पंचम, और षष्ठ, मात्रागण क्रमशः 'ह्रस्व उ-मात्रा', 'ए-मात्रा', 'ओ-मात्रा' एवं 'अं-मात्रा' कहलाते हैं। ये क्रमशः 'ह्रस्व उ-कार', 'ए-कार' 'ओ-कार', एवं 'अनुस्वार' का तो काम करते ही हैं, 'अ' के साथ 'ह्रस्व उ-मात्रा' मिलकर देवनागरी लिपि के 'उ', और 'अ' के साथ 'ए' मात्रा मिलकर देवनागरी लिपि के 'ए' का भी निर्माण करते हैं।

टिप्पणी : 'अ' द्वारा विभिन्न मात्राओं के साथ मिलकर उसी मात्रा जैसे ध्वनित एक वर्ण का सर्जन करना कुछ नया नहीं है; आ, ओ, औ, अं, अः इसके सफल उदाहरण कहे जा सकते हैं। प्रस्तुत लिपि में इसका क्षेत्र थोड़ा विस्तृत कर, 'इ-कार' और 'उ-कार' में भी ऐसे प्रयोग किये गये हैं।

सप्तम सहायक मात्रा को 'महाप्राण मात्रा' कहा गया है। इसका रूप बँगला के ह '२' से मिलता-जुलता है। यह प्रत्येक वर्ण के दाहिनी ओर सट सकता है। इसमें ऐसी शक्ति है कि 'क' बदल कर 'ख'; ग—घ; च—छ; ज—झ; ट—ठ; ड—ढ; त—थ; द—ध; प—फ; ब—भ; और स बदल कर श हो जाता है। 'अ' के साथ मिलकर यह 'ह' भी बनता है।

उदाहरण:—क + २ = कर (ख); ग + २ = गर (घ)
ᑕ (च)+२ = छ (छ); ज + २ = जर (झ)
ट + २ = टर (ठ); ड + २ = डर (ढ)
त + २ = तर (थ); द + २ = दर (ध)
प + २ = पर (फ); ब + २ = बर (भ)
स + २ = सर (श); अ + २ = अर (ह)

टिप्पणी : १. 'महाप्राण वर्णों' का इस प्रकार बनना कुछ नया नहीं है। देवनागरी में फ और बँगला में छ ( छ ) इसी प्रकार बने हैं।

२. शब्दों के संगठन में भी 'अल्पप्राण वर्ण' अपने बाद में आनेवाले 'ह' से मिल कर Corresponding महाप्राण में बदल जाते हैं।

जैसे :—अब+ही—अभी
गदहा—गधा
अगहन—अगहनुवाँ—अघनुवाँ
अहाता—हाता

हिन्दी और क्षेत्रीय भाषाओं में इस प्रकार के अनेक उदाहरण भरे हैं।

अष्टम 'सहायक मात्रा' को 'संयुक्त मात्रा' कहते हैं। इसका काम देवनागरी के हलन्त का है। प्रस्तुत लिपि में दो वर्णों का संयुक्त रूप इसी मात्रा के द्वारा होता है। संयुक्त होनेवाले दो वर्णों में प्रथम को आधा काट कर दूसरे से मिलानेवाली देवनागरी की परिपाटी इस लिपि में नहीं है। इसमें दोनों वर्णों के निचले भाग को एक ऊर्ध्वमुख अर्द्धचन्द्राकार मात्रा से मिला दिया जाता है।

जैसे :— गेनुद —गेन्दा
चमुप —चम्पा

नवम और अन्तिम मात्रा को 'बिन्दी मात्रा' कहते हैं। यह 'ड' और 'ढ' से मिलकर 'ड़' और 'ढ़' की रचना तो सदा से करता आया ही है, क, ग, ज, झ, फ, भ, आदि कुछ वर्णों के साथ लगकर कुछ अरबी, फारसी एवं अँगरेजी (जैसे, V-भी) ध्वनियों

को भी लिपिवद्ध कर सकता है। साथ ही व, न, और अ के साथ लग कर इन्हें क्रमशः 'व', 'ण' एवं 'य' में परिवर्तित कर देने की विशेष क्षमता इसे प्राप्त है।

जैसेः— व़ ≡ व

ऩ ≡ ण, ग

अ़ ≡ य

मुख्य वर्णों का विश्लेषण

हिन्दी के मुख्य वर्ण संख्या में सोलह हैं।

१. अ; २. क; ३. [illegible]; ४. ƃ; ५. ज; ६. ट; ७. ड; ८. त; ९. द; १०. न; ११. प; १२. ब; १३. म; १४. र; १५. ल; १६. स;।

सहायक मात्राओं के मेल से देवनागरी लिपि के जिन वर्णों की रचना की जा सकती है, वे इस प्रकार हैं :—

| | | |
|---|---|---|
| १. | अ | अ |
| २. | आ | अं |
| ३. | इ | अी |
| ४. | ई | अी |
| ५. | उ | अु |
| ६. | ऊ | अु |
| ७. | ऋ | ? |
| ८. | ॠ | ? |
| ९. | ऌ | ? |
| १०. | ॡ | ? |
| ११. | ए | अे |
| १२. | ऐ | अै |
| १३. | ओ | अो |
| १४. | औ | औ |
| १५. | अं | अं |
| १६. | अः | ? |
| १७. | क | क |
| १८. | ख | क |
| १९. | ग | ग |
| २०. | घ | [illegible] |
| २१. | ङ | ? |
| २२. | च | ƃ |
| २३. | छ | ƃर |
| २४. | ज | ज |
| २५. | झ | जर |
| २६. | ञ | ? |
| २७. | ट | ट |
| २८. | ठ | टर |
| २९. | ड | ड |
| ३०. | ढ | डर |
| ३१. | ण | न |
| ३२. | त | त |
| ३३. | थ | तर |
| ३४. | द | द |
| ३५. | ध | दर |
| ३६. | न | न |
| ३७. | प | प |
| ३८. | फ | फर |
| ३९. | ब | ब |
| ४०. | भ | कर |
| ४१. | म | म |
| ४२. | य | अ़ |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| ४३. | र | र | ४८. | स | स |
| ४४. | ळ | ळ | ४९. | ह | अ |
| ४५. | व | व | ५०. | क्ष | ? |
| ४६. | श | स२ | ५१. | त्र | ? |
| ४७. | ष | ? | ५२. | ज्ञ | ? |

## हिन्दी लिपि के वर्णों की विशद व्याख्या

१. अ : 'अ' का रूप वैसा ही रहता है, जैसा नागरी में। लिखने की सुविधा का खयाल कर 'अ' का दूसरा रूप 'अ' स्वीकार नहीं किया गया है।

२. आ : 'अ' और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अ ।

३. इ : 'अ' और 'ह्रस्व इ-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अि ।

४. ई : ह्रस्व इ (अि) और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अीं ।

५. उ : 'अ' और 'ह्रस्व उ-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अु ।

६. ऊ : ह्रस्व उ (अु) और 'दीर्घ मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, अुं ।

११. ए : 'अ' और 'ए-मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अे ।

१२. ऐ : अे और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, अें ।

१३. ओ : अ और 'ओ-मात्रा' के मेल से बनता है; फलस्वरूप, इसका रूप देवनागरी के 'ओ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, ओ ।

१४. औ : ओ और 'दीर्घ मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ओं ।

१५. अं : अ के साथ 'अं मात्रा' के मेल से बनता है। इसका भी रूप देवनागरी के 'अ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, अं ।

१७. क : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

१८. ख : क और महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे। क२ ।

१९. ग : यह देवनागरी और बँगला के ग का मिश्रित रूप है। देवनागरी का ग दो स्वतंत्र हिस्सों ( г ) और ( ा ) के मेल से बना है। प्रत्येक वर्ण को एक ही इकाई (Unit) में रखने के प्रयास में बँगला के ग ( গ ) की विशेषता को अपनाया गया है; फिर भी त एवं ज से Confusion हो जाने के भय से बँगला के 'ग' को पूर्ण रूप में स्वीकार नहीं किया गया है। इसके लिखने के लिए, देवनागरी का ग लिखकर इसके प्रथम खंड के ऊपरी भाग और दूसरे खंड के निचले भाग को एक कर्ण (Diagonal) द्वारा मिला दिया जाता है। जैसे– ग ।

२०. घ : ग के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे ग२ ।

२२. च : इसके लिए बँगला का 'च' ( চ ) स्वीकार कियागया है। ऐसा देखने में

आता है कि अधिकांश वणा का Centre of Gravity बाईं ओर हैं। बँगला का 'च' इस तरह एक प्रकार की एकरूपता एवं उससे होनेवाले Confusion से हमारी रक्षा करता है। जैसे, চ।

२३. छ : च (চ) के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। संयोग से यह बँगला के 'छ' (ছ) से भी मिलता-जुलता है। जैसे, চ + ॱ =ছ

२४. ज : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

२५. झ : ज के साथ 'महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, ज+२=

२७. ट : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

२८. ठ : ट के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ट+२= ।

२९. ड : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३०. ढ : ड के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ड+२= ।

३१. ण : दन्त्य 'न' के साथ 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, ऩ।

३२. त : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३३. थ : त के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ।

३४. द : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

३५. ध : द के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, ।

३६. न : देवनागरी के ही रूप में रहता है।

३७. प : देवनागरी लिपि के हा रूप में रहता है।

३८. फ : प के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है।
इसका रूप कुछ-कुछ नागरी के 'फ' जैसा ही रह जाता है। जैसे, प+२= ।

३९. ब : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४०. भ : ब और महाप्राण मात्रा के मेल से बनता है। जैसे, ब+२= ।

४१. म : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४२. य : अ और 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, अ़।

४३. र : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४४. ल : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४५. व : ब और 'बिन्दी मात्रा' (नुक्ता) के मेल से बनता है। जैसे, ब़।

४६. श : दन्त्य स के साथ 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है। जैसे, स+२= ।

४८. स : देवनागरी लिपि के ही रूप में रहता है।

४९. ह : अ और 'महाप्राण मात्रा' के मेल से बनता है, जैसे, अ+२= ।

## देवनागरी लिपि के लुप्तप्राय वर्ण

देवनागरी लिपि के जिन वर्णों के लुप्त होने की क्रिया में इस नवीन लिपि के उद्भव

द्वारा गतिवृद्धि लायी गयी है, वे हैं:—

७ ८ ९ १० १६ २१ २६ ४७ ५० ५१ ५२
ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, अः, ङ, ञ, ष, क्ष, त्र, ज्ञ,

८ ९ १०
इनमें ॠ, ऌ, और ॡ के लिए हिन्दी-जगत् में आँसू बहानेवाला शायद अब कोई न होगा। हिन्दी के लिए ये वर्ण लुप्त हो गये।

२१ २६
ङ और ञ की रक्षा करने कुछ लोग भले ही निकल आयें, परन्तु इन वर्णों का व्यवहार अब एक विलास भर रह गया है। इन दोनों वर्णों का स्थान अनुस्वार ने पूरी तरह ले लिया है; जैसे, कंगन (कङ्गन), गंगा (गङ्गा), शंख (शङ्ख), चंचल (चञ्चल), मंजुल (मञ्जुल) आदि। यह दूसरी बात है कि वर्णमाला में ये अब भी हैं और हिन्दी सीखनेवालों को इन्हें भी सीखना पड़ता है, (भले ही, इसका व्यवहार वे कभी न करें)। ङ और ञ को बनाये रखने का कारण एक तो जातिराहित्य है और दूसरा यह कि उन्हें हटा देने से व्यंजन-वर्णमाला की शृङ्खला टूट जाती है।

विसर्ग का प्रयोग हिन्दी में करीब-करीब समाप्त हो चुका है। जहाँ कहीं वे अब भी बचे हैं, ह में हलन्त लगाकर, [ह्] बिना किसी प्रकार की हानि के उन्हें लुप्त होने में मदद दी जा सकती है।

जैसे:— अह्	अह्	अः
छीह्	छिह्	छिः

४७
ष का उच्चारण-स्थान प्रत्येक व्याकरण में दिया होता है; फिर भी हम सभी इसका उच्चारण करने में असमर्थ हैं। श और ष की ध्वनि-विभिन्नता इतनी कम है कि वेद-पाठ में 'ष' के 'ख' की तरह उच्चारण की भी छूट है। जैसी आज स्थिति है, अहिन्दी-भाषियों एवं हिन्दी का थोड़ा-बहुत ज्ञान रखनेवालों के लिए 'ष' के शुद्ध उच्चारण करने और लिखने में बड़ी कठिनाई होती है, इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए 'ष' का स्थान 'श' को देना ही श्रेयस्कर लगता है।

७ ५० ५१ ५२
देवनागरी लिपि के ऋ, क्ष, त्र, ज्ञ, इन चार वर्णों और 'श' एवं 'र' के संयुक्त रूप (श्र) के प्रति लोगों का इतना अधिक मोह है कि प्रायः बौद्धिक स्तर पर भी इसपर विचारने को वे तैयार नहीं होते। साधारण विवेचन करने पर ऋ और रि (अधिक झंकृत ध्वनि के लिए र्रि), क्ष और क्श, त्र और त्र्, ज्ञ और ग्य, (भारत के पश्चिमी प्रदेशों में ग्न एवं ज्न), उसी प्रकार श्र और श्र् की ध्वनियों में हम भेद नहीं कर पाते। वैसे ही, किसी वर्ण के ऊपर रेफ़ लगाने के स्थान पर यदि र और उस वर्ण के संयुक्त रूप व्यवहार में लाये जायँ, तो कोई भी भेद नहीं जाना जा सकता है; जैसे, कार्य-कार्‌य; कर्म-कर्‌म आदि।

कविताओं में इस प्रकार के प्रयोग हिन्दी के आदि काल से होते चले आ रहे हैं। ऐसी दशा में इनकी स्थिति बनाये रखने से हिन्दी की प्रगति में अवरोध की ही अधिक सम्भावना है।

उपसंहार

जब से हिन्दी के कुछ प्रमुख लेखकों ने प्रकाशक की वृत्ति उठायी हैं, उनके द्वारा सर्जन-कार्य तो समाप्त हुआ ही, हिन्दी जगत् में निहित स्वार्थवाले शक्तिशाली हो गये हैं। ऐसे लोग ही 'स्थिरीकरण' के नाम पर लिपि और भाषा को, बिना समुचित विचार किये एक गतिरहित (statical) रूप दे देना चाहते हैं। वे समझते तो होंगे ही कि आनेवाले कल की हिन्दी आज की हिन्दी से भिन्न होगी—तब इसमें गुजराती, तमिल, बँगला, महाराष्ट्री आदि समुन्नत साहित्य के विद्वान् अधिकाधिक संख्या में पदार्पण कर नई जान फूँक देंगे। इनकी सम्मिलित भाषा आज की हिन्दी भाषा से भिन्न होगी; उसका व्याकरण भी भिन्न होगा—संस्कृत के व्याकरण की जटिलताओं से मुक्त। आशा है, प्रस्तुत हिन्दी लिपि इस शुभ कार्य में यथाशक्ति सहायक होगी।

| | |
|---|---|
| पस्ऱ्ुअेम स्ऱरदअ्ु स्ऱतं | पश्येम शरदः शतम, |
| जीव़ेम स्ऱरदअ्ु स्ऱतं | जीवेम शरदः शतम्, |
| स्ऱुरीनुअेम स्ऱरदअ्ु स्ऱतं | श्रृणुयाम शरदः शतम्, |
| पुरबुरव़ेम स्ऱरदअ्ु स्ऱतं | प्रब्रवाम शरदः शतम्, |
| अदीनअ्ु सअुेम स्ऱरदअ्ु स्ऱतं | अदीनाः स्याम शरदः शतम्, |
| कुअ़स्ऱुच स्ऱरदअ्ु स्ऱतत् । | भूयश्च शरदः शतात् । |

# सांख्य-दर्शन में ईश्वर की सत्ता

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य

जबसे इस देश में आधुनिक शिक्षा की अतिवृद्धि से मोक्ष-दर्शन का केवल शब्दाश्रित अध्ययन का आरम्भ हुआ, तबसे प्रत्येक दर्शन पर नये-नये निरर्थक संशय किये जा रहे हैं। आधुनिक विद्वान् केवल शब्दाश्रित विचार के बल पर उन प्रश्नों के उत्तर भी देते हैं। किंच, आजकल मोक्षदर्शनों का अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी किया जा रहा है और आधुनिक ऐतिहासिक मोक्षदर्शन के पदार्थ और मत के विकास में ऐतिहासिक कारणों का उल्लेख करते हैं।

हम इन प्रयासों को ठीक वैसा ही समझते हैं, जैसे नासिका से रूप का विचार या कहीं-कहीं अल्प आलोक से सूक्ष्म वस्तु-दर्शन की व्यर्थ प्रचेष्टा। जबतक किसी भी मोक्ष-दर्शन के मूल पदार्थों का स्वरूप तथा उसके अन्तिम लक्ष्य का अविपर्यस्त ज्ञान न किया जाय, तबतक किसी भी मोक्ष-दर्शन पर कुछ भी अभिमत प्रकाशित नहीं करना चाहिए। अस्तु, परिस्थिति

कुछ भी हो, आजकल यह प्रश्न बार-बार उठाया जाता है कि सांख्य सेश्वर है या निरीश्वर। आधुनिक काल के आलोचकों ने इसके कई उत्तर दिये हैं, यथा—(क) सांख्य पहले सेश्वर था बाद में किसी कारण से निरीश्वर हुआ, (ख) सांख्य पहले निरीश्वर ही था, बाद में अपनी कमी की पूर्ति के लिए किसी ने उसमें ईश्वर का अन्तर्भाव किया, (ग) सांख्य के कुछ आचार्य ईश्वरवादी थे, कुछ निरीश्वरवादी (घ) सांख्य वस्तुतः निरीश्वरवादी ही है इत्यादि।

हम इन सभी समाधानों को पूर्णतः अलीक कल्पना-प्रसूत तथा सांख्य में अशिक्षित व्यक्ति के मत समझते हैं। हम प्रमाणित करेंगे कि जिन लोगों ने सांख्य के बल पर केवल अस्पष्ट बाह्य ज्ञान प्राप्त किया है, उपर्युक्त मत उन्हीं लोगों के है। सांख्य समझने के बाद यह दर्शन सेश्वर या निरीश्वर है—यह प्रश्न उठता ही नहीं है।

यदि आधुनिक शंकक से पूछा जाय कि आप जब सांख्य सेश्वर या निरीश्वर है—ऐसा कहते हैं, तब आप ईश्वर से क्या तात्पर्य लेते हैं—तो शंकक को उत्तर देना कठिन हो जाता है। आधुनिक आलोचकों के मन में ईश्वर-स्वरूप-सम्बन्धी एक शिशूचित अस्पष्ट धारणा रहती है (जो न्यायमार्जित नहीं है) और वह अपनी अलंकृत बुद्धि से ईश्वर-स्वरूप की चिन्ता कर जब सांख्य की सेश्वरता या निरीश्वरता का ख्यापन करता है, तब सांख्य यदि कह दे कि मैं तुम्हारी चिन्ता के अनुसार सेश्वर या निरीश्वर होने के लिए बाध्य नहीं हूँ—तो आधुनिक शंकक को और अधिक अग्रसर नहीं होना होगा। हम देख चुके हैं कि ईश्वर के स्वरूप के विषय में आधुनिक आलोचक (प्राच्य तथा प्रतीच्य) की धारणा इतनी निम्न कोटि की है कि वह किसी भी दर्शन (जो आन्वीक्षिकी की प्रथा में है) में स्थान पाने योग्य नहीं है।

पर यदि शंकक न्यायानुसार ईश्वर का लक्षण करे (जैसा, जो सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान् है इत्यादि) और पूछे कि सांख्य-दर्शन में ऐसी ऐशी सत्ता स्वीकृत है या नहीं, तब अवश्य ही सांख्य को उत्तर देना होगा। सांख्य-सूत्र में स्पष्ट ही कथित हुआ है—'स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता', 'ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा' (३।५६—५७), अतः इस प्रकार का ईश्वर सांख्य मानता है—यह सिद्ध हुआ।

पर इसके ऊपर भी कुछ आक्षेप हैं, जो समाधेय हैं। शंकक कहता है—'सांख्यसूत्र में ही कहा गया है 'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२), अतः हो सकता है कि इन दोनों सूत्रों में से कोई बाद का हो।[1] किंच, सांख्य का जो ईश्वर मान्य है (३।५७), वह जगत् का स्रष्टा, पालक, नाशक आदि है या नहीं, इसमें भी सन्देह होता है। अपि च, सांख्यकारिका में ईश्वर का कहीं भी प्रसंग नहीं है। यदि ईश्वर सांख्य का मौलिक प्रमेय होता, तो उसका उल्लेख अवश्य होता इत्यादि।

---

१. या यह भी हो सकता है कि ईश्वरसिद्धि सांख्य का एकदेशीय मत हो। जो कुछ हो—'ईश्वरासिद्धेः' कहने से सांख्यमत में ईश्वर की असिद्धि है—इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है—ऐसा शंकक कहता है।

अब हम इन शंकाओं के उत्तर में सांख्य की ओर से जो कुछ वक्तव्य है—उसका उपस्थापन करने जा रहा हूँ:—

पहले हमको सांख्य विद्या का स्वरूप जानना होगा। सांख्य विद्या का सर्वादिम शिक्षक परमर्षि कपिल हैं। उन्होंने ही सबसे पहले बिना मानुष गुरु के उपदेश के पूर्वजन्म के संस्कार से मूल पर्यन्त सभी तत्त्वों का साक्षात् कर आसुरि को इस विद्या का उपदेश किया था। यह एक ऐतिहासिक घटना है। सभी आर्ष शास्त्र एक स्वर से इस घटना को मानते हैं, अतः इसके ऊपर अपने अन्धविश्वास से संशय किया जा सकता है (जैसे, कुछ पाश्चात्य ऐतिहासिकों ने किया है)। पर, संशयमात्र से किसी प्रतिष्ठित घटना का अपलाप नहीं हो जाता। इस लेख में यद्यपि कपिलर्षि के काल के विषय में कुछ कहने का अवकाश नहीं है, तथापि यह घटना इस सृष्टि से बहुत प्राचीनकाल की है—यह शास्त्रसिद्ध है (लेखान्तर में इसका विशेष विचार द्रष्टव्य)।

परमर्षि ने यह उपदेश जिस रूप में किया था, उसका दार्शनिक विवरण पंचशिख ने किया है, यथा—'आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाच' (१।२५, व्यासभाष्य में उद्धृत; यह पंचशिख वाक्य है, ऐसा टीकाकारों का मत है)। वाक्य में कहा गया है कि परमर्षि ने निर्माणचित्त में अधिष्ठान कर सांख्य विद्या को कहा था।[1] इस वाक्य ने सांख्य विद्या के स्वरूप को स्पष्ट रूप से दिखाया है, तथा जो लोग कपिल को आधुनिक जड़ विज्ञानी की ही तरह समझते हैं या आजकल के भौतिक विज्ञान आदि की तरह सांख्य विद्या को समझते हैं—उन कुसंस्कार-प्रसूत धारणाओं का निराकरण भी यह वाक्य करता है। यथा:—

निर्माणचित्त में अधिष्ठान कर परमर्षि ने सांख्य-ज्ञान दिया। आदिम वक्ता प्राथमिक उपदेश में जब निर्माणचित्त की सहायता लेता है, तब यह प्रमाणित होता है कि सांख्य-ज्ञान के सम्यक् उपदेश के लिए निर्माणचित्त की आवश्यकता अवश्यम्भावी है। निर्माणचित्त अस्मितामात्र से समाधिसिद्ध योगी ही बना सकते हैं (द्र० योग-सूत्र ४।४)। समाधि भी यम-नियम के अभ्यास के बिना नहीं हो सकती, अतः निर्माण-चित्त शब्द से ही यह प्रमाणित हुआ कि कपिल महान् योगसिद्ध थे, वे कोई आधुनिक जड़ विज्ञानी की तरह नहीं थे।[2] सुतरां सांख्यज्ञान का उपदेश भी कैवल्य के लिए ही हुआ था, क्योंकि

१. सांख्य विद्या की उत्पत्ति के विषय में पुराणादि में अन्यत्र जो कहा गया है, उससे भी पंचशिख-वाक्य की पुष्टि होती है। किंच, पंचशिख प्राचीनकाल में कपिल की तरह सम्मानित थे (शान्तिपर्व), और उनका विवरण सर्वथा प्रामाणिक और निर्दोष है, सुतरां इस वाक्यज्ञापित तथ्य पर संशय नहीं करना चाहिए।

२. सांख्यीय पदार्थों (भूत, तन्मात्र आदि) के साक्षात् ज्ञान के लिए योग ही एकमात्र उपाय है, लौकिक या यान्त्रिक प्रयत्न से उन पदार्थों का ज्ञान करना

योगसिद्ध महात्मा निःसार जगत्-तत्त्व का उपदेश जगत्-ज्ञान के लिए करेगा ही नहीं—ये सब योग-विद्या के रहस्य हैं।

जब यह सिद्ध हुआ कि कपिल योग-सिद्ध थे, और समाधिसिद्धि ईश्वर-प्रणिधान के विना नहीं हो सकती (योग-सूत्र २।४५), तो सांख्य विद्या में ईश्वर की सत्ता स्वतः सिद्ध हुई—इसमें सन्देह नहीं है।

शंका होगी कि तब सांख्य के सब ग्रन्थों में ईश्वर का स्पष्टतः उल्लेख क्यों नहीं है। उत्तर में वक्तव्य है, हमें 'सांख्य-विद्या' तथा 'सांख्य-ग्रन्थ' (=सांख्य विद्या पर आचार्यों का उपदेश) इन दोनों में भेद करना होगा। हम विद्या के किसी एक प्राचीन या नवीन ग्रन्थ में किसी पदार्थ की अनुक्ति देखकर उसकी असत्ता या अज्ञातता का निश्चय नहीं कर सकते। ग्रन्थ में अनुक्ति देखकर इतना ही कहा जा सकता है कि ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। पर, यह नहीं कहा जा सकता है कि यह पदार्थ ग्रन्थकार का सम्मत नहीं है, या ग्रन्थकार को अज्ञात था या इस शास्त्र का सम्मत नहीं है—जैसा कि आजकल के आलोचक समझते हैं। इस विषय में निम्नोक्त युक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

(क) जब कोई उपदेश किया जाता है, तो किसी शिष्यस्तरीय चित्तवृत्ति को लक्ष्य कर उपदेश किया जाता है, इसलिए सब ग्रन्थों में उपदेश में सामान्य-विशेष-भाव अनुस्यूत रहता है। जिस स्तरीय चित्त को लक्ष्य कर उपदेश किया गया (या ग्रन्थ लिखा गया), उसका जो साक्षात् प्रयोजनीय नहीं है, ऐसे विषय छोड़ दिये जाते थे–यह पूर्वाचार्यों की शैली है। पर, मौलिक प्रमेयों या मूलकारणों का त्याग कभी नहीं किया जाता था, यह भी जानना चाहिए। प्राचीन आचार्यों की उपदेश-पद्धति आजकल की ग्रन्थ-निर्माण-पद्धति से विलक्षण है, अतः आजकल ग्रन्थानुक्ति से जो कुछ प्रमाणित किया जा सकता है, वह प्राचीनकाल के आचार्यों के उपदेशों में चरितार्थ नहीं होता, यह जानना चाहिए—(विशेष अन्यत्र द्रष्टव्य)।

(ख) परवर्त्ती काल के शास्त्रों का प्रणयन एक निश्चित दृष्टिकोण से होता था। उस विशिष्ट दृष्टिकोण में जितने पदार्थ नहीं आते थे, उनका उल्लेख ग्रन्थ में स्वतः नहीं किया जाता था, यद्यपि मूल प्रमेयों का उल्लेख अवश्य ही किया जाता था (क्योंकि, उसके त्याग से शास्त्र का ही त्याग होगा)।

(ग) हम देखते हैं कि किसी भी शास्त्र में मूल प्रमेयों के अतिरिक्त अन्य विषयों के विवरण में यह भी देखा जाता है कि उन मुख्य-मुख्य तथ्यों का ही उल्लेख किया गया है, अनेक अवान्तर विषय छोड़ दिये गये हैं, जो अन्य दृष्टि में महत्त्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। ऐसे स्थलों पर अनुक्ति को देखकर हम यह नहीं कह सकते कि ये विषय ग्रन्थकार को अज्ञात थे, क्योंकि अभ्यास करने से वे विषय जैसे मुझको ज्ञात होते हैं, वैसे उनको भी ज्ञात अवश्य

---

संभव नहीं है। सांख्यशास्त्र का साधनकांड ही योगशास्त्र है जिसमें क्रियायोग की प्रधानता है। सांख्य में तत्त्वों का वर्णन प्रधान है और कुछ ज्ञान-योग का उपदेश भी है—अन्यत्र इसका विचार द्रष्टव्य।

होगा ( क्योंकि, साधनमार्ग समान है)। आधुनिक विद्वानों की अपकृष्ट बुद्धि इस रहस्य को नहीं समझ पाता, वे प्रत्येक पदार्थ के लिए शब्दतः उक्ति का अन्वेषण करते हैं। पर, हमारे यहाँ मोक्ष-विद्या के ग्रन्थों में अधिकांश ज्ञात पदार्थों का उल्लेख ग्रन्थकार विस्तार-भय से या अन्य कारण से नहीं करते (जिनका ऊहनपूर्वक ज्ञान शास्त्रीय पद्धति से अनुशीलनकारी कर ही लेता हैं)—कोई कुछ का उल्लेख करते हैं, तो कोई अन्य कुछ का—जिसको आधुनिक आलोचक 'दर्शन का विकास' समझते हैं, पर वस्तुतः वह उनकी बुद्धि की जड़ता है, जो निम्नांकित उदाहरण से प्रमाणित होगा। शास्त्र में प्राणायाम-अभ्यास, अभ्यास-क्रम, क्रमोन्नति का बाह्य लक्षण इत्यादि विषय कहीं संक्षेप और कहीं विस्तार से वर्णित हैं। यदि कोई भी अभ्यासी किसी एक शास्त्र के अनुसार यथार्थ रूप से अभ्यास करना आरम्भ कर दे, तो उसको और अनेक अनुभव या फल आदि का साक्षात् ज्ञान होगा, जिनका उल्लेख किसी भी शास्त्र में नहीं है। क्या यहाँ यह कहा जायगा कि पूर्वाचार्यों को उन फलों का ज्ञान नहीं था ? उन्हीं के उपदिष्ट मार्ग में साधन करके जो फल मिल रहा है, वह पूर्वाचार्यों को ज्ञात नहीं था—यह आधुनिक आलोचक की कुत्सित बुद्धि ही कह सकती है।

वस्तुस्थिति यह है कि प्राणायाम के कुछ प्रसिद्ध अनुभव और फलों का उल्लेख आचार्यों ने कर दिया। अभ्यासी चाहे तो और भी विशेष विवरण देकर नूतन ग्रन्थ लिख सकता है या पूर्वविवरण का भी कुछ अंश छोड़कर संक्षिप्त ग्रन्थ लिख सकता है—उससे विद्या की कुछ हानि नहीं। पर प्राणायाम-विवरण में अधिक और कम तथ्यों को तथा विलक्षण विवरणों को देखकर आधुनिक अशिक्षित आलोचक वहाँ 'क्रमिक विकास', 'अन्य मत का प्रभाव', 'विभिन्न सम्प्रदाय का मिलन' आदि कपोलकल्पित आपत्तियाँ करेंगे, जो विशुद्ध अनृत भाषण हैं—यद्यपि उनको विद्वान् समझा जाता है !!

इस दृष्टि से हमें देखना होगा कि सांख्यकारिका या अन्य किसी सांख्य के प्राचीन ग्रन्थ में यदि ईश्वर का उल्लेख नहीं है, तो उसका कारण क्या है ? हमने पहले ही बताया है कि सांख्यज्ञान समाधिमूलक है और समाधि-सिद्धि के लिए ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है। जब तक आधुनिक आलोचक यह नहीं प्रमाणित करेंगे (कण्ठ की शक्ति से नहीं, प्रत्युत न्याय-प्रयोग से) कि ईश्वरप्रणिधान (जो ईश्वर उनके अन्धविश्वास के अनुसार नहीं, प्रत्युत योग-विद्या के अनुसार है) के विना भी समाधि-सिद्धि होती है, तब तक पूर्वोक्त युक्ति प्रतिष्ठित ही रहेगी। कपिल को 'सिद्धेश', 'सिद्धेश्वर', 'सिद्ध' आदि विशेषणों से विशेषित किया जाता है, अतः कपिल महायोगी थे—यह कपिलसत्ताप्रतिपादक शास्त्र ही कहते हैं।

सांख्यकारिका में जो ईश्वर का उल्लेख नहीं है, उसका कारण ईश्वरकृष्ण के उपदेश का अपना वैशिष्ट्य है, अर्थात् वे अपने ग्रन्थ में जिस दृष्टि से जिस प्रकार के पदार्थों का वर्णन करना चाहते थे, उस परिधि में ईश्वर की सत्ता नहीं आ सकी। आधुनिक आलोचक जब सांख्य-दर्शन को सेश्वर तथा निरीश्वर-रूप में विभक्त करते हैं, तब वे भूल जाते हैं कि ऐसा विभाग हो भी सकता है या नहीं। सांख्य-विद्या के साथ ईश्वर का स्वरूप-ज्ञान पाठकों को जब हो जायगा, तब पाठक देखेंगे कि सांख्य का पूर्वोक्त विभाग ठीक वैसा ही है, जैसा

'मनुष्य दो प्रकार के होते हैं, एक शरीरयुक्त, दूसरा शरीरहीन'। ईश्वरसत्ताज्ञान के प्रति सम्यक् अज्ञ आधुनिक आलोचकों की इदक् ईश्वरसापेक्ष-विभाग की निकृष्टता इस लेख में स्वतः प्रमाणित होगी।

सांख्यकारिका में ईश्वर का प्रसंग इसलिए नहीं आ पाया कि सांख्यकारिका में तत्त्वों का विवरण है तथा प्रत्येक तत्त्व के कार्यभूत पदार्थों का विवरण है। ईश्वर (वक्ष्यमाण-लक्षणक) चूँकि, न ग्राह्यतत्त्व है न ग्रहणतत्त्व है और न ग्रहीतृतत्त्व या विशुद्ध पुरुषतत्त्व ही है, अतः ईश्वरकृष्ण को ईश्वर का प्रसंग करने का अवकाश प्राप्त नहीं हुआ। ईश्वर वस्तुतः 'पुरुष+ईश्वरतायुक्त' अन्तःकरण का समाहारभूत द्रव्य है (सांख्यीय दृष्टि में), अतः तत्त्वों की गणना के प्रसंग में ईश्वर का उल्लेख अवश्य प्रसक्त नहीं होता। हाँ, यदि कोई ग्रन्थकार गुणतारतम्यप्रयुक्त अन्तःकरण के विभिन्न परिणामों का विवरण प्रस्तुत करे, तो उसको अवश्य ही ईश्वर का उल्लेख करना होगा। तात्त्विक दृष्टि में ईश्वर की सत्ता आती नहीं है, क्योंकि केवल प्रकृति से जैसे अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं, ईश्वर उस रूप से सिद्ध नहीं होता, अतः तत्त्वाख्यापनपरायण कारिका में ईश्वर का उल्लेख नहीं है, [सांख्यकारिका में वर्णित पदार्थों से ईश्वर की सिद्धि कैसे होती है, यह अन्यत्र द्रष्टव्य है]।

शंका की जा सकती है कि कारिका में मोक्षसाधन का भी तो उल्लेख है, और साधन के लिए ईश्वरप्रणिधान आवश्यक है, अतः 'ईश्वरप्रसंग' प्रसक्त होता है, तब भी जब कारिकाकार ने उल्लेख नहीं किया, तो क्या उससे कारिका का निरीश्वरस्वरूप प्रमाणित नहीं होता? उत्तर में वक्तव्य है कि सांख्यकारिका में जो साधन-पथ दिखाया है— वह ज्ञानयोगाश्रित पथ है, उसमें जगत्स्रष्टा ईश्वर का परिधान आवश्यक नहीं होता, उसमें तत्त्वों का समाधिज प्रत्यक्ष कर वैराग्य से शाश्वत चित्त-निरोध कर कैवल्य-सिद्धि की जाती है। यह पद्धति ज्ञानयोगप्रदर्शक कठ आदि उपनिषदों में भी दीख पड़ती है। इनमें ज्ञानयोग से कैवल्यलाभ का उपाय बताया गया है और कहीं भी ईश्वर (जगत्सर्जक) का प्रसंग नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् में जो 'सर्वेश्वर' शब्द है, वहाँभी ईश्वर का प्रचलित अर्थ घटता नहीं है जो ध्यान से देखने से विज्ञात होगा।

शंकक कहेंगे कि अभी कहा गया है कि समाधि-सिद्धि के लिए ईश्वरप्रणिधान आवश्यक है, और यहाँ कहा जा रहा है कि ईश्वर-प्रणिधान के विना भी योग-सिद्धि हो सकती है। क्या इन दोनों कथनों में विरोध नहीं हुआ? उत्तर यह है कि विज्ञ उपदेष्टा से यौगिक साधनमार्ग के ज्ञान न होने से ही ऐसा विरोध प्रतीत होता है। क्रियायोग में ईश्वर-प्रणिधान आवश्यक है, पर ज्ञान-योग में मुक्त पुरुष या उच्च महापुरुषों से भी प्रणिहित होकर ज्ञान प्राप्त कर तत्त्वसाक्षात्कारपूर्वक समाधि-सिद्धि हो सकती है। परमर्षि कपिल ने तो हिरण्यगर्भ से ही ज्ञान प्राप्त किया था, उनका कोई मानुष नहीं था[१], अतः ईश्वरसत्ता की साक्षात्कारवती प्रज्ञा उनमें थी (जिस ज्ञान का अणुभाग भी सेश्वरवादी आलोचकों में नहीं है), यह सामान्यतः सिद्ध होता है। किंच, समाधि सिद्ध होने के बाद

१. द्र० श्वेताश्वतर उपनिषद्।

अन्तःकरण के सभी परिणामों का ज्ञान हो जाता है (यह योगविद्या का प्रसिद्ध तथ्य है, जिसे अयतनीय साधनहीन निर्वीर्य गवेषक जान भी नहीं सकता), अतः कापिली विद्या में ईश्वरसत्ता सुप्रतिष्ठित है। परमर्षि यदि क्रियायोग से समाधिसिद्ध थे, तब तो ईश्वरसत्ता का ज्ञान उनमें अवश्य ही था और यदि केवल ज्ञानयोग से सिद्ध थे तब भी उनमें ईश्वरज्ञान था—यह सिद्ध हुआ। चूँकि, ईश्वरस्वरूप को समझने के लिए सांख्यीय तत्त्व की ही उपयोगिता है, अतः सांख्य में ईश्वर असिद्ध है,—ऐसा कहना 'जिसके पास मिट्टी है और घट-परिणाम का ज्ञान है, उसे घटद्रव्य का ज्ञान नहीं है' इस कथन के समान होगा। बाद में यह युक्ति और परिस्फुट होगी।

शंकक कहता है कि यदि सांख्य विद्या में ईश्वर की सत्ता अवश्यंभावी रूप से है; तो सांख्य-सूत्र में यह क्यों कहा गया—'ईश्वरासिद्धेः' (१।९२)। इस शंका का उत्तर दिया जा रहा है:—

यह सूत्र एक पूर्वपक्ष का उत्तर है। पूर्वपक्षी ने कहा कि प्रत्यक्ष का कथित लक्षण ईश्वर में नहीं घटता। पूर्वपक्षी ने जब ऐसा कहा, तब उन्होंने ईश्वर का एक स्वरूप अवश्य ही सोच लिया था, और उस ईश्वर में सांख्यीय प्रत्यक्ष लक्षण नहीं घटता—ऐसा कहा है। सांख्य तब उत्तर देता है कि तुम्हारा वह ईश्वर (मेरी दृष्टि में) असिद्ध है, हेतु यह है कि 'मुक्तबद्धयोरन्यतराभावात् न तत्सिद्धिः' (१।९३)। उक्त दो सूत्रों को ध्यान से देखने से पता लगता है कि पूर्वपक्षी ने ईश्वर को मुक्त होता हुआ भी जगत्-स्रष्टा इत्यादिरूप माना था (जैसा कि अनेक वैष्णवादिसंप्रदाय में माना जाता है), पर सांख्य युक्तिविरुद्ध (१।९४ सूत्रोक्त) होने के कारण उस ईश्वर को असिद्ध मानता है। ईश्वर के विषय में सांख्यमत क्या है, उसका प्रसंग यहाँ नहीं है, और न ईश्वर-विचार का यहाँ कोई अवकाश है, अतः पराभिमत ईश्वरनिराकरणपरायण इस सूत्र से सांख्य का निरीश्वरत्व कैसे सिद्ध हुआ—यह आधुनिक आलोचक जब तक न्याय्य पन्था से नहीं सिद्ध कर पायेंगे, तब तक उनका कथन बालप्रलापवत् अश्रद्धेय ही रहेगा।

आजकल ईश्वर के ऊपर जितना जोर दिया जाता है, वह अनावश्यक है। कुंभकार जिस प्रकार अर्थादिलाभार्थ घट का निर्माण करता है, सांख्यसम्मत जन्येश्वर के उस रूप से जगत् की सृष्टि नहीं होती। जन्येश्वर जब अपने ऐश्वर्य के साथ नूतन सृष्टि में प्रकाशित होता है, तब स्वतः स्वाभाविक रूप से उनके शरीरभूत एक ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है। उनके चित्त की जो अतिसामान्य व्यक्तता है, उसीसे जगत् व्यक्त रहता है। सृष्टि में अभिव्यक्त प्राणी अपने संचित अनभिव्यक्त संस्कार के अनुसार भोग तथा अपवर्ग की सिद्धि करता रहता रहता है। जीवों के पुरुषार्थाचरण में ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं है, जैसा कि गीता में स्पष्ट कहा गया है—'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः, न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते' (५।१४)। जीव यदि ईश्वर में समाहित होगा, तो स्वाभाविक ऐश-नियमन के अनुसार उसे समाधि सिद्ध होगी--इसमें भी ईश्वर का कोई प्रयत्न नहीं है। विश्व का कार्यकारणभाव स्वतः होता है, प्रत्येक परिणाम के लिए ईश्वर के अभिध्यान की कुछ भी

अपरिहार्यता नहीं है। इस ब्रह्माण्ड में ईश्वर-कर्तृत्व भी (जैसा लोग समझते हैं) नहीं है, अभिव्यक्ति के चरम निमित्त होने के कारण अतिसूक्ष्म अधीशत्व है, जिससे ब्रह्माण्ड के स्थिति-सृष्टि-नाश होते हैं। जगद्व्यापार में ईश्वर का योग नहीं के बराबर होने से सांख्यमत के प्रसंग में सर्वत्र ईश्वरप्रसंग नहीं किया गया। अन्य संप्रदायों में ईश्वर के विषय में जितना अधिक कहा गया है, वे सब अलीक और असंभव हैं। प्रचारार्थ उन सिद्धान्तों की उपयोगिता है, पर दार्शनिक तत्त्व-विचार के लिए नहीं है।[1]

ईश्वर के विषय में सांख्य का जो मत है—उसे अब संक्षेप में दिखाया जा रहा है। निबन्ध में मत का प्रतिपादन ही किया जायगा, बहु-संख्यक वचनों का उद्धार कर विचार यहाँ नहीं किया जा रहा है, क्योंकि सांख्यीय दृष्टि से ईश्वरसत्ता के ज्ञान हो जाने से पाठक स्वयं शास्त्रीय वचनों का अर्थ कर पायेंगे। सांख्य का पदार्थ और मत मूल तक न्याय से सिद्ध किया जा सकता है, उसमें वक्ता के उपदेशों की अधिक आवश्यकता भी नहीं है। कोई भी व्यक्ति थोड़ा-सा साधन कर इन विषयों में निःसंशय हो सकता है।

सांख्य में दो प्रकार की सृष्टि कथित है। एक—लिंग-शरीर-सृष्टि और द्वितीय—ब्रह्माण्ड-सृष्टि। विशुद्ध चिद्रूप पुरुष से प्रकृति के संयोग[2] से प्रकृति के स्वतः जितने अनादि परिणाम होते हैं, उससे ब्रह्माण्ड की सृष्टि नहीं होती, पर लिंग-शरीर (पंचतन्मात्र+५ ज्ञानेन्द्रिय+५ कर्मेन्द्रिय+मन+बुद्धि+अहंकार; इसमें पंच प्राण, चित्त आदि स्वतः गणित हैं) की सृष्टि होती है। सांख्यदर्शन के तत्त्वगणनात्मक 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः…'

---

१. पुराणादि में सर्वत्र ईश्वर के विषय में जो कुछ कथित होता है, वह सब सर्वत्र एक समान प्रामाणिक नहीं। शास्त्र जब साधन की दृष्टि से उपदेश करता है, तब ईश्वर के जिन गुण-कर्मों का उल्लेख करता है, वह तात्त्विक नहीं है, प्रत्युत 'मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासना सिद्धस्य वा' (सांख्यसूत्र १।०५) है। जगत्स्रष्टा यद्यपि बद्धपुरुष तथा सगुण हैं, पर उपासना की दृष्टि से उनको मुक्त और निर्गुण कहा जाता है इत्यादि। साधन की दृष्टि में ऐसे कथनों की उपयोगिता है—यह योगशास्त्र का रहस्य है। इसी दृष्टि से अमूर्त्त हरि को शास्त्र प्रथमाधिकारी के लिए मूर्त्त कहता है—ये सब साधन-सापेक्ष उपदेश हैं। शास्त्र में कुछ ही स्थलों पर तात्त्विक उपदेश भी रहता है और इन उपदेशों के अनुसार ही विचार करना चाहिए—अर्थवादों के अनुसार नहीं। वैष्णवादि संप्रदायों में यह भ्रम सर्वाधिक है। पृथ्वी का सर्वप्राचीन मोक्ष-दर्शन सांख्य में ही ईश्वर का न्यायमार्जित स्वरूप विवृत है, अन्यत्र बुद्धिमोह से उनके ऐश्वर्य का अविशुद्ध वर्णन है—यह बाद में सुप्रमाणित होगा।

२. यह संयोग दैशिक या कालिक नहीं है, अतः अयोगी व्यक्ति से इस संयोग की स्वरूप-चिन्ता यथार्थतः हो नहीं सकती। लेखान्तर में इसका निरूपण किया जायेगा।

(१।६१) इस प्रसिद्ध सूत्र में केवल तत्त्वों की उत्पत्ति का क्रम दिखाया गया है, परन्तु ब्रह्माण्ड की सृष्टि कैसे होती है; वह यहाँ उक्त नहीं है। ब्रह्माण्ड कोई तत्त्व नहीं है, अतः सांख्यकारिका में भी उसका कोई प्रसंग नहीं है। सांख्य के अनुसार ब्रह्माण्ड की सृष्टि 'जन्येश्वर' से होता है, अर्थात् पूर्वकल्प में जो सास्मित समाधि-सिद्ध था, वह प्रलय के बाद जब व्यक्त होगा, तब उसके साथ 'सर्व' अर्थात् लोकालोक भी व्यक्त होगा।[1] जन्येश्वर को इसीलिए पूर्वसिद्ध कहा जाता है (योगभाष्य ३।४५)। सांख्यसिद्ध इस सर्ववित् सर्वकर्त्ता (ध्यान देना चाहिए कि अन्य कोई संप्रदाय ईश्वर के विषय में इससे अधिक और कुछ न्यायसंगत कल्पना नहीं करते हैं) महापुरुष का वैदिक नाम 'हिरण्यगर्भ' है और वेद में हिरण्यगर्भसम्बन्धीय सांख्यमत की अविकल प्रतिध्वनि मिलती है—'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्' (ऋग्वेद), अर्थात् हिरण्यगर्भ पहले विद्यमान थे, इस कल्प में अभिव्यक्त प्रजाओं के पति हो गये।

सांख्य 'हिरण्यगर्भ किससे निर्मित है और उससे जगत् की सृष्टि (कारण से कार्य का पृथक्करण) कैसे होती है'—इसका युक्तियुक्त समाधान देता है।[2] अन्य दर्शन आनुमानिक उपपत्ति (Theory) मात्र करता है, पर सांख्य अपने योग-बल से मूलपर्यन्त साक्षात्कार कर सब घटनाओं की उपपत्ति करता है। जगत्-सृष्टि जिस चेतनपुरुष से संभव होती है उसके विषय में सांख्य ही बताता है कि अन्तःकरण (बुद्धि) के धर्मज्ञान ऐश्वर्य-वैराग्य रूप सात्त्विक रूप का कैसा परिणाम होने से उस बुद्धि में सर्वज्ञत्व तथा सर्वशक्तिमत्त्व आहित होता है और वह 'सर्व' (ब्रह्माण्ड) की अभिव्यक्ति कराने में कैसे समर्थ होता है। जगत्-स्रष्टा होने के

---

१. इस विषय में सांख्य की उपपत्ति इस प्रकार है—सास्मित समाधि-सम्पन्न योगी में सर्वज्ञता तथा सर्वशक्तिमत्ता (सर्वव्यापित्व) भी रहती है। प्रलय के बाद एतादृश महापुरुष जब व्यक्त होंगे, तब सर्वज्ञ तथा सर्वशक्त चित्त का विषय—लोकालोक या ब्रह्माण्ड—भी व्यक्त होगा। इस रहस्य को शास्त्रों में ईश्वरसंकल्पजात ब्रह्माण्ड कहा गया है। ऐसा संकल्प हमलोगों के संकल्प की तरह साशय नहीं है, इसलिए ईश्वर में वैषम्य या नैर्घृण्य दोष की आपत्ति नहीं होती, क्योंकि प्राणियों के जाति-आयु-भोग अपने कर्म-संस्कारवासनादि के अनुसार होते हैं, उसमें ईश्वर का कुछ भी हाथ नहीं है। लोकालोक व्यक्त होने से असिद्ध प्राणियों में, जिसका जैसा संस्कार था, तदनुसार व्यक्त होगा और देहधारण करेगा। देहधारण के विषय में सर्गादि काल में जो नियम था, या किसी एक लोक में जो नियम है, बाद में उस नियम में अन्यथात्व होता है या लोकान्तर में वह नियम नहीं चलता—यह विषय लेखान्तर में आलोचित होगा।

२. इस विषय के ज्ञान के लिए आचार्य हरिहरानन्दस्वामी के ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। उनका एक ग्रन्थ 'कापिलाश्रमीय योगदर्शन' लखनऊ-विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है। आज हमलोग सांख्य विद्या पर जो कुछ कहते हैं, वह उनके वचनों का ही अनुवादमात्र है।

लिए कितनी योग्यता चाहिए तथा उस योग्यता की प्राप्ति कैसे हो सकती है—यह सांख्य विद्या की आनुषंगिक बात है। सांख्य को छोड़कर अन्य कोई भी दर्शन 'ईश्वर किससे निर्मित है' इस विषय पर कुछ भी चर्चा नहीं करता है, केवल ईश्वर सत्ता को मान कर चलता है।

इस प्रसंग में यह भी जान लेना चाहिए कि सांख्यषडध्यायी, तत्त्वसमास, कारिका आदि में सांख्य विद्या की प्रधान-प्रधान बातें ही संकलित हैं। उस विद्या के प्रयोगात्मक तथ्यादि पुराणों में तथा महाभारत में (वेद के ब्राह्मणग्रन्थ में भी) यथास्थान विशद रूप से वर्णित हैं। ईश्वर के प्रसंग में इन ग्रन्थों में जो कुछ कहा गया है, उसकी उपपत्ति केवल सांख्य-विद्या से ही हो सकती है, यदि आन्वीक्षिकी की प्रथा से कोई समझना चाहे, अन्य किसी भी दर्शन से इन विषयों की उपपत्ति सम्यक् नहीं होती।

एक बात और। सांख्य कभी नहीं कहता कि प्रकृति स्वयं परिणत होकर बुद्धि आदि की उत्पत्ति करती है। सांख्य का ठीक मत है—'पुरुष से अधिष्ठित होकर प्रकृति परिणत होती है।' सांख्य के परम प्राचीन षष्ठितन्त्र ग्रन्थ में कहा गया है—'पुरुषाधिष्ठितं प्रधानं प्रवर्त्तते' (द्र० सांख्यकारिका, गौडपादभाष्य, कारिका १७)। गीता, पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में सांख्यमत के उपस्थापन में सर्वत्र साक्षात् रूप से या कहीं-कहीं असाक्षात् रूप से भी यह बात कही गई है। हमने आगे युक्ति से भी इस मत को प्रमाणित किया है। जैसे, बुद्धि-अहंकार आदि परिणामों के लिए पुरुष का सान्निध्य अपरिहार्य है, वैसे ब्रह्माण्ड-सृष्टि के लिए भी किसी महापुरुष का ऐश संकल्प आवश्यक है। इस विषय में सांख्य का मत यह है कि ब्रह्माण्ड शब्दादिमय है। शब्दादि का ज्ञान प्रत्येक जीव के भूतादि अभिमान का परिणाम है, पर शब्दादिज्ञान के लिए जहाँ से बाह्य उद्रेक आता है, वह भी भूतादिसंज्ञक तामस अभिमान है। अभिमान अन्तःकरण में प्रतिष्ठित है, और अन्तःकरण भी किसी न किसी पुरुष से उपदृष्ट होकर ही अस्तित्व में रह सकता है। इस दृष्टि से सांख्य यह भी कह सकता है कि जगत् की सृष्टि केवल प्रकृति और पुरुष इन दोनों तत्त्वों से ही हुआ है—ईश्वर का प्रसंग करना अनिवार्य नहीं है। बात यह है कि ईश्वर भी पुरुष+ऐश अन्तःकरण है। यह अन्तःकरण प्रकृतिसंभूत है (जैसे, प्रत्येक जीव में है—और ईश्वर भी एक जीव है, भेद केवल उनमें ज्ञान और शक्ति का असाधारण उत्कर्ष है), अतः तात्त्विक दृष्टि से ईश्वर जगत् का कारण नहीं है, पर व्यावहारिक या साधना की दृष्टि से ईश्वर को जगत्कारण मानकर चलना चाहिए, क्योंकि ऐश संकल्प से जगत् व्यक्त हुआ है। ईश्वर और जीव में, चूंकि तत्त्व-दृष्टि से कोई भी भेद नहीं है, अतः सांख्य में जीव के प्रसंग से ही ईश्वर का प्रसंग हो जाता है। मूल कारण की दृष्टि से ईश्वर भी जगत्कारण नहीं है, अतः जगत्सृष्टि के प्रसंग में भी यदि कहीं ईश्वर का प्रसंग न हो, तो वह दोषावह नहीं है—यह विवेचनीय है।

सांख्य कहता है कि जगत्सर्जक हिरण्यगर्भ (=जन्येश्वर) मुक्त पुरुष नहीं है। ईश्वरता-युक्त उनके अन्तःकरण की अभिव्यक्ति से ब्रह्मांड की व्यक्तता होती है और इस सूक्ष्म ऐश्वर्य के प्रति भी जब उनका वैराग्य सिद्ध हो जायगा, तब उनका अन्तःकरण शाश्वत काल के

अव्यक्त में लीन होगा—यह ब्रह्माण्ड का प्रलय है। हिरण्यगर्भ के इस चित्तलय तथा तत्-प्रयुक्त ब्रह्माण्ड के प्रलय का तथ्य पुराणादि सब शास्त्रों में समान रूप से वर्णित है। इस विषय पर पुराणादि का जो विवरण मिलता है—सांख्यविद्या से ही उसकी उपपत्ति की जा सकती है, न्यायवैशेषिक या रामानुजादि दर्शनों से उन स्थलों की न्यायसंगत उपपत्ति नहीं की जा सकती—इस विषय को कोई भी प्रत्यक्ष अनुशीलनपूर्वक स्वयं देख सकता है।

सांख्य शास्त्र में यह स्पष्ट उल्लिखित है कि जन्येश्वर के भूतादि अभिमान से ब्रह्माण्ड सृष्ट है। सांख्य का यह मत युक्ति से भी सिद्ध होता है। यथा—'बाह्य क्रिया देशान्तर-प्राप्ति-स्वरूप है और देशज्ञान शब्दादिज्ञान का सहभावी है। बाह्यमूल में चूँकि शब्दादि नहीं है, अतः उसकी क्रिया देशान्तरगति रूप नहीं हो सकती। अतः बाह्यमूल की क्रिया अदेशाश्रित है। अदेशाश्रित क्रिया अन्तःकरण की ही हो सकती है, सुतरां बाह्यमूलद्रव्य अस्मितास्वरूप है—यह सिद्ध हुआ' (सांख्यतत्त्वालोक)। जगत् का अन्तःकरणात्मकत्व अनुभव से भी सिद्ध होता है। वह अनुभव पूर्वोक्त ग्रन्थ में इस प्रकार वर्णित है—"तन्मात्रसाक्षात्कारे विषयस्य सूक्ष्म-चाञ्चल्यात्मकत्वमनुभूयते, तत इन्द्रियाणामपि अभिमानात्मकत्वमुपलभ्यते। तस्य चाभि-मानस्य ग्राह्यकृतोद्रेकाज्ज्ञानम्। यदभिमानं चालयति, तदभिमानसजातीयं स्यादिति। तस्माद् ग्राह्याभिमानात्मकमित्यनया दिशा ग्राह्यमूलग्रहणयोः सजातीयत्वं निश्चीयते।" (प्रकरण ६०)। जिस पुरुष का यह अभिमान है, उसको विराट् पुरुष या हिरण्यगर्भ कहा जाता है। ब्रह्माण्ड की अन्तःकरणात्मकता के विषय में शास्त्रीय वचनों का उद्धरण विस्तार-भय से छोड़ दिया जाता है।

ब्रह्माण्ड और हिरण्यगर्भ के इस सांख्यीय मत को सुनने के बाद अपक्वमति व्यक्तियों के मन में कुछ शंकाएँ होती हैं, जिनका उल्लेखपूर्वक निराकरण यहाँ किया जा रहा है:—

शंका होती है कि सांख्यीय मत के अनुसार तो बहुसंख्यक हिरण्यगर्भ से अभिव्यक्त अनेक ब्रह्माण्ड होंगे, और यदि वस्तुस्थिति ऐसी ही हो, तो क्या कभी ब्रह्माण्डों का परस्पर संघर्ष नहीं हो सकता? यह आपत्ति आपाततः जितनी सुदृढ़ जान पड़ती है, वस्तुतः वैसी नहीं। ब्रह्माण्डस्वरूप के यथार्थ ज्ञान के अभाव के कारण ही यह आपत्ति उठती है। हमने पहले यह सिद्ध किया है कि ब्रह्माण्ड मूलतः जन्येश्वर के अन्तःकरण का विकार है, सुतरां वस्तुस्थिति में ब्रह्माण्ड मनोद्रव्य है; जैसे दो मन का परस्पर संघर्ष नहीं होता, ठीक वैसे दो ब्रह्माण्डों की भी परस्पर टक्कर नहीं होगी। जीव ज्ञान-शक्ति की संकीर्णता के कारण घट-पट, कठिन-कोमल, वायवीय-ज्योतिर्मय आदि ज्ञान करता रहता है। यह ज्ञान चित्त की अशक्ति का फल है। ब्रह्माण्ड का यथार्थ स्वरूप है—प्रकाश-क्रिया और स्थिति का वैषम्य। घट-पटादि ज्ञान-इन्द्रियों की ज्ञान-शक्ति का स्तरसापेक्ष है, अर्थात् जिस चित्तस्तर में जो आग्नेय द्रव्य अवभात होता है, चित्तस्तर बदल जाने से वह जलीय या वायवीय प्रतिभात होगा। चित्त-शक्ति की अत्यन्त जड़ता के कारण हमलोगों का दृश्यज्ञान अध्यस्त तथा अतिसंकीर्ण है, जिसके फलस्वरूप स्थान-मान-हीन प्रकाश-क्रिया-स्थिति के वैषम्य मात्र को हम घट-पटादि के रूप में बोध करते हैं। ब्रह्माण्ड, चूँकि वस्तुतः और मूलतः मनोद्रव्य है (और इस स्थिति में

जगत् का दैशिक परिमाण आदि नहीं है, क्योंकि वैसा ज्ञान भी नहीं होता), अतः दोनों ब्रह्माण्डों का संघर्ष नहीं होता, क्योंकि मनोद्रव्य में उस प्रकार का संघर्ष सम्भव नहीं है।

किंच, ब्रह्माण्ड की स्थिति हिरण्यगर्भ की दृष्टि से क्षणमात्रव्यापी है। हिरण्यगर्भ का चित्त व्यक्त होकर रुद्ध होने के लिए जितना समय लेता है (जिसकी अभिकल्पना मानवीय चिन्ता कर नहीं सकती), उतना समय किसी एक ब्रह्माण्ड की स्थिति का है। इस विषय में देश और काल का आश्रय लेकर जितनी शंकाएँ की जा सकती हैं, उन सबके उत्तर देने के पहले सभी को एक विषय जानना चाहिए कि देश और काल का बोध पदार्थान्तरसापेक्ष तथा परस्परसापेक्ष भी है। चूँकि, प्रकृति की सत्ता दैशिक या कालिक नहीं है, इसलिए सृष्टि और प्रलय तथा ब्रह्माण्ड के तात्त्विक परिमाण के विषय में देशकालाश्रित संशय अप्रयोज्य ही रहता है, क्योंकि देश-काल-सम्बन्धी हमलोगों का ज्ञान अतिस्थूल भौतिक पदार्थ-परिमाण तथा परिणाम पर आश्रित है, सुतरां उस स्तर के अतिक्रमणमात्र से हमारे सब तर्क अप्रतिष्ठित हो जाते हैं। तात्त्विक दृष्टि से ब्रह्माण्ड का स्थिति-काल जैसे क्षणमात्र है, (जो हमलोगों की ज्ञानशक्ति में बहुकोटि वर्ष प्रतीत होता है) वैसे ब्रह्माण्ड का परिमाण भी अणुमात्र है (योगभाष्य ३।२६), पर वह असंख्यप्राय योजनात्मक प्रतीत होता है।

इस विषय में संक्षेप से इतना और जानना चाहिए कि ब्रह्माण्ड, चूँकि परिणामवान् है, इसलिए वह ससीम है और वह 'अव्यक्त' से आवृत है। उसकी उत्पत्ति किसी काल में हुई है—यह नहीं कि अनादि काल से एक ब्रह्माण्ड चला आ रहा है। यह ब्रह्माण्ड मूलतः ऐश मन की व्यक्तावस्था है, पर उसमें जो शब्द-स्पर्श आकृति आदि का बोध होता है, वह ज्ञाता की ज्ञानशक्ति की अशक्ति है। जैसे-जैसे किसी का चित्त आवरण-चाञ्चल्य-हीन होता जायगा, वैसे-वैसे वह ब्रह्माण्ड को पंचभूत-पंचतन्मात्र-भूतादि-प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति-प्रकाशक्रिया-स्थितिवैषम्य-गुणसाम्य इस क्रम से अनुभव करने लगेगा। सांख्यीय दृष्टि में ब्रह्माण्ड का जो यथार्थ स्वरूप है, उसको अन्यत्र दिखाया जायगा। पुराणादि में इस विषय में जो कुछ लिखा है—उसकी उपपत्ति सांख्य ज्ञान से ही हो सकता है। वस्तुतः ब्रह्माण्ड में कोई घट-पटादि द्रव्य नहीं है, केवल प्रकाश-क्रिया-स्थिति की ससीम व्यक्तावस्था है (हिरण्यगर्भ जिसका निमित्त है)। ज्ञानशक्ति के विभिन्न स्तर में वही वैषम्य भूत-तन्मात्र आदि की तरह अवभात होता है। भूत-तन्मात्र ज्ञान भी अनापेक्षिक नहीं है—इत्यादि विषय लेखान्तर में विवृत होगा।

पातंजल योग में जो ईश्वर स्वीकृत है (१।२४) वह सांख्यसम्मत है या नहीं—ऐसा प्रश्न हो सकता है। सांख्यीय पदार्थों को ठीक से समझने पर ऐसा प्रश्न उत्पन्न ही नहीं होता, क्योंकि सांख्यीय युक्ति का अवलम्बन कर कोई भी व्यक्ति स्वयं समझ सकता है कि योग का ईश्वर सांख्य का भी अनुमत है (यद्यपि सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में कहीं भी ऐसा साक्षात् उल्लेख नहीं मिलता)। आधुनिक साधनहीन अल्प मेधावी आलोचक दार्शनिक सब पदार्थों को शब्दतः प्रोक्त देखना चाहते हैं—यह उनकी बुद्धि की अक्षमता है, क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में परममूलभूत प्रमेयों के अतिरिक्त अन्य सब अवान्तर प्रमेयों का कृत्स्नशः उल्लेख

नहीं मिलता और न हमारे पूर्वाचार्य ऐसा करने के लिए बाध्य थे। चूँकि, ग्रन्थ में जो कथित नहीं है, अतः वह ग्रन्थकार से अज्ञात या अस्वीकृत है, यह तर्क अद्यतनीय विद्वानों पर शायद पूर्णतः घटता हो, पर हमारे पूर्वाचार्यों में यह नियम अप्रयोज्य है (प्रत्यक्षबाधित होने के कारण)। यदि अद्यतनीय आलोचक पुनरपि यह कहें कि हम लोगों में जो नियम चरितार्थ हो रहा है, वह सांख्याचार्यों में क्यों नहीं चरितार्थ होगा—तो उसके उत्तर में वक्तव्य है कि आप लोगों में चरितार्थ होने के कारण सांख्याचार्यों में भी चरितार्थ होगा—यह कथन 'कालात्ययापदिष्ट' रूप हेत्वाभास दोष से दुष्ट है (द्र० न्याय सूत्र १।२।९)। अयोगित्वनिबन्धन ग्रन्थोपदेश में आप जिस रीति से पदार्थोपदेश करते हैं, योगी उस रूप में नहीं करता—यह आप स्वयं योग-संस्कार से संस्कृत होने के बाद स्वीकार करेंगे। मोक्ष-दर्शन के ग्रन्थों में अवान्तर प्रमेयों में पर्वभूत विशिष्ट बातों का ही उल्लेख रहता है। वह भी ग्रन्थकार-संस्कार-सापेक्ष है तथा कदाचित् ग्रन्थावयव या ग्रन्थरचना-प्रयोजन-सापेक्ष है, सुतरां सांख्य के संक्षिप्त उपदेशात्मक ग्रन्थों में योगशास्त्रीय ईश्वर का अनुल्लेख देखकर यह नहीं कहा जा सकता है कि योग का ईश्वर सांख्य का अनुमत नहीं है। अब हम सांख्यीय युक्ति से सिद्ध करेंगे कि योग का ईश्वर भी सांख्य-सम्मत है:—

सांख्य पुरुष के साथ प्रकृति के संयोग को अनादि मानता है—'अनादिरर्थकृतः संयोगः।' सुतरां, यह भी सिद्ध होता है कि धर्मी के साथ अनादि-संयोग होने के कारण बुद्धि आदि का संयोग भी अनादि है, जैसा कि पंचशिख ने कहा है—'धर्मिणामनादिसंयोगाद् धर्ममात्राणामप्यनादिः संयोगः' (२।२२ योगभाष्योद्धृत)। इस वाक्य से पुनश्च यह भी सिद्ध होगा कि बद्धजातीय चित्त जैसे अनादिकाल से वर्त्तमान है, वैसे मुक्तजातीय चित्त भी अनादि है। इस विषय में हेतु यह है कि त्रिगुणरूप अनादि मूलकारण के नित्यपरिणामी होने से वस्तुओं की जाति अनादिकाल से है, यह सिद्ध होता है। एतादृश अनादिमुक्त चित्त से कोई भी पुरुष व्यपदिष्ट हो सकता है, क्योंकि मूल कारणद्वय नित्य होने से सर्वप्रकार का संयोग-वियोग सर्वदा है—ऐसी विनिगमना न्याय्य होती है। ऐसा पुरुष योग-सूत्र (१।२४) में अभिहित है, और वह सांख्यीय दृष्टि से भी संगत होता है। सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में इस ईश्वर के अनुल्लेख का कारण यही प्रतीत होता है कि यह पुरुष सर्वथा जगद्व्यापारवर्ज है, अतः तत्त्व और तत्त्वों के कार्य की दृष्टि से इनका उल्लेख नहीं किया गया। इनकी उपयोगिता साधन की दृष्टि से ही है, अतः साधनकाण्डात्मक योगशास्त्र में इनका विशद उल्लेख है। यह भी जानना चाहिए कि महाभाष्य के शान्तिपर्व के अध्याय ३०१ में इस योगसम्मत ईश्वर का निर्देश सांख्यमत के प्रसंग में आया है—ऐसा प्रतीत होता है, अतः शास्त्र-युक्ति से योगीय ईश्वर भी सांख्य-सम्मत है—यह सिद्ध हुआ।

उपसंहार में हमें सांख्यविद्या के विषय में कुछ तथ्य कहना है। वह यह कि सांख्यविद्या का निरवशेष उल्लेख सांख्य के प्रचलित ग्रन्थों में है—अनुल्लिखित विषय सांख्य का नहीं है, ऐसी चिन्ता भ्रमात्मक है। महाभारत, पुराण आदि में जो सांख्यमत उल्लिखित है, सांख्य के ग्रन्थों से उसका कहीं भी तात्त्विक विरोध नहीं है। इन सब ग्रन्थों में जो मतपार्थक्य या

मत-विरोध प्रतीत होता है, इसका कारण साधनोत्कर्षजनित चित्तस्तरसापेक्ष उपदेश ही है। हाँ, यह मैं मानता हूँ कि अर्वाचीन काल के अनेक व्याख्याकारों ने बहुत कुछ भ्रमपूर्ण बातें कही हैं, जो सांख्यीय मूल पदार्थ से, सांख्यसम्मत युक्ति-प्रणाली से सिद्ध नहीं होतीं। सांख्य समाधिप्रमाणक अध्यात्म विद्या है, इसमें कहीं भी आधुनिक आलोचक-सम्मत 'विकास' नहीं हुआ है और न योगमूलक विद्या में विकास होने की संभावना ही है। आधुनिक आलोचक सांख्य विद्या को अयोगी से भी विज्ञेय इतिहास-भूगोल-विज्ञान-गणितादि चित्तप्रवाहमूलक विद्या की तरह समझते हैं, और इन विद्याओं में चरितार्थ नियमों को (जैसे, कालक्रमानुसार विकास आदि) सांख्यरूप मोक्ष-विद्या में भी प्रयुक्त करते हैं, जो आधुनिक विद्वानों के अन्धविश्वासमूलक चित्तवृत्ति का ही ज्ञापक है—इसका निरूपण मैंने अन्यत्र किया है।

अन्त में, हम कह देना चाहते हैं कि इस लेख में सांख्यीय ईश्वर-विचार के अवान्तर विषय छोड़ दिये गये हैं, तथा जो कुछ कहा गया है—अन्यत्र संक्षेप में कहा गया है। आगामी निबन्धों में इनका स्पष्टीकरण किया जायगा।

# शिवपुराण में जैन धर्म की चर्चा

श्री जयशङ्कर त्रिपाठी शास्त्री

उदारता और शौर्य भारतीय संस्कृति के दो अन्यतम प्रतीक हैं एवं भगवान् शंकर के स्वरूप में इनकी जैसी अभिव्यक्ति पाई जाती है, अन्य देवों में उस कोटि की प्रक्रिया नहीं मिलती। शंकर की आराधना का प्रचार गाँव तथा निर्जन वन-प्रदेशों से लेकर नगरों तक सम्पूर्ण भारत में है। जनशून्य जंगलों में भी कहीं न कहीं अश्वत्थ अथवा वटवृक्ष के नीचे स्थापित शिवलिङ्ग मिल ही जायँगे। भगवान् शिव की इस व्यापक आराधना का कारण भारतीयों की वही उदारता और शौर्यप्रियता है। भस्म धारण करनेवाले शंकर अपने भक्तों के ऊपर आशु ही प्रसन्न होकर सहज ही उनकी कामनाएँ पूर्ण कर देते हैं, ऐसी प्रसिद्धि चली आ रही है तथा वे ही सृष्टि के अन्त में सब का प्रलय करनेवाले हैं, शौर्य-सत्ता का इससे बढ़कर मापदंड क्या हो सकता है?

जैन और बौद्ध धर्मों के द्वारा अहिंसा और दयालुता का जो व्यापक अध्याय शुरु हुआ, वह शताब्दियों तक अपना प्रभाव जमाये रहा। किन्तु, अन्त में इन सम्प्रदायों की अहिंसा और दयालुता अकर्मण्यता में परिवर्त्तित हो गई और उनके मठों में विलासिता के साज सजाये जाने लगे। अवश्य ही, उस समय जनवर्ग और राजन्यवर्ग में उनके प्रति उपेक्षा हो गई होगी तथा बाद की परिस्थितियों में वे इतिहास की प्रगति का धक्का खाकर गिर गये होंगे।

जैन धर्म, बौद्ध धर्म से बहुत पुराना है। महावीर स्वामी, जो गौतम बुद्ध के समकालीन हैं, जैनधर्म के चौबीसवें तीर्थङ्कर हैं; उन्होंने अपने तपोबल से जैनधर्म का पुनरुत्थान किया है।

ऐसा मालूम पड़ता है कि महावीर स्वामी के पहले जैन धर्म वासनासक्त होकर विलासिता में रँग उठा था और उसके मूल-सिद्धान्त वासना से आवृत हो गये थे, जैन धर्म की आस्था लोक से उठी जा रही थी। जैन धर्म के उस आवरण को हटाने के कारण ही महावीर स्वामी को इतनी ख्याति प्राप्त हुई कि उन्हें जैन धर्म का मुख्यप्रवर्तक माना जाता है। महावीर स्वामी के पूर्व जैनधर्म की दुर्दशा पर शैव एवं दूसरे वेद-मतावलम्बियों को अपने समर्थन का स्वर्ण-अवसर मिला होगा और उन्होंने उससे लाभ उठाकर जनवर्ग को अपनी ओर आकृष्ट किया होगा।

शिवपुराण के युद्धखंड में प्रथम अध्याय से लेकर दशम अध्याय तक एक ऐसा ही प्रसंग है, जहाँ पर त्रिपुर राष्ट्र की विजय के लिए पहले उसे निर्बल बनाने की आवश्यकता पड़ती है, राष्ट्र को निर्बल बनाने का आधार पहले वहाँ के अधिकारियों और निवासियों को चरित्रहीन तथा अकर्मण्य बनाने की प्रक्रिया है; देवों के चतुर नायक विष्णु युक्तिपूर्वक उन्हें एक ऐसे ही चरित्रभ्रष्ट करनेवाले धर्म में दीक्षित कराकर अपने कार्य की सिद्धि करते हैं। उस धर्म का स्वरूप जैन धर्म की ही व्याख्या प्रस्तुत करता है।

इस प्रसंग में शिवपुराणकार ने पहले एक आदर्श और विशुद्ध सत्ताधारी राष्ट्र के रूप में त्रिपुर राष्ट्र की कल्पना की है, जिस आदर्श के कारण देव उसकी विजय नहीं कर पा रहे थे, न उनके परम स्वामी प्रलयंकर शंकर ही उनका विनाश करने में सक्षम थे। यह प्रसंग अध्ययन करने के योग्य है। इसमें, भारतीय संस्कृति के अनुरूप वैदिक तथा स्मार्त्त सत्ताधारी एक शैव राष्ट्र की दृढ़ कल्पना तथा आस्तिकता के प्रति श्रद्धा का उदग्र आविर्भाव आदि उस त्रिपुर-राष्ट्र की विशेषताएँ वर्णित हैं। देवों के बहुत प्रार्थना करने पर भी भगवान् शंकर उन त्रिपुर अधिपतियों का कुछ बिगाड़ने को तैयार नहीं होते। वे देवों को स्पष्ट उत्तर देते हैं कि जब तक आस्तिक सत्ताधारी त्रिपुर-राष्ट्र में वैदिक तथा स्मार्त्त धर्मों का पालन हो रहा है तथा जब तक त्रिपुरवासी अपने तपोबल और चरित्रबल से बलवान् बने हुए हैं, मैं किसी प्रकार उनका कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता।

शंकर के ऐसा उत्तर देने पर देवों को बहुत निराशा होती है और तब देवाधिदेव विष्णु सोचते हैं कि हम त्रिपुरवासियों को चरित्रहीन कर उन्हें इस योग्य बना दें कि भगवान् शंकर स्वयं उनका विनाश करने के लिए सन्नद्ध हो जायँ। अतः विष्णु ने त्रिपुरवासियों को विपरीत धर्म में दीक्षित कराने के लिए एक नये पुरुष-यति का निर्माण किया और उसे अपने नये धर्म की दीक्षा देने के लिए त्रिपुरों के राष्ट्र में भेजा। वहाँ उस कुटिल यति के स्वरूप का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

"मुण्डिनं म्लानवस्त्रं च गुम्फिपात्रसमन्वितम्।
दधानं पुञ्जिकां हस्ते चालयन्तं पदे-पदे ॥
वस्त्रयुक्तं तथा हस्तं क्षीयमाणं मुखे सदा।
धर्मेति व्याहरन्तं च वाचा विक्लवया मुनिम् ॥"

[४।२-३]

अर्थात्, भगवान् विष्णु ने, मलिन वस्त्र पहने, हाथ में काठ का पात्र तथा एक बुहारी लिये, डग-डग पर उसे चलाते हुए, हाथ में वस्त्र लेकर उसे मुख पर लपेटे हुए एवं विकलता भरी वाणी से 'धर्म-धर्म' चिल्लाते हुए एक मुण्डितशिर मुनि का निर्माण किया।

आगे विष्णु अपने उस नव-निर्मित मुण्डी ( मुनि ) को उसका पूर्ण अभिज्ञान कराते हैं:—

"अरिहन्नाम ते स्यात्तु ह्यन्यानि च शुभानि च।
स्थानं वक्ष्यामि ते पश्चाच्छृणु प्रस्तुतमादरात्॥
मायिन्! मायामयं शास्त्रं तत्षोडशसहस्रकम्।
श्रौतस्मार्त्तविरुद्धं च वर्णाश्रमविवर्जितम्॥
अपभ्रंशमयं शास्त्रं कर्मवादमयं तथा।
रचयेति प्रयत्नेन तद्विस्तारो भविष्यति॥
ददामि तव निर्माणे सामर्थ्यं तद् भविष्यति।
माया च विविधा शीघ्रं त्वदधीना भविष्यति॥"
[ ४।९—१२ ]

अर्थात्, तुम्हारा नाम अरिहन् होगा, दूसरे अन्य शुभ नाम भी होंगे तथा तुम्हारे रहने का स्थान भी मैं बाद में बतलाऊँगा। इस समय जो तुम्हें प्रस्तुत करणीय है उसे सुनो—मायाविन्! तुम एक सोलह हज़ार श्लोकों का शास्त्र निर्माण करो जो वेद और स्मृतियों के विरुद्ध तथा वर्णाश्रम-धर्म से रहित हो, तुम प्रयत्न-पूर्वक उसे अपभ्रंश-भाषा में लिखो, वह केवल कर्मवाद की व्याख्या करता हो (ईश्वरीय सत्ता का प्रतिपादक न हो), उसका आगे चलकर और भी विस्तार होगा। मैं तुमको उसके निर्माण की शक्ति देता हूँ, अनेक प्रकार की माया शीघ्र ही तुम्हारे अधीन हो जायगी।

अभिज्ञान कराने के बाद विष्णु ने भगवान् शंकर के चरण-कमल का स्मरण करके, उसको अपने प्रस्तुत सामयिक कार्य के पूर्ण करने का आदेश दिया:—

"तमुवाच पुनर्विष्णुः स्मृत्वा शिवपदाम्बुजम्।
मोहनीया इमे दैत्याः सर्वे त्रिपुरवासिनः॥
कार्यास्ते दीक्षिता नूनं पाठनीयाः प्रयत्नतः।
मदाज्ञया न दोषस्ते भविष्यति महामते॥
धर्मास्तत्र प्रकाशन्ते श्रौतस्मार्ता न संशयः।
अनया विद्यया सर्वे स्फोटनीया ध्रुवं यते!
गन्तुमर्हसि नाशार्थं मुण्डिन् त्रिपुरवासिनम्।
तमोधर्मं संप्रकाश्य नाशयस्व पुरत्रयम्॥
ततश्चैव पुनर्गत्वा मरुस्थल्यां त्वया विभो।
स्थातव्यं च स्वधर्मेण कलिर्यावत्समाव्रजेत्॥

प्रवृत्ते तु युगे तस्मिन् स्त्रीयो धर्मः प्रकाश्यताम् ।
शिष्यैश्च प्रतिशिष्यैश्च वर्त्तनीयस्त्वया पुनः ॥"
[ ४।१६—२१ ]

अर्थात्, हे मायाविन् ! तुम्हें इन सभी त्रिपुरवासी दैत्यों को मोहित करना है । इनको अपनी दीक्षा में दीक्षित करके प्रयत्नपूर्वक अपना वह शास्त्र इन्हें पढ़ाओ । हे महामति ! मेरी आज्ञा के कारण तुम्हें कोई दोष न होगा । इसमें सन्देह नहीं कि उनमें वैदिक और स्मार्त्त धर्मों का प्रकाश हो रहा है, तथापि यतिवर ! तुम अपनी इस विद्या से उनके उस धर्म-प्रकाश को उच्छिन्न कर दो । मुण्डिन् ! अब तुम शीघ्र त्रिपुरवासियों का विनाश करने के लिए जाओ और अपने तमोधर्म का प्रकाश करके तीनों पुरों का विनाश कर दो । यह कार्य सम्पन्न करने के बाद तब तक तुम मरुस्थली में आकर निवास करना जब तक कलियुग न आ जाये । कलियुग के आने की अवधि तक तुम शान्त रहना, पुनः उस युग के प्रारम्भ होने पर अपने इस निजी धर्म को प्रकट करना और अपने शिष्यों एवं प्रतिशिष्यों के साथ इसका प्रचार करना ।

ऊपर के प्रसंगों में मुण्डित शिर तथा जीवों की रक्षा के लिए हाथ में वस्त्र, शिर पर वस्त्र, बुहारी लगाना, मलिन ही वस्त्र धारण किये रहना एवं काठ का पात्र लेना, जैन धर्म के ही चिन्ह हैं, जीव-रक्षा उनका मूलभूत सिद्धान्त है । जैन 'अर्हन्' की उपासना करते हैं, विष्णु के इस नव-निर्मित मायावी का भी नाम 'अरिहन्' है । हमारे यहाँ चार्वाक्, जैन और बौद्ध नास्तिक दर्शन माने जाते हैं । जैनों के शास्त्र अर्धमागधी अपभ्रंश भाषा में लिखे गये हैं और बहुत विस्तारपूर्वक हैं; यहाँ पर विष्णु ने भी मुण्डी पुरुष को सोलह हजार श्लोकों का वैदिक और स्मार्त्त धर्म के विरुद्ध, वर्णाश्रम-धर्म से रहित, अपने निजी शास्त्र का निर्माण अपभ्रंश भाषा में करने के लिए कहा है । सब से विशिष्ट बात यह है कि विष्णु ने उसे कार्य समाप्त करने के बाद मरुस्थली में निवास करने की बात कही है तथा कलियुग में उसे पुनः धर्म-प्रचार करने की आज्ञा दी है, राजपुताना में बना हुआ आबू का जैन मन्दिर हमें इस प्रसंग की ओर विशेष आकृष्ट करता है, हमारे कहने का अर्थ यह नहीं है कि शिवपुराण के रचना-काल तक मन्दिर का निर्माण हो गया था, मन्दिर का निर्माण तो ११ वीं से १२ वीं शताब्दी तक हुआ, वरञ्च जैन मन्दिर का वहाँ निर्माण होना, उस स्थान पर जैनों के प्रभाव की सूचना देता है, जो बहुत पहले से रहा होगा और जिसका ही संकेत शिवपुराण में 'मरुस्थल्यां त्वया विभो ! स्थातव्यं च स्वधर्मेण कलिर्यावत्समाव्रजेत् ।' इस कथन के द्वारा किया गया है ।

अरिहन् के कार्य में सहायता देने के लिए विष्णु ने चार शिष्यों का भी निर्माण किया, वे शिष्य भी उसी के प्रतिरूप हैं:—

"चत्वारो मुण्डिनस्तेऽथ धर्मं पाषंडमाश्रिताः ।
हस्ते पात्रं दधानाश्च, तुंडवस्त्रस्य धारकाः ॥
मलिनान्येव वासांसि, धारयन्तो ह्यभाषिणः ।
धर्मो लाभः परं तत्त्वं वदन्तस्त्वतिहर्षतः ॥"

इन शिष्यों के नाम भी दिये गये हैं—ऋषि, यति, कीर्य तथा उपाध्याय। अवश्य ही इन नामों का सम्बन्ध जैन धर्म के तीर्थङ्करों से है। जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव हैं।

अरिहन् ने अपने नये धर्म की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए, अपने धर्म का जो स्वरूप त्रिपुरराज के सामने व्यक्त किया है, वह पूर्णतया जैन धर्म से मेल नहीं खाता, इसका कारण यही हो सकता है कि उस समय जैनधर्म का वैसा ही स्वरूप रहा होगा और बाद में महावीर स्वामी ने उसे परिष्कृत किया होगा अथवा जैन धर्म का आधार लेकर पुराणकार ने सभी वेद-स्मार्त्त-विरोधी धर्मों के सिद्धांत उसमें संकलित कर दिये होंगे। अरिहन् की प्रस्तुत की हुई वह व्याख्या बहुत विस्तृत है; उसने आत्मा, धर्म आदि के स्वरूप बतलाते हुए बाद में हमें क्या करना चाहिए, इसका भी निरूपण किया है और वह सब कई धार्मिक सिद्धांतों के सम्मिश्रण के साथ-साथ, भौतिकवाद की रूपरेखा के ज्वलन्त उदाहरण हैं। ऐसा भी अनुमान होता है कि शैवों ने अरिहन् के उस प्रसंग को लेकर जैन धर्म के विरोध के साथ युग बीतने पर अपने विरोधी चार्वाक् और बौद्धों को भी उस व्याख्या में प्रक्षिप्त कर दिया होगा। नीचे के उद्धरण में चार्वाकों के 'इस जगत् के अतिरिक्त स्वर्ग और नरक नहीं हैं, मरण ही मोक्ष है' इस सिद्धांत का ही वर्णन है—

"इहैव स्वर्गनरौक प्राणिनां नान्यतः क्वचित्।
सुखं स्वर्गः समाख्यातो दुःखं नरकमेव हि॥
सुखेषु भुज्यमानेषु स्यान्मेदेहविसर्जनम्।
अयमेव परो मोक्षो विज्ञेयस्तत्त्वचिन्तकैः॥"

[५।२८–२९]

अर्थात्, प्राणियों का स्वर्ग-नरक यहीं है, अन्यत्र नहीं। सुख ही स्वर्ग है और दुःख ही नरक है। सुख भोगते-भोगते देह का नष्ट होना ही मोक्ष है।

बौद्धों का तो स्पष्ट उल्लेख है—

"दृष्टार्थप्रत्ययकरान् देहसौख्यैकसाधकान्।
बौद्धागमविनिर्दिष्टान् धर्मान् वेदपरांस्ततः॥"

[५।३५]

अर्थात्, प्रत्यक्ष अर्थ में ही विश्वास करना चाहिए, यही एकमात्र देह-सुख-साधक उपाय है; यह धर्म वेदों में नहीं, उनसे विपरीत बौद्धशास्त्रों में निर्दिष्ट है। वस्तुतः, ये अंश बाद में जोड़ दिये गये हैं। शैवों के लिए तीनों नास्तिक दर्शन एक समान ही उपेक्षणीय थे।

विवाह और स्त्री-सुखभोग के सामाजिक बन्धनों के विषय में वह कहता है कि—

"ब्रह्मादिसृष्टिरेषेति प्रोच्यते वृद्धपूरुषैः।
तस्य जातौ सुतौ दक्षमरीची चेति विश्रुतौ॥
मारीचेन कश्यपेन दक्षकन्याः सुलोचनाः।
धर्मेण किल मार्गेण परिणीतास्त्रयोदश॥

अपीदानीन्तनैर्मर्त्यैरल्पबुद्धिपराक्रमैः ।
अपि गम्यस्त्वगम्योऽयं विचारः क्रियते मुधा ॥" [ ५। ४३—४५ ]

अर्थात्, समाज के वृद्धपुरुष ज्ञानी-जन इस सृष्टि का प्रारम्भ ब्रह्मा से मानते हैं। उनके दक्ष और मरीचि दो पुत्र थे। मरीचि के पुत्र कश्यप ने दक्ष की सुलोचना सौन्दर्यमयी तेरह कन्याओं का विवाह धर्ममार्ग से किया है। आजकल अल्प बुद्धि का पराक्रम रखनेवाले मर्त्य जन यह स्त्री हमारे लिए गम्य है, यह गम्य नहीं है, व्यर्थ ही इसका विचार करते हैं। अर्थात् स्त्रियों के सुखभोग के लिए हमें इन सबका विचार नहीं करना चाहिए, वासना की पूर्ण तृप्ति ही अरिहन् का सिद्धान्त है।

यहाँ एक बात ध्यान देने योग्य है कि अरिहन् ने महाभारत के पराशर और व्यास, व्यास और विचित्रवीर्य आदि के कथानक का उद्धरण नहीं दिया है।

इसी प्रकार—"अहिंसा परमो धर्मः पापमात्मप्रपीडनम् ।
अपराधीनता मुक्तिस्स्वर्गोऽभिलषिताशनम् ॥" [ ५ । १८ ]

× × ×

अर्थानुपार्ज्य बहुशो द्वादशायतनानि च ।
परितः परिपूज्यानि किमन्यैरिह पूजितैः ॥
पञ्चकर्मेन्द्रियग्रामाः पञ्चबुद्धीन्द्रियाणि च ।
मनोबुद्धिरिह प्रोक्तं द्वादशायतनं शुभम् ॥" [ ५।२६-२७ ]

अर्थात्, 'अहिंसा ही परम धर्म है, आत्मप्रपीड़न ही पाप है, किसी के बन्धन के अधीन न होना ही मुक्ति है; इच्छित भोजन का मिल जाना ही स्वर्ग है। सब ओर से धन पैदा करके बारह स्थानों की पूजा करनी चाहिए, दूसरों के पूजन से क्या लाभ ? पाँच कर्म तथा पाँच इन्द्रियाँ, बुद्धि एवं मन यही बारह स्थान हैं।' ये बातें जैन धर्म से ही सम्बन्ध रखती हैं। नीचे सृष्टि के विषय में जैनों के प्रकृतिवाद का ही निरूपण है:—

"अनादिसिद्धस्संसारः कर्तृकर्मविवर्जितः ।
स्वयं प्रादुर्भवत्येव स्वयमेव विलीयते ॥" [५।४]

यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है, यह कर्त्ता और कर्म से रहित है तथा स्वयं ही प्रकट होता और स्वयं विलीन होता है। यहाँ पर कर्त्ता तथा कर्म से रहित कहकर 'कर्त्तेति नैयायिकाः' एवं 'कर्मेति मीमांसकाः' अर्थात् ईश्वर को कर्त्ता माननेवाले नैयायिकों तथा कर्म माननेवाले मीमांसकों की उपेक्षा की गयी है।

इसी प्रकार आगे अरिहन् ने वर्णाश्रम-धर्म, यज्ञ, वेदपाठ, शिव-पूजन आदि की विस्तृत आलोचना त्रिपुरराज से की है। उसकी इस उपदेश-दीक्षा से समग्र त्रिपुर-राष्ट्र अपने आचरित धर्म के विपरीत उस धर्म में दीक्षित हो जाता है और जैसा कि विष्णु का उद्देश्य था, त्रिपुर-निवासी उस नये धर्म में दीक्षित होकर तपोबल और चरित्रबल से गिर जाते हैं। तप और चरित्र के नष्ट होने से उनका शिवत्व उनसे रूठकर उनका विनाश कर देता है तथा उनका शत्रु देवगण शान्ति प्राप्त करता है।

यहाँ इस प्रसंग में दो बातें बहुत विचारणीय हैं, पहली बात है–मरुस्थली में अरिहन् का कलियुग के आगमन तक निवास करना, अवश्य ही यहाँ पर मरुस्थली से तात्पर्य राजपुताना से होना चाहिए, जैसा पहले कहा गया है। अतः हो सकता है राजपुताना में पुराणकाल के पहले वैदिक सिद्धान्तों का विरोधी कोई सम्प्रदाय प्रतिष्ठित रहा हो, जिससे देवों ने मित्रता करके अपना काम निकाला हो, हम वैदिक साहित्य से इसका रहस्य जान सकते हैं। दूसरी बात है—'अरिहन्' नाम। 'अरिहन्' और 'अर्हन्' एक-से ही नाम हैं, 'अर्हन्' जैनों के आराध्य हैं। प्रस्तुत प्रसंग में अरिहन् ने धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमें वेद-विरोधी कई सम्प्रदायों के सिद्धान्त प्रक्षिप्त मालूम पड़ते हैं। एक ओर इस प्रसंग की रचना का समय, यदि उन अंशों को प्रक्षिप्त माना जाय तो, गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी के बहुत पहले का ज्ञात होता है तथा दूसरी ओर स्पष्ट ही गौतम बुद्ध के बाद विक्रम की पहली-दूसरी शताब्दी इसका प्रणयन-काल प्रतीत होता है। गम्भीर अनुशीलन के बाद शैव और जैनों की इस विरोध-प्रक्रिया का कोई नया हल प्रकट हो सकता है।

जहाँ तक त्रिपुर-ध्वंस-वर्णन की बात है, इस प्रसंग की खींचातानी के बाद भी इसे हम बहुत इधर नहीं ला सकते। विक्रम की प्रथम शताब्दी के बाद की रचना कहना भी उपयुक्त नहीं होगा। साहित्य में भले पहले शंकर के इस रूप की गाथा न गायी गई हो, किन्तु शकों को पराजित करनेवाले प्रसिद्ध सम्राट् विक्रमादित्य की कीर्त्ति के साथ ही महाकाल त्रिपुरारि शंकर की उपासना का भी व्यापक प्रचार हुआ, सम्राट् उज्जैन के थे और उज्जैन के परम आराध्य थे—महाकाल शंकर। सम्राट् के सभा-कवि कालिदास ने अपनी सभी कृतियों में शिव के किसी-न-किसी रूप का चिन्तन अवश्य किया है और उनके बाद तो संस्कृत-साहित्य में शिव को वैसी ही व्यापकता प्राप्त हुई, जैसे पहले कभी विष्णु, राम और कृष्ण को प्राप्त हुई थी।

त्रिपुर के प्रसंग को लेकर 'त्रिपुरदाह' जैसी स्वतन्त्र रचनाएँ भी लिखी गयीं तथा काव्यों और नाटकों में शिव के त्रिपुरारि-रूप की चर्चा भी होती रही। कालिदास ने यक्ष के मुख से मेघ को मार्ग बताते समय हिमालय के पास किन्नरियों के द्वारा त्रिपुर-विजय के गीत गाये जाने की बात कही है:—

"शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः।
संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः॥" [मेघदूत : पूर्वमेघ, ६०]

आठवीं शताब्दी के प्रसिद्ध नाटककार भट्टनारायण ने तो अपने 'वेणी-संहार' नाटक की नान्दी में त्रिपुर के भस्म होने का एक सुन्दर चित्र खींचते हुए शिव की स्तुति की है:—

"आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः
साश्रुनेत्रोत्पलाभिः।
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं
शाम्भवो वः शराग्निः॥"

# विदेशी कहावतों का इतिहास

डा० कन्हैयालाल सहल, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

## क. बाइबिल की कहावतें

पौरस्त्य देशों में जिस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से कहावतें उपलब्ध होती हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य देशों में भी। ईसाइयों के प्रसिद्ध धर्म-ग्रन्थ बाइबिल में कहावतों के इकतीस प्रकरण हैं, किन्तु बाइबिल की कहावतें ही सबसे प्राचीन नहीं हैं, क्योंकि विद्वानों के मतानुसार बाइबिल की कुछ कहावतों का मूल मिस्र के प्रसिद्ध बादशाह अमेनोफिस आदि के सुभाषित संग्रहों में मिल जाता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में 'बाइबिल के Proverbs नामक प्रकरण का जो महत्त्व पहले कभी प्रकट नहीं हुआ था, वह अब तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात हो रहा है'।[1]

## ख. प्राचीन कहावतें

ईसा के पूर्व भी कहावतों का प्रयोग हमें मिलता है। सेंट पाल १. कोरिथियन १५.१३. ने 'दुर्जन की संगति से सज्जन बिगड़ जाता है' इस लोकोक्ति का प्रयोग किया है, किन्तु एक ग्रीक नाट्यकार मिनंडर (४०० ई० पू०) ने अपने एक नाटकीय पात्र के मुख से इसी लोकोक्ति का प्रयोग करवाया है और कौन जाने, यह लोकोक्ति मिनंडर से भी पहले प्रयोग में आती रही होगी। हमारे यहाँ भी 'असंगसंगदोषेण सत्यश्च मतिविभ्रमः' का प्रयोग मिलता है।[2]

पेनसिलवनिया-विश्वविद्यालय में असीरिया की भाषा, इतिहास आदि के प्रोफेसर डा० एस्० एन्० क्रेमर ने मिट्टी के दो बड़े पट्टों का पता लगाया है जिन पर, कहा जाता है कि दुनिया की सबसे पुरानी लिखित कहावतें और सूक्तियाँ अंकित हैं। इस्तनबुल-म्युजियम के सैकड़ों साहित्यिक महत्त्व के पट्टों में उक्त दो पट्ट भी प्राप्त हुए थे। सुमेरियन काहवतों का यह संग्रह आज से २,६०० वर्ष पहले हुआ था। डा० क्रेमर की गणना के अनुसार बाइबिल की कहावतों से १,००० वर्ष से भी पूर्व ये कहावतें संगृहीत हो चुकी थीं। इन कहावतों के रूपान्तर आज भी प्रचलित हैं। कहावतों में से एक उदाहरण यहाँ दिया जा रहा है :

"जीने की अपेक्षा निर्धन का मरना अच्छा, यदि उसे रोटी मिलती है तो नमक नहीं मिलता, यदि नमक मिलता है तो रोटी नहीं मिलती। यदि उसे घर मिलता है तो पशु रखने की जगह नहीं मिलती, यदि पशु रखने की जगह मिलती है तो घर नहीं मिलता।"[3]

---

१. भूमिका : 'मेवाड़ की कहावतें', भाग १, पृष्ठ २।
२. महाराष्ट्र वाक्सम्प्रदाय-कोश, दूसरा विभाग; यशवंत रामकृष्ण दाते और चिंतामणि गणेश कर्वे; प्रस्तावना, पृष्ठ १२।
३. The Hindustan Times, Weekly Sunday, March 9, 1952. P. 13.

'चणा जठे दाँत ना अर दाँत जठे चणा ना' ( राजस्थानी )

अर्थात्, जहाँ दाँत हैं, वहाँ चने नहीं।

'दाँत आहेत तर चणे नाहींत आणि चणे आहेत तर दाँत नाहींत' ( मराठी )

अर्थात्, सब प्रकार की सुविधाएँ एक साथ नहीं मिलतीं, जहाँ धन है, वहाँ विद्या नहीं, जहाँ विद्या है, वहाँ धन नहीं।

मिस्रवासियों में से Kegumne, Imhotep और Ptahotep ने अपने ज्ञान और अनुभव को कहावतों के रूप में व्यक्त किया था। उक्त तीनों पदाधिकारियों का समय ईसा से २,५०० वर्ष पूर्व माना जाता है। इससे पता चलता है कि मिस्र में कहावतों की परम्परा कितनी प्राचीन है। कनफ्यूसियस से भी बहुत पहले चीन के लोगों ने साहित्यिक कहावतों की सृष्टि की थी और चीन देश के इस ऋषि ने शिक्षा देने के उद्देश्य से कहावतों का एक सुन्दर साधन के रूप में प्रयोग किया था।

राजस्थानी और मराठी में इससे मिलती-जुलती निम्नलिखित कहावत उपलब्ध होती है :

Solon, Phocylides और Theognis जैसे ग्रीस के महाकवियों के प्रादुर्भाव से पहले ही वहाँ की कहावतों ने प्रमुख स्थान प्राप्त कर लिया था। इनसे पूर्ववर्ती गीतिकारों और परवर्ती सात प्रसिद्ध बुद्धिमान् ने विगत पीढ़ियों के लोक-संचित ज्ञान को साहित्यिक रूप देने का प्रयत्न किया था।

सैकड़ों वर्ष पहले ग्रीस में Know Thyself नामक सूक्ति प्रचलित थी, जिसका समानान्तर रूप 'आत्मानं विद्धि' के रूप में हमारे यहाँ मिल जाता है। स्पार्टा के लोग अपने अल्पभाषित्व के लिए प्रख्यात थे, व्यर्थ के वाग्विस्तार को वे अनावश्यक समझते थे। उनके यहाँ अल्पभाषित्व के लिए Laconic शब्द रूढ़ हो गया था। तत्त्वपूर्ण, अन्वर्थक छोटे-से चटकदार वाक्य के लिए Laconic Speech का प्रयोग होता था।

राजस्थानी भाषा में एक कहावत प्रचलित है, 'धर्म री गाय रा दाँत काँई देखणा' अर्थात्, धर्म की गाय के दाँतों का क्या देखना ? इसकी समानान्तर अँगरेजी कहावत है— Look not a gift horse in the mouth. यह कहावत यद्यपि नवीन-सी मालूम पड़ती है और ऐसा लगता है कि इंगलैंड में ही इसका उद्भव हुआ है, किन्तु खोज करने पर पता चलता है कि यह कहावत अत्यन्त प्राचीन है। यह ईसा की चौथी शती पूर्व से भी पुरानी है और हो सकता है कि उससे भी पहले की हो, क्योंकि इस शती के अन्त में होनेवाले सेंट जेरोम ने इस लोकोक्ति का प्रयोग किया है। इसी प्रकार Liars should have good memories. इस लोकोक्ति का प्रयोग भी सेंट जेरोम की कृतियों में हुआ है। उसके भी पूर्ववर्ती एक लैटिन ग्रन्थ में यह लोकोक्ति उपलब्ध होती है[1]—यात्रा में अच्छी संगति

१. Oblitus veteris proverbii mendaces memores esse opoitere. ( महाराष्ट्र वाक्सम्प्रदाय-कोश, प्रस्तावना, पृष्ठ १६ )

गाड़ी के समान है[1]। इस लोकोक्ति का प्रयोग भी एक प्राचीन लैटिन ग्रन्थ में मिलता है (Quintillian Inst. 1. 4.)।

ग. साहित्यिक लेखक और कहावतें

अँगरेज कवि चासर, फ्रेंच ग्रन्थकार प्रातेन्य आदि ने अपनी कृतियों में लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। जगत्प्रसिद्ध नाट्यकार शेक्सपियर ने तो अपनी रचनाओं में ही कहावतों का प्रयोग नहीं किया, उसने तो अपने अनेक नाटकों के शीर्षक ही कहावतों के रूप में रखे। जैसे, All's well that ends well, Much nothing आदि।

रानी एलिजाबेथ, बादशाह जेम्स तथा चार्ल्स के समय में अमीर-उमराव, प्रसिद्ध व्यक्ति तथा प्रख्यात लेखक अपनी बातचीत तथा पत्र-व्यवहार में अपनी बनाई हुई तथा पूर्व प्रचलित कहावतों का प्रचुर प्रयोग करते थे। रानी एलिजाबेथ को स्वयं कहावतें गढ़ने का शौक था। अपनी बुद्धिमत्ता तथा प्रगल्भता के लिए उसका नाम लोक-विश्रुत है। प्रसिद्ध है कि एक बार सर वाल्टर रैले ने रानी के महल की खिड़की के ऊपर निम्नलिखित पंक्ति लिखी थी :

Feign would I rise, but that I fear to fall.

रानी ने जब उक्त पंक्ति को पढ़ा तो निम्नलिखित पंक्ति द्वारा इसकी पूर्ति कर दी :

If thy heart fail thee, do not rise at all.

पाश्चात्य कहावतों के इतिहास में रानी एलिजाबेथ के युग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। Drayton ने कहावत में एक चतुर्दशपदी ( Sonnet ) लिखी और पार्लियामेंट के एक सदस्य Thomas Jones ने तो एक बिल पर बहस के सिलसिले में अपनी पूरी वक्तृता ही कहावतों के रूप में दी।[2]

स्पेन के साहित्य में सर्वेंटिस और उसके प्रसिद्ध उपन्यास 'डान क्विक्जोट' को ऐतिहासिक महत्त्व प्राप्त है। इस उपन्यास के पाठक जानते हैं कि सैंकोपैंजा के मुख से किस प्रकार कहावतों पर कहावतें निकलती चलती हैं। इस ग्रंथकार ने तो भावान्तर के साथ Sancho Panza's Proverbs नाम से उनका एक स्वतंत्र संग्रह भी प्रकाशित करवाया है।

लैटिन कवि प्लाटस, फ्रांस के दो प्रसिद्ध लेखक राबेले व माग्टेन तथा फुलर ने ( जो कालरिज के मतानुसार वाग्वैदग्ध्य में अनुपम समझा जाता है ) कहावतों का जितना प्रचुर प्रयोग किया है, उससे पता चलता है कि साहित्यिक लेखकों ने भी कहावतों को

---

१. Good company on a journey is worth a couch.

२. Introduction P. XIV (The Oxford Dictionary of Englis proverbs compiled by W. G. Smith.)

कितना अपनाया है। इङ्गलैण्ड के कहावती साहित्य से जिसको पूर्ण परिचय नहीं, वह Hudibras का रसास्वादन नहीं कर सकता, क्योंकि उसमें जितने प्रसंग आते हैं, वे कहावतों के विना ज्ञान के समझ में नहीं आ सकते।[१]

सर वाल्टर स्काट ने भी स्थान-स्थान पर अपने उपन्यासों में लोकोक्तियों का प्रयोग किया है। Tales of my Landlord नामक कथा-संग्रह में उसने कहावतों का अत्यधिक प्रयोग किया है। इसी प्रकार अपने Talisman नामक उपन्यास में फकीर का वेश धारण किये हुए सालाडिन के मुख से पात्र की विशिष्टता के अनुरूप अनेक कहावतें कहलवाई गई हैं।

## घ. कहावतों के नाट्य प्रयोग

फ्रांस के राजा लुई १४ वें की राज-सभा में भी कहावतों का बड़ा आदर होता था। वहाँ कहावतों के आधार पर हास्य-नाटक, प्रहसन, नृत्य-नाट्य आदि की रचना हुआ करती थी। लोक-कथाओं की भाँति इन नाटकों में भी कहावतों का समावेश हुआ करता था। सन् १६५४ ई० में एक कहावतदर्शी नृत्य-नाट्य की सृष्टि की गई थी। इसमें ज्यों-ज्यों एक कहावत बोली जाती थी, त्यों-त्यों उसीके अनुरुप एक-एक नया प्रवेश दृष्टिगोचर होता था। उदाहरण के लिए एक फ्रेंच कहावत लीजिए—He threatens who is afraid. इस कहावत के अनुरूप दृश्य उपस्थित करने के लिए वीरम्मन्य कुछ लोग तथा दो-चार शान्त प्रकृति के गम्भीर नागरिक रंगमंच पर उपस्थित हो नृत्य-नाट्य प्रस्तुत करते थे। अन्त में, शान्त प्रकृति के नागरिकों द्वारा तथाकथित वीर खदेड़ दिये जाते थे।[२]

## ङ. निष्कर्ष

किन्तु, आगे चलकर कहावतों का महत्त्व घटने लगा। इसका एक कारण तो यह था कि जब विना दम की, क्षुद्र, सर्वसामान्य कहावतों का प्रयोग प्रचुरता से होने लगा, तो स्वभावतः ही उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई। इस प्रकार की कहावतों के Cross Answers तैयार होने लगे। उदाहरणार्थ दो कहावतें लीजिए :

1. More, the merrier.
2. Pride of the rich makes the labours of the poor.

इनके निम्नलिखित Cross Answers दिये गये हैं :

1. Not so hand is enough in a purse.
2. Not so; the labours of the poor make the pride of the rich.

---

१. Lessons in Proverbs by R. C. Trench P. 3-4.

२. चबराकियानुँ तत्त्वदर्शन, फिरोजशाह रुस्तमजी मेहता, पृ० १६५-१६६।

सन् १६१६ ई० में इस प्रकार के Cross Answers का एक संग्रह भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।[१]

१७ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तथा १८ वीं शताब्दी में कहावतें इतनी उपेक्षणीय समझी जाने लगीं कि लार्ड चेष्टरफील्ड को कहना पड़ा कि फैशनवाला व्यक्ति कहावतों और ग्राम्य सूक्तियों का कभी आश्रय नहीं लेता, किन्तु डिजरेली ने इसका प्रतिवाद उपस्थित करते हुए कहा कि लार्ड चेष्टरफील्ड को यदि कहावतों के इतिहास का ज्ञान होता तो वे ऐसी बात नहीं कहते।[१]

कहावतों के इतिहास से तो यह स्पष्ट है कि कहावतें ज्ञान और व्यावहारिक अनुभव की रश्मियाँ विकीर्ण करनेवाली ऐसी बहुमूल्य मणियाँ हैं, जिनका प्रकाश आज भी मन्द नहीं पड़ा है और जो अपने अन्तर्हित सत्य के बल पर अनन्त काल तक जगमग करती रहेंगी। अब तो जब से मानव-विज्ञान और लोक-वार्ता-शास्त्र का विशेष अध्ययन होने लगा है, तब से लोकोक्तियों के वैज्ञानिक अध्ययन का भी महत्त्व बढ़ा है।

---

१. डाक्टर सत्येन्द्र ने अपने 'ब्रजलोक-साहित्य का अध्ययन' पृष्ठ ५४१-५४२ में Cross Answers से मिलते-जुलते लोकोक्तियों के एक प्रकार 'गहगड्ड' का उल्लेख किया है। 'गहगड्ड' में सुख की भावना को 'मचै गहगड्ड' द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है। इसमें दो व्यक्तियों की उक्तियाँ रहती हैं। एक व्यक्ति सुझाव रखता है कि ऐसा हो तो 'गहगड्ड मचै' अर्थात् आनन्द आये, दूसरा उन सुझावों को अस्वीकार करता जाता है, जब तक कि उसकी रुचि का सुझाव न आ जाय।

एक सुझाव मानो यह रखा गया :

किनक कटोरा घ्यो घना, गुर बनिये को हट्ट।
तपूँ रसोई जैंऔ मुसाफिर जौं माचै गहगडड॥
नहीं गहगड्ड, नहीं गहगड्ड।

इसमें भोजन का उल्लेख है, फिर जल का सुझाव, तब शयन का, पर मुसाफिर 'नहीं गहगड्ड' ही कहता रहा।
अन्त में उसने कहा :

सेत फूल हरियाई डंडी और मिरचों के ठट्ट।
हम थोंटें तुम पियौ मुसाफिर यों मांचै गहगड्ड॥
मचै गहगडड, मचै गहगड्ड।

१. *Vide* Curiosities of Literature (The Philosophy of Proverbs by Disraelie)

# कवि कुसल सिंघ-कृत रामरत्नगीता

श्री परमानन्द पाण्डेय, एम्० ए०, बी० एल्०

हिन्दी-साहित्य की प्राप्त कृतियों के अतिरिक्त ऐसी बहुत-सी कृतियाँ भी हैं जो अब तक अंधकार में पड़ी हुई हैं, जिनका प्रकाश में लाकर उद्धार करना प्रत्येक हिन्दी-सेवी का कर्त्तव्य होता है। इधर कई शताब्दियों से भारत पर विदेशी शासन एवं विदेशी भाषा का प्रभुत्व रहा, जिससे राष्ट्रभाषा हिन्दी की अत्यधिक उपेक्षा हुई। फलस्वरूप, कितनी ही प्राचीन उत्कृष्ट कृतियाँ नष्ट हो गयीं जिनके लिए अब हम पश्चात्ताप के सिवा और कुछ नहीं कर सकते। अब भी बहुत सी प्राचीन पोथियाँ यत्र-तत्र अंधकार में पड़ी हुई हैं और अनेक नष्ट भी हो रही हैं।

अनेक सुकवि और उनकी रचनाएँ अभी तक हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों की दृष्टि से ओझल रही हैं। ऐसे ही अज्ञात कवियों में से एक कुसल सिंघ भी हैं, जिनकी प्राप्त रचना का संक्षिप्त विवरण देकर मैं हिन्दी-सेवियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ, ताकि इस दिशा में शोध-कार्य का सम्मिलित प्रयास हो सके।

सन् १९४९ ई० के सितम्बर मास में शाहाबाद-निवासी मेरे एक छात्र श्री लालमोहर सिंह द्वारा कुसल सिंघ-कृत रामरत्नगीता की हस्तलिखित प्राचीन पोथी मुझे प्राप्त हुई। इसके लिपिकार हैं कातीक राम और लिपि पुरानी कैथी है। इसके ६३ पत्र ( १२६ पृष्ठ ) हैं। समग्र रचना दोहा-चौपाइयों में है। प्रारम्भ में गणेश, सरस्वती, भवानी एवं राम का स्मरण कर कवि ने गुरु की वंदना की है :

> "पहिले गुरु कह गाइए जिन्ह गुरु रचा जहान।
> पानी से जिन्ह पींड रचा अलख पुरुख निरबान॥
> गुरु समान दाता नहीं जाचक सीख समान।
> पानी से तीनि लोक संप्रदा सो गुरु दीन्हेउ दान॥"

पुनः अर्जुन द्वारा किये गये विविध प्रश्नों के उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण ने दिये हैं, जिनका वर्णन कवि ने अपने गुरु की कृपा से किया है :

> "श्री क्रीस्न रस अम्रित बानी। गुरु परसाद कछु कहौं बखानी॥"

प्रथम दो अध्यायों में भक्तों को सर्वश्रेष्ठ जीव कह कर उनके गुणों तथा भगवान् की भक्तवत्सलता का वर्णन किया गया है। श्री कृष्ण ने स्वयं कहा कि मैं सदा भक्तों के साथ रह कर उनकी रक्षा करता हूँ :

> "सुन अरजुन तै मन चित लाई। यह संसै तोहि कहौं बुझाई॥
> सदा रहौं भगतन्ह कर संगा। भगत मोर प्रान सम अंगा॥
> निस दिन रहौं भगत के साथा। संख चक्र गदा लिए हाथा॥
> भगत के घर सदा मोर बासा। हिरदै बैठि करौ परगासा॥"

नाम-भजन भक्ति का प्रधान अंग है और इसी के प्रताप से भक्त भगवान् को पा लेता है तथा भगवान् भी भक्त का संग नहीं छोड़ सकते :

मोर भगत मोहि चित धरे नाम जपत दिन रात।
तेहि ते सुनहु अरजुन, छाड़ि सकौं नहि साथ॥"

भगवान् भक्त को इकलौते पुत्र की तरह मानते हैं :

"आपन मन निश्चै के लेखौ। जैसे पिता पुत्र कह देखौ॥
जेहि के घर एके सुत होई। विपती परै छाड़े ना सोई॥"

तीसरे एवं चौथे अध्यायों में ज्ञानगुरु-महिमा का विस्तृत वर्णन है। गुरु के प्रति अटूट श्रद्धा-भक्ति प्रकट की गई है। गुरु को सर्वस्व माना गया है। गुरु की दया पर ही सब कुछ निर्भर है। गुरु और विष्णु में कोई अन्तर नहीं :

"गुरु विस्नु विस्नु गुरु आही। इन्ह महं कछु अन्तर सो नाही॥"

विना गुरु के ज्ञान नहीं हो सकता। गुरु की कृपा से ही सब कुछ जाना जा सकता है। विना गुरु के पानी पीना भी मना है :

"निगुरा कर पानी पिये जोई। सुरा पिये तो मुक्ती न होई॥"

एक दोहे में कवि ने अपने और गुरु के नामों का उल्लेख किया है, कवि के गुरु जगन्नाथ हैं :

"जगन्नाथ गुरु देव है जिनकर अग्या कीन्ह।
तेहि के चरन रेनु किये कुसल सिंघ सिर लीन्ह॥" ( पत्र १५ )

इसके अतिरिक्त और तीन स्थलों पर कवि का नाम मिलता है :

"कुसल सिंघ भगतन प्र दासा। प्रभु के चरन रेनु की आसा॥" ( प० १५ )
श्री क्रीस्न अरजुन मिली गुष्ठ कीन्ह एक ठाम।
सोभा तिन कर भाखेउ पतित कुसल सिंघ नाम॥
भाखा कीन्ह कुसलसिंघ नामा। क्रीपा दे गुरु सीता रामा॥"

इसके अतिरिक्त कवि ने और कुछ परिचय नहीं दिया है। अपने सम्बन्ध में कहा है :

"वेद पुरान पढे कुछ नाही। जोग ध्यान ना कर मन माही॥
मै वपुरा पसु आहै अग्याना। वरन विचार कछु ना जाना॥
एक सारदा इच्छा दीन्हा। गुन गाय तव अमर पद चीन्हा॥

इसका तात्पर्य यह नहीं कि कवि पढ़ा-लिखा न था। यह तो भक्तों का सहज स्वभाव है कि वे आत्म-प्रशंसा नहीं करते। यह कवि की विनम्रता है। तुलसीदास जैसे प्रकाण्ड विद्वान् ने भी मानस में ऐसा ही निवेदन किया है :

"कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहौं लिखि कागद कोरे॥"

रामरत्नगीता में वर्णित अट्ठारह पुराणों की श्लोक-संख्या तथा व्यास-जन्म-कथा से ही ज्ञात होता है कि कवि कुसल सिंघ संस्कृत के ज्ञाता थे तथा उन्हें शास्त्र-पुराणों का अध्ययन भी था।

कवि के कथनानुसार रामरत्नगीता की रचना इस प्रकार हुई—एक बार कवि मूर्च्छित हो भूमि पर गिर पड़ा और उसे नींद आ गई। स्वप्न में उसे गुरु ने दर्शन दिये। उसने गुरु की विधिवत् पूजा की। फिर, गुरु ने उसे गीता-ज्ञान का उपदेश किया, जिसे कवि ने प्रस्तुत रामरत्नगीता के रूप में भाषाबद्ध किया :

"गीता ग्यान हृदय परगासा॥
रोम-रोम पुलकित भये काया।
भए ग्यान कछु गुरु की दाया॥
गुरू की अग्या कीन्हेउ गीता ग्यान अपार।
सभ ग्रोथा करि जानेउ, एक नाम सवसार॥"

पाँचवें अध्याय में ऋण, ऋण-शोध तथा ऋण नहीं चुकाने पर पाप आदि का वर्णन बड़े ही मनोरंजक ढंग से किया गया है। ऋणी की टाल-मटोल की प्रवृत्ति का चित्रण इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है :

"साहु के आवत देखे जवही। रहत छपाय वेमुख हो तवही॥
साहु के आवत देखे आगे। दृष्टि छपाय दूरिते भागे॥"

आवश्यकता पड़ने पर ऋण लिया जा सकता है। ऋण-द्रव्य का सदुपयोग करनेवाला पापी नहीं है—'दुरुपयोग करनेवाला पापी है और वह यम के बंधन में पड़ता है।

शेष अध्यायों में धर्म-कर्म, चाण्डालकर्म, दान का महत्त्व, आसन और माला-जप की विधि एवं अस्पृश्यता आदि का वर्णन है। एक स्थल पर पाँच प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा 'पंचरत्न' के नाम से की गयी है। 'नासिका-पवन-विचार' के बाद अट्ठारह पुराणों की चर्चा में प्रत्येक के श्लोकों की संख्या दी गयी है। अन्त में वेद-व्यास के जन्म तथा गजमोक्ष की कथाएँ कही गयी हैं। पुनः माहात्म्य-कथन के बाद पोथी समाप्त हुई।

रामरत्नगीता की विशेषता यह है कि प्रारम्भ देखने से प्रतीत होता है कि यह एक निरगुनिया संत की रचना है। यथा :

दोहा—हम वासी वहि देश के जहाँ जाति कुल नाहि।
सबद मिलानी होत है देह मिलावै नाहि॥"

पुनः चार दोहों के बाद की पंक्तियाँ कहती हैं कि कवि कृष्ण मतावलम्बी है :

"श्री गोविन्द के चरन मनावौं। जेहि प्रसाद गोविन्द गुन गावौं॥"
"दोहा—तीन लोक के ठाकुर दीन बंधु नंदलाल।
विनती करौं अधीन होय, भाखो वचन रसाल।"

कवि प्रयुक्त राम शब्द भी 'कृष्ण' का ही बोधक है। गोविन्द अर्जुन से कहते हैं :

"राम नाम जो सुमिरन करई। भव सागर सो छनतह तरई॥
मोर नाम भजे चितलाई। धरम अरथ वियाफल पाई॥"

इस प्रकार इसमें निर्गुण-सगुण और रामभक्ति-कृष्णभक्ति का एक विचित्र समन्वय दीखता है।

दूसरी विशेषता यह कि उक्त रचना में धार्मिक, लौकिक और सामाजिक आचार-विचार-व्यवस्था के सामंजस्य में नागर एवं ग्राम्य साहित्य का अद्‌भुत संयोग दीख पड़ता है जो निम्नांकित उदाहरणों से स्पष्ट होगा—

कुश और कम्बल के आसन श्रेष्ठ माने गये हैं। यथा :

"कुश के आसन ध्यान लगावै। ग्यानी होय मुकुति गति पावै।
कम्बल आसन जपै जो कोई। नेम धरम विद्याफल होई॥"

इसी प्रकार जप के लिए तुलसी की माला सर्वश्रेष्ठ है। तुलसी की माला द्वारा जप करने का फल अकथनीय है—

"तुलसी माला जो फल पावै। सो अरजुन मोहि कहत न आवै।"

समाज में निषिद्ध और नीच कर्म करनेवाले व्यक्ति चाण्डाल और उनके कम चाण्डाल-कर्म कहाते हैं। कवि के विचार से ये व्यक्ति चाण्डाल हैं :

(१)

"जाकर मात पिता बृध होई। सेवा करै पुत्र नहि सोई॥
तिन्ह कर जन्म अकारथ जाना। सो अरजुन चण्डाल बखाना॥"

(२)

बाछा गाय बिछोह करावै। सो प्रानी चण्डाल कहावै॥

(३)

पानी पियत गाय खेंदावै। सो प्रानी चण्डाल कहावै॥

(४)

विना दाँतवन भोजन खाई। सो प्रानी चण्डाल कहाई॥

(५)

सो प्रानी चण्डाल कहावै। करि असनान जो तेल लगावै।"

इसके अतिरिक्त वन में आग लगानेवाला व्यक्ति, कर्महीन ब्राह्मण आदि तो चाण्डाल कहे ही गये, लेकिन पक्षियों में काग, पशुओं में गधा और वृक्षों में ताड़ भी चाण्डाल माना गया है।

पंचरत्न में विशिष्ट गुणों से अन्वित समाज के पाँच प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा बड़ी ही सुन्दर बन पड़ी है। इन पाँच प्रकार के व्यक्तियों में उत्तम मानव-गुणों की स्थापना की गई है। ये हैं—आदर्श राजा, निश्छल-निश्चल मनवाली प्रतिव्रता, परोपकार एवं सेवा-सत्कार की भावनाओं से भरा आदर्श, गृहस्थ, युद्ध में धीरता धारण करनेवाला सैनिक और भगवान् का भक्त। प्रथम रत्न (आदर्श राजा) के सम्बन्ध में कवि का विचार है :

"ठाकुर होए सम कह सुख देई। दुख-कष्ट अपने सिर लेई॥
संकट परै प्रजा प्रतिपारै। विपति परे तो सत ना हारै॥
मीठ वचन सो सभ दिन भाखी। दाया धरम हृदय में राखी॥
उतीम नारी गाँव मह देखै। जस कन्या अपने करि लेखै॥
दण्ड बाध विनु दुख ना देई। पाप के द्रव कैसहु ना लेई॥
एह लछन कर ठाकुर, भगती भाव कछु जान।
एक रतन सुनु अरजुन, सत्य कहै भगवान॥"

यों तो भक्त एक अलग रत्न ही माना गया है, किन्तु शेष चारो रत्नों में भी भगवान् की भक्ति का रहना आवश्यक है।

हाँ, इतना तो जरूर है कि भक्त सर्वश्रेष्ठ रत्न है; तभी तो इसके गुण अकथनीय हैं। भगवान् ने अर्जुन से केवल इतना ही कहा :

"एक रतन भगत मोर आही। जो तुम्ह जानहु मनमाही॥
तेहि कर का मैं करौं वखाना। सुनि अरजुन कर मन पतियाना॥"

भक्त कवि ने नारी की उपेक्षा नहीं की। पाँच रत्नों में उसका भी एक स्थान सुरक्षित कर लिया। लेकिन वह नारीरत्न कैसी हो ? कवि के शब्दों में देखिए :

"जो तिरिया नीचल मन होई। धरम करम चित राखै सोई॥
नीत करै सामी कर पूजा। और पुरुष नहिं जानै दूजा॥
मात पिता सामी हित होई। आपन करि कै जानै सोई॥
और लोग कुटुम करी जाना। तेहि विधि आपु करै सनमाना॥
भीछुक आय निरास न जाई। जो कछु जुरै देय पहुँचाई॥
ब्राभन गाय देव सम लेखै। भगतहि देखि विस्नु सम देखै॥
दोहा—एहि लछन कर भामिनी, सुनु अरजुन चित लाइ।
एक रतन सो जगत में, सत कहे जदुराइ॥"

पोथी में रचनाकाल एवं कवि-परिचय का उल्लेख नहीं है। यह रचना भक्तिकाल की प्रतीत होती है। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने रामानन्द, कबीर, मीरा तथा पीपादास के नाम बड़े आदर से लिये हैं :

"रामानन्द कवीर गुसाई। इन कर महिमा कहा न जाई॥
पीपा भगती और मीरा बाई। उन्हकी हरी भली वन आई॥
दोहा—जो जो भगत भये कलिमह, कहा लै करौ सुमार।
सभ की आस पुराइन्ह, जदुपति नंदकुमार॥"

इससे स्पष्ट है कि कुशल सिंध उपर्युक्त कवियों के बाद ही हुए हैं। भविष्य में इनकी अथवा इनके गुरु जगन्नाथ की रचनाएँ प्राप्त होने पर इनका काल-निर्धारण सम्भव होगा।

वस्तुतः उक्त रचना साहित्यिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। ऐसा मालूम पड़ता है कि जनसाधारण के लिए ही रामरत्नगीता की रचना हुई। कुशल सिंघ उच्चकोटि के भक्त थे और सामाजिक सुव्यवस्था पर भी उनकी आस्था थी। अपने भावों को बड़े ही सरल ढंग से अति सरल भाषा में व्यक्त किया है। काव्य-चमत्कार दिखाने का प्रयास कहीं भी नहीं किया गया है।

लिपि कैथी होने के कारण शब्दों के रूप यत्र-तत्र बदल गये हैं। ह्रस्व इकार के स्थान पर दीर्घ ईकार और 'य' के स्थान पर 'ए' लिखा गया है। कैथी में ऋकार भी नहीं होता, इसलिए 'कृष्ण' को 'क्रीस्न' लिखा गया है।

इसी प्रकार की एक रचना 'अर्जुनगीता' के नाम से गर्ग एण्ड कं० (देहली) से प्रकाशित हुई है। दोनों का विषय एक होने पर भी दोनों में महान् अन्तर है। बहुत से दोहे और चौपाइयाँ उक्त अर्जुनगीता में नहीं हैं और जो हैं, बहुत ही परिवर्त्तित एवं विकृत रूप में। उक्त प्रकाशन की कोई साहित्यिक प्रामाणिकता भी नहीं है। अनुमानतः साहित्यिकों की दृष्टि न पड़ने के कारण यह उत्तरोत्तर विकृत होती गई। विषय-विन्यास जनसाधारण के अधिक रुचिकर होने के कारण इसके अनेक लिपिकार हुए होंगे। विकृति का यह भी एक प्रमुख कारण हो सकता है।

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) द्वारा हस्तलिखित पोथियों का विवरण १९५४ ई० में प्रकाशित किया गया है। जिसमें रामरत्नगीता का उल्लेख है। उक्त विवरण में 'विनती करौ अधीन होय, दीनबन्धु नन्दलाल' के आधार पर 'नन्दलाल कवि' इसका रचयिता कहा गया है। लिपिकार हैं जुगेश्वर लाल। किन्तु, प्रस्तुत पोथी में, जिसके लिपिकार कानीक राम हैं, चार स्थलों पर कुशल सिंघ का नाम आया है और एक स्थल पर कवि ने अपने गुरु का भी नाम लिया है। अतः रामरत्नगीता के रचयिता 'नन्दलाल' न होकर कुशल सिंघ ही हैं, इसमें जरा भी संदेह नहीं। 'नन्दलाल' यहाँ श्रीकृष्ण के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विवरण में लिखा गया है कि ग्रन्थकार का नाम आदि या अंत में नहीं है। किन्तु, इसी में रामरत्नगीता की कुछ अन्त की पंक्तियाँ भी उद्धृत की गयी हैं, जिनमें कवि का नाम स्पष्ट है। पंक्तियाँ इस प्रकार हैं :

"सीरी कीरीसन आरजुन मिले, गुष्ट कीन्ह एक ठाव।
से भगवन्त हीत भाखेउ, कुशलसीघ पए हान समारन॥"

प्रस्तुत पोथी में यह दोहा इस प्रकार है :

"श्री क्रीस्न अरजुन मिली, गुष्ठ कीन्ह एक ठाँव।
सोभा तिनकर भाखेउ, पतित कुशलसिंघ नाँउ॥"

आशा है, उक्त विवरण के दूसरे संस्करण में इस प्रकार के आवश्यक संशोधन पर ध्यान दिया जायगा।

# अन्तःस्थ य् और व्

श्री गोविन्द झा

अन्तःस्थ य् और व् ऐसे वर्ण हैं, जिन्हें लेकर अति प्राचीन काल से ही विवाद चलता आया है। क्षेत्र की व्यापकता और काल की सुदीर्घता के कारण यह विवाद महत्त्वपूर्ण भी है और मनोरञ्जक भी। यहाँ मैं संक्षेप में इस विवाद के इतिहास और तर्कों का वर्णन करूँगा।

य् और व् दोनों अन्तःस्थ (Euphonic) हैं। 'अन्तःस्थ' का अर्थ है, बीच में (अन्तर्) रहनेवाला (स्थ)। तात्पर्य यह है कि जब किसी पद में एक स्वर के ठीक बाद दूसरा स्वर आता है, तो इन दोनों स्वरों के बीच य् या व्, उच्चारण की सुविधा के लिए, स्वतः आ जाता है; जैसे आई=आयी, दिआ=दिया, रेडिओ=रेडियो, हुआ=हुवा, कौआ=कौवा इत्यादि। उच्चारण का यह नियम लैटिन, संस्कृत, ग्रीक आदि अनेक प्राचीन मूल भाषाओं से ही चलता आ रहा है

विवाद यह है कि इन अन्तःस्थ य् और व् को लिपि द्वारा भी व्यक्त करें (जैसे, किआ के स्थान पर किया, पाआ के स्थान पाया इत्यादि), या उच्चारण का स्वाभाविक विकार समझ कर लिपिबद्ध न करें (जैसे, आई न कि आयी, हुआ न कि हुवा इत्यादि)।

संस्कृत में यह विवाद पाणिनि के भी पहले से चलता आ रहा है। शाकल्य अन्तःस्थ लिखने के पक्ष में थे और अन्य आचार्य इसके विपक्ष में।[1] शाकल्य के अनुसार 'हरे इहागच्छ' का सन्धिबद्ध रूप 'हर इहागच्छ' होता है, किन्तु अन्य वैयाकरणों के अनुसार 'हरयिहागच्छ'। यद्यपि पाणिनि ने दोनों मतों को शुद्ध माना है, तथापि ऐसे स्थलों में अन्तःस्थों का न लिखा जाना ही प्रचलित है। परन्तु, संस्कृत में एक पद में लगातार दो स्वर कहीं भी नहीं देखे जाते।[2] जब कभी लेख में या उच्चारण में ऐसी स्थिति आती है तब या तो बीच में अन्तःस्थ आ जाता है या दोनों स्वर मिलकर एक हो जाते हैं[3]। वैदिक भाषा में तो ऐसे अन्तःस्थों की संख्या और भी अधिक है।

प्राकृत और पालि के समय में धीरे-धीरे मध्यवर्ती व्यञ्जनों के लोप की परम्परा चली। जैसे, कनक से कणअ, मदन से मअण इत्यादि। फलतः लगातार दो स्वरों के आने की संभावना बढ़ती गई और अन्तःस्थ य् और व् के आने के अवसर भी अधिक होते गये। प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों में अन्तःस्थ य् और व् लिखने की प्रथा एकदम न थी। किन्तु, परवर्त्ती ग्रन्थों में बहुधा य् और व् लगा हुआ लेख भी देखने में आता है। इतना तो निर्विवाद है कि प्राकृत में, लेख में, चाहे अन्तःपाती य् और व् लगाया जाय या नहीं, किन्तु

---

१. दे० पा० व्याकरण ८।३।१९ लोपः शाकल्यस्य।

२. इसका एकमात्र पद अपवाद है 'तितउ' (चलनी)।

३. दे० पा० व्या० ६।१।७७, ७८, ६।४।७७, ६।१।१०१, ६।१।९७ आदि।

उच्चारण में य् और व् का श्रवण अवश्य होता था। इसीलिए, प्राकृत के वैयाकरणों ने अन्तःस्थ य् और व् के आने का नियम, जिसे लोग यश्रुति और वश्रुति कहते हैं, अपने व्याकरणों में दिया है[1] इन नियमों को देखकर बहुतेरे प्राकृत-विद्वान् लेख में भी अन्तःस्थ लगाने लगे; खासकर पालि भाषा में, जो लोक-प्रवृत्ति का अधिक अनुसरण करती है, लोक में प्रचलित उच्चारण के अनुसार य् और व् लगाये गये। फिर भी, अधिकांश विद्वान् अन्तःस्थश्रुति को लिखने के विपक्ष में ही रहे। प्राकृत और पालि के लेख में आज तक यह मतभेद चलता आया है। एक ही वाक्य को कोई इस प्रकार लिखेगा :

तदो ताए ईसिअ बिहसिअ भणिअं।

तो कोई इस प्रकार—

तदो ताये ईसिय बिहसिय भणियं।

इस मतभेद का ज्वलन्त उदाहरण है बम्बई संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हेमचन्द्रकृत 'देशीनाममाला'। इसके प्रथम संस्करण के सम्पादक डा० आर० पिशेल ने, हस्तलेख की कुछ भी परवाह न कर सम्पूर्ण ग्रन्थ में एकरूपतापूर्वक अन्तःस्थश्रुति का समावेश किया है। इसी के द्वितीय संस्करण के सम्पादक श्री पी० वी० रामानुजस्वामी ने सभी अन्तःस्थों को हटा-हटाकर सम्पूर्ण कोष को पुनः पूर्ववत् हस्तलेखानुसार बना डाला है!

अपभ्रंश भाषा के समय भाषा-सम्बन्धी सभी नियमों में बड़ी शिथिलता आ गई थी, इसलिए अन्तःस्थश्रुति के विषय में भी कोई खास विवाद खड़ा नहीं हुआ। फिर भी कई हस्तलेखों में अन्तःस्थश्रुति का पूर्णतः अभाव देखा जाता हैं, जैसे महाकवि विद्यापति की कीर्तिलता आदि में, जब कि अनेक अन्य हस्तलेखों में अन्तःस्थश्रुति कहीं-कहीं पाई जाती है, जैसे प्राकृत पैङ्गल आदि में।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के मध्य हिन्दी की अन्तःस्थश्रुति का विवाद भी कुछ कम जटिल नहीं है। कोई तो नई को काटकर नयी बना देता है, और कोई स्थायी के बदले भी स्थाई ही शुद्ध समझता है; एक कौआ लिखता है तो दूसरा कौवा; कोई हुआ तो कोई हुवा। बहुधा ऐसा ही देखा जाता है कि एक ही लेखक कहीं अन्तःस्थश्रुति सहित लिखता है तो कहीं तद्रहित। कहीं-कहीं यह भी विवाद उठता है कि यश्रुति हो वा वश्रुति। इन मतभेदों के कारण हिन्दी में अनेक शब्द चार-चार, पाँच-पाँच रूपों में प्रचलित हैं। यथा :

(१) कहलाएगा (अन्तःस्थश्रुतिरहित दीर्घ ए वाला)।
(२) कहलाएगा (अन्तःस्थश्रुतिरहित ह्रस्व ए वाला)।
(३) कहलायगा (ह्रस्व ए के बदले य वाला)।

---

१. दे० हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण ८।१।१८०; मार्कण्डेय का प्राकृत व्याकरण २।२; प्राकृत प्रकाश ११।५; प्राकृत सर्वस्व ६।२७ इत्यादि।

( ४ ) कहलायेगा (यश्रुतिसहित दीर्घ ए वाला)।
( ५ ) कहलावेगा (वश्रुतिसहित दीर्घ ए वाला)।

इस प्रकार की मतभेदजन्य रूपभिन्नता भाषा के नौसिखुओं को बड़ी उलझन में डालती है।

अन्यान्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में भी कुछ-न-कुछ मात्रा में यह मतद्वैध पाया जाता है। इनमें से अधिकांश भाषाओं की प्रवृत्ति अन्तःस्थश्रुति के पक्ष में है, जैसे बँगला, आसामी इत्यादि। फिर भी, कुछ भाषाओं में अन्तःस्थश्रुति न लिखने की ही प्रवृत्ति है, जैसे मैथिली, नेपाली आदि में।

विवाद के इस संक्षिप्त इतिहास के बाद अब मैं अन्तःस्थश्रुति के पक्ष और विपक्ष में, हिन्दी भाषा का विशेष निर्देश करते हुए, तर्क और अपना निर्णय उपस्थित करता हूँ। भाषा के क्रमिक विकास पर ध्यान देने से यह लक्षित होता है कि उच्चारण में शीघ्रता और असावधानी के कारण पदों में कुछ वर्ण दुर्बल होने लगे, या यों कहिए कि उनके उच्चारण पर कम जोर दिया जाने लगा। फलतः वे वर्ण धीरे-धीरे पदों से लुप्त होते गए, जिससे वचन आदि शब्द बअण आदि की भाँति उच्चरित होने लगे। इस स्थिति में, कुछ समय तक, अन्तःस्थश्रुति का समावेश नहीं हुआ था, क्योंकि यदि ऐसा होता, तो वैयाकरण दुर्बल व्यञ्जनों के लोप का विधान न कर उनके स्थान पर य् का अथवा व् का विधान ही करते। बाद में अन्तःस्थश्रुति आ पड़ी, किन्तु लेख में फिर भी परम्परानुसार अन्तःस्थश्रुतिरहित रूप ही प्रचलित रहे। लेख में अन्तःस्थश्रुति का प्रयोग बहुत ही परवर्त्ती काल में, लगभग ग्यारहवीं शताब्दी के बाद से, चला। तब से लोगों की प्रवृत्ति अन्तःस्थश्रुति की ओर हुई, किन्तु शास्त्रीय लेख-परम्परा के अनुगामी विद्वान् आज तक अन्तःस्थश्रुति लिखने के पक्ष में नहीं आये हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस विवाद के मूल में दो तत्त्वों का तनाव काम कर रहा है—एक परम्परा का, और दूसरा, लोक-प्रवृत्ति का। परम्परा के आधार पर अन्तःस्थश्रुति का खण्डन किया जाता है और लोक-प्रवृत्ति के बल से मण्डन।

आज हिन्दी में अन्तःस्थश्रुति अपनाई जाय या नहीं, इसके सम्बन्ध में भाषाशास्त्रीय तर्क करने के पूर्व, यह कहना आवश्यक है कि मनुष्य भाषा के विषय में अत्यन्त अन्धानुकारी और कट्टर होता है। आज यदि तर्क से यह सिद्ध कर दिया जाय कि किया के बदले किआ लिखना शुद्ध है तो अधिक लोग मानने को तैयार न होंगे, क्योंकि वे बहुत दिनों से किया ही लिखते आये हैं। इसी प्रकार, यदि मैं अन्तःस्थश्रुति के पक्ष को ही मानकर, हुवा को ही शुद्ध और हुआ को गलत कह दूँ, तो भी बहुत से लोग क्रुद्ध हो उठेंगे और केवल इस कारण कि वे बहुत दिनों से हुआ लिखते आये हैं। तात्पर्य यह है कि भाषा के क्षेत्र में रूढ़ि या परम्परा तर्क से प्रबल प्रमाण है। इस दृष्टि से विचार करने पर अन्तःस्थश्रुति को सर्वत्र रखना ही उचित जान पड़ता है। आजकल हिन्दी में ऐसे उदाहरण नहीं के बराबर मिलते हैं जहाँ अन्तःस्थश्रुति लगाकर लिखने की प्रथा एकदम न हो; इसके विपरीत, ऐसे उदाहरण असंख्य हैं जहाँ बिना अन्तःस्थश्रुति के लिखने की प्रथा एकदम नहीं है, जैसे क्रिया न कि क्रिआ,

पाया न कि पाआ, तैयार न कि तैआर इत्यादि। इससे प्रकट होता है कि वर्त्तमान हिन्दी-भाषी समाज की प्रवृत्ति अन्तःस्थश्रुति लिखने के पक्ष में है।

यद्यपि भाषाशास्त्र के अन्य सारे नियम, य् और व् दोनों के विषय में, समान रूप से लगते हैं, तथापि आश्चर्य की बात है, हिन्दी में यश्रुति की ओर प्रवृत्ति रहते हुए भी, वश्रुति की ओर बहुत कम प्रवृत्ति है। फलतः हुवा, पावेगा, आवो, दुवा इत्यादि रूपों के स्थान पर क्रमशः हुआ, पाएगा, आओ, दुआ इत्यादि रूप ही चलने लगे हैं।

लोक-प्रवृत्ति के अलावा अन्तःस्थश्रुति के पक्ष में यह भी युक्ति है कि लिपि और उच्चारण में जितना अधिक सामीप्य हो उतना ही अच्छा। लोगों के उच्चारण में अन्तःस्थ-श्रुति बहुत दिनों से है, जैसा कि प्राचीन व्याकरणों में अन्तःस्थ श्रुति के विधान से प्रकट होता है, इसलिए लेख में भी उसका रहना उचित है।

इन्हीं तर्कों के आधार पर पहले मैं अन्तःस्थश्रुति को लिखने के पक्ष में था, किन्तु बाद में जब मुझे एक डाकघर में अशिक्षितों की चिट्ठियाँ पढ़ने का मौका मिला तो मेरा विचार बदल गया। आधुनिक प्रचलित भाषा के रूप से अप्रभावित लोगों के लेख में मुझे अन्तःस्थश्रुति बहुत कम मिली, जैसे किया के स्थान कीआ, पाया के स्थान पाआ, विवाह के स्थान बिआह आदि। एक दिन मैंने अपनी छह वर्ष की पुत्री को, जो हिन्दी नहीं जानती, श्रुतिलेख के सिलसिले में हिन्दी के कुछ वाक्य लिखाये। यह देखकर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसके लेख में एक भी अन्तःस्थश्रुति न थी। इन प्रयोगों के आधार पर मेरी यह धारणा हो गई कि अन्तःस्थश्रुतिसहित लिखने की प्रवृत्ति अभिज्ञताजन्य है, और तद्रहित लिखने की प्रवृत्ति ही सहज है। अतः मानव की सहज प्रवृत्ति को ही प्रश्रय देना श्रेयस्कर है।

अन्तःस्थ श्रुति लिखने के पक्ष में यह जो युक्ति दी जाती है कि उच्चारण और लेख में समता हो, इसके प्रसङ्ग में मुझे कहना है कि उच्चारण की जितनी बारीकियाँ हैं उनका तब तक बहुत ही कम भाग लेख द्वारा व्यक्त किया जाता है जब तक भाषावैज्ञानिक ध्वनि-लिपि का अवलम्ब न लिया जाय। उच्चारण-लेख-समता के नाम पर भाषा में अनेकानेक अनावश्यक वर्ण समाविष्ट करना न होगा। उच्चारण में भी अधिक स्थानों में अन्तःस्थश्रुति वैकल्पिक ही है; क्योंकि ध्वनिशास्त्रीय अवेक्षण से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि गीतों में तथा स्थिर और स्पष्ट उच्चारणों में अन्तःस्थ श्रुति नहीं पाई जाती। भाषा-विज्ञान के अनुसार अन्तःस्थ श्रुति उच्चारण का एक विकार है, जो सम्भ्रान्त उच्चारण में नहीं पाया जाता। इस पक्ष में सबसे प्रबल और व्यावहारिक युक्ति यह है कि अन्तःस्थ श्रुति न लिखने से छपाई आदि में बहुत बड़ा लाघव हो जाता है, जो आज के युग में विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण बात है।

इस पक्ष के विरोध में एक तर्क यह दिया जाता है कि एकवचन में गया, आया इत्यादि रूपों में अन्तःस्थ श्रुति सर्वसम्मत भी है और अनिवार्य भी; अत एकरूपता के लिए इन रूपों के बहुवचन रूपों में भी अन्तःस्थ श्रुति रहे ही। इस तर्क का समाधान यह है कि

गया, आया इत्यादि रूपों में अनिवार्य यश्रुति प्राकृतिक ( रेग्युलर ) नहीं है, अपितु वैकृतिक (इर्रेग्युलर) है, क्योंकि गए, आए इत्यादि रूपों में यश्रुति नहीं भी पाई जाती है। यह यश्रुति यहाँ इस लिए अनिवार्य हो जाती है कि दो समान स्वरों का निरन्तर उच्चारण प्रायः किसी भी भाषा में नहीं होता [1], इसीलिए जहाँ-जहाँ 'अ' या 'आ' के बाद 'आ' के आने का प्रसङ्ग होता है, वहाँ-वहाँ यश्रुति अनिवार्य हो जाती है। इसी प्रकार जहाँ 'इ' के बाद 'ई' के आ जाने का अवसर आता है, वहाँ दोनों मिलकर एक ई हो जाती है, जैसे दि+ई=दी, लि+ई=ली इत्यादि। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यश्रुति को नहीं लिखने के नियम में गया, पाया इत्यादि रूप अपवाद होंगे।

यह हो सकता है कि गया आदि रूपों को अपवाद कह करके टाल दिया जाय, किन्तु इस पक्ष में किया, लिया इत्यादि रूपों को अशुद्ध मानना होगा, जब कि ये रूप, और ये ही रूप, सर्व-सम्मत हैं; किया, लिया इत्यादि रूप तो कहीं नहीं चलते। यदि लोक-प्रवृत्ति का कुछ भी खयाल न कर, शुष्क भाषावैज्ञानिक तर्क का आश्रय लिया जाय, तो यह मानना होगा कि अगर हुआ, दुआ, पूआ इत्यादि रूप भी अवश्य शुद्ध हैं तो दिआ, किआ इत्यादि रूप भी अवश्य शुद्ध हैं। हिन्दी-भाषियों के उच्चारण के अवेक्षण से भी यह सिद्ध होता है कि 'दिआ' आदि शब्द अन्तःस्थश्रुतिरहित भी बहुधा सुनाई देते हैं। अतः केवल इसी आधार पर लिखने की परम्परा नहीं है, दिआ आदि रूपों को अशुद्ध मान लेना उचित नहीं जान पड़ता।

---

१. दे० पाणिनीय व्याकरणसूत्र, अकः सवर्णे दीर्घः ६।१।१०१, अतो गुणे ६।१।९६ आदि।

# भारतीय पञ्चाङ्ग

डा० देवसहाय त्रिवेद, एम्० ए०, पी-एच्० डी०

भारतवर्ष एक महान् देश है, जहाँ विभिन्न तिथिक्रमों का प्रयोग होता है। इस देश में कम-से-कम विभिन्न २० संवत्सरों का प्रयोग होता है। विक्रम संवत् का प्रयोग प्रायेण उत्तरापथ या नर्मदा नदी के उत्तर होता है। यह चान्द्र-सौर वर्ष है। इसका आरम्भ चैत्रमास से होता है और यह पूर्णिमान्त मास है। गुजरात और काठियावाड़ में इसका वर्ष कार्तिक मास से आरम्भ होता है और इसके मास अमावस्या को समाप्त हो जाते हैं।

दक्षिण-भारत में शकसंवत् का प्रयोग होता है जिसके मास चैत्र से आरम्भ होते हैं और अमावस्या को मास समाप्त होते हैं। दक्षिण-भारत में वर्ष के साथ संवत्सर का नाम भी लिखा जाता है।

भारतवर्ष में अनेक पंचांग प्रचलित हैं। विभिन्न प्रान्तों के विभिन्न पंचांग हैं। इन्हें पञ्चांग इसलिए कहते हैं कि इनमें समय के पाँच प्रमुख अंग वार, तिथि, नक्षत्र, योग और करण का उल्लेख रहता है।

भारत ज्यौतिषकार प्रायेण सूर्य और चन्द्र की गतियों के विषय में एकमत हैं और इनके आधार तीन सिद्धान्त-ग्रन्थ हैं। यथा—सूर्य-सिद्धान्त, आर्यभटीय तथा ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त। आधुनिक पंचांगों की रचना प्रायेण करण ग्रन्थों के आधार पर होती है, जिनके कारण गणना सिद्धान्तों की अपेक्षा सुगमता से हो जाती है। ग्रहलाघव, बृहत्तिथिचिन्तामणि तथा लघुतिथिचिन्तामणि गणेश दैवज्ञ की रचनाएँ हैं, जिनका प्रयोग प्रायेण महाराष्ट्र, बरार, मध्यभारत, कन्नड़, हैदराबाद तथा गुजरात में होता है। मकरन्द ( संवत् १५३५ ) का प्रयोग उत्तर-भारत में है। वाविलाल कोछन्न (संवत् १३५५) का प्रयोग तेलुगु या आन्ध्र देश में होता है। वाक्यकरण का प्रयोग जो आर्य भटीय पर निर्धारित है, तामिलनाड तथा मलयालम देश में होता है। भोज-रचित राजमृगांक (संवत् १०९९) का प्रयोग, जो ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त के आधार पर बना है, सौराष्ट्र और राजस्थान में होता है।

भारतीयों का वर्ष चार प्रकार का होता है। यथा—चान्द्र, सौर, सावन तथा नाक्षत्र। सावन दिवस की गणना एक सूर्योदय से दूसरे सूर्योदय तक होता है, अतः दिवस का मान विभिन्न स्थानों में ऋतु के अनुसार विभिन्न होता है। प्रत्येक स्थान के सूर्योदय से दिन की गणना होती है, अतः गणना का आधार एक होने पर भी अक्षांश और देशान्तर के कारण विभिन्न प्रदेश के पंचांगों में विभेद होना आवश्यक है।

१०० त्रुटि = १ तत्पर
३० तत्पर = १ विप्रतिपल
६० विप्रतिपल = १ विपल = २४ थर्ड
६० विपल = १ पल = २४ सेकण्ड
६० पल = १ = घटी, दण्ड या नाडी = २४ मिनट
२ घटी = १ मुहूर्त्त = ४८ मिनट

भारतीय ज्योतिर्विद् मध्यरेखा से समय की गणना करते हैं जिसकी चाल लंका और उज्जयिनी नगर से कल्पित है। उज्जयिनी की देशान्तर-रेखा ७५° ४६' ग्रीनविच से पूर्व है, अतः वहाँ पर सूर्योदय ग्रीनविच में मध्यरात्रि के ५६ मिनट ५६ सेकण्ड बाद होता है।

सात दिनों के नाम ग्रहों के आधार पर प्रायः सर्वत्र एक हैं। यथा—

| संस्कृत नाम | दैशिक नाम | अँगरेजी नाम | इस्लाम नाम |
|---|---|---|---|
| रविवार | आदित्यवार, एतवार | सनडे, सन | एकसम्बा |
| सोमवार | | मनडे, मुन | पीर, दोसाबा |
| मंगलवार | | ट्यूजडे, मर्स | ससम्बा |
| बुधवार | | वेडनसडे, मरकरी | चहारसम्बा |
| बृहस्पतिवार | गुरुवार | थर्सडे, जुपिटर | जुमरात |

| | | | |
|---|---|---|---|
| शुक्रवार | | फ्राइडे, वेनस | जुमा |
| शनिवार | मराडवार, शनिचर | सैटरडे, सैटर्न | सम्बा |

पृथिवी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाती है। एक वर्ष के बाद नक्षत्र की गति उसी स्थान पर पुनः हो जाती है। वर्ष का मान निम्न प्रकार है—

| | भारतीय गणना | | | | | पाश्चात्त्य गणना | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | दि० | घ० | प० | वि० | प्रतिपल | दि० | घ० | मि० | से० |
| सूर्य सिद्धान्त | ३६५ | १५ | ३१ | ३१ | २४ | ३६५ | ६ | १२ | ३६-५६ |
| आर्य सिद्धान्त | ३६५ | १५ | ३१ | १५ | ० | ३६५ | ६ | १२ | ३० |
| ब्राह्म सिद्धान्त | ३६५ | १५ | ३० | २२ | ३० | ३६५ | ६ | १२ | ९ |
| पाश्चात्त्य सिद्धांत | ३६५ | १५ | २२ | ५३ | १५ | ३६५ | ६ | ९ | ९·३ |

सूर्य के तारक-मण्डल में स्पष्ट मार्ग को क्रान्तिवृत्त कहते हैं। इस क्रान्तिवृत्त के बारह समान भाग किये जाते हैं और इन्हें राशि कहते हैं, जो प्रत्येक ३० अंश का होता है (३६०°÷१२)। प्रथम राशि मेष से आरम्भ होती है जो रेवती के समीप है। प्रत्येक राशि में सूर्य के प्रवेश को संक्रान्ति कहते हैं जिसके पूर्व और पश्चात् की घटी को पुण्यकाल माना जाता है। सूर्य के प्रत्येक राशि में आवास को सौरमास कहते हैं और उसे उसी राशि के नाम से पुकारते हैं। सूर्य की गति पृथिवी से दूर और समीप होने के कारण मंद और उग्र होता रहता है, अतः सौर मास भी बड़े और छोटे होते हैं। निम्नमुद्रित तालिका से सूर्य का प्रत्येक राशि में आवास प्रकट होता है।

| संस्कृत | लातिन | आंग्ल | सूर्य सिद्धान्तानुसार | | | आर्य सिद्धान्तानुसार | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| | | | दि० | घ० | प० | दि० | घ० | प० |
| मेष | एरिस | राम | ३० | ५६ | ७ | ३० | ५५ | ३० |
| वृष | टारस | बुल | ३१ | २५ | १३ | ३१ | २४ | ४ |
| मिथुन | जेमिनी | ट्विन्स् | ३१ | ३८ | ४१ | ३१ | ३६ | २६ |
| कर्क | कैन्सर्न | क्रैब | ३१ | २८ | ३१ | ३१ | २८ | ४ |
| सिंह | लिओ | लायन | ३१ | १ | ७ | ३१ | २ | ५ |
| कन्या | विरगो | वरजिन | ३० | २६ | २९ | ३० | २७ | २४ |
| तुला | लिब्रा | वैलन्स | २९ | ५३ | ३६ | २९ | ५४ | १२ |
| वृश्चिक | स्कारपिओ | स्कारपियन | २९ | २९ | २५ | २९ | ३० | ३१ |
| धनु | सगिटारस | आर्चर | २९ | १९ | ४ | २९ | ८१ | २ |
| मकर | काप्रिकोरनस | गोट | २९ | २६ | ५३ | २९ | २७ | २४ |
| कुम्भ | अक्वेरियस | वाटरबेअरर | २९ | ४९ | १३ | २९ | ४८ | ३० |
| मीन | पिसेस | फिसेज | ३० | २१ | १२·५ | ३० | २० | १९·२ |

प्राचीनकाल में सूर्यगति की विषमता का ज्ञान न होने से मध्यम रवि की कल्पना करके काम चलाया जाता था, किन्तु जब से सूर्यगति की सूक्ष्मता का ज्ञान हुआ, तब से स्पष्ट रवि का उल्लेख मिलता है। ज्योतिर्गणना के लिए वर्ष प्रायेण सूर्य के मेष राशि में प्रवेश से

आरंभ होता है, किन्तु धार्मिक कृत्य और सावन कार्य के लिए स्पष्ट सूर्य का होना आवश्यक है। आजकल स्पष्ट मेष संक्रांति ११ या १२ अप्रैल को ही हो जाती है, यद्यपि वर्ष-गणना १३ या १४ अप्रैल से होता है।

विश्व के सभी नक्षत्र भी चलमान हैं। इन नक्षत्रों की गति पश्चिम से पूर्व की ओर है। सूर्य के इन नक्षत्रमण्डल की गति को विषुववृत्त कहते हैं। जब विषुववृत्त का नक्षत्रमंडल से सम्पर्क होता है और रात-दिन समान होते हैं तो उसे सम्पात कहते हैं। अतः वर्ष में दो सम्पात वसन्त और शरत् होते हैं। प्रति वर्ष विषुववृत्त पश्चिम से पूर्व की ओर खिसकता जाता है और इसकी गति वर्ष प्रायः ५०" सेकण्ड आधुनिक गणना से है, जिसे अयनांश कहते हैं। किन्तु, प्राचीन गणना के अनुसार इसकी गति प्रति वर्ष ८ मिनट है। इस प्रकार १०० वर्ष में विषुववृत्त एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र में पहुँचता है। यथा—१०० × ५०"=१३°—२०'।

सूर्य को एक वसन्तसम्पात से दूसरे वसन्तसम्पात तक जाने में जो समय लगता है, उसे सावन वर्ष कहते हैं और यह सावनवर्ष सौरवर्ष से २० मिनट छोटा होता है। सावनवर्ष ३६५ दिन ५ घंटा ४८ मिनट ४६ सेकण्ड का होता है। नक्षत्र २८ हैं, किन्तु गणना में अभिजित् को छोड़ देते हैं। वेदकाल में नक्षत्रों की गणना मृगशिरा और फिर कृत्तिका से होती थी, किन्तु आजकल अश्विनी से होता है। नक्षत्रों के नाम और उनके साथ प्रमुख तारों के नाम निम्नप्रकार हैं। सूर्य और चन्द्र के नक्षत्रों के योग के भिन्नांश को योग कहते हैं, यदि दोनों का योग २७ से अधिक हो, तो शेष का ही उल्लेख होता है।

| क्रम | नक्षत्र | तारक-सं० | मास | योग |
|---|---|---|---|---|
| १ | अश्विनी | ३ | आश्विन | विष्कंभक |
| २ | भरणी | ३ | | प्रीति |
| ३ | कृत्तिका | ६ | कार्तिक | आयुष्मत् |
| ४ | रोहिणी | ५ | | सौभाग्य |
| ५ | मृगशिरा या अग्रहायणी | ३ | मार्गशीर्ष | शोभन |
| ६ | आर्द्रा | १ | | अतिगण्ड |
| ७ | पुनर्वसु | ४ | पौष | सुकर्मन् |
| ८ | पुष्या वा तिष्या | ३ | | धृति |
| ९ | आश्लेषा | ५ | | शूल |
| १० | मघा | ५ | | गण्ड |
| ११ | पूर्वा फाल्गुनी | २ | माघ | वृद्धि |
| १२ | उत्तरा फाल्गुनी | २ | फाल्गुन | ध्रुव |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १३ | हस्ता | ५ | चैत्र | व्याघात |
| १४ | चित्रा | १ | | हर्षण |
| १५ | स्वाती | १ | वैशाख | वज्र |
| १६ | विशाखा | ४ | | सिद्धि |
| १७ | अनुराधा | ४ | ज्येष्ठ | व्यतिपात |
| १८ | ज्येष्ठा | ३ | | वरीयस् |
| १९ | मूला | ११ | | परिघ |
| २० | पूर्वाषाढा | २ | आषाढ | शिव |
| २१ | उत्तराषाढा | २ | | सिद्धि |
| | अभिजित् | ३ | | |
| २२ | श्रवणा | ३ | श्रावण | साध्य |
| २३ | धनिष्ठा वा श्रविष्ठा | ४ | | शुभ |
| २४ | शतभिषा वा शततारका | १०० | | शुक्ल |
| २५ | पूर्व भाद्रपद | २ | भाद्रपद | ब्रह्मण् |
| २६ | उत्तर भाद्रपद | २ | | इन्द्र |
| २७ | रेवती | ३२ | | वैधृति |

प्रत्येक सौर पंचांग में वर्ष दिन की संख्या ३६५ या ३६६ होती है जो १२ मास में विभक्त होते हैं। दिन के भिन्नांश को छोड़ देते हैं। मास २९ से ३२ दिन तक के होते हैं। वर्ष का प्रथम मास प्रायेण मेषसंक्रांतिकाल से होता है, किन्तु दक्षिण मलयालम में सिंहसंक्राति से होता है तथा अन्यत्र कन्यासंक्रांति से। मासों के नाम निम्नप्रकार हैं।

| सौरमास | हिन्दी | तामिल | प्राचीन संस्कृत | मलयालम |
|---|---|---|---|---|
| मेष | वैशाख | वैगासी, वैयासी | माधव | मेडम् |
| वृष | ज्येष्ठ | ऐयासी | शुक्र | एडावम् |
| मिथुन | आषाढ़ | आस्सी | शुचि | मिदुनम् |
| कर्क | श्रावण | आदि | नभस् | कर्कदकम् |
| सिंह | भाद्र | अवनी | नभस्य | चिंगम् |
| कन्या | आश्विन | पुरत्तादी वा पुरत्तासी | ईश | कन्नी |
| तुला | कार्तिक | कार्तिगाई | ऊर्ज | तुलम् |
| वृश्चिक | अग्रहायण | मारगली | सहस् | वृश्चिकम् |
| धनु | पौष | ताइ | सहस्य | धनु |
| मकर | माघ | मासी | तपस् | मकरम् |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| कुम्भ | फाल्गुण | पनगुनी | तपस्य | कुम्भम् |
| मीन | चैत्र | चित्तेरई, सित्तेरई | मधु | मीनम् |

एक पूर्णिमा या अमावस्या के बाद दूसरी पूर्णिमा या अमावस्या तक पहुँचने में जो समय लगता है उसे चान्द्रमास कहते हैं। एक मास के दो पक्ष होते हैं, जिन्हें शुदि (शुक्लदिन) और वदि (बहुलदिन) कहते हैं। प्रत्येक पक्ष में प्रायः १५ दिन होते हैं।

तिथि के आधे को करण कहते हैं। चार करण स्थिर हैं, यथा वदी चतुर्दशी उत्तरार्द्ध, वदी १५ या अमावस्या के उभय अर्द्ध शुदि १ के पूर्वार्द्ध। इन्हें क्रमशः शकुनि, चतुस्पद, नाग और किंस्तुघ्न कहते हैं। शेष ५६ करणों को सात नाम से पुकारते हैं। यथा—बव, बालव, कौलव, तैतिल, गर, वणिज् तथा विष्टि।

सूर्य के समान चन्द्र की भी मन्दोच्च गति होती है। चन्द्रमा के भी मध्यम और स्पष्ट दर्शन से तिथिमान निकाला जाता है। निम्नमुद्रित तालिका में चन्द्र का सूर्यसिद्धान्त के अनुसार मान दिया गया है।

| | चान्द्रमासमान | तिथिमान |
|---|---|---|
| | दि० घ० प० वि० | घ० प० वि० |
| मध्यम | २९—३१—५१—७ | ५९—३—४० |
| दीर्घ | २९—४८—४५ | ६५—१६—० |
| लघु | २९—१८—२० | ५३—५६ – ० |

पंचांग में सर्वत्र सूर्योदय तिथि को ही दैनिक या सावन प्रयोग में लाते हैं। किन्तु, धार्मिक कृत्य के लिए स्पष्ट सूर्य या चन्द्र का दर्शन आवश्यक है। तिथि ६० घटी से कम की होती है। अतः कभी-कभी कोई तिथि दो तिथियों के बीच में आ जाती है, अर्थात् दो अन्य तिथियाँ उदय-काल में पड़ती हैं तो नीचे की तिथि को क्षय-तिथि कहते हैं। यदि कोई तिथि ६० घटी से अधिक का होता है और दो सूर्योदय-काल पड़ जाता है, तो उसे अधिक तिथि या त्र्यहस्पर्शी तिथि, दिन को स्पर्श करनेवाला कहते हैं। वेदांग ज्योतिष में तिथि का केवल मध्यममान लिया जाता था और प्रत्येक ६२ वाँ दिन क्षय होता था। चान्द्र मास के नाम निम्नमुद्रित हैं—

| वैदिक | संस्कृत | ऋतु |
|---|---|---|
| मधु | चैत्र | वसंत |
| माधव | वैशाख | |
| शुक्र | ज्येष्ठ | ग्रीष्म् |
| शुचि | आषाढ़ | |
| नभस् | श्रावण् | वर्षा |
| नभस्य | भाद्र | |

| | | |
|---|---|---|
| ईश | आश्विन | शरद् |
| ऊर्ज | कार्तिक | |
| सहस् | अग्रहायण | हेमन्त |
| सहस्य | पौष | |
| तपस् | माघ | शिशिर |
| तपस्य | फाल्गुन | |

भारतवर्ष में निम्नमुद्रित संवत्सरों का उल्लेख पाया जाता है।

१. सृष्टि संवत्—विक्रम संवत् २०१२ में इस संवत्सर के कुल १,९५,९५,५७,०५५ वर्ष व्यतीत हो चुके।

२. कलिसंवत्—कलिसंवत् ज्ञात करने के लिए विक्रम संवत् में ३०४४ वर्ष योग करना चाहिए।

३. लौकिक संवत्—इसे सप्तर्षि संवत् भी कहते हैं। यह २७०० वर्षों का चक्र है। कलि के आरंभ के २५ वर्ष बाद से इसकी गणना आरंभ होती है।

४. बुद्धनिर्वाण संवत्—इसका प्रारम्भ कलिसंवत् १३०८ में, किन्तु सिंहल-परम्परा से कलिसंवत् २५५८ (वि० पू० ५४३) में, हुआ।

५. आन्ध्र शक संवत्—इसका प्रारंभ कलिसंवत् २५५१ में हुआ (खृष्टपूर्व २५०)।

६. वीर संवत्—इसका प्रारंभ जैनों के २४ वें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के निर्वाण काल से कलिसंवत् २५७४ से होता है (खृष्टपूर्व ५२७)।

७. हर्षसंवत्—इसका आरम्भ कलि संवत् २६३४ से होता है।

८. गुप्तसंवत्—इसका आरंभ कलि संवत् २७७४ (खृष्टपूर्व ३२७) और अन्यमत से खृष्टसन् ३१९ से होता है।

९. विक्रम, कृत या मालव संवत्—इसका आरंभ विक्रमादित्य के जन्मकाल खृष्टपूर्व ५७ से होता है।

१०. खृष्टसन्—विक्रम संवत् ५७ से इसका आरम्भ है।

११. शालिवाहन शक—इसका आरंभ विक्रम संवत् १३५, खृष्टसन् ७८ से होता है।

१२. कलचूरी संवत्—इसका आरंभ विक्रमसंवत् ३०६ या खृष्टसन् २४९ से होता है।

१३. गंग संवत्—इसका आरंभ ५५४ विक्रम संवत् या खृष्टसन् ४९७ है।

१४. फसली सन्—इसका आरंभकाल वि० सं०, ६५० या खृष्टसन् ५९३ है।

५१. हिजरी संवत्—इसका आरम्भ ६७९ वि० सं० खृष्टसन् ६२२ है। इसे विक्रम संवत् में परिवर्तित करने के लिए निम्नमुद्रित सूत्र को काम में लाना चाहिए, क्योंकि यह चान्द्रमास की गणना से चलता है और प्रतिवर्ष प्रायः १२ दिन सौर वर्ष से कम होता है।

( हिजरी— $\frac{\text{हि०×३}}{\text{१००}}$ + ६७९ ) = विक्रम संवत्

१६. भाटिक संवत्—इसका आरंभ वि० सं० ६८० से होता है।

१७. मगीसन्—विक्रम संवत् ६६५ से इसका प्रारंभ है।

१८. चालुक्य संवत्—इसका प्रारंभ वि० सं० १०३३ (खृ० स० १०७६) से होता है।

१९. लक्ष्मणसेन संवत्—इसका आरंभ लक्ष्मणसेन के जन्मकाल संवत् ११७५ (खृष्टसन् १११८) से होता है।

२०. सिंह संवत्—इसका आरंभकाल विक्रम संवत् ११७० है।

२१. इलाही सन्—इसका प्रारंभ वि० सं० १६१३ (खृष्टसन् १५५६ से ) है।

२२. अभिषेक संवत्सर—इसका आरंभकाल ( शिवाजी का अभिषेक-काल ) विक्रम संवत् १७२१ (खृ० स० १६६४) है।

२३. जयहिन्द संवत्सर—इसका आरंभकाल विक्रम-संवत् २००३ (खृ० स० १९४७) है।

## संकलन

### मनुष्यत्व, सामाजिकता और व्यक्तित्व

जब हम 'मनुष्यत्व' की बात उठाते हैं, तो हम यह भी अच्छी तरह जानते हैं कि आपके अन्दर का वह 'मनुष्यत्व' कहाँ पर पशुत्व से पृथक् है। हम यह मानते हैं कि वह मनुष्यत्व आमाशय और यौनाशय के स्तर से उठकर उच्चतर मूल्यादर्शों की खोज करता है, उनको आचरण में ढालता है, उन्हें उत्तरोत्तर विकसित करता है। इतना ही नहीं, उसके शरीर की भूख और प्यास भी केवल पाशविक स्तर पर नहीं रह जाती, वह उनको परिष्कृत करता है, उनको नये सौन्दर्यपरक अर्थ देता है। इतना ही नहीं, वह जंगली, बर्बर पशु-समूहों की स्थिति से ऊपर उठकर एक नये प्रकार की सहयोगी वृत्ति को अपनाता है जिसमें प्रत्येक के व्यक्तित्व को पूर्ण विकास मिल सके। आपमें से हर-एक की आन्तरिकता अपनी कुछ विशेषताएँ लिये हुए हैं, वे ही आपको 'आप' बनाती हैं, वरना आप 'कोई भी' हो सकते थे। आपका यह व्यक्तित्व असीम संभावनाओं से निहित है, और असीम सामर्थ्य से युक्त भी। शायद, आपके व्यक्तित्व के अतुल सामर्थ्य से युक्त होना ही उनकी आँख में खटकता है जो आपको यन्त्र या पशु बनाना चाहते हैं। इसीलिए वे पहले तो 'व्यक्तित्व' जैसे किसी तत्त्व को ही स्वीकार करते हैं, और यदि इस पर उन्हें टोका गया, तो वे तुरन्त कहते हैं कि 'व्यक्तित्व' का होना खतरनाक है, सामाजिक कल्पना के लिए। पर, 'समाजिकता' और 'व्यक्तित्व' में यह अनिवार्य विरोध की कल्पना कर लेना भी वैसा ही निरर्थक तर्क है, क्योंकि आपके व्यक्तित्व की यह विलक्षणता या दूसरों से पृथक्ता अनिवार्य रूप से

दूसरे की विरोधिनी नहीं है। वरन् दूसरे व्यक्तित्वों से रागात्मक संबंध स्थापित कर ही यह पूर्णता पाती है। स्वस्थ सामाजिकता तो एक सन्तुलित व्यक्तित्व का ही लक्षण है।

—संपादकीय, 'निकष', प्रयाग; प्रथम अंक

## राजनीतिक क्षेत्र, बुद्ध और बौद्ध धर्म

राजनीतिक क्षेत्रों में भी बुद्ध और बौद्ध धर्म की देन नगण्य नहीं है, यद्यपि उसमें उनको पूर्णतया असफल होना पड़ा। इसका दोष उनके ऊपर नहीं, बल्कि परिस्थितियों (आर्थिक विकास की स्थिति) पर है। बुद्ध ने भिक्षुओं-भिक्षुणियों के संघ में पूर्ण साम्यवाद स्थापित करने का प्रयत्न किया। हाँ, उत्पादन में नहीं, केवल उपभोग है। सम्पत्ति में केवल अपने शरीर पर के तीनों वस्त्रों (चीवरों) अस्तुरा, सूई, जल-छक्का, भिक्षापात्र जैसी आठ चीजों को वैयक्तिक सम्पत्ति ठहराया, बाकी सारी सम्पत्ति जो विहार में होती थी, उसका स्वामी संघ को माना। पुराने समय में उक्त आठों चीजों के अलावा जो भी छोटे-बड़े दान दिये जाते थे, उसे 'आगत अनागत चतुर्दिश संघ' के लिए दिया जाता था। संघ को बुद्ध व्यक्ति से बड़ा मानते थे। बुद्ध के जन्म के सप्ताह बाद ही उनकी माँ मर गई थी, और उनका लालन-पालन उनकी मौसी तथा सौतेली माँ प्रजावती गौतमी ने किया, प्रजावती ने अपने हाथ से कात-बुनकर कपड़ा तैयार किया, 'इसे मैं बुद्ध को चीवर के लिए दूँगी।' भेंट करने के लिए ले जाने पर बुद्ध ने प्रजावती से कहा—'अच्छा है, तुम इसे संघ को दो।' बुद्ध होने पर भी मैं व्यक्ति (पुद्गल) हूँ, व्यक्ति के लिए दिये दान की अपेक्षा संघ के लिए दिये दान का अधिक पुण्य होता है।' उन्होंने उसे संघ के लिए दान दिलवाया। बुद्ध का साम्यवाद और संघवाद बहुत दिनों तक कैसे चल सकता था, जबकि उस समय का सारा समाज उसके विरुद्ध था। पर, इससे प्रभावित होकर कितनों ने ही साम्यवाद की प्रेरणा ली थी। जिस तरह यूरोपियन साम्यवादियों (समाजवादियों) के प्रयत्न को हम तुच्छ नहीं कहते, बल्कि उनकी निःस्वार्थ सेवाओं का सम्मान करते हैं, उसी तरह बुद्ध द्वारा प्रचारित साम्यवाद का भी अपना स्थान है। तिब्बत के सम्राट मुनि-चन्-पो पर इसका इतना प्रभाव पड़ा था कि नवीं शताब्दी में उसने अपने यहाँ तीन बार धन का समवितरण कराया था। वह समझता था कि लोगों के आर्थिक दुःखों का कारण आर्थिक विषमता है, जिसके हटाने से दुःख दूर हो जायगा। उत्पादन के साधन उसके लिए कितने आवश्यक हैं, इसे न उसने समझा था, और न वह अभी सुलभ थे। समवितरण द्वारा साम्यवाद की स्थापना नहीं हो सकी, बल्कि दूसरों के कोपभाजन बन अपनी माँ के हाथ से जहर खाकर मुनि-चन्-पो को मरना पड़ा।

राजनीतिक क्षेत्र में जनतांत्रिक गणराज्य बुद्ध को बहुत प्रिय था। वह स्वयं भी शाक्यों के गणराज्य में पैदा हुए थे। उस समय वैशाली समकालीन ग्रीस के अथेंस की तरह एक शक्तिशाली गणराज्य की राजधानी थी। वैशाली और उसके लिच्छवियों के लिए बुद्ध के हृदय में बहुत प्रेम और सम्मान था। उन्होंने मगध के शक्तिशाली तथा बढ़ते हुए साम्राज्य के सामने वैशाली का अजेय रहने का संकेत किया था। उसी गण की व्यवस्था के अनुसार

उन्होंने अपने भिक्षुक-भिक्षुणियों के संघ में जनतंत्रता स्थापित की थी संघ का नियंत्रण और शासन किसी एक व्यक्ति के हाथ में नहीं, बल्कि सारे संघ के अधिकार में था। ऐसे कार्य के लिए बैठक में सदस्यों की कम-से-कम संख्या (कोरम) निश्चित करना आवश्यक था। बुद्ध ने मध्यमराडल (उत्तर भारत और बिहार) में उसकी संख्या दस रखी थी और बाहर पाँच। किसी प्रश्न पर संघ में मतभेद नहीं हो सकता था: ऐसे समय बहुमत (यद्भूयसिक) के निर्णय को मान्य ठहराया था। बहुमत-अल्पमत जानने के लिए मतगणना की अपेक्षा थी, इसके लिए आज जिस तरह बैलेट-पर्ची का प्रयोग होता है, उसकी जगह संघ में मतदान के लिए पेंसिल की तरह लकड़ियों (छंदशलाकाओं) का इस्तेमाल किया जाता था। 'हाँ' और 'नहीं' के परिचायक दो रंग की शलाकाएँ होती थीं, जिन्हें संघ के लोग अपने मत के अनुसार ले लेते थे और अध्यक्ष (संघ-स्थविर) गिनकर बहुमत की घोषणा कर देता था।

—'बौद्धधर्म की देन', ले०—श्री राहुल सांकृत्यायन,
['सम्मेलन-पत्रिका' (प्रयाग) आश्विन, वि० सं० २०१२]

## ज्वरग्रस्त मनोजगत्

हमारे विषम आचरण, भ्रान्त असंस्कृत अभियोग, आरोप, अपराधों में समाप्त होने-वाले आवेग आदि प्रमाणित करते हैं कि हमारा मनोजगत् ज्वरग्रस्त है। यह सत्य है कि हमारी परिस्थितियाँ कठिन हैं, पर यह भी मिथ्या नहीं कि हमारी मानसिक स्थिति हमें न किसी परिस्थिति के निदान का अवकाश देती है और न संघर्ष के अनुरूप साधन खोजने का। हम थकते हैं, परन्तु हमारी थकावट के मूल में किसी सुनिश्चित लक्ष्य के प्रति आस्था नहीं है। हमारी क्रियाशीलता रोगी की छटपटाहट और क्षण-क्षण करवटें बदलने की क्रिया है, जो उसकी चिन्तनीय स्थिति की अभिव्यक्ति मात्र है। हर मानव-समाज के जीवन में ऐसे संक्रान्ति-काल आते रहते हैं, जब उसकी मान्यताओं का कायाकल्प होता है, मूल्यांकन के मान नये होते हैं, जीवन की गति में पुरानी गहराई के साथ नई व्यापकता का संगम होता है। परन्तु, जैसे नवीन वेगवती तरंग का पुरानी मंथर लहर में मिलकर अधिक विशाल हो जाना स्वाभाविक और अनायास होता है, वैसे ही संस्कार और अधिक संस्कार, मूल्य और अधिक मूल्य का संगम सहज होता है। सुन्दर और सुन्दरतर, शिव और शिवतर, आंशिक सत्य और अधिक आंशिक सत्य में कोई तात्त्विक विरोध नहीं हो सकता। सुन्दरतम, शिवतम और पूर्ण सत्य तक पहुँचने के लिए हमें सुन्दर शिव और आंशिक सत्य को कुरूप, अशिव और असत्य बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ती और जिस युग का मानव यह सिद्धान्त भुला देता है उस युग के सामने सत्य-शिव-सुन्दर तक पहुँचने का मार्ग रुद्ध हो जाता है। आलोक तक पहुँचने के लिए जो अपने सब दीपक बुझा देता है उसे अँधेरे में भटकना ही पड़ेगा। किसी समाज को ऐसे लक्ष्य-रहित कार्य से रोकने के लिए अनेक आन्तर-बाह्य संस्कारों की परीक्षा करनी पड़ती है, निर्माण में उसकी आस्था जगानी पड़ती है, संघर्ष को सर्जन-योग्य बनाना पड़ता है।

आधुनिक युग में मानसिक संस्कार के लिए दर्शन, आधुनिक साहित्य-शिक्षा आदि के जितने साधन उपलब्ध हैं, वे न द्रुतगामी हैं, न सुलभ। पर, साधनों की खोज में हमारी दृष्टि यन्त्रयुग की सबसे विशाल कृति पत्र-पत्रिकाओं पर न पड़े, तो आश्चर्य की बात होगी। जीवन का जैसा निकट और अनायास स्पर्श उन्हें नित्य प्राप्त होता है, वैसा अन्य साधनों को नहीं, अतः समाज के संस्कार और असंस्कार दोनों का दायित्व एक सीमा तक उनका कहा जा सकता है।

—संपादकीय, 'साहित्यकार' (प्रयाग)
[ सितम्बर-अक्टूबर '५५ ई० ]

## उन्नीसवीं शताब्दी की मनीषा का अभिजात आंदोलन

उन्नीसवीं शती की विज्ञानवादिता ने भौतिक विज्ञान की प्रणालियों को साहित्यिक अध्ययन के क्षेत्र में स्थानान्तरित करने की बहुविध चेष्टाओं के द्वारा जिस लक्ष्य का संधान किया था, बौद्धिक दृष्टि से वही उन्नीसवीं शताब्दी की मनीषा का सर्वाधिक युक्तियुक्त और अभिजात आन्दोलन था। किन्तु, उसके भी जो अनेक उद्देश्य हैं, वे विचारणीय हैं : पहला है वस्तुनिष्ठता, निर्वैयक्तिकता, और निश्चयात्मकता जैसे सामान्य वैज्ञानिक आदर्शों के अनुकरण का प्रयास। इसके साथ ही कार्य-करण-सम्बन्ध और उद्गम के अध्ययन के द्वारा भौतिक विज्ञान की प्रणालियों के अनुकरण की चेष्टा भी थी, बशर्त्ते कि वह तिथिक्रम के आधार पर हो। अधिक संकीर्णता से व्यवहृत होने पर वैज्ञानिक कार्य-करण-पद्धति आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों में कारण निर्धारित कर किसी साहित्यिक विशेषता की व्याख्या करती थी। कुछ विद्वानों ने साहित्यिक अध्ययन में विज्ञान की परिमाणमूलक प्रणालियों को भी समाविष्ट करने की चेष्टा की थी। वे आँकड़ों और तालिकाओं की सहायता से साहित्यिक अध्ययन को शास्त्रीय बनाना चाहते थे। विद्वानों का एक ऐसा भी दल था, जिसने साहित्य के विकास के सूत्रों के निर्धारण के लिए, बड़े पैमाने पर, प्राणिशास्त्रीय सिद्धांतों का व्यवहार किया था।

—श्री नलिनविलोचन शर्मा [ 'कल्पना' (हैदराबाद) अगस्त '५५ ई० ]

## द्रविड़ काजगम, राष्ट्रध्वजा और हिन्दी

प्रश्न यह है कि क्या राष्ट्रध्वजा का अपमान करने से हिन्दी के प्रति किसी प्रकार का विरोध प्रदर्शित होता है ? हिन्दी और राष्ट्रध्वजा में परस्पर क्या सम्बन्ध है ? हम यह पहले ही प्रदर्शित कर चुके हैं कि स्टेशनों पर हिन्दी के नामों पर कोलतार पोतने से भी यह सिद्ध नहीं होता कि द्रविड़ काजगम एकमात्र हिन्दी के प्रति अपना विरोध प्रदर्शित कर रहे हैं और अब इस सम्बन्ध में राष्ट्रध्वजा के अपमान की धमकी देकर द्रविड़ काजगम ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि उनका विरोध हिन्दी के प्रति नहीं था। हिन्दी के प्रति विरोध तो एकमात्र किसी प्रकार का बहाना ही प्रतीत होता है। इससे इस बात का स्पष्ट

रूप से पता चलता है कि द्रविड़ काजगम एक भारतीय राष्ट्र के विरोधी हैं और इस समय राष्ट्र को संगठित और व्यवस्थित करने के लिए जो भी प्रयत्न किये जा रहे हैं, वे उनको सहन नहीं कर सकते। हिन्दी और राष्ट्रध्वजा दोनों भारतीय राष्ट्र की एकता के प्रतीक हैं और द्रविड़ काजगम इस एकता की बढ़ती हुई शक्ति को विनष्ट करना चाहते हैं। हिन्दी को तो द्रविड़ काजगम ने उत्तर-भारत की भाषा कहकर उसका विरोध किया, यद्यपि हिन्दी को एकमात्र उत्तर-भारत की भाषा कहना उपयुक्त नहीं है—परन्तु, राष्ट्रध्वजा का सम्बन्ध तो किसी प्रकार उत्तर-भारत से नहीं है और इसलिए उसके साथ हिन्दी के प्रश्न को जोड़कर उसके अपमान के द्वारा हिन्दी के प्रति विरोध प्रदर्शित करने की बात को समझना अत्यन्त कठिन है। हिन्दी के साथ राष्ट्रध्वजा को जोड़कर द्रविड़ काजगम ने इस बात को बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि वे एकमात्र हिन्दी के विरोधी नहीं हैं, वे तो समस्त भारत की एकता के विरोधी हैं।

—सम्पादकीय [ 'अजन्ता' (हैदराबाद) अगस्त '५५ ई० ]

## लेखक का शिल्प

कभी-कभी लेखकों के बारे में पूछा जाता है कि अपने अमुक पात्र के परदे में उन्होंने किस व्यक्ति को चित्रित किया है। मेरा विश्वास है कि लेखक वास्तविक व्यक्तियों को चित्रित नहीं करता, करता ही है तो परिवर्त्तन के साथ, कलाकार प्रकृति (प्रकृत) की प्रतिलिपि नहीं करता, वह स्वरूपान्तर करके उसके कल्पनाचित्र बनाता है और ये स्वयं वास्तविक बन जाते हैं! लिखते समय अपनी कृति की योजना लेखक के मन में चाहे, जितनी विशद हो, लिखते-लिखते उसमें परिवर्त्तन होते ही हैं। एलेक्सी तालसताय ने एकबार मुझे बताया कि अगले ही परिच्छेद में उनके पात्रों की परिस्थिति कैसी कितनी बदल जायगी, यह वे स्वयं नहीं जानते। किसी मौलिक महत्त्वपूर्ण कृति के पात्र लेखक की पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार कभी नहीं ढलते। वे आगे बढ़ते और बदलते हुए तरह-तरह की अपूर्व कल्पित परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं, यदि कथानक के चरित्र लेखक द्वारा गढ़ी हुई रूपरेखा के अनुसार ही निर्मित हों तो कृति की सफलता असंभाव्य है। कुशल कलाकार के चरित्र स्वयं शतरंज के मुहरे न होकर सप्राण व्यक्ति की तरह होते हैं। इसलिए, यदि आलोचक कलाकार को यह दोष दे कि उसके पात्रों का जीवन कलुषित और दोषपूर्ण होता है, तो वह भूल करता है। यह संभव है कि लेखक किसी चरित्र के सहारे जीवन के किसी आदर्श का संकेत दे दे। परन्तु, प्रूफरीडर की तरह यह चरित्रों के स्वाधीन जीवन को संशोधित करते चलने का अधिकार नहीं रखता।

—इल्या एहरेन्बर्ग ['ज्ञानोदय' (कलकत्ता) जुलाई '५५ ई०]

## हिन्दी-प्रदर्शनी का ध्येय

हिन्दी-प्रदर्शनी का ध्येय यह दरसाना होता है कि हिन्दी आमतौर पर कैसे उन्नति कर रही है। इस दिशा में हिन्दी अभी बहुत परिश्रम माँगती है। सब कुछ सरकार नहीं कर

सकती। प्रकाशकों द्वारा किसी एक अंग पर अधिक जोर देने से हिन्दी का पूर्ण विकास न हो सकेगा—उन्हें सभी विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करनी होंगी, तभी हिन्दी निश्चित अवधि तक अँगरेजी का स्थान ले सकेगी। हिन्दी में प्रकाशकों की भरमार है। परन्तु, अच्छे ढंग का साहित्य कुछ इने-गिने प्रकाशक ही प्रकाशित करते हैं। अभी तक की प्रगति से पता चलता है कि कमी सरकार की ओर से भी है और जनता की ओर से भी। सरकार हिन्दी के प्रचार में बड़ी मंथरगति से बढ़ रही है तथा इन संस्थाओं का सहयोग भी नहीं ले रही है, जो वर्षों से हिन्दी-सेवा करती आ रही हैं। और, व्यक्तिगत प्रकाशक केवल अपनी पुस्तकों को बिक्री की तराजू पर तौलते हैं। ऐसे कब तक काम चलेगा ?

—सम्पादकीय [ 'समाज' (नई दिल्ली) सितम्बर '५५ ई० ]

नयी कविता

नयी कविता के संबंध में अन्तिम महत्त्वपूर्ण प्रश्न है सामाजिक प्रेषणीयता का। आजका कोई भी कवि इसको अस्वीकार नहीं करता। परन्तु, आलोचकों का सबसे अधिक आक्षेप इसी बात पर है। लगता है कि आज की साहित्य-चर्चा में सब से अधिक उलझन और भ्रम की स्थिति साधारणीकरण तथा समाजीकरण के प्रश्न को लेकर है। साधारणीकरण के माध्यम से अनेक बार समाज की भावशीलता के समस्त स्तरों को समान मान लिया जाता है और समाजीकरण के रूप में साहित्य तथा लोक-साहित्य को समान स्तर का स्वीकार कर लिया जाता है। युग-जीवन की विचारात्मक तथा भावात्मक उपलब्धियों के वाहक साहित्य को जनता के निकट पहुँचाने और उसकी वस्तु बनाने की बात और है और समस्त साहित्य को लोक-साहित्य के स्तर पर उतार लाना बिल्कुल भिन्न बात है। नदी के संपूर्ण प्रवाह के जल का ऊपरी स्तर समान होता है, पर तल की गहराइयों में अन्तर होता है, मूलधारा की गति और सामान्य प्रवाह की गति में अन्तर होता है। मूलधारा संपूर्ण प्रवाह से भिन्न नहीं है और न उसका अन्य कोई अस्तित्व है। पर, साथ ही संपूर्ण प्रवाह को नियोजित और गतिशील करनेवाली मूलधारा ही होती है। आज की कविता का कवि युग-चेतना की मूलधारा का अंग है और उसकी आकुलता की संवेदनीयता मूलधारा तक ही सीमित जान पड़ती है। परन्तु, धारा समग्र प्रवाह की गति का लक्षण है, प्रतीक है और इस प्रकार नयी कविता का संबंध युग से है, समाज से है। वह आज के युग के संघर्ष को झेलनेवाली चेतना का स्फुरण है, और उसकी प्रेषणीयता भविष्य के विश्वास तथा आस्था को जन्म देने की पीड़ा सहने-वालों की वस्तु है। ऊपर की जमी हुई बर्फ की जड़ता को तोड़कर बहनेवाली धारा के वेग का अनुभव अतल की गहराइयाँ नहीं कर पाती हैं, उनके लिए परिवर्त्तन तथा गति का कोई अर्थ नहीं और न उस वेग का अनुभव कटकर अलग हुए सेंवार से आकुलित स्थिर-प्रवाह जलखंड ही कर पाते हैं। यह धारा तो सारे प्रवाह की गति को अनायास ही नियोजित करती हुई आगे बढ़ती जाती है।

—'नयी कविता का सामाजिक परिवेश' ले०—डा० रघुवंश

['नयी कविता' (प्रयाग); अंक २, १९५५ ई०]

### कला का स्वर्णयुग

हमारे देश में संगीत, नृत्य आदि कलाएँ प्राचीन काल से सार्वजनिक जीवन का एक आवश्यक अंग रही हैं। इस देश की परम्परागत विचारधारा के अनुसार ललित कलाओं का उद्गम-स्रोत वही है, जिससे आराधना, अध्यात्म-चिन्तन, दर्शन आदि की उत्पत्ति हुई है। जिस समय वैदिक काल में ज्ञान की विभिन्न शाखाओं का विकास हुआ, लगभग उसी समय संगीत और नृत्य की कला भी प्रस्फुटित हुई। यही कारण है कि सदियों तक संगीत और नृत्य हमारे आध्यात्मिक और धार्मिक जीवन का एक अविभाज्य अंग बना रहा। भारतीय मनीषियों और विचारकों की दृष्टि में ये कलाएँ मानव के उच्चतम ध्येय अथवा मोक्ष की प्राप्ति का साधन थीं। धीरे-धीरे जैसे इन कलाओं का विकास हुआ और जनसाधारण इनमें रस लेने लगे, इनका आधार अधिक व्यापक होता गया और ये लोकप्रिय होती गईं।

आज की बदली हुई परिस्थितियों में हमारा यह प्रयास होना चाहिए कि नृत्य आदि ललित कलाएँ फिर से अपने प्राचीन गौरव में भारतीय समाज में स्थापित हों और भारतीय जनता पहले की तरह फिर इन कलाओं को मानव के सर्वाङ्गीण विकास का साधन बना सके। ये कलाएँ जिनका जन्म इतिहास के उषाकाल में ऋषि-मुनियों के चिन्तन से हुआ, जो प्राचीन भारत के वातावरण में परिपुष्ट हुईं और जो धर्म का आवश्यक अंग बनकर विकास के शिखर पर पहुँचीं—क्या इन कलाओं के लिए धर्म-निरपेक्ष भारत में ऊँचा-से-ऊँचा स्थान नहीं हो सकता ? मैं समझता हूँ कि इन कलाओं के विकास के लिए आधुनिक काल से बढ़कर श्रेष्ठतर युग और कोई नहीं हो सकता। आज कला सामन्तों की कृपा पर निर्भर न रहकर जन-साधारण की रुचि पर अवलंबित है और किसी वर्गविशेष के मनोविनोद का साधन मात्र न रहकर समस्त जनता के मनोरंजन तथा शारीरिक और मानसिक विकास के साधन के रूप में मौजूद है। इस युग को हम 'कला का स्वर्णयुग' कह सकते हैं।

—'कला का स्वर्णयुग', ले०—(राष्ट्रपति) डा० राजेन्द्र प्रसाद
[ 'त्रिपथगा', लखनऊ ]

### पैसे की सभ्यता

भारत ने सबसे पहले इस सचराचर जगत् के संचालक एक ईश्वर का आविष्कार किया था और मनुष्य-जीवन में सुख और शान्ति की स्थापना के लिए उसके अनन्त गुणों को मनुष्य-स्वभाव में आरोपित करने का सफल प्रयत्न किया था। उससे मिलने के लिए सत्य, अहिंसा, दया, न्याय, क्षमा, प्रेम, मृदुता सेवाभाव, श्रद्धाभक्ति, विनय, शील, सदाचार, इन्द्रिय-निग्रह आदि साधनों का निर्माण किया था। इन साधनों का उपयोग करके मनुष्य सुखी और शांत था भी। यद्यपि ईश्वर किसी को नहीं मिला, परन्तु मनुष्य को विश्वास हो गया कि वह है, और उससे मिलने का सही मार्ग उसको मिल गया है। और, वास्तव में इस मार्ग पर चलकर वह सांसारिक विघ्न-बाधाओं से अपने को बहुत अंशों में सुरक्षित पाकर निश्चिन्त भी हो गया था। उन्हीं साधनों के व्यावहारिक रूप को सभ्यता कहा गया है।

इसी सभ्यता का पीढ़ियों तक अभ्यास होते रहने से वह मनुष्य-समाज का एक स्थायी लक्षण कहलाने लगी और उसका नाम संस्कृति हो गया।

वर्त्तमान सभ्यता का जन्म पैसे से हुआ है। और, इस देश में इसके आदि प्रचारक अँगरेज थे, जो मशीनों के जन्मदाता थे। वे पैसे के लिए ही इस देश में आये थे। उन्होंने हमारी पुरानी प्राण-पोषक सभ्यता को प्रायः नष्ट-भ्रष्टकर पैसे की प्राण-शोषक सभ्यता हमारे जीवन में प्रविष्ट कर दी। पैसे की सभ्यता में झूठा दंभ, छल-कपट, लोभ-क्रोध, हिंसा, अभिमान, कलह भय, आलस्य, परनिंदा, मोह, भ्रम, विश्वासघात, कटुवचन, द्वेष और कुटिलता ने मनुष्य के हृदय के कोने-कोने में अपना अधिकार कर लिया है, जिससे भारतीय सभ्यता का जीवित रहना कठिन हो गया है।

पैसा सरकार ढालती है, और पैसा ही सरकार को चलाता है। दोनों में आधार-आधेय का संबंध है। दोनों मिलकर साधारण जनता पर राज्य करते हैं और पैसे की सभ्यता में उसे दक्ष बनाते हैं। पैसे की सभ्यता तो वास्तव में पैसे की छीना-झपटी का एक सुसंस्कृत रूप है, जिसपर शिष्टाचार, विनय, नम्रता और वाक्य-विलास आदि पैसे की रुक्षता को कम करने के लेप लगे हैं।

सेठ, डाक्टर, वकील, शिक्षक, लेखक, सम्पादक, समालोचक, पुस्तक-प्रकाशक, चोर-डाकू, बुद्धिजीवी, दलाल, श्रमजीवी, असिजीवी, मसिजीवी, कमराजीवी, मालिक, मजदूर, साधु-सन्त, उपदेशक, कथावाचक, रमते-राम, वेश्या, भाँड़, और भडुए आदि पैसे के अवतार हैं, जो किसी-न-किसी बहाने घर-घर में छा गये हैं। पैसे की सभ्यता में दया और सहानुभूति के भाव बदला पाने की नियत से प्रकट किये जाते हैं, आत्मा की स्वाभाविक प्रेरणा से नहीं। पैसे की सभ्यता में शारीरिक सुख को ही प्रधानता दी जाती है, आत्मिक या मानसिक सुख को जैसे समाधि में डाल दिया हो। सेठ चाहते हैं, सब गरीब ही बने रहें, ताकि उनकी मिलें चलती रहें। धर्माचार्य चाहते हैं, सब मूर्ख ही बने रहें। डाक्टर चाहते हैं, संसार रोगी हो जाय। वकील चाहते हैं, सब लड़ते ही झगड़ते रहें। ऐसी मनोवृत्तियां केवल पैसे के लिए उत्पन्न हो गई हैं।

—'पैसे की सभ्यता' ले०—श्री रामनरेश त्रिपाठी
[ 'त्रिपथगा' (लखनऊ) अक्तूबर '५५ ई० ]

## लोक-साहित्यविषयक भ्रान्ति

लोक-साहित्य और लोक-कला के संबंध में भ्रान्ति यह है कि वह भोंड़ा होता है, उसका कोई सुनिश्चित रूप-रंग नहीं होता, वह असंस्कृत बर्बरतापूर्ण, अशिष्ट और असुन्दर होता है। यह बात भी बहुत गलत है। प्राचीन युगों का राज-समाज और उसके चाटुकार लोग लोक-कला और लोक-साहित्य की ओर यही रुख रखते थे। हमारे विदेशी शासक हमारे उत्कृष्टतम साहित्य और कला की ओर यही रुख रखते थे। आज भी नगरों में रहनेवाला तथाकथित शिष्ट समाज हमारी लोक-कलाओं और लोक-साहित्य की ओर यही रुख

रखता है। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में शोषण के आधार पर जो वर्ग शासन का बागडोर अपने हाथ में लेने में सफल हो गया, यदि वह शासितों, पददलितों, उपेक्षितों की कला और साहित्य को नीची निगाह से देखे, तो यह स्वाभाविक ही है। कोल, भील, संथालों और आदिवासियों की कलाओं के प्रति शासक-श्रेणियों और शिष्ट समाज का रुख क्या है? और, जब ये लोग इन पिछड़ी जातियों को सभ्य बनाने के लिए जाते हैं, तो उन पर क्या गुजरती है, उनको कितनी पीड़ा होती है, उनके कला-तत्त्व किस प्रकार धीरे-धीरे नष्ट हो जाते हैं—इसकी ओर कौन ध्यान देगा? उनकी रामकहानी कौन सुनेगा?

यदि यह मान लिया जाय कि जनसाधारण भी उत्तम और उत्कृष्ट कलाकृति प्रस्तुत करने की क्षमता रखता है, तो यह भी मान लेना पड़ेगा कि वह समाज में उच्चात्युच्च स्थान भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु, क्या हम यह स्वीकार करने के लिए तैयार हैं? हम इस युग में भी हरिजनों तथा अन्य जातियों के साथ जो व्यवहार कर रहे हैं, वही यह साबित करता है कि हम यह मानने से इनकार करते हैं कि कविता, संगीत, कला आदि किसी क्षेत्र में इनको देन उतनी ही महत्त्वपूर्ण हो सकती है, जितनी उच्च वर्णवालों या तथाकथित कुलीनों की। कमाल यह है कि हमारे साहित्य में कबीर दादू, पीपा आदि अगणित उदाहरण मौजूद हैं, फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं और हम असलियत को नहीं देख पाते। सच तो यह है कि जब हम इन कोल-भील, संथालों और आदिवासियों का रहन-सहन, नृत्य, संगीत आदि देखते हैं, जब हम लोकगीतों की मधुर तानें सुनते हैं, जब हम पिछड़ी जाति के लोगों का नाच देखते हैं, जब हम भूलों की पेंगों, जाँतों और खेतों-खलिहानों से उठती स्वर-लहरियों को सुनते हैं, तो हमें यह निश्चय करना मुश्किल पड़ जाता है कि अधिक सभ्य और सुसंस्कृत कौन है—ये तथाकथित पिछड़े लोग या हम तथाकथित स्वनामधन्य नागरिक!

—'लोक-साहित्य का अध्ययन', ले०—श्रीकृष्णदास
[ 'साहित्यकार' (प्रयाग) अगस्त '५५ ई० ]

# नवीन...और...उल्लेख्य

समीक्षक—प्रो० शिवनन्दन प्रसाद

पाठकों को यह जानकर खुशी होगी कि 'उग्र' ने फिर लिखना शुरू किया है। पर, इस पुराने कलाकार का, साहित्य-रंगमंच पर, यह नवीन प्रवेश किस भूमिका में हुआ है? १९५५ में प्रकाशित पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' का कहानी-संग्रह 'कला का पुरस्कार'[1] हमारे

१. लेखक—पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'; प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६; मूल्य—तीन रुपये मात्र।

सामने है। हम इस नवप्रकाशित रचना के माध्यम से ही कलाकार के अन्तःप्रदेश में झाँकने का उपक्रम करेंगे।

लेखक को अपनी कला की शक्ति में ही नहीं, औचित्य में भी विश्वास है। यह विश्वास गलत या सही है, इसका फैसला वह प्रगल्भ, मुखर आलोचक पर नहीं, सहज श्रद्धालु, किन्तु मूक लोकमत पर छोड़ना चाहता है। प्रस्तुत संग्रह के प्राक्कथन में, जिसे वह अपनी परिपाटी में 'मुखड़ा' कहता है, उसके ये शब्द ध्यान देने योग्य हैं, "ऐसा लगता है, हिन्दी-साहित्य के न्याय-निर्णय-दिवस तक—जबकि धूल डालनेवालों की आँखों में उँगली डालकर गेहूँ को गेहूँ और भुस को भुस समझा जायगा—मैं वैसा ही शक्तिशाली और शक्तिप्रद रहूँगा, जैसा कि दार्शनिकों की आँखों में बराबर रहता आया हूँ। ऐसा लगता है, हाथ में कुल्हाड़ी लेकर वह आ गया है। वही सब के करतबों का लेखा-जोखा रखनेवाला सहज सत्यवादी लोक-मत। ऐसा लगता है, ओ मतलबी, मायाबी, मूर्ख आलोचक! अन्त में तू महामूर्ख साबित होकर रहेगा।" ये हैं 'उग्र' के उग्रता-भरे शब्द!

मूर्ख आलोचक की मूर्खता, ईश्वर करे, सिद्ध होकर रहे! किन्तु, 'उग्र' की रचना में लेशमात्र भी त्रुटि या स्खलन देखनेवाला प्रत्येक आलोचक मूर्ख जरूर है, इस मन्तव्य को लोकमत भी स्वीकार नहीं करेगा।

गाली देकर आलोचक को चुप करने या उसे प्रशस्ति-गान के लिए बाध्य करने का बाल-प्रयास उग्र जैसे प्रौढ़ कलाकार के अनुरूप नहीं।

इस संग्रह में पन्द्रह कहानियाँ हैं, जिनके शीर्षक इस प्रकार हैं—कला का पुरस्कार, आठवाँ स्वर, पोली इमारत, ब्लैक एण्ड ह्वाइट, रमा बी० ए०, उरूज, उसकी माँ, और तब महाराज कुमार को नींद आई, पीर, बाँके वीर, मेघराग, गम, चाँदनी, चित्र-विचित्र और मूर्खा। उपलक्षण रूप में एक कहानी पर विचार करना पर्याप्त होगा।

पहली कहानी ने ही संग्रह को शीर्षक दिया है। स्वभाव के निठल्लेपन के कारण पिता द्वारा निष्कासित कलाकार जहाँ-तहाँ घूम, भवन-निर्माण-शिल्प में विशिष्टता प्राप्त कर गाँव लौट आता है। धनपतियों के आमन्त्रण की उपेक्षा कर वह गाँव के नदीतट पर ही एकान्त-साधना करता है। पर, जब उसकी शर्तों पर, राजकुमारी के लिए कलाकुंज के निर्माण का आमन्त्रण कन्दर्पपुर के राजा की ओर से आता है, तो वह अपनी अपूर्व और अमर शिल्प-कृति के निर्माण का अवसर देख आमन्त्रण स्वीकार कर लेता है।

बिना पर्याप्त पारिश्रमिक लिये ही वह जी-जान से काम पूरा करता है। बार-बार राजा और राजकुमारी के मुँहमागा पुरस्कार देने के आश्वासन के फलस्वरूप वह राजकुमारी से पुरस्कार माँगता है—एक बार राजकुमारी का चरण-चुम्बन। साथ ही, वह अपने कुरूप, बेडौल अधरों से राजकुमारी के चरण चूम भी लेता है। राजकुमारी घृणा से भर उठती है। पीछे से आते महाराज यह कुकृत्य देख कलाकार को इतना पिटवाते हैं कि वह मर जाता है।

इस कहानी का प्रधान स्वर घृणा का है। कलाकार के पिता को अपने पुत्र से घृणा

है, उसके निठल्लेपन के कारण। कलाकार कलाधर को धनपतियों से घृणा है, कला में अनधिकार दखल देने की इनकी प्रवृत्ति के कारण, राजकुमारी को कलाधर का शिल्प-कौशल पसन्द है, किन्तु कलाधर से घृणा है, उसके कुरूप चेहरे के कारण। दिगन्तव्यापी घृणा के बीच से प्रेम की ज्योति फूटती हुई नहीं दिखलाई गई है। कलाकार प्राण खोकर भी प्रेम नहीं पा सका है। लगता है, कलाधर में 'उग्र' का व्यक्तित्व बोल उठा है—अपनी कला पर मुग्ध, संसार-भर को अरसिक और मूर्ख समझनेवाले उग्र का; उस 'उग्र' का जिसे एक साथ लोक-भावना की राजकुमारी ने आदर भी दिया है, तिरस्कार भी; जो अपनी अमूल्य सेवाओं के लिए सिर्फ इस कारण दण्डित होता रहा है कि वह समाज की रूढ़ मर्यादा का ध्यान खो बैठता है। 'उग्र' के विचारों में हृदयहीन आचारवादिता के प्रति उष्णता है, पर युगोचित आचार की सक्रिय प्रतिष्ठा के लिए निर्माणात्मक चिन्तन का नवनीत नहीं, जो कलादीप का आधार ले नये मनुष्य का पथ आलोकित करे। फिर भी, 'उग्र' की उष्णता ही उसकी शक्ति है जो उसकी भाषा के भंगिमा-विशेष में व्यक्त होती है। यह ठीक है कि इन कहानियों में 'उग्र' ने मानव-स्वभाव या समाज का संतुलित, यथार्थ मूल्यांकन नहीं किया है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'उग्र' की रचना स्थापत्य की दृष्टि में सर्वथा अद्यतन या अभूतपूर्व है। अपने व्यक्तित्व से पलायन कर विवेच्य के तटस्थ चित्रण में भी वह समर्थ नहीं। फिर भी, एक बड़ी बात है जो 'उग्र' को अमर बनाये रहेगी—वह है उसकी निर्भीक शैली, दो-टूक बात कहनेवाली भाषा, जिसकी गति और त्वरा असंदिग्ध है।

**रेडियो नाट्य-शिल्प**[1] का विषय जितना ही नवीन है, विवेचन उतना ही रोचक। यह बात नहीं है कि सिद्धनाथ जी ने जो कुछ लिखा है, मौलिक लिखा है। स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि 'अँगरेजी में इस विषय पर जो उपलब्ध सामग्री है, उसका पूरा उपयोग किया गया है।' लेखक की खूबी तो इसमें है कि उसने हिन्दी की व्यावहारिक पीठिका में विवेच्य को समझने-समझाने की कोशिश की है। न केवल उदाहरण अधिकांशतः हिन्दी के रखे गये हैं, वरन् विवेचन में भी इसका ध्यान रखा गया है कि औसत हिन्दी-पाठक को समझाना है, उस हिन्दी-पाठक को जो संभवतः इस विषय पर यह पहली पुस्तक पढ़ रहा है। अनावश्यक दुरूहता से लेखक ने बचना चाहा है, शब्दाडम्बर से परहेज ही रखा है। लेखक का दृष्टिकोण अध्येता का है, पंडित का नहीं। फिर भी विषय का प्रामाणिक और सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन ही उसका लक्ष्य रहा है।

ग्रंथ की विवेच्य सामग्री इन शीर्षकों से विभाजित है—ध्वनि-नाटक या रेडियो-नाटक; रंगमंच-नाटक और रेडियो-नाटक; रेडियो-नाटक; सीमाएँ और संभावनाएँ; रेडियो-नाटक के उपकरण; रेडियो-नाटक के प्रकार; रेडियो-रंगमंच तथा टेलिविजन-नाटक।

---

१. ले०—श्री सिद्धनाथ कुमार; प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी; मूल्य ढाई रुपये मात्र।

परिशिष्ट के रूप में अपने मन्तव्यों को उदाहृत करने के उद्देश्य से लेखक ने अपनी दो रचनाएँ दे दी हैं—एक है रेडियो काव्य-नाटक—'संघर्ष' और दूसरा है रेडियो-फैंटेसी—'वे अब भी क्वाँरी हैं !'

पुस्तक के आरम्भ में ही लेखक ने इसपर विचार किया है कि रेडियो-नाटक के लिए ध्वनि-नाटक शब्द कहाँ तक उपयुक्त होगा। 'ध्वनि-नाटक' शब्द उसे इसलिए पसन्द नहीं कि 'ध्वनि' शब्द की ध्वनि प्रसंग के अनुकूल नहीं। 'प्रसार-नाटक' शब्द पर लेखक ने विचार नहीं किया है। रंगमंच के लिए लिखे नाटकों में प्रभाव उत्पन्न करने के लिए अनेक साधन काम में आते हैं—दृश्य, पात्रों के वस्त्राभूषण, अंग-संचालन, परस्पर गति आदि। रेडियो-नाटक के लिए ये साधन बेकार हैं—वहाँ तो केवल ध्वनि से ही प्रभाव उत्पन्न करना संभव है, किन्तु ध्वनि से इतर तत्त्वों का अभाव रेडियो-नाटक की सीमा ही नहीं, शक्ति भी है।

रंगमंच, फिल्म और रेडियो के लिए लिखे गये नाटकों का अन्तर बताने के उपरान्त लेखक ने रेडियो नाटक के भाषा, संलाप, नैरेशन, ध्वनि-प्रभाव, संगीत आदि तत्त्वों पर विचार किया है। 'नैरेशन' के लिए भी कोई उपयुक्त हिन्दी शब्द लेखक ने नहीं प्रयुक्त किया है। नैरेशन के लिए 'नाट्य-विवरण' शब्द का प्रयोग बुरा नहीं होता। रेडियो-नाटक के विविध प्रकारों की चर्चा के प्रसंग में रेडियो-नाटक, रेडियो-रूपक, रेडियो-रूपान्तर, रेडियो-फैंटेसी या अतिकल्पना, मोनोलाग या स्वगत-नाट्य, संगीत-रूपक आदि पर विचार किया गया है। रेडियो-रूपक के रूपक शब्द का सम्बन्ध प्राचीन-नाट्य-शास्त्र के रूपक शब्द से नहीं है, वरन् अँगरेजी के 'फीचर' शब्द के लिए यह हिन्दी में रूढ़ हो गया है।

'रेडियो-रंगमंच' शीर्षक के अन्तर्गत नाटक-स्टूडियो की व्यावहारिक विशेषताओं का परिचय दिया गया है।

पुस्तक की भाषा सामान्यतः सरल और प्रवाहपूर्ण है, यद्यपि कहीं-कहीं वह कुछ शिथिल हो गई है।

सिद्धनाथ जी की पुस्तक द्वारा इस महत्त्वपूर्ण विषय पर एक प्रामाणिक ग्रंथ के अभाव की पूर्ति हो गई है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। फिर भी, इस आवश्यकता को अधोरेखांकित करने की दृष्टि से यह प्रयास अभिनन्दनीय है।

समीक्षक—श्री बजरंग वर्मा, एम० ए०

चन्द्रसखी और उनका काव्य[1] में शबनमजी ने हिन्दी-पाठकों के सम्मुख राजस्थान की एक भक्त कवयित्री 'चन्द्रसखी' के यत्र-तत्र बिखरे पदों का एक अभिनन्दनीय एवं श्लाघनीय संग्रह प्रस्तुत किया है। कुछ दिनों पूर्व डूँगर कालेज (बीकानेर) के प्रो० नरोत्तम दास स्वामी द्वारा संगृहीत तथा श्री ठाकुर रामसिंह, एम० ए० द्वारा सम्पादित 'चन्द्रसखी'

---

१. ले०—पद्मावती शबनम; प्रकाशक—लोक-सेवक-प्रकाशन; बुलानाला, बनारस; मूल्य—दो रुपये मात्र।

के कुछ भजनों का संग्रह 'चन्द्रसखी-रा-भजन' के नाम से प्रकाश में आया था। किन्तु, उसके संग्रहकर्त्ता एवं सम्पादक उसके माध्यम से उक्त कवि के बहुत थोड़े पदों को ही पाठकों के समक्ष रख पाये थे। शबनमजी ने और बहुत से नये पद 'बृहद्राग-रत्नाकर', 'रासपद-संग्रह', 'भक्तचिन्तामणि' आदि पद-संग्रहों से ढूँढ़ निकाला है। लोक-मुख से भी उन्हें कई नये पद मिले हैं। इस प्रकार इनका यह संग्रह हिन्दी में अपने ढंग का अकेला बन गया है। वन्दना, निर्वेद, बाललीला, राधावर्णन, बाँसुरी-वर्णन, वियोग और प्रेम-माधुरी इन सात वर्गों में सम्पूर्ण-पदों का विभाजन करके इन्होंने पाठकों के लिए अध्ययन की अच्छी सामग्री प्रस्तुत की है। चन्द्रसखी के पदों की तुलना में मीराँ के पद भी जहाँ-तहाँ दे दिये गये हैं। ऐसा करना आवश्यक भी था, क्योंकि चन्द्रसखी और मीराँ की विचारधारा में बहुत कम का अन्तर है, कहीं-कहीं तो शब्द-साम्य इतना अधिक मिलता है कि यह निर्णय करना भी कठिन हो जाता है कि अमुक पद वस्तुतः है किसका? कदाचित् इसी कारण सामान्य पाठक इस भ्रामक धारणा को अधिक मान्यता देते हैं कि 'चन्द्रसखी' के नाम से जो भजन हैं, वे मीराँ के ही हैं।

संग्रह की कुछेक विशेषताएँ और हैं। विदुषी सम्पादिका ने बड़े परिश्रम से प्रत्येक पद के पदान्तर ढूँढ़-ढूँढ़ कर अंकित कर दिये हैं, जिससे अन्वेषकों एवं अनुसन्धायकों के लिए यह बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस संग्रह की जो सबसे प्रमुख विशेषता है, वह है इसका 'परिशिष्ट', जिसमें देशज (राजस्थानी) शब्दों और मुहावरों का स्पष्टीकरण किया गया है। यह अंश सामान्य पाठकों के लिए बड़ा महत्त्वपूर्ण और लाभदायक सिद्ध होगा।

संग्रह के पूर्व भूमिका के रूप में ऐतिहासिक पृष्ठाधार के साथ चन्द्रसखी के स्थिति-काल उनके जीवन-वृत्त तथा उनके काव्य के सम्बन्ध में विचार करने का नातिसफल प्रयास किया गया है, किन्तु इस असफलता का कारण लेखिका का सामग्रीराहित्य ही है। लेखिका ने 'राजस्थान-भारती' पत्रिका (अप्रैल, १९५० ई०) में चन्द्रसखी के सम्बन्ध में प्रकाशित श्री मनोहर शर्मा के लेख का हवाला तो दिया है, किन्तु उसमें जो बातें कही गई हैं उनका खण्डन वह पुष्ट प्रमाणों से नहीं कर पाई है। उदाहरण के लिए, शर्माजी ने एक स्थान पर लिखा है—"चन्द्रसखी नामयुक्त भजनों का प्रणेता कहाँ का रहनेवाला, कौन था आदि बातें अज्ञात हैं। कहा जाता है कि सखी-सम्प्रदाय के किसी कवि ने अपना उप-नाम 'चन्द्रसखी' रखकर भजन बनाये। ये ही भजन चन्द्रसखी के भजन हैं.........राधा-माधव की प्रणय-लीलाओं में उनकी सखियाँ भी होती थीं, नायिका राधा को अन्तरंग-भूत। उसके नाम भी रखे गये हैं—ललिता, तारावती, चन्द्रसखी आदि-आदि मधुर और सरस। किसी कवि ने प्रेमाधिक्य में अपने को राधाजी की प्रियसखी 'चन्द्रसखी' समझा और यही नाम रखकर भजन बनाये। कहा जाता है कि वे ही भजन चन्द्रसखी के भजनों के नाम से लोगों के हृदय पर घर किये हुए हैं।" इसका खण्डन करते हुए लेखिका ने केवल इतना लिखकर संतोष कर लिया है—"यह कहना कि ये पद सखी-सम्प्रदाय के किसी

भक्त के रचे हुए हैं, मेरी विनम्र राय में युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता, क्योंकि प्राप्त पदों के आधार पर ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं जिसमें भक्त कवि ने अपने को राधाजी की प्रियसखी चन्द्रसखी समझा और यही नाम रखकर भजन बनाये। सखी-सम्प्रदाय के अन्य ग्रंथों में चन्द्रसखी का कहीं ऐसा उल्लेख नहीं मिलता है जिसके आधार पर इनको इस सम्प्रदायविशेष का कहा जा सके।" सच पूछिए तो इस सम्बन्ध में अभी पुष्ट प्रमाणों की आवश्यकता है। अन्यथा शर्माजी के कथन को ही अधिक बल मिल सकता है। कारण यह है कि सखी-सम्प्रदाय के बहुत से भक्त-कवियों के उपनाम इसी ढंग के मिलते हैं और उनका उल्लेख सम्प्रदाय के ग्रंथों में नहीं मिल पाता।

इन सब बातों के बावजूद भी, शबनम जी का यह प्रयास निश्चय ही अनुसंधायकों के लिए प्रकाश-स्तम्भ का काम देगा और आगे इस सम्बन्ध में जो कुछ शोध-कार्य होगा, उसका बहुत-कुछ श्रेय इन्हीं को मिलेगा।

पुस्तक का बहिरावरण साधारण होते हुए भी आकर्षक है। आरम्भ का 'शुद्धि-पत्र' मुद्रण के दोषपूर्ण होने की गवाही दे रहा है। मूल्य दो रुपया अधिक कहा जायगा।

**स्वदेश और साहित्य**[1]—में बँगला के क्रान्तदर्शी कथाकार तथा भारतीय लोकजीवन के चिन्तनशील महापुरुष शरत्चन्द्र की विचार-धारा को हिन्दी-भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। शरत् बाबू ने समय-समय पर भाषणों तथा निबन्धों को अपने विचारों से सम्पन्न किया है! प्रस्तुत पुस्तक उनके ऐसे ही भाषणों एवं निबन्धों का सुन्दर अनूदित संकलन है। हिन्दी में यह एक अभिनन्दनीय अभिनव प्रयत्न कहा जायगा। इसका श्रेय रूपान्तरकार को कम और इसके प्रकाशक को अधिक मिलना चाहिए। प्रकाशक ने अपने 'निवेदन' में लिखा है कि बहुत दिनों से वे शरत्चन्द्र की 'साहित्यिक विचारधारा' को हिन्दी में प्रस्तुत देखने के लिए प्रयत्नशील थे, और अन्त में डा० महादेव साहा जैसे भाषातत्ववेत्ता के सहयोग से वे इस सुकार्य को सम्पन्न कर सके हैं। इसीसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह योजना प्रकाशक की ओर से ही है, रूपान्तरकार की ओर से नहीं।

इस पुस्तक के प्रकाशक एवं इसके सम्पादक से मेरी एक छोटी-सी शिकायत है। और वह शिकायत शरत्चन्द्र के उन भाषणों एवं निबन्धों को लेकर है जिनमें उनकी 'साहित्यिक विचाराधारा' अभिव्यक्त नहीं हो पाई है। पुस्तक में ऐसे कई भाषणों और निबन्धों को स्थान मिला है। इनसे पुस्तक के कलेवर में अभिवृद्धि तो हो गई है, किन्तु उसकी उपयोगिता और स्वयं प्रकाशक की योजना को धक्का लगा है। पुस्तक के अन्तिम

---

[1] मूललेखक—शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, रूपान्तरकार—डा० महादेव साहा, प्रकाशक—हिन्दी-प्रचारक-पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस; मूल्य—साढ़े पन्द्रह आने।

पृष्ठों में 'परिशिष्ट' के शीर्षक से एक बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है। उसमें शरत्चन्द्र के जीवन की संक्षिप्त घटना-पंजिका दे दी गई है। हिन्दी का पाठक उससे संक्षेप में उनके विषय में बहुत-सी आवश्यक ज्ञातव्य बातें जान सकता है।

जिन लोगों को शरत्चन्द्र के इस प्रकार के कुछ भाषणों अथवा निबन्धों को मूल बँगला में पढ़ने का अवसर मिला है वे मेरे इस कथन से सहमत होंगे कि रूपान्तरकर्त्ता को अद्भुत सफलता मिली है। ऐसा ज्ञात होता है कि उसे दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है। हिन्दी में रूपान्तर का कार्य ऐसे ही सुयोग्य तथा अधिकारी भाषा-पंडित अपने हाथों में लें तो अच्छा हो।

आकर्षक बाह्यावरण, सुन्दर मुद्रण आदि सब कुछ पर ध्यान देते हुए साढ़े पन्द्रह आने मूल्य बहुत कम, नहीं के बराबर है। प्रकाशक ने इस सुलभ-साहित्य को प्रकाशित करके सस्ते प्रकाशन की जो परम्परा आरम्भ की है, इसके लिए वह धन्यवादार्ह है।

## समीक्षक—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

बँगला और उसका साहित्य[1] में हिन्दी के प्रसिद्ध बिहारी कवि श्री हंसकुमार तिवारी ने बँगला भाषा और उसके साहित्य का परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। इसमें सदियों की एक भाषा (बँगला) एवं उसकी साहित्य-साधना की परंपरा, प्रगति, प्रवृत्ति और इतिहास को उपसंहृत करने की त्रुटिहीन चेष्टा की गई है। अपने आदियुग से बँगला-साहित्य की धारा परम्परा की जिस पृष्ठभूमि पर प्रवृत्तियों की जिस नई-नई आवेग-लहरियों के साथ वर्त्तमान तक बहती आई है, उसकी एक परिचयात्मक रूपरेखा हिन्दी-पाठकों के लिए प्रस्तुत करना ही लेखक का उद्देश्य रहा है। लेखक ने अपने इस एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति में भरसक कोई कोशिश उठा नहीं रखी है।

पुस्तक में बँगला और इसके साहित्य के सात अंगों पर नातिदीर्घ प्रकाश डाला गया है। 'क्रम' इस प्रकार है—१. बँगला भाषा और उसका आदिकाल, २. आरम्भिक साहित्य की पृष्ठभूमि, ३. आदिकालीन साहित्य की रूपरेखा, ४. चैतन्य-पूर्व बँगला-साहित्य, ५. विकास-काल, ६. आधुनिक काल और ७. रवीन्द्रोत्तर काल।

सभी अंगों के विश्लेषण पर्याप्त रोचक और तोषक हैं, परन्तु 'आधुनिक काल' के विश्लेषण में, लगता है, लेखक को तद्विषयक पूरी-पूरी सूचनाएँ उपलब्ध न हो सकीं, अतएव यह अंग अपूर्ण-सा रह गया है। उदाहरण के लिए—क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद नाटककार (पृ० सं० १०७) के प्रमुख नाटकों को गिनाते समय लेखक ने उनके प्रमुख नाटक 'अलीबाबा' का नामोल्लेख छोड़ दिया है। बिहार के बंगाली साहित्य-विभूति विभूति मुखोपाध्याय

---

१. ले०—श्री हंसकुमार तिवारी; प्रकाशक-राजकमल-प्रकाशन, : दिल्ली; मूल्य—दो रुपये मात्र।

(पृ० सं० १४३) की सर्वप्रसिद्ध रम्यरचना 'कोसी नदीर चीठी' की चर्चा भी नहीं की गई है। अथच, आधुनिक साहित्यकारों के विवरण में परशुराम और रवीन्द्र मैत्र (पृ० सं० १४४) के बीच के कतिपय प्रमुख साहित्यकार अविवृत रह गये हैं। उद्धरणों में भी कुछ असंगतियाँ रह गई हैं। एक उदाहरण : नजरुल इस्लाम की सुप्रसिद्ध काव्यकृति 'अग्निवीणा' से उद्धृत 'आमि चिर उन्नत शिर' ( पृ० सं० १३० ) के स्थान पर 'बल चिर उन्नत मम शिर' पाठ वांछनीय है। इसके अतिरिक्त लेखक ने बँगला के शिशु-साहित्य की ओर बिल्कुल ही दृक्पात नहीं किया है। इस प्रकार की कुछेक त्रुटियों के बावजूद भी पाठकों को पुस्तक की असंदिग्ध उपादेयता का कायल होना पड़ेगा।

श्री तिवारी जी कोटि के काव्यकार होने के साथ ही निष्णात गद्यकार भी हैं। अतएव, इनकी भाषा में चोखापन और चुस्ती सर्वत्र पाई जाती है। मूलतः कवि होने के कारण इनके गद्य में सहज सरसता भी समान रूप से उपलब्ध होती है। विचार भी बड़े निर्भीक और निष्पक्ष हैं। एक उदाहरण :

"बंगाल की श्री-वृद्धि में अँगरेजों का बेशक बहुत बड़ा हाथ रहा है। यह सोचा भी नहीं जा सकता कि वे न आये होते, तो क्या होता। पर, उसी तरह अँगरेजी ने मातृभाषा और उसके साहित्य के प्रति विमुखता और उदासीनता का भी विष फैलाया था, जिसके लिए आगे चलकर समर्थ लोगों को ब-दस्तूर बहुत प्रचार-प्रसार करना पड़ा। अच्छी-से-अच्छी प्रतिभाएँ अँगरेजी-साधना में लग गईं, पढ़े-लिखे लोग बँगला-पुस्तकों को हेय समझकर अँगरेजी ही की चर्चा में लग गये। मुसलमानी शासन-काल में बंगालियों में ऐसी आत्म-विस्मृति कभी नहीं आई थी। अँगरेजी जाने क्या बयार आई और वे अँगरेज बनने के लिए पागल हो उठे।" ( आधुनिक काल : पृ० सं० ८८ )

प्रस्तुत पुस्तक श्री क्षेमचन्द्र 'सुमन' द्वारा संपादित होकर दिल्ली के 'सरस्वती-सहकार' की ओर से प्रकाशित करायी गई है। अतएव, मुद्रण निर्दोष और विषय-वस्तु परिष्कृत हुई है। बहिरावरण भी लोभनीय है।

**रवीन्द्र-कविता-कानन**[1] पुस्तक महाकवि निराला द्वारा प्रणीत है, जिसमें विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चुनी हुई जगत्प्रसिद्ध चमत्कारपूर्ण कविताओं का अर्थबोध उपस्थित किया गया है। कुल पौने दो सौ पृष्ठों की यह पुस्तक नौ अंशों में विभक्त है। प्रथम और नवम अंश में तो क्रमशः प्रकाशकीय वक्तव्य और परिशिष्ट है। शेष अंशों में क्रमशः परिचय, प्रतिभा का विकास, स्वदेश-प्रेम, महाकवि का संकल्प, शिशु-संबंधिनी रचना, शृंगार और संगीत-काव्य शीर्षक अपने-आप में अन्वर्थ हैं।

---

१. ले०—श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'; प्रकाशक—हिन्दी-प्रचारक-पुस्तकालय, बनारस; मूल्य—साढ़े पन्द्रह आने मात्र।

इस पुस्तक के प्रणयन में महाकवि निरालाने भागीरथ प्रयत्न किया है और बड़ी सावधानी के साथ, जैसा चाहिए था। फलतः पुस्तक की प्रत्येक पंक्ति सरसता से स्नात और प्रौढ़ता से पूत हो उठी है। रविबाबू का परिचय प्रामाणिक है, क्योंकि घटनाओं का उल्लेख उनके जोड़ासाकू (कलकत्ता) वाले भवन में स्थित कुटुम्बियों से पूछ-ताछ के बाद किया गया है, अथवा बंग-साहित्य के मासिक पत्रों की फाइलों से भी मसाला संगृहीत किया गया है। साथ ही जीवनी के शेषांश को पूरा करने में पं० नरोत्तम व्यास का भी वैदुष्यपूर्ण सहयोग है।

महाकवि 'निराला' आधुनिक हिन्दी-कविता के गौरवस्तंभ हैं। गद्यकार के रूप में उनका अपना विशिष्ट मौलिक स्थान है। रवीन्द्र-कविता-कानन उनकी सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य-रचना है। प्रकाशक ने अपना गौरव उद्घोषित करते हुए लिखा है—"महाकवि निराला की सर्वप्रथम साहित्यिक गद्य-रचना हमारे यहाँ से प्रकाशित हुई। उससे भी अधिक गौरव हम इस बात का करते हैं कि वह रचना हमारे स्थान को पवित्र कर उनके जैसे ऋषि ने प्रस्तुत की।"

सचमुच, निराला जी जैसे साहित्यस्रष्टा की रचना किसी भी प्रकाशक के लिए गौरव का विषय है। हिन्दी में निराला की सेवा सर्वविदित है। उस युग में हिन्दी-जगत् को, रवीन्द्र बाबू से परिचित कराने तथा उन्हें समझाने का सर्वप्रथम सफल प्रयत्न निराला ने ही किया है।

वस्तुतः प्रकाशक धन्यवादार्ह है कि उसने अमूल्य कवि की इस अमूल्य कृति का निर्मूल्यप्राय द्वितीय जन-सुलभ संस्करण प्रकाशित किया है। पुस्तक के परिशिष्ट में रवीन्द्र-ग्रंथों की जो सूची प्रस्तुत की गई है, उसमें डा० महादेव साहा जैसे भाषाविद् का सहयोग है। फलतः, पुस्तक की, शोध की दृष्टि से भी, महत्ता स्वीकार्य हो गई है।

महाकवि की विश्लेषण-शैली अपनी एक अलग सत्ता रखती है, एक अद्भुत विशिष्टता सँजोये रहती है। एक उदाहरण :

"नव रसों के समझने और उन्हें उनके यथार्थ रूप में दर्शाने की शक्ति जिसमें जितनी ज्यादा है, वह उतना ही बड़ा कवि है। जिस समय से देश पराधीनता के पिंजड़े में वन-विहंगम की तरह बन्द कर दिया गया है, उस समय से लेकर आज तक की उसकी अवस्था का दर्शन, उससे सहानुभूति उसकी अवस्था का प्रकटीकरण आदि उसके सम्बन्ध के जितने काम हैं, इनकी सीमा कवि-कर्म की परिधि के भीतर ही समझी जाती है, क्योंकि प्रकृति की यथार्थ अध्ययन करनेवाला कवि ही यदि देश की दशा का अध्ययन न करेगा तो फिर करेगा कौन ?—लल्लू बजाज और मैकू महतो ?" (स्वदेश-प्रेम : पृ० सं० ५२)

पुस्तक की छपाई सुन्दर और साफ है। बहिरावरण नयनाभिराम, साथ ही महाकवि निराला के चित्र से महनीय है। संक्षेप में, प्रस्तुत पुस्तक से साहित्य-संसार उपकृत हुआ है, निस्सन्देह।

समीक्षिका—श्रीमती स्वर्णलता प्रसाद, एम्० ए०

'अनुरक्ता'[1] अमर जर्मन-कलाकार स्टीफन ज्विग की अमर रचना—'अपरिचित नारी का एक पत्र' के सफल भावानुवाद के रूप में प्रस्तुत है। यह छोटी-सी पुस्तिका मानो गद्यकाव्य बनकर पाठकों का मनोरंजन करने की अधिकारिणी है। इसमें सरल, सुबोध भावों की ग्राह्यता के साथ ही स्वस्थ परिस्थिति के अभाव की परिमार्जित पूर्ति है। अथच, पात्र और घटनास्थल को भारतीय बनाकर प्राचीन हिन्दू-संस्कृति और वैशाली के वैभव का दिग्दर्शन कराया गया है। यही नहीं, शीर्षक को बदलकर इसकी रोचकता और सरसता में चार चांद लगा दिये गये हैं जिससे कि लेखक की योग्यता और दूरदर्शिता का परिचय मिलता है। एक युवक के अनुराग में अनुरक्त नायिका के एकांगी प्रेम, उद्वेग और उन्माद का सफल चित्रण बड़ी निखरी हुई भाषा-शैली में हुआ है।

दो पत्तियाँ, एक कली[2] अँगरेजी के प्रगतिवादी सुविख्यात लेखक डा० मुल्कराज आनंद के उपन्यास का सफल अनुवाद है। इसमें पूँजीपतियों के प्रति एक क्रान्तिकारी विद्रोह की भावना अभिव्यंजित है। असहाय मजदूर अपने मिल-मालिकों की यातनाओं की यमश्रृङ्खला में इस तरह जकड़ा हुआ है कि उसमें सोचने की कुछ-क्षमता शेष नहीं रह गई है। उसकी मानसिक कामना घटनाओं का ताँता में छूमंतर होकर मन में उठते हुए तूफानों से सतत आन्दोलित हो जाती है। मनुष्यता के प्रति असंतोष जागरित होते हुए भी आशा की एक किरण फूट जाती है। डीला हेवर की आत्मीयता और सुझाव यंत्रित जीवन को अपकृष्टता की ओर ले जाने से बचाते हैं। वर्गविशेष के एकपक्षीय जीवन की संभावित घटनाओं का चित्र भाषा-शैली की सरलता के कारण स्पष्टतः एक के बाद एक सामने आता है। उसका दूसरा पक्ष तो कारखाने के भोंपू की आवाज है जो उसे सोचने-समझने या उल्लसित होने नहीं देती।

अनुवाद की भाषा बड़ी ही सरस, सरल और प्रवाहमय है। अनुवादक श्री श्यामू संन्यासी जी हिन्दी भाषा के सुपरिचित कहानीकार हैं। अतएव, अनुवाद की सफलता संदिग्ध नहीं कही जा सकती।

---

१. मूल ले०—श्री स्टीफन ज्विग : अनु०—श्री सुरेन्द्रचन्द्र वार्ष्णेय, एम्० ए०; प्रकाशक—चेतना-प्रकाशन लिमिटेड, हैदराबाद (दक्षिण); मूल्य—एक रुपया पाँच आने मात्र।

२. मूल ले०—डा० मुल्कराज आनन्द : अनु०—श्री श्यामू संन्यासी; प्रकाशक—चेतना-प्रकाशन लिमिटेड, हैदराबाद (दक्षिण); मूल्य—चार रुपये पाँच आने मात्र।

सम्मेलन के दो नये प्रकाशन

## बिहार के उर्दू-शायर और उनकी शायरी

लेखक—श्री रज़ा नक़वी

इस पुस्तक में १३ वीं सदी से ही बिहार-प्रान्त में उर्दू-साहित्य के विकास की कहानी है। साथ ही, बिहार के पुराने और नये उर्दू-शायरों का संक्षिप्त परिचय और उनकी शायरी के चुने हुए नमूने, आवश्यक टिप्पणियों के साथ, दिये गये हैं। लेखक ने इसकी भूमिका में उर्दू और हिन्दी को एक ही भाषा सिद्ध की है। वर्तमान वर्ष के अन्त तक यह पुस्तक प्रकाशित हो जायगी।

## बिहार का साहित्य

इस पुस्तक में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापतियों के भाषण संगृहीत हैं। आरम्भ से आजतक के सभी सभापतियों के भाषण ज्यों के त्यों प्रकाशित किये गये हैं। इन भाषणों में बिहार के साहित्यिक इतिहास की प्रचुर प्रामाणिक सामग्री है। यह पुस्तक भी इस वर्ष के अन्त तक निकल जायगी।

प्राप्तिस्थान—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कदमकुआँ, पटना-३

---

## बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के आगामी प्रकाशन

१. शैवमत—डा० यदुवंशी (केन्द्रीय शिक्षा-विभाग, दिल्ली)
२. ईख और चीनी (सचित्र)—श्री फूलदेव सहाय वर्मा
३. बौद्ध-धर्म-दर्शन—ले० आचार्य नरेन्द्रदेव
४. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड (सचित्र)—श्री राहुल जी
५. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
६. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (पिशल-कृत)-(मूल जर्मन से अनूदित)—डा० हेमचन्द्र
७. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा (पटना-विश्वविद्यालय)
८. शिवपूजन-रचनावली—प्रथम और द्वितीय खण्ड—श्री शिवपूजन सहाय जी
९. मध्यदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन—डा० धीरेन्द्र वर्मा
१०. दोहा-कोश (बौद्ध-सिद्ध-सरहपा) सं०—श्री राहुलजी

---

## बिहार का साहित्यिक इतिहास

बिहार-राज्य के हिन्दी-प्रेमियों और साहित्यानुरागियों से नम्र निवेदन है कि 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' नामक ग्रन्थ तैयार हो रहा है। उक्त ग्रन्थ में बिहार-राज्य के लेखकों, कवियों, सम्पादकों, पत्रकारों, प्रकाशकों, साहित्यिक संस्थाओं, पत्र-पत्रिकाओं आदि का विवरणात्मक परिचय रहेगा। जिन सज्जनों ने अपनी जीवनी न भेजी हो, वे कृपया शीघ्र भेज दें। साथ ही, विस्मृत और स्वर्गीय साहित्यिकों के विषय में जो कुछ जानते हों, स्पष्ट लिख भेजें। प्रेषित विवरण में निम्नलिखित बातें अवश्य हों—(१) उपनाम-उपाधि-सहित नाम, (२) पिता का नाम, (३) जन्म-स्थान का पूरा पता, (४) जन्मकाल, (५) शिक्षा (समय और संस्था), (६) प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का पूरा ब्योरा, (७) रचनाकाल, (८) गद्य-पद्य-रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण, (९) विशेष उल्लेखनीय विषय।

—मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के सत्रह अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। मूल्य पौने तीन रुपये अजिल्द, पृष्ठ-संख्या १३२।

२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। मूल्य सवा तीन रुपये सजिल्द। पृष्ठ-संख्या ११५।

३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन–डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मूल्य साढ़े नौ रुपये। दो तिरंगे और १८८ इकरंगे ऐतिहासिक चित्र।

४. विश्वधर्म-दर्शन—श्रीसाँवलियाबिहारीलाल वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये। विश्व के प्रमुख धर्मों का इतिहास और परिचय।

५. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। १०० ऐतिहासिक चित्र तथा दो दुरंगे मानचित्र। सर्वत्र प्रशंसित।

६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश (प्रयाग-विश्वविद्यालय)। मूल्य आठ रुपये। गवेषणापूर्ण और मननीय।

७. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री। मूल्य चौदह रुपये। सात तिरंगे और बारह एकरंगे चित्र। पृष्ठ-संख्या पाँच सौ।

८. काव्यमीमांसा (राजशेखर-कृत)—अनुवादक, पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत 'संस्कृत-रत्नाकर'-सम्पादक। मूल्य साढ़े नौ रुपये। प्रामाणिक भूमिका और परिशिष्ट।

९. श्री रामावतार शर्मा-निबन्धावली—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। मूल्य पौने नौ रुपये। पाण्डित्यपूर्ण पठनीय निबन्ध।

१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद। मूल्य सवा सात रुपये। प्राचीन बिहार के मानचित्र के साथ ग्यारह एकरंगे ऐतिहासिक चित्र।

११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये। प्राचीन मुद्राओं और लिपियों के सत्ताईस सविवरण फलक।

१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी (प्रयाग-विश्वविद्यालय) पृष्ठ ६२५। मूल्य साढ़े तेरह रुपये। सुविस्तृत भूमिका-सहित।

१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्री गोरखनाथ सिंह। (भूतपूर्व शिक्षा-निर्देशक बिहार)। मूल्य डेढ़ रुपया। सजिल्द। पृष्ठ-संख्या ४२। राष्ट्रीय अर्थशास्त्र।

१४. रबर—श्री फूलदेव सहाय वर्मा। (कालेज-इन्स्पेक्टर, बिहार-विश्वविद्यालय) मूल्य साढ़े सात रुपये। पृष्ठ २२६, चित्र ६१। ज्ञानवर्द्धक और मनोरंजक।

१५. ग्रह-नक्षत्र—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। पृष्ठ ११८, रेखाचित्र ५०। मूल्य सवा चार रुपये। खगोल-जगत् का अद्भुत दृश्यदर्शक रोचक वर्णन।

१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरखप्रसाद (प्रयाग-विश्वविद्यालय)। पृष्ठ ७२, चित्र २१। मूल्य सजिल्द सवा चार रुपये। वैज्ञानिक विषय का मनोहर साहित्यिक वर्णन।

१७. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। मूल्य तीन रुपये, सजिल्द। भावात्मक चित्रयुक्त तिरंगा आवरण।

प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३ : मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-४

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-रजत-जयंती-विशेषांक

[वर्ष ६ : अंक ८–१२ ] कार्त्तिक–फाल्गुन, संवत् २०१२ :: नवम्बर '५५–मार्च '५६ ई० [ वार्षिक ७) : एक प्रति

सम्पादक

**शिवपूजन सहाय :: नलिनविलोचन शर्मा**

सहकारी

**श्रीरञ्जन सूरिदेव**

*

सम्पादकीय

| | | |
|---|---|---|
| श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' | ९ | सत्यं शिवं सुन्दरम् |
| श्री जगदीश पाण्डेय | १४ | उदात्त की भावना |
| श्री रामशंकर भट्टाचार्य | २२ | तन्मात्र : स्वरूप, उपपत्ति एवं साक्षात्कार |
| श्री यशदेव शल्य | ३५ | प्रवृत्ति की प्रकृति |
| श्री सिद्धेश्वर प्रसाद | ५४ | मार्क्सीय इतिहास-दर्शन का मूल्याङ्कन |
| प्रो० रामदीन पाण्डेय | ५८ | भारतीय वाङ्मय में चित्रविद्या |
| श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' | ६४ | शब्द और उसकी शक्ति |
| श्री दिनेश्वरप्रसाद | ७३ | 'कामायनी' का ऐतिहासिक आधार |
| डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा | ९१ | राजनीति और शासन में बिहार की देन |
| डॉ० कन्हैयालाल सहल | ९५ | राजस्थानी भाषा की शकुन-संबन्धी कहावतें |
| श्री बालशौरि रेड्डी | १०१ | आन्ध्र-कवि-सार्वभौम श्रीनाथ |
| श्री सूर्यनारायण व्यास | ११२ | मालव और मालव-जनपद |
| श्री व्रजशङ्कर वर्मा | १२० | बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन : दिग्दर्शन |

संकलन

★

# सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

**सभापति**—श्री देवव्रत शास्त्री (नवराष्ट्र-संपादक), **उपसभापति**—पं० श्री छविनाथ पाण्डेय, श्री श्यामनन्दन सहाय (उपकुलपति, बिहार-विश्वविद्यालय); **प्रधानमन्त्री**—श्री व्रजशङ्कर वर्मा (योगी-सम्पादक); **अर्थमन्त्री**—श्री उमानाथ, एम्० ए० (उपनिर्देशक, जन-संपर्क-विभाग); **साहित्यमन्त्री**—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; **प्रचार-मन्त्री**—श्री रामदयाल पाण्डेय, (भूतपूर्व 'पाटल'-संपादक); **प्रबन्ध-मन्त्री**—श्री बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल (प्रबन्धक, हिन्दुस्थान-समाचार-एजेंसी); **कला-मन्त्री** श्री व्रजनन्दन आजाद (संयुक्त संपादक, इण्डियन नेशन); **पुस्तकालय-मन्त्री**—कवि श्री आरसीप्रसाद सिंह। **सदस्य**—सर्वश्री शिवपूजन सहाय; प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम्० एल्० सी०; लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', एम्० एल्० ए० (अवन्तिका-सम्पादक); रामवृक्ष बेनीपुरी ('नई धारा'-संपादक); कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर', एम्० पी०; श्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार (आर्यावर्त्त-सम्पादक); गंगाशरण सिंह; मुकुटधारी सिंह, (युगान्तर-सम्पादक, झरिया); राधाकृष्ण (नाटक-निर्माता, आकाशवाणी, पटना), प्रिंसिपल कपिल (मुँगेर-कालेज); नीतीश्वर प्रसाद सिंह, एम्० एल्० ए० (सुहृद्-संघ, मुजफ्फरपुर); डा० गयाप्रसाद; डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, (प्रिंसिपल, ट्रेनिंग कालेज, भागलपुर) शम्भुनाथ वलियासे 'मुकुल' (प्रकाश-सम्पादक, देवघर); प्रो० श्रीमती यमुना वर्मा, एम्० ए०।

वर्ष ६ ] कार्तिक–फाल्गुन, संवत् २०१२ : नवम्बर '५५–मार्च '५६ ई० [ अंक ८–१२
सम्पादक—शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

## सम्पादकीय

### 'साहित्य' पुनः त्रैमासिक रूप में

इस छठे वर्ष में 'साहित्य' के तीन विशिष्ट और दो साधारण अंक निकले हैं। ये पाँच अंक मासिक रूप में प्रकाशित हुए थे। किन्तु दोनों साधारण अंक दो-दो मास के संयुक्त अंक के रूप में निकाले गये थे। इस प्रकार वास्तव में सात महीने के सात मासिक अंक निकल चुके हैं। इस रजतजयन्ती-विशेषांक में आठवें से बारहवें महीने तक के पाँच अंक सम्मिलित हैं। इन पाँच अंकों में एक विशिष्ट अंक के ९६ पृष्ठ और चार साधारण अंकों के ३२ पृष्ठ पूरे कर दिये गये हैं।

मासिक संस्करण निकालने का निश्चय विशेषत: दो कारणों से किया गया था। पहला यह कि 'रजिस्टर्ड' हो जाने से डाक-महसूल में किफायत होगी। दूसरा यह कि वर्ष के आठ साधारण अंकों में बिहार-राज्य की साहित्यिक प्रगति का मासिक विवरण क्रमशः प्रकाशित होता रहेगा, जिससे शेष चार विशिष्ट अंक केवल शोध-समीक्षापूर्ण पाठ्य-सामग्री के लिए सुरक्षित रह सकेंगे।

'सम्मेलन' ने अपने उक्त निश्चय के अनुसार कार्यारम्भ तो किया, पर न डाक-विभाग की सुविधा मिली और न हिन्दीप्रेमी जनता की सहानुभूति। वह सुविधा पाने के लिए समाचार छापना जरूरी था, जिसके लिए साधारण अंकों में स्थान का अभाव था, और विशिष्ट अंकों में समाचार छापना अभीष्ट न था। और, वह सहानुभूति अथवा सस्ती लोकप्रियता पाने के लिए कविता, कहानी आदि प्रकाशित करना आवश्यक था, जो सम्मेलन के 'साहित्य'-प्रकाशन का उद्देश्य ही नहीं है।

अतः विवश होकर 'सम्मेलन' को मासिक संस्करणों के प्रकाशन का निश्चय बदलना पड़ा। त्रैमासिक 'साहित्य' को हिन्दी-जगत् के विद्वान् साहित्य-सेवियों ने काफी पसन्द किया है।

सम्मेलन को इतना ही सन्तोष है कि त्रैमासिक 'साहित्य' की पैठ धीरे-धीरे विश्वविद्यालयों और उच्चशिक्षण-संस्थाओं तथा आदर्श पुस्तकालयों में होती जा रही है। —शिव०

## रजत-जयन्ती-समारोह के अध्यक्ष कविवर 'दिनकर'

सम्मेलन के रजतजयन्ती-महोत्सव ने उसके इतिहास में एक गौरवपूर्ण अध्याय जोड़ दिया है। इस समारोह के सिरमौर 'दिनकर' जी हैं, जिन्होंने अपनी ओजस्विनी वाणी और मर्मस्पर्शिनी लेखनी के प्रताप से समस्त राष्ट्र में बिहार का मस्तक उन्नत किया है। बिहार के हिन्दी-कवियों की उज्ज्वल परम्परा पर दृष्टिपात करने से यह बात सहसा ध्यान में आ जाती है कि महाकवि विद्यापति के बाद 'दिनकर' ही एक ऐसे बिहारी कवि हुए हैं जिनकी ख्याति बिहार की सीमा पार करके भारत-भर में फैली है। हिन्दी-प्रधान प्रान्तों के अतिरिक्त अहिन्दीभाषी क्षेत्रों में भी उनकी और उनके साथ-ही-साथ बिहार की भी कीर्ति का विस्तार हुआ है। यहाँ तक कि गत वर्ष उन्होंने पाश्चात्य जगत् की कवि-मण्डली में भी जाकर भारत-भाल-बिन्दी हिन्दी की महिमा घोषित की है। अतः बिहार का उनपर गर्व करना स्वाभाविक है।

यदि यह सचमुच सत्य है कि कवि के कण्ठ से भीतर का ब्रह्म बोलता है, तो हम निस्संकोच एक पुरानी बात का स्मरण करा देना असंगत नहीं समझते। सन् १९३३ ई० के नवम्बर महीने की 'गंगा' पत्रिका में 'दिनकर' जी की 'ताण्डव' और दिसम्बर के अंक में 'हिमालय' कविता प्रकाशित हुई थी, और १९३४ ई० की जनवरी में बिहारव्यापी भीषण भूकम्प हुआ। उस समय सहृदय साहित्यिकों में प्रायः यह चर्चा होती रही कि कवि के अन्तर्यामी ने एक-डेढ़ महीना पहले ही भूकम्प की भविष्यवाणी कर दी थी। इस तरह जगन्नियन्ता का संकेत कवि की अमर-वाणी में ध्वनित हुआ था।

सम्मेलन ने अपनी रजत-जयन्ती पर ऐसे भारतविख्यात बिहारी कवि को सर्वोच्च सम्मान देकर वास्तविक गुणग्राहकता का ही प्रदर्शन किया है। यह सम्मान 'नाल्पशस्तपसः फलम्'। इसका महत्त्व और भी बढ़ गया जब हमारे परमाराध्य राष्ट्रपति देशरत्न डाक्टर राजेन्द्रप्रसादजी महोत्सव का उद्घाटन कर रहे हैं और बिहार-राज्य के मुख्यमंत्री बिहार-केशरी डाक्टर श्रीकृष्णसिंहजी स्वागताध्यक्ष के आसन पर विराजमान हैं। साहित्य, संस्कृति और राजनीति का यह त्रिवेणी-संगम 'सम्मेलन' को आज पुण्य-तीर्थ बना रहा है। धन्य यह शुभ-संयोग! —शिव०

## वार्षिक महाधिवेशन के सभापति श्री मथुराप्रसाद दीक्षित

'सम्मेलन' के जन्मदाताओं में प्रमुख दीक्षितजी आज अपने ही हाथ के रोपे और अपने ही स्वेद के सींचे हुए हरिचन्दन की सघन-शीतल छाया में खड़े हैं, और वह हर्षोल्लास से उत्फुल्ल हो, उनपर स्नेह-सरस सम्मान-सुमनांजलि बरसा रहा है।

दीक्षितजी देश-सेवा के विविध क्षेत्रों में बड़े उत्साह से काम करते रहे हैं और लगन से काम करनेवालों के साथ सदा अपना कन्धा जोड़कर चले हैं। राजनीतिक क्षेत्र में वे

देश की स्वतंत्रता की लड़ाई के सिपाही रहे, और 'तरुण भारत' तथा 'देश'-नामक राष्ट्रीय साप्ताहिकों की सेवा में रहकर अपनी पत्रकार-कला का भी परिचय दिया। साहित्य की अभावपूर्त्ति के लिए उन्होंने 'कुँवर सिंह', 'नादिरशाह', 'चाणक्य', 'वैशाली', 'गोविन्दगीतावली' आदि गवेषणापूर्ण पुस्तकों को तैयार किया। धर्म और संस्कृति के क्षेत्र में वे स्वर्गीय दरभंगा-नरेश महाराजाधिराज रमेश्वर सिंह के निजी सचिव होकर बरसों काम करते रहे। समाज-सेवा के लिए वे मुजफ्फरपुर की नवयुवक-समिति और बिहार-प्रान्तीय सेवा-समिति के भी प्रमुख स्वेच्छा-सेवक हुए। जान पड़ता है कि उनकी चौमुखी सेवाओं से सन्तुष्ट होकर परमात्मा, अन्त में उनकी अग्निपरीक्षा के लिए, सम्मेलन की सेवा की कसौटी काम में लाना चाहता है। विश्वास है कि वह जो चाहेगा उसे निवाहेगा भी। तथास्तु।

—शिव०

## कविसम्मेलन के अध्यक्ष श्री वियोगीजी

रजतजयन्ती-समारोह और वार्षिक महाधिवेशन के साथ जो विराट् कवि-सम्मेलन हो रहा है उसके सहृदय सूत्रधार श्री वियोगीजी बिहार के आधुनिक कवियों में वयोवृद्ध एवं समादरणीय हैं। वे केवल कुशल कवि ही नहीं, कीतिशाली कथाकार, सिद्धहस्त संस्मरण-लेखक और बहुश्रुत विद्वान् तथा विख्यात व्यंग्यचित्रकार भी हैं। वे हास्यरस के तो एक प्रतिभाशाली लेखक हैं ही, हिन्दी-पाठक उनकी पत्रकार-कला की प्रवीणता से भी परिचित हैं। सम्मेलन ने उनकी दीर्घकालीन साहित्य-सेवा को समादृत करके अपने कमनीय कर्त्तव्य का ही पालन किया है। उनकी कला की अर्चना का यह उपयुक्त अवसर 'सम्मेलन' के ध्यान में आया, इसके लिए हम उसे बधाई देते हैं, और वियोगीजी के समान नायक-मणि को शोभा-सम्पन्न करनेवाले समवेत सरस्वतीनन्दन कविरत्नों की भी वन्दना करते हैं।

—शिव०

## सम्मेलन के सत्सेवकों का स्मरण

रजतजयन्ती के इस शुभ-अवसर पर सम्मेलन के उन निष्ठावान् सेवकों का स्मरण तथा अभिनन्दन करना कर्त्तव्य है, जिन्होंने सम्मेलन के निर्माण एवं संचालन में हार्दिक सहयोग देकर हिन्दी के हितसाधन का सतत प्रयास किया था और जो आज भी कर रहे हैं। ऐसे श्रद्धालु सेवकों में कुछ दिवंगत सज्जन भी हैं। उनमें श्री वैद्यनाथप्रसाद सिंह, रामधारी प्रसाद, युद्धविक्रम मारुक और राघवप्रसाद सिंह उल्लेखनीय हैं। वर्त्तमान सज्जनों में स्वयं सभापति दीक्षितजी, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, पण्डित छविनाथ पाण्डेय, रामवृक्ष बेनीपुरी और ललितकुमार सिंह 'नटवर' सादर स्मरणीय हैं। इस समय के अधिकारियों और सहायकों में सर्वश्री देवव्रत शास्त्री, व्रजशंकर वर्मा, उमानाथजी, व्रजनन्दन आजाद, रामदयाल पाण्डेय, आरसीप्रसाद सिंह, बालेश्वर प्रसाद अग्रवाल, सुधांशुजी, जगन्नाथप्रसाद मिश्र, साँवलियाबिहारीलाल वर्मा, श्रीकान्त ठाकुर विद्यालंकार तथा राजेन्द्र शर्मा सोत्साह सम्मेलन की सेवा में संलग्न रहे हैं और आज भी हैं।

सम्मेलन को इन सबके सहयोग का सहारा और भरोसा बराबर रहा है, अब भी है, आगे भी रहेगा। रजतजयन्ती के मंगलमय अवसर पर सम्मेलन अपने इन सभी सत्सेवकों और समर्थकों की आन्तरिक अभ्यर्थना करता है तथा भगवान से प्रार्थना करता है कि इनकी सेवाएँ चिर-काल तक सम्मेलन को सुलभ रहें। एवमस्तु।

—शिव०

## साहित्य-संवर्धन की विंशसूत्री पंचवर्षीय योजना

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को अब ठोस रचनात्मक कार्य करने को तत्पर होना चाहिए। उसके विचारार्थ हम एक योजना प्रस्तुत कर रहे हैं। हिंदी की अन्य संस्थाएँ भी यथारुचि, यथाशक्ति इस योजना की कार्यान्विति के लिए प्रयास कर सकती हैं। हम इस सम्बन्ध में प्राप्त सुझावों का स्वागत करेंगे। योजना की रूप-रेखा नीचे दी जा रही है—

### उद्देश्य—

सामान्यतः भारतीय साहित्यों और विशेषतः हिंदी-साहित्य का संवर्धन।

भारतीय साहित्यों का संग्रथन।

तात्त्विक अनुसंधान।

भारतीय भाषाओं का तुलनात्मक, भाषाशास्त्रीय अध्ययन। हिंदी-साहित्य की उपलब्धियों से, अँगरेजी माध्यम के द्वारा, भारतेतर संसार को परिचित कराना।

### कार्य-प्रणाली—

अवैतनिक निर्देशन; वैतनिक कार्यकर्त्ता।

निश्चित अवधि में लक्ष्य-पूर्त्ति।

पाँच वर्षों के लिए मनोनीत निर्देशक; कार्य-संचालन में सर्वाधिकार-संपन्न; नियुक्तियाँ और अनुशासन उसके अधीन; लक्ष्य-पूर्त्ति में असावधानी या विलम्ब होने पर पदच्युति।

### कार्य-क्रम—

१. हिंदी के साहित्यिक इतिहासों में विवेचित समस्त पुस्तकों के सुसंपादित संस्करण—प्रथम पाँच वर्षों में (क) सिद्धों की कृतियों, (ख) फारसी लिपि में बिहार के अंतर्गत प्राप्त प्रेमाख्यानों तथा (ग) बिहार के प्राचीन हिन्दी-कवियों की कृतियों के संस्करण एवं (घ) अनुसंधानकर्त्ताओं द्वारा पुराने दरबारों और मठों आदि के संग्रहालयों की छानबीन।

२. हिंदी-साहित्य-कोष का निर्माण—हिंदी-शब्द-सागर के द्वारा भी हिन्दी-साहित्य-कोष के अभाव की पूर्त्ति नहीं होगी; हिंदी-साहित्य-कोष में हिंदी की समस्त उपलब्ध रचनाओं में प्राप्त शब्दों की व्युत्पत्ति, अर्थ आदि रहेंगे; संस्कृत आदि के कोषों से शब्द न लेकर केवल हिंदी की पुस्तकों से ही लिये जायँगे; हिंदी में ऐसे शब्द-कोष की नितांत आवश्यकता है, जिसमें पृथ्वीराजरासो, सूरसागर, कबीर की कृतियों, पद्माकर की रचनाओं आदि का प्रत्येक शब्द विवेचित हो; ऐसा कोई कोष नहीं है, न इसकी कोई अन्य योजना बनी है।

३. हिंदी का ऐतिहासिक व्याकरण जिसमें होर्नले, बीम्स, केलाग आदि की समस्त गवेषणाओं का उल्लेख करते हुए, नवीन शोध प्रस्तुत हो।

४. उर्दू की महत्त्वपूर्ण कृतियों का नागरी में लिप्यंतर, पाद-टिप्पणियों में हिंदी के पाठकों की सुविधा के लिए कठिन शब्दों के अर्थ के साथ।

५. पुराण-कोष—समस्त उपलब्ध पुराणों के व्यक्ति, स्थान आदि के नामों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण बातों का संक्षिप्त उल्लेख तथा पूर्ण निर्देश।

६. हिंदी की प्रकाशित पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं में प्राप्त लेखादि का सूची-ग्रंथ।

७. पांडुलिपियों का संग्रहालय—मुख्यतः 'माइक्रोफिल्म' के रूप में, विभिन्न प्रदेशों के संग्रहालयों और विदेशों से प्राप्त कर।

८. भाषित बोलियों का संग्रहालय—'टेप-रेकर्ड्स' के रूप में।

९. अपभ्रंश-कोष—अपभ्रंश का कोई कोष आजतक नहीं बना है, जबकि सिद्धांत-रूप में माना यह जाता है कि आधुनिक भारतीय भाषाओं का उद्भव अपभ्रंशों से हुआ है।

१०. एक बृहत् ग्रंथ में समस्त प्रमुख भारतीय भाषाओं का भाषावैज्ञानिक विवरण।

११. (क) संस्कृत से अनुवाद—प्रथम पाँच वर्षों में पाँच बड़े और महत्त्वपूर्ण ग्रंथों का अनुवाद। (ख) हिंदी से अँगरेजी में अनुवाद।

१२. भारतीय साहित्यों का तुलनात्मक इतिहास—हिंदी, बँगला आदि प्रमुख भाषाओं के साहित्यों का, साहित्येतिहास की एक योजना में, विभिन्न युगों में विभक्त कर, तुलनात्मक अध्ययन।

१३. हिंदी काव्य, उपन्यास, नाटक, आलोचना से, हार्वर्ड क्लैसिक्स की तरह विस्तृत पाठानुबंध (Readings)।

१४. अन्य भाषाओं से भी इस प्रकार के पाठानुबन्ध तैयार करना—अभी किसी एक हिंदीतर भाषा के साहित्य से ही।

१५. संक्षिप्त भारतीय साहित्य-विश्वकोष—शिप्ले की 'डिक्शनरी आव वर्ल्ड लिट्रेचर' आदर्श, एक या दो खंडों में।

१६. संक्षिप्त भारतीय कला-कोष—एक या दो खंडों में।

१७. संक्षिप्त भारतीय लोक-कथा-कोष।

१८. विभिन्न संग्रहालयों में सुरक्षित पांडुलिपियों की सूची-प्रसूची—'कैटेलगस कैटेलेगोरम' आदर्श।

१९. त्रैमासिक कोष—देवनागरी लिपि में अँगरेजी से हिंदी-उर्दू-कोष।

२०. समस्त प्रमुख भारतीय भाषाओं की 'स्वाध्यापित पुस्तकमाला' ('सेल्फ टॉट' सीरीज)।

**टिप्पणी**—औसतन प्रत्येक कार्य के लिए एक लाख रुपये अपेक्षित हैं—अर्थात् संपूर्ण कार्य-क्रम के लिए २० लाख रुपये। जितने लाख रुपये सुलभ हों उतने कार्य तत्काल आरंभ किये जा सकते हैं।

—न० वि० श०

# हिंदी के प्रेमाख्यान और बिहार

स्व० रामचन्द्र शुक्ल की क्रांतदर्शिता का यह प्रमाण है कि प्रेमाख्यान-विषयक स्वल्प सामग्री के आधार पर ही उन्होंने उसके महत्त्व और व्यापकता का निर्देश किया था। हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने और पद्मावत के संपादन के समय उनके सामने जो सामग्री थी वह इतनी और ऐसी नहीं थी जिसके सहारे प्रेमाख्यान-परंपरा का सिद्धांत स्थापित किया जा सकता था। हाल तक भी एतद्विषयक सामग्री का अभाव ही रहा है। शिरेफ ने पद्मावत के अपने अँगरेजी अनुवाद की भूमिका में इसका संकेत किया है कि जिन ग्रंथों के आधार पर हिंदी के विद्वान् प्रेमाख्यान-परंपरा की बात करते हैं उनकी प्राचीन और प्रामाणिक प्रतियाँ उपलभ्य हैं ही नहीं! शुक्लजी ने, शोधकर्त्ता के रूप में, विश्वसनीय सामग्री का अनुसंधान करने के बदले, एक कल्पना-प्रवण इतिहासकार का काम किया, अर्थात् कुछ ही खंडों के साक्ष्य पर संपूर्ण का परिभावन कर लिया। उन्हें श्रेय इस बात का है कि उनका परिभावन इधर उद्घाटित साक्ष्य के प्रकाश में साधार प्रमाणित हुआ है।

जिस सद्य: उपलब्ध साक्ष्य का अभी ऊपर उल्लेख हुआ है उसके उद्घाटन के लिए हिंदी-जगत् पटना-कालेज के इतिहास-विभागाध्यक्ष श्री एस० एच० अस्करी का ऋणी रहेगा। हमने 'साहित्य' के पिछले अंक में हिंदी-जगत् की ओर से उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन किया है। इस टिप्पणी में हम उनके द्वारा प्रकाश में लाई गई सामग्री का संक्षिप्त विवरण देकर उसके मूल्यांकन का प्रयत्न करेंगे।

श्री अस्करी ने प्राचीन मुस्लिम परिवारों के व्यक्तिगत संग्रहालयों और खानकाहों की खाक छानी है और अनमोल रत्न ढूँढ़ निकाले हैं। जायसी की पद्मावत और अखरावट तथा कुछ अन्य प्राचीन हिन्दी-कृतियों की जो दुर्लभ पांडुलिपियाँ उन्हें मनेर में मिली थीं उनके महत्त्व का उल्लेख डा० माताप्रसादगुप्त-जैसे इस विषय के मान्य विशेषज्ञ ने किया है। जैसा स्वयं श्री अस्करी ने लिखा है, इस प्रकार की परिशंसा से प्रोत्साहित होकर उन्होंने इस दिशा में अनुसंधान जारी रखा और उन्हें मनेर में ही अवधी के अन्य दो कवियों, मौलाना दाउद और शेख कुतबन की काव्य-कृतियों की खंडित पांडुलिपियाँ हाथ लगीं।

जायसी ने कुतबन के जिस प्रेमाख्यान——मृगावती का सादर स्मरण अपने प्रेमाख्यान में किया है, उसकी सन् १५०२ में तैयार की गई एक प्रति का उल्लेख नागरी-प्रचारिणी सभा के सन् १९०० के अनुसंधान-प्रतिवेदन में है, किन्तु अब वह प्रति प्राप्य नहीं है। मनेर में मृगावती का जो अंश मिला है उसमें उसके रचयिता का कहीं नामोल्लेख नहीं है, किन्तु मिरगावत, रूपमंजरी, कंचनपुर, कंचननगर आदि व्यक्ति और स्थान नाम स्पष्टत: प्रमाणित करते हैं कि यह कुतबन की ही कृति का अंश है।

पं० परशुराम चतुर्वेदी ने 'सूफी-काव्य-संग्रह' में मृगावती के जो अंश संकलित किये हैं वे मनेर-संस्करण में नहीं हैं। चतुर्वेदीजी ने अपने संग्रह में उद्धृत अंशों के स्रोत का

निर्देश नहीं किया है, अतः उनकी प्रामाणिकता के विषय में हम कुछ कह सकने की स्थिति में नहीं हैं। चतुर्वेदीजी के द्वारा उद्धृत अंशों की कुछेक पंक्तियों से कुतबन की जीवनी और समय पर प्रकाश पड़ता है। इनके आधार पर चतुर्वेदीजी ने शुक्लजी तथा अन्य विद्वानों के इस मत का खण्डन किया है कि कुतबन के गुरु कालपी के शेख बुरहान थे और शाहे-वक्त शेरशाह के पिता हुसैन शाह। स्वयं चतुर्वेदीजी का मत कि कुतबन द्वारा उल्लिखित शाहे-वक्त, इसी नाम का बंगाल का राजा अलाउद्दीन हुसैन (१४९३–१५१९) था, श्री अस्करी को मान्य नहीं है, जिनके अनुसार कुतबन का संकेत जौनपुर के अन्तिम शर्की राजा हुसैन शाह की ओर है, जो दिल्ली के समकालीन सुलतान बहलोल लोदी और उसके पुत्र सिकन्दर लोदी द्वारा पराजित होने पर बंगाल के उपर्युक्त राजा का शरणागत हुआ था। श्री अस्करी के अनुसार कुतबन के गुरु शेख बुरहान शत्तारी थे, जो सिकन्दर लोदी के समकालीन और शत्तरिया सूफी संप्रदाय के प्रभावशाली पीर थे।

जहाँ तक मौलाना दाउद का प्रश्न है, उनकी कृति चंदाइन, चंदाबन या चंदावत में लोरिक और चंदा की प्रेम-कहानी वर्णित है। मौलाना दाउद का समय भी हिन्दी के विद्वान् निर्धारित नहीं कर पाये हैं। श्री अस्करी ने मुंतखाबत तवारीख के आधार पर यह प्रमाणित करने में सफलता पाई है कि फिरोज शाह के प्रधान मंत्री खाँ जहाँ की मृत्यु सन् १३७० में हुई और उनके पुत्र जूना शाह उसी वर्ष अपने पिता के पद पर आसीन हुए, और इन्हीं जूना शाह के नाम पर मौलाना दाउद ने लोरिक-चन्दा की प्रेम-कहानी लिखी।

श्री अस्करी का निश्चित मत है कि वह पंद्रहवीं शताब्दी में प्राप्त पांडुलिपि के कागज, स्याही और लिखावट के साक्ष्य पर तैयार की गई होगी। इतनी प्राचीन पांडुलिपि का महत्त्व स्पष्ट ही है।

श्री अस्करी के जिस अँगरेजी निबन्ध के आधार पर उपर्युक्त विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह पटना-कालेज के 'करेंट स्टडीज' के नये अंक में प्रकाशित है। श्री अस्करी ने अपने इस निबन्ध में कुतबन और दाउद की काव्यगत, भाषा-सम्बन्धी और सांस्कृतिक विशेषताओं का सोदाहरण विवेचन किया है।

श्री अस्करी के मूल अँगरेजी निबन्ध की एक बहुत बड़ी त्रुटि यह है कि उद्धरण रोमन लिपि में हैं, पर ध्वनि-निर्देशक चिह्नों का प्रयोग नहीं किया गया है। ध्वनि-निर्देशक चिह्नों से रहित रोमन-लिपि संस्कृत, हिंदी आदि भाषाओं को व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ है। फलतः उद्धरणों का महत्त्व बहुत कम हो गया है।

इसमें श्री अस्करी का कोई दोष नहीं। यह बिहार की साधन-संपन्न हिंदी-संस्थाओं का कर्त्तव्य है कि वे योग्य लिपिकारों की व्यवस्था कर श्री अस्करी के द्वारा संगृहीत पांडुलिपियों की नकल करा लें और स्वयं इस कर्मठ अनुसंधानकर्त्ता के लिए यथेप्सित साधन प्रस्तुत करें।

—न० वि० श०

## बिहार की बोलियाँ

बिहार की बोलियों के भाषाशास्त्रीय सर्वेक्षण और प्रतिनिधि उदाहरणों के स्थायी अंकन की शीघ्र व्यवस्था होनी चाहिए । इस दिशा में अन्य राज्यों को भी अविलम्ब सचेष्ट हो जाना चाहिए । ग्रियर्सन का भाषिक सर्वेक्षण पुराना पड़ चुका है । उन्होंने जो उदाहरण संकलित किये थे, वे लिखित रूप में ही प्राप्य हैं, अतः भाषाशास्त्रीय दृष्टि से उनकी उपोगिता सीमित है ।

भारतीय भाषाओं और बोलियों के सर्वेक्षण का आयोजन, हमने सुना है, केन्द्रीय सरकार कर रही है । यह काम होगा तो इतने बड़े पैमाने पर होगा कि देश की असंख्य बोलियों का अनिवार्यतः संक्षिप्त अध्ययन ही संभव हो सकेगा । अतः विभिन्न राज्यों को अपने-अपने क्षेत्रों की बोलियों के सर्वाङ्गीण अध्ययन के लिए स्वतंत्र रूप से प्रयत्न करना आवश्यक है ।

बिहार में यह काम राष्ट्रभाषा-परिषद् कर सकती है । इस काम में शीघ्रता इस कारण अपेक्षित है कि बोलियों का भाषित रूप तेजी से बदलता जा रहा है । किसी बोल के बोलनेवाले कितने हैं और उसकी भौगोलिक सीमा क्या है, ये बातें तो आज भाषा-विज्ञान से अधिक व्यावहारिक राजनीति के लिए महत्त्वपूर्ण हो गई हैं । उनके लिखित रूप की सुरक्षा के लिए भी भाषा-वैज्ञानिक को चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं रह गई हैं, क्योंकि ऐसी शायद ही कोई बोली हो जिसकी कम-से-कम दो-चार मुद्रित पुस्तकें सुलभ न हों । आवश्यकता इस बात की है कि बोलियों के वास्तविक और प्राचीनतम भाषित रूप सुरक्षित हो जायँ । आज जो भाषाएँ परिनिष्ठित हो गई हैं और जिन्हें साहित्यिक मर्यादा प्राप्त हैं, उनसे सम्बद्ध बोलियाँ उनसे प्रभावित होकर अपना भाषित रूप खोती जा रही हैं । इसलिए जरूरी यह है कि पट्टांकक ( Tape recorder ) लेकर प्रशिक्षित अनुसंधानकर्त्ता बोलियों के क्षेत्रों के नगरों से दूरतम भागों में जायँ, और जहाँ तक हो सके, नितांत अशिक्षित वृद्धों और स्त्रियों से बुलवाकर, बोलियों के प्रकृत भाषित रूप अंकित कर लें ।

हाल ही में इंग्लैंड के भाषावैज्ञानिकों ने यह काम शुरू किया है और उनका अनुभव है कि यह और पहले हो जाना चाहिए था । परिनिष्ठित साहित्यिक अँगरेजी अब दूरस्थ गाँवों तक पहुँच चुकी है । ऐसा नहीं है कि उसका शुद्ध भाषित रूप प्रत्येक ग्रामवासी के द्वारा अभ्यस्त हो चुका है, बल्कि वास्तविकता यह है कि उसकी बोली भाषा से प्रभावित होकर रूपांतरित हो चुकी है । यह खतरा—भाषावैज्ञानिक दृष्टि से—हमारे यहाँ की बोलियों को भी है । यदि शीघ्र ही उनके पट्टांक तैयार नहीं करा लिये जाते तो बहुत महत्त्वपूर्ण भाषाशास्त्रीय सामग्री लुप्त हो जायगी ।

—न० वि० श०

# सत्यं शिवं सुन्दरम्

## श्री रामधारी सिंह दिनकर

कला का सर्वोपरि धर्म सौन्दर्य है, किन्तु, सर्वोत्तम कलाकृति हम उसे कहते हैं जो सुन्दर होने के साथ सत्य भी हो और शिव भी, यद्यपि कलाओं में सत्यं शिवं सुन्दरं का समतुल समन्वय प्रायः दुर्लभ होता है। कवि कीट्स ने कहा था कि कल्पना जिसे सुन्दर समझती है वह सत्य भी माना जाना चाहिए, भले ही वस्तु-जगत् में उसका अस्तित्व न हो। फिर उसी कवि की घोषणा है कि सौन्दर्य ही सत्य है और सत्य ही सौन्दर्य, इस बात की अनुभूति जिसे हो चुकी है उसे और कुछ जानने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु, क्या सभी सौन्दर्य, सचमुच ही, सत्य होता है? अथवा क्या हम कह सकते हैं कि सभी शिव सुन्दर और सभी सत्य शिव होते हैं? प्रमाण के लिए यदि जीवन को देखें तो वहाँ प्रत्यक्ष विरोध के अनेक दृष्टान्त मिलेंगे। यक्ष्मा और कुष्ठव्याधि सत्य तो हैं, किन्तु, वे न तो शिव हैं और न सुन्दर। मृगमरीचिका देखने में अत्यन्त सुन्दर प्रतीत होती है, किन्तु, वह सत्य नहीं है और कुनैन जो इतनी शिव है उसमें सौन्दर्य का लेश भी नहीं है। फूल का फूल होना जितना सत्य है, पत्थर का पत्थर होना उससे कम सत्य नहीं है। फिर भी, फूल सुन्दर और पत्थर उससे कम सुन्दर माना जाता है। बादल बादल के रूप में जितना सुन्दर लगता है, हाथी का आकार लेने पर वह उससे अधिक सुन्दर हो जाता है, फिर भी बादल का हाथीवाला रूप असत्य है। नदी के जल में जो आकाश बिम्बित होता है उसके सामने असली आकाश की शोभा नहीं टिकती। फिर भी, असली आकाश सत्य और नदी का आकाश झूठ है।

प्रश्न उठता है कि जब जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर के बीच इतना विभेद है तब क्या कला और साहित्य के भीतर यह विभेद नहीं होता होगा? टाल्स्टाय का मत है कि जीवन में सत्य, शिव और सुन्दर के बीच हम जो विरोध देखते हैं, वही विरोध कलाओं के क्षेत्र में भी देखा जा सकता है, इसलिए, सौन्दर्य मात्र की उपस्थिति से कलाएँ पूजनीय नहीं हो जातीं। हमें यह भी देखना चाहिए कि उनमें शिव और सत्य की उपस्थिति के प्रमाण हैं या नहीं। सौन्दर्य का प्रमाण आनन्दमयता है, अतएव, कला का सबसे बड़ा लक्षण हम यह मानते आये हैं कि वह हमें प्रसन्नता से भर दे, हमें आत्मविस्मृति की अवस्था में पहुँचा दे। किन्तु, टाल्स्टाय कला की इस शक्ति को संदिग्ध दृष्टि से देखते हैं। उनका विचार है कि आनन्द को कला का एकमात्र धर्म मानना यह मानने के समान है कि भोजन का संपूर्ण गुण उसके स्वाद में है यानी इस बात में है कि चबाने में वह अच्छा लगता है। चवाने में अच्छा लगने से भोजन अच्छा माना जा सकता है, किन्तु, उससे यदि रक्त या उदर-विकार उत्पन्न होते हों तो उस भोजन को कुत्सित और त्याज्य ही समझना चाहिए।

कला के विषय में टाल्स्टाय के जो मत हैं, प्रायः, वैसे ही मत सर मोहम्मद इकबाल के भी थे। इकबाल की कसौटी यह थी कि कला, दर्शन और विज्ञान, सबका धर्म यह होना चाहिए कि उनसे जीवन में स्वास्थ्य और शक्ति की वृद्धि हो। अतएव, जिस कला

से जीवन में दुर्बलता आती है उसे इकबाल ने सर्वथा त्याज्य कहा है । इसीलिए, हाफिज़-जैसे आनन्दमग्न सूफी कवि के विषय में उनका यह कहना है कि "इन कवियों के गुलाबों से सावधान रहो, क्योंकि इन गुलाबों के भीतर साँप छिपे हुए हैं ।" इकबाल का मत था कि इस्लाम के दुर्बल होने का एक कारण यह भी रहा कि उसमें ऐसे कवि उत्पन्न हुए जिन्होंने सुन्दर की आराधना में शिव को बिलकुल विस्मृत कर दिया तथा उन भावों को तो उन्होंने खूब उभारा जिनसे आनन्दमयी जृम्भा संचरित होती है, किन्तु, ऐसे वेगों को जगाने की उन्होंने कोशिश ही नहीं की जिनसे जातियों में उत्साह भरता है । उनका विचार था कि भारत में भी कला ने जीवन को जगाये रखने की चेष्टा नहीं की, प्रत्युत, कभी तो उसने वैराग्य की शिक्षा दी और कभी यह सिखलाया कि आनन्द का एकमात्र उत्स कामाचार है । भारतीय कलाकारों पर चोट करते हुए एक कविता में उन्होंने लिखा है :—

*इश्को - मस्ती का जनाजा है तखैयुल इनका,*
*इनके अन्देशये तारीक में कौमों के मजार ।*
*मौत की नक्शगरी इनके सनमखानों में*
*जिन्दगी से हुनर इन बरहमनों का बेजार ।*
*चश्मे-आदम से छिपाते हैं मोकामाते-बलन्द,*
*करते हैं रूह को खाबीदा, बदन को बेदार ।*
*हिन्द के शायरो, सूरतगरो, अफसानानबीस ?*
*आह ! बेचारों के आसाब पर औरत हैं सवार ।*

भाव यह है कि इन कलाकारों के विचार प्रेम और मस्ती के जनाजे ढोते हैं तथा उनकी अन्धकारमयी कल्पना में जातियों की कब्रें बनती हैं । इनके चित्रागार में मृत्यु की चित्रकारी है तथा मानवता के इन ब्राह्मणों का शिल्प जिन्दगी से बेजार है । ये कलाकार जीवन के ऊँचे ध्येयों को मनुष्य की आँखों से ओझल रखते हैं । इनका काम आत्मा को सुलाना और शरीर को जाग्रत् करना है । भारत के कवि, चित्रकार और कथाकार की बातें मत पूछो । बेचारों की धमनी पर औरत चढ़ बैठी है ।

स्पष्ट ही टाल्स्टाय और इकबाल कला में सत्य और शिव की स्थापना चाहते हैं । कोरे सौन्दर्य के कारण वे किसी भी कला को स्वीकृति नहीं दे सकते । टाल्स्टाय के अनुसार केवल आनन्द देनेवाली कला उस भोजन के समान है जो केवल चबाने में अच्छा लगता है । और इकबाल कला में उपयोगिता खोजते हैं । उनकी दृष्टि में केवल आनन्दमयता और मनोरंजन यथेष्ट नहीं हैं । उनका कथन है कि "कला में अफीम-सेवन के छिए गुंजाइश नहीं होनी चाहिए । "कला के लिए कला" का सिद्धान्त पतनशीलता का प्रपंचपूर्ण आविष्कार है और उसका ध्येय भुलावे में डालकर हमें अशक्त बनाना है जिससे कि हमारे हाथों का अधिकार दूसरों के हाथ में चला जाय ।"

टाल्स्टाय और इकबाल कला के नैतिक पक्ष को ऊँचा करना चाहते हैं, किन्तु ऐसे भी विचारक और कलाकार हुए हैं जो कला को नीति और उपयोगितावाद के घेरे में

नहीं रखना चाहते । उदाहरणार्थ, रवीन्द्रनाथ ठाकुर कला को आनन्द का पर्याय मानते हैं। उनके अनुसार, "कला की आत्मा आनन्द है, और वह भी ऐसा आनन्द जिसमें किसी भी उद्देश्य की गन्ध नहीं हो।" रवि बाबू का तर्क यह है कि उपयोगिता का घेरा वहीं तक है जहाँ तक मनुष्य और पशु एक हैं, जहाँ तक उनके जीवन-यापन और आत्मरक्षा का सवाल है। मनुष्य जबतक इस घेरे के भीतर रहता है तबतक वह पशु से भिन्न नहीं है। मनुष्य पशु से भिन्न तब होता है जब वह उपयोगिता के घेरे से निकलकर ऐसे कार्य करने लगता है जिनका कोई उपयोगी लक्ष्य नहीं होता, जो आनन्द से प्रेरित होकर आनन्द का ही संचार करते हैं। कला मनुष्य के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है और मनुष्य तबतक व्यक्तित्वशाली होने का दावा नहीं कर सकता जबतक वह उपयोगिता के घेरे में रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति में लगा हुआ है। "वैयक्तिक मनुष्य का जन्म ही उस लोक में होता है जहाँ पहुँचकर हम शरीर और मन, दोनों की, सभी प्रकार की आवश्यकताओं से मुक्त हो जाते हैं, जो लोक-उपयोग और मसलहत की दुनिया से कहीं ऊँचा और महान् है।"

इस प्रसंग को दृष्टान्तपूर्वक समझाते हुए रवि बाबू ने लिखा है कि स्त्री का उपयोग माता, बहिन, सखी या समाजसेविका के रूप में बहुत है, किन्तु, यह उसका व्यक्तित्व नहीं कहा जा सकता। उसका व्यक्तित्व तो उसकी प्रसन्न मुद्रा में है, उसकी सजधज और रंगीनी तथा उसकी गति की भंगिमा और अदाओं में है। "नारी का जो असली रूप है, वह उसकी सजधज की चित्रमयता तथा वाणी एवं गति की संगीतमयता में प्रकट होता है। नारी क्या है, इस जिज्ञासा का समाधान उसके उपयोगी होने में नहीं, बल्कि उसकी आनन्दमयी मुद्राओं में मिलेगा।"

और योद्धा का व्यक्तित्व भी उसके युद्ध-कौशल में नहीं है। युद्ध तो एक आवश्यक कृत्य है, अतएव, उसके भीतर से योद्धा के व्यक्तित्व की अभिव्यंजना नहीं हो सकती। व्यक्तित्व की अभिव्यंजना के लिए उसे बाजे चाहिए। सजावट और पोशाक चाहिए। "योद्धा में जो योद्धा होने की तीव्र चेतना है उसकी अभिव्यक्ति के बिना उसका व्यक्तित्व व्यंजित नहीं हो पाता, यद्यपि, इस चेतना की अभिव्यक्ति केवल अनावश्यक ही नहीं, कभी-कभी आत्मघातक भी हो सकती है।"

कला आत्मघातक भी हो सकती है, इस निष्कर्ष को रवीन्द्र, टाल्स्टाय और इकबाल, तीनों मानते हैं। फर्क यह है कि टाल्स्टाय और इकबाल आत्मघातक कला को प्रश्रय देना नहीं चाहते, किन्तु, रवीन्द्र, संभवतः, ऐसी किसी भी कलाकृति का निरादर नहीं करेंगे जिसमें हृदय को मोहित करने की शक्ति हो। आत्मघातक अथवा अनावश्यक विनाशकारी तो कभी-कभी क्रांति भी होती है, देशप्रेम भी होता है, औचित्य का अतिक्रमण करनेवाला साहस भी होता है, किन्तु, इससे क्रान्ति, देशप्रेम और साहस का मूल्य नहीं घटता। रवीन्द्र भी यहाँ सौन्दर्य की शूरता का पक्ष ले रहे हैं। जैसे अन्य अनेक दिव्य भावों पर आसक्त होने के कारण मनुष्य विनाश को प्राप्त होता है और उसे हम बुरा नहीं समझते, उसी प्रकार, सौन्दर्य की अभिव्यक्ति अथवा आसक्ति में विनष्ट होना निन्दनीय कर्म नहीं है, यह निष्कर्ष रवि बाब के कथन से आसानी से निकल आता है।

रवि बाबू ने जो बात हलके संकेत में कही उसी बात को क्रोसे ने बड़े जोर से रखा है। क्रोसे उन सभी लोगों के विरुद्ध हैं जो कला का निरादर केवल इसलिए करना चाहते हैं कि उससे नैतिकता की सीमाएँ टूटती हैं और समाज में कदाचार फैलता है। क्रोसे कहते हैं कि कलाओं के सौन्दर्य से यदि समाज में अपराधियों की संख्या बढ़ती है तो इसका उचित उपाय यह है कि समाज पुलिस की संख्या बढ़ाये। किन्तु, यहीं उन्होंने भूल की है। क्रोसे का ध्यान, कदाचित्, इस बात पर नहीं गया था कि समाज की असली पुलिस का नाम गाँधी, टाल्स्टाय और इकबाल है। गाँधी, टाल्स्टाय और इकबाल समाज में रोज पैदा हों, यह बहुत अच्छी बात है, किन्तु, उनकी जिम्मेवारी बढ़ाने की बात तो अच्छी नहीं समझी जायगी। क्या कलाकारों का यह कहना कोई न्याय की बात है कि बाँध तो हम काटेंगे ही, क्योंकि यह हमारा धर्म है; अब यदि पानी रोकना आवश्यक समझो तो छेद भरनेवालों की संख्या बढ़ाते चलो ?

टाल्स्टाय ने कला के संबंध में जो मत रखा उसका खंडन अनेक विचारकों ने किया है, किन्तु, पूरी तरह वह खंडित नहीं हो पाया। आचार का अतिक्रमण करने के कारण मेकियावेली का दर्शन निन्दित समझा जाता है; आचार का अतिक्रमण करने के कारण आज का विज्ञान आलोचना का विषय बन गया है। फिर क्या कारण है कि कला और साहित्यवालों को अनाचार की छूट दी जाय ?

जार्ज रसल कोई श्रृंगारी कवि नहीं थे, न उनकी रसिकता ही जोरदार थी। किन्तु, उन्होंने भी लिखा है कि बाइबिल में यह कहा गया है कि "मैदान में खिलते हुए फूलों को देखो। ये फूल न तो मेहनत करते हैं, न चरखे पर सूत कातते हैं, फिर भी, उनमें से एक-एक की ऐसी शोभा है कि अपने समस्त आभूषणों से भूषित सम्राट् सोलमन की सुन्दरता भी उसके सामने हेच है। किन्तु टाल्स्टाय शायद इन्हें सुन्दर नहीं समझते, क्योंकि ये फूल न तो परिश्रम करते हैं, न सूत कातते हैं और न अपना अस्तित्व सिद्ध करने को कोई प्रचार ही करते हैं।"

टाल्स्टाय ने कला के नैतिक पक्ष को ऊपर उठाने की कोशिश में बहुत-सी अतिवादी बातें भी कही हैं जिन्हें देखते हुए जार्ज रसल का यह प्रहार बहुत अनुचित नहीं लगता। फिर भी, यह सत्य है कि कला में सौन्दर्य के साथ स्वास्थ्य भी होना चाहिए, यद्यपि, यह स्वयंसिद्ध है कि सच्चा सौन्दर्य तबतक आ ही नहीं सकता जबतक शरीर के भीतर स्वस्थ रक्त का संचार नहीं हो। पौमेड, पफ और लिपस्टिक से भी रूप सँवरता है, किन्तु, जो आँखें सहज सौन्दर्य का रस पान कर चुकी हैं, वे रंगों के लेप पर नहीं रीझ सकतीं और जिसके भीतर सहज स्वास्थ्य का सौन्दर्य विद्यमान है वह रंगों के लेप का सहारा ही क्यों लेगी ?

*सहजहिं आनन सुन्दर रे, भौंह सुरेखलि आँखि,*
*पंकज मधु पिबि मधुकर रे, उरय पसारल पाँखि।*

एक अन्य दृष्टि से देखें तो कला कलाकार के जीवन का प्रस्वेद होती है। इसीलिए, कला में छद्म का काम नहीं चल सकता। यदि आपने प्याज खाया है तो आपके प्रस्वेद में उसकी गंध आयेगी। यदि आपने केसर का सेवन किया है तो उसका सौरभ आपके स्वेद

को भी सुवासित रखेगा। जो लोग यह कहते हैं कि कला में भाव नहीं, शैली का प्राधान्य है, मेरा उनसे भी विरोध नहीं; क्योंकि मैं मानता हूँ कि भाव और शैली, ये दो वस्तुएँ नहीं हैं। एक ही भाव अनेक कवियों में उठ सकता है, किन्तु जिस रूप में उसे मैं ग्रहण करूँगा उससे मेरी शैली बनेगी और जिस रूप में उसे अन्य कवि ग्रहण करेंगे उससे उनकी शैली निर्धारित होगी। शैली भाव-ग्रहण की पद्धति का नाम है और यह पद्धति इस बात पर निर्भर करती है कि कलाकार का हृदय किस दिशा की ओर देख रहा है, वह किस गहराई या ऊँचाई के ध्यान में है। शैली भी भाव की भाँति ही पूर्व-निश्चित होती है। कलाकार उससे भाग नहीं सकता, वह उसे बदल भी नहीं सकता। कठिनाई यह है कि कला को केवल शैली मानने से नहीं चल सकता, क्योंकि इसी मतवाद से वे खतरे आते हैं जिनकी ओर टालस्टाय और इक़बाल ने संकेत किया है; न शैली और भाव के बीच विभाजन ही चल सकता, क्योंकि कविता पढ़ते समय हम यह नहीं जान सकते कि इस कविता से जो आनन्द हमें मिल रहा है उसका इतना प्रतिशत तो भाव का आनन्द है और इतना प्रतिशत शैली का। शैली और भाव, दोनों एक हैं और दोनों के भीतर से कलाकार का एक ही व्यक्तित्व व्यंजित होता है।

कला में सफलता प्रत्येक स्तर पर मिल सकती है और कला की दृष्टि से सभी सफलताएँ समान हैं, फिर भी जिस कलाकार का जीवन ऊँचा है उसकी कृति में कोई एक विलक्षण गुण आ जाता है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। कला की कसौटी पर कसे जाने से बिहारीलाल तुलसीदास के समकक्ष ही ठहरेंगे। फिर भी, रामचरितमानस बिहारी-सतसई से क्यों श्रेष्ठ है? उत्तर रामचरितमानस में प्रयुक्त कला में नहीं, बल्कि, तुलसीदास के व्यक्तित्व में मिलेगा जो बिहारीलाल के व्यक्तित्व से उन्नत और महान् था।

सच तो यह है कि सत्य, शिव और सुन्दर का समन्वय केवल कलम या कूँची से नहीं किया जा सकता। इस समन्वय की साधना आचरणों से की जाती है। पाप ख़ूबसूरत होने पर भी पाप है चाहे वह जीवन में हो या काव्य में। इसी तरह, जो सुन्दर नहीं है वह सत्य हो या शिव, हम उसे कला की कृति नहीं कह सकते चाहे वह धर्म का ही आख्यान क्यों न हो। कैसे प्रत्येक सत्य शिव और सुन्दर तथा प्रत्येक सौंदर्य शिव और सत्य हो जाता है, इसका उत्तर कारीगर की कारीगरी में नहीं, प्रत्युत, उस व्यक्ति के व्यक्तित्व में मिलेगा जो पाप-पुण्य से ऊपर उठ चुका है, जो परम सौन्दर्य में पगा हुआ विस्मित और विभोर है तथा जो प्रत्येक सौन्दर्य के सत्य और शिव-पक्ष तथा प्रत्येक सत्य के शिव और सुन्दर पक्ष को छोड़कर और कहीं दृष्टि नहीं डालता। किन्तु ऐसे कलाकार संसार में कितने हुए हैं? दुःख की बात है कि ऊँची मनुष्यता और निश्छल सौन्दर्योन्माद, इनका मिलन कम हो पाता है, किन्तु जब-कभी ये दोनों गुण एक व्यक्ति में मिल जाते हैं तभी हमें वह कलाकृति प्राप्त होती है जो एक साथ सत्य, शिव और सुन्दर, तीनों गुणों को आलिंगित किय रहती है।

---

# उदात्त की भावना

( सैद्धान्तिक पक्ष )

श्री जगदीश पाण्डेय, एम० ए०

( गतांक से आगे )

( ७ )

**सूक्ष्मोदात्त**—जहाँ सत्ता की उन्नत भूमिका के दर्शन होते हैं या स्थूल से मुक्त सत्ता के दर्शन होते हैं, वहाँ सूक्ष्मोदात्त होता है। शरीर से ऊपर उठकर प्राण, मन, आनंद, गति, चिन्मयता, भाव, विचार, कल्पना की उन्नत भूमियाँ इसके दर्शन के विषय हैं। "पियो, इतना पियो कि संसारचक्र अपनी कील पर नाचने लगे" में मस्ती का, तृषा का उदात्त सुलभ है। इसमें कायिक विस्तार नहीं, उसके भीतर के प्राण और मन का उन्मुक्त नर्त्तन है। ॐ शब्द सूक्ष्मोदात्त के भीतर आयेगा। 'हस्तामलकवत्' शब्द बड़ा है, लेकिन ॐ शब्द के उच्चारण में स्फोट और शक्ति तथा विशुद्ध ध्वनि का आरोह शीघ्र ही समाधि ला देता है। मृगराज की आँखों में जिस उदात्त के हम दर्शन करते हैं वह उनमें अभिव्यक्त 'दर्प' के कारण। स्थूल कायिक प्रसार या संकोच को छोड़ जहाँ अभिव्यक्त अर्थ, गति अथवा भाव की लोकातिशयता और उत्कर्ष देखने को मिलें वहीं सूक्ष्मोदात्त होगा। खुश्क रोटी और प्याज लिये एक फटेहाल, कुरूप आदमी बैठा है। उसको देख सम्पत्ति और सभ्यता की ऊँची सवारी करनेवाला एक श्रीमान् नागरिक आत्म-तुच्छता तथा आलोक से भर जाता है। चिथड़ों का वह दरिद्र बातचीत में बोल उठता है, "आह! खुश्क रोटी हो और उसके साथ प्याज, तो बस, स्वर्ग! अवश्य ही इसे स्वर्ग से किसी ने टपाया होगा! वह मानवता का शीर्ष कल्याणबन्धु है और स्वयं कल्याणकृत! अहा-हा! यह समीर और यह हेमकिरण! अवश्य ही किसी दयाधनी ने आज स्वर्ग का वातायन उन्मुक्त कर दिया है और धरती निहाल हो उठी है। आज कोई भी प्रेम से भर लेगा।" सभ्यता के बाबू, दीनता के बीच उन्नत आत्मा का ऐसा-लोकोत्तर आलोक पाकर बेचारे बन जाते हैं। चिन्मयता के कारण यह सूक्ष्मोदात्त का उदाहरण हो जाता है। चिन्मयता का अर्थ यहाँ षट्चक्रभेदन का गोरखधंधा नहीं है, बल्कि चित्त का वह परिष्कार जो भौतिक स्तर से ऊपर उठ चुका है। उसी तरह बरगद की अपेक्षा आँधी का नर्त्तन सूक्ष्म है। कोई एक योजन में एक प्रतिमा बनाये और दूसरा एक छोटी-सी तस्वीर में विषाद की लोकातिशयता दिखा दे—दोनों में भेद है। घनीभूत अभिव्यंजना के लिए विस्तार नहीं, छोटा पैमाना ही अपेक्षित है, मात्र बिन्दु काफी है। जहाँ किसी लोकोत्कृष्ट भाव या विचार का प्रतीक बनकर कोई छोटी चीज भी आती है वहाँ वह सीमित विस्तार के बावजूद, सूक्ष्म अर्थ-गर्भ के कारण सूक्ष्मोदात्त कही जायगी। इस तरह जहाँ विस्तार से भिन्न अर्थ गर्भत्व, भावगर्भत्व अथवा प्राण, मन या गति की अवस्था के चलते उदात्त हो, वहाँ सूक्ष्मोदात्त होगा। **रूपक, प्रतीक तथा अरूप को इंगित करनेवाली अन्योक्ति इसके विभावन में बहुत ही सहायक होगी,** इसपर आगे विचार करेंगे।

**मूल्योदात्त या श्रेयोदत्त**—जहाँ अहं से आबद्ध रहते हुए किसी आदर्श या मूल्य **(Values)** के लिए उत्सर्ग-भोग की उन्नत भूमिका देखने को मिले वहाँ मूल्योदात्त होगा।

मूल्य का अर्थ आदर्श या सत्य, शिव और सुन्दर में से किसी के प्रति निरपेक्ष निष्ठा है। "मेरी शादी तो कला से हो चुकी है, अब किसी कलाकार से नहीं हो सकती" ऐसा गाल्सवर्दी की एक कहानी में कलानुरागी नायिका कहती है। वह उपयोगिता, मध्यम-मार्ग तथा सुविधा के प्रति अनुरक्त सांसारिकों की उपेक्षा, विरोध तथा प्रतिद्वन्द्विता के बावजूद कला की चरम परिणति के लिए जीती है और मरती भी। अर्थपिशाचों के घोर निर्मम वातावरण में एक चमार के शरीर, सम्पत्ति, सुख और जीवन का दारुण क्षय इसलिए होता है कि वह साधुता तथा कला-सौष्ठव का त्याग नहीं कर सकता। वह जूते में जूते की आत्मा भर देना चाहता है। संघर्ष करते-कराते घुट जाता है, लेकिन आदर्श के उत्तुंग शिखर को छोड़ना उसके पुरुषार्थ, उसके स्वाभिमान को गवारा नहीं। उसी तरह ज्ञान के विकास के लिए एक विष के स्वाद का पता लगाने में जान-बूझकर अपनी बलि दे देनेवाला वैज्ञानिक मूल्योदात्त का उदाहरण बन जाता है। मूल्योदात्त इस बात का रहस्य-संकेत है कि मनुष्य निरपेक्ष मूल्यों के आस्वादन या भोग का, क्षुद्र सांसारिक पदार्थों की आसक्ति से, अधिक महत्त्व मानता है। मूल्योदात्त शीलगत चीज है, केवल शीलगत। उसके लिए तुलनात्मक बुद्धि तथा उत्सर्गवीरता चाहिए। जड़ पदार्थों या मानवेतर प्राणियों पर मानुषी धर्मों का आरोप करके ही उन्हें मूल्योदात्त का आलम्बन बनाया जा सकता है। जहाँ सूक्ष्मोदात्त में अरूप का दर्शन है, वहाँ मूल्योदात्त में अरूपराग या आदर्श के प्रति निष्ठा है। सत्य के लिए, सुन्दर के लिए, आत्मसम्मान के लिए, वचन के लिए, किये जानेवाले उत्सर्ग में मूल्योदात्त की स्थिति होती है। **ऐसे उत्सर्ग के साथ अहं सम्पृक्त रहता है, क्योंकि जिस आदर्श से यहाँ राग है वह भावना में अभी अपना ही रहता है।** जैसे कोई आदमी दहीबाड़ा न खाकर समोसा खाता है उसी तरह सुन्दर व्यक्ति से शादी न कर कलागत सौन्दर्य से ही आनन्द-सम्बन्ध स्थापित कर जीवन बितानेवाली नारी आदर्शनिष्ठ, अरूपरत तो है, लेकिन उसका अहं तो बना ही हुआ है। वह अपने-आपको लय नहीं कर पाती। किसी के लिए अपने आदर्श को भी नहीं मार पाती। अभी राग ही है, अनुराग नहीं—"वह हमारा है", यह भाव है, "हम तो उसके हैं। वही सब-कुछ है" ऐसा भाव नहीं। अपने-आपको मारनेवाला वह होता है जो चिद्विलासी नहीं, लोक-कल्याण के नाम बिका होता है, दूसरे पर मरा होता है। सत्य हरिश्चन्द्र का सत्य-प्रेम भले ही उच्चतम स्तर की साधना हो, लेकिन कर्त्ता, भोक्ता, अहं अभी मरा कहाँ? साधना की वैयक्तिता मूल्योदात्त की सीमा है। बेटा सत्य को नहीं छोड़ता। परिणाम यह कि बाप फाँसी टँग जाता है। उससे ऊँची भूमिका उस प्रेमी की है, जो सत्यव्रती होते हुए भी धर्मांतक का गला घोंट, भूतदया से अभिभूत होकर झूठ बोलता है और अपने शत्रु, मित्र या पड़ोसी की जान बचा लेता है। एक कर्त्तव्यनिष्ठ होते हुए भी अहं को नहीं मार सकने के कारण दंभी है, दूसरा संत। सत्यभामा और रुक्मिणी बीमार कृष्ण को अपना चरणोदक न दे सकीं। "बाप रे! नरक जाना होगा! मर्यादा मिट जायगी! हम आपको चरणोदक देने की धृष्टता करें?" मर्यादा से भी मुक्त, स्वर्ग-नरक से निर्द्वन्द्व, निर्विकल्प प्रेम की गोपियों ने कहा, "जितने घड़े चाहिए, ले जाइए। कृष्ण तो बचें। उनसे पृथक् हमारा जीवन, स्वर्ग या नरक है ही कहाँ?" मूल्यभावना से भी श्रेष्ठतर

भूमिका प्रेम की है जो शुद्ध उत्सर्ग है। रुक्मिणी कृष्ण से प्रेम करती हैं, गोपियों को कृष्ण प्रिय हैं। रुक्मिणी अपना भी सब-कुछ नहीं दे सकतीं, गोपियाँ कब की अपने को भी दिये बैठी हैं।

**परोदात्त ( Altro-sublime )**—परोदात्त में न तो सत्ता की उन्नत भूमिका है, न अहं से आबद्ध भोग की उन्नत भूमिका, बल्कि 'स्व' के 'पर' में लय की उन्नत भूमिका है। इस उदात्त में बहुत माधुर्य है, बहुत संगीत है, लय ही लय है। इसमें भक्ति का भाव है, मूल्योदात्त की तरह योग-निरोध या नियम-धारणा का द्रविड़ रहस्य नहीं। परोदात्त मनुष्य की सामाजिक सत्ता का शिवतम उत्कर्ष है। जहाँ सूक्ष्मोदात्त में स्थिति का उन्नयन है, मूल्योदात्त में भोग का उन्नयन है, परोदात्त में व्यक्ति के स्वयं का उन्नयन है। व्यक्ति भोक्ता नहीं रह जाता, भाव हो जाता है। उसका प्राण लोकप्राण हो जाता है। उसका शरीर भोग के लिए नहीं, सेवा के लिए रह जाता है। याद रखना चाहिए कि सेवा एक भोग नहीं, भाव है। सेवा का भोक्ता सेवक नहीं, सेवित है; सेवक तो अपनी अभिव्यक्ति करता है, जैसे, आनन्द-पुलक में, अश्रु में अथवा हास में। सबके कल्याण के लिए प्रेम में मतवाले शिव जब हलाहल पी जाते हैं तब क्या वे भोक्ता हैं? भोक्ता तो जानकर पीता है, सुख और दुःख का विचार रखता है। "जानि गरल संग्रह जे करई कहहु उमा सो कस नहि मरई।" सो, शिव कैसे पी गये? पी गये इसलिए कि 'जानि' नहीं, 'मानि' गरल संग्रह शिव किन्हा। उनको—प्रेमभाव को—आनन्द ही आनन्द है। इसी अर्थ में भक्ति परतंत्र कहलाती है। प्रश्न उठता है कि स्वयं राम मूल्योदात्त के भीतर आयेंगे या परोदात्त के। उत्तर यह है कि यदि दशरथ के कारण गये तो मूल्योदात्त, कैकेयी के कारण गये तो परोदात्त। मात्र कर्त्तव्यपालन करनेवाला भोक्ता मूल्योदात्त का उदाहरण होगा। लेकिन माता कैकेयी की खुशी में खुश होकर, अथवा पिता दशरथ प्रिय हैं, उनका वचन खाली न जाय, इस भावना की उमंग में जानेवाले राम परोदात्त के उदाहरण होंगे। नीति एक की कसौटी, प्रीति दूसरे की। भरत में तो तनिक भी शंका नहीं। राममय भरत का त्याग उनके द्वारा किया नहीं जाता, हो जाता है। गाँधीजी कहा करते थे, "भारत की आजादी चली जाय तो चली जाय, लेकिन मैं सत्य और अहिंसा को नहीं छोड़ सकता।"—स्पष्टतः, इसमें वैयक्तिक विशेषता का भोग है। लेकिन नोआखाली के धधकते विषज्वाल में, हिन्दू-मुस्लिम, दोनों की रक्षा के लिए कूद पड़नेवाले, पैदल बाँस के पुलों से नदी पार करनेवाले, खँडहरों की करुणा में बैठकर डूब जानेवाले, अकेली, पुत्र-शोक-संतप्त किसी बूढ़ी माँ को सान्त्वना देनेवाले गाँधीजी परोदात्त की अमिताभ विभूति थे। महाविष का प्रयोग-आस्वादन करनेवाले वैज्ञानिक-दम्पति के सामने यदि लोक-मंगल का उल्लास रहा हो तो वे परोदात्त के उदाहरण होंगे।

**विस्तारोदात्त**—जहाँ तत्क्षण और तद्देश के लोकातिशयतावश व्यापक अथवा नित्य की भूमिका पर आरोह व्यंग्य हो, वहाँ विस्तारोदात्त के दर्शन होते हैं। इस समय और इस स्थान पर दृष्टिगोचर होनेवाला दृश्य जब सनातन अथवा सार्वभौम की कल्पना में रमा दे (उत्कर्ष अर्जित कर ले) तब विस्तारोदात्त की कोटि-सिद्धि हो जाती है। प्रारम्भ में दिये गये उदाहरणों में पुरकोट की अतिशय प्राचीनता एक नित्य अक्षुण्णता का आभास देती

है। परिवार बढ़े और मिट गये, वंशों का इतिहास बना और समाप्त हो गया, एक-से-एक महान् पूर्वज पैदा हुए और आज उनकी याद तक नहीं, लेकिन यह पुरकोट बना हुआ है। राज्य बदला, सिक्के बदले, कायदे-कानून बदले, पंचायतें बदलीं, जिनकी कभी तूती बोलती थी, जिन मस्तों की टोली से, कहकहों से, सारा-का-सारा गाँव गुलजार रहता था, आज उनकी याद में खँडहर सिसक रहे हैं; मगर काल के कुण्डलित महान् अजगर की तरह यह पुरकोट चिरनिद्रा में सोया पड़ा है—जाने कब का है और जाने कबतक चलता चलेगा····। अतीत की अतिशयता वर्त्तमान को बरबस ही एक कालतरंग में अदृश्य भविष्य तक बहा ले जाती है, परिमिति का परिहार हो जाता है। प्रवाह की खंड-चेतना हेरा जाती है, पड़ाव के विराम-चिह्न लुप्त हो जाते हैं तथा भूत, वर्तमान और भविष्य के रूप में बुद्धि के भेद-व्यभिचार की अनायास निवृत्ति हो जाती है। विस्तार का काल-पक्ष (चाहे वस्तु-स्थिति के रूप में, चाहे शील-निरूपण के रूप में) सदा अखंड परम्परा का साक्षात्कार कराता है। परम्परा और रीति में, Tradition और Convention में भेद है। परम्परा का सम्बन्ध काल से है, रीति का देश से। एक को Tradition (परम्परा) कहेंगे जो तत्त्वत: Ancient होता है, दूसरी को Convention (रीति) कहेंगे जो Social होता है। व्यापक होकर भी रीति ही कहलायगी, लेकिन पुरानी पड़ने पर परम्परा हो जायगी। इतिहास में सदा ऐसे ही साम्राज्यों का उत्थान-पतन, महत्त्वा-कांक्षियों का गौरव-शिखर से पतन दिखाकर लोग परम्परा का आलोकदान करते हैं। यही इतिहास का, उसके सर्गों में अन्तर्हित, तृतीय आयाम (Third Dimension) है। यही इतिहास की गहराई है, अन्तर्दृष्टि है, व्यंजना है, घनीभूत मार्मिकता है। Eternal Cycles या Recurrent see saw, कालचक्र या नियति-दोल के प्रति आस्था व्यंजित करनेवाले दर्शनचक्षु इतिहासकार उसी सातत्य की बात करते हैं जो परम्परा की बात है, रीति की नहीं।

विस्तारोदात्त का देशपक्ष लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि के रूप में पायेंगे। एक व्यक्ति के विरुद्ध कचहरी में लड़नेवाले मुकद्दमेबाज की अपेक्षा नियति या प्रारब्ध के विरुद्ध युद्ध करनेवाला नायक उदात्त हो जाता है। उसका शत्रुपक्ष एक अखिल व्यापक व्यूह के रूप में है। करुणोदात्त नायक (Tragic Hero) के विरल रजस् की मर्यादा इसी में है। उसी तरह जब असाधारण शौर्य के रहते भी भीतर की प्राणशक्ति या निसर्गजात अतिशयता के कारण किसी वीर का दारुण क्षय दिखाया जाता है तब अन्तर्व्याप्ति के रूप में इसी प्रारब्ध के दर्शन करते हैं। एक आकाश का, दूसरा रसातल का। 'कामायनी' में हिमगिरि के उत्तुङ्ग शिखर की ऊँचाई तथा प्रलय की जलराशि का चित्र उस भौगोलिक ऊँचाई और फैलाव का दृश्य उपस्थित करता है, जहाँ कवि को प्रकृति-जगत् से बना-बनाया उदात्त मिल जाता है।

## रस की दृष्टि से विचार

पहला समाधान—उदात्त के संबन्ध में मौलिक महत्त्व का एक प्रश्न यह है कि वह किस रस के भीतर आता है। किसीने भयानक में ही इसका उद्गम पाया है,

और इस तरह उदात्त को भयानक का एक स्वरूप ठहराया है । कुछ विचारक इसे अद्‌भुत का एक प्रकार मानते हैं और समझाते नहीं । ऐसे भी लोग हैं जो सौन्दर्य की एक सरणि बनाते हैं और Pretty को एक छोर पर तथा Sublime को दूसरे छोर पर रखते हैं । सुन्दर का एक प्रकार होने के नाते उदात्त उनके हाथों में शृंगार का ही एक स्वरूप होकर रह जाता है । सौन्दर्य के साथ शक्ति की भी चर्चा करनेवाले यह भूल जाते हैं कि उदात्त में शक्ति, कारणरूप नहीं, कार्यस्वरूप है । कुछ मनीषियों के अनुसार 'अखिल', 'विराट्' या 'अनन्त' के आभास से ही उदात्त की अनुभूति होती है। कठिनाई यह है कि प्रायः गर्भपात से लेकर विश्वसंघ तक कोई भी ऐसी चीज नहीं जिसकी परिभाषा में अनन्त घसीट नहीं लिया जाता । 'अनन्त के आभास' को मान भी लिया जाय तो रस की दृष्टि से कौन-सा समाधान हाथ लगता है ? सीमाओं और सापेक्षताओं में बँधी चेतना को जहाँ अनन्त का आभास (जैसे आकाश के विस्तार में) मिलता है, वहाँ स्वभावतः उसे एक आकस्मिक जागरण, एक नवविहान, एक मुक्ति-आलोक के कारण विस्मय होता है । फिर निस्सीम के पार्श्व में अपनी सत्ता की स्थिति से भय भी होता है (गिर पड़े तो पिस जायँ) । अपनी तुच्छता की अनुभूति के कारण अन्तस्तल में लज्जा, विनय, विषाद या एक शब्द में, निर्वेद का भी आस्वादन होता है । लेकिन विकासलोक के सहसा उन्मुक्त हो जाने से "हम भी इतने उन्नत हो सकते हैं" इस संभावना के प्रति उत्साह भी होता है । इस दृष्टि से वस्तुतः उदात्त को हम पूरी तरह भविष्यकाल में ही आत्मसात् कर पाते हैं । इस तरह एक जटिल प्रपातक के विविध तथा विरोधी उपकरण मिल जाते हैं जिसमें एक ही साथ मुख्य हैं— भय, विस्मय, निर्वेद तथा उत्साह। इन सभी के कल्प से एक समाधि की अवस्था होगी जो भूमिका-भेद से उत्तरोत्तर गाढ़ी होती जायगी । अब प्रश्न यह है कि भय, विस्मय, निर्वेद तथा उत्साह, सभी एक ही साथ स्थायी भाव हों तो रस कौन कहलायेगा । यदि कोई हिन्दू जाति पूछने पर एक ही साँस में कहे, "मैं ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र हूँ" तो दूसरे निर्गुण ब्रह्म की आवश्यकता नहीं रह जाती । इसलिए यह कोई समाधान नहीं । इसकी छानबीन जरूरी है ।

**दूसरा समाधान**—एक सूरत यह नजर आती है कि उदात्त में जिस असामान्यता का दृश्य उपस्थित रहता है उसके चलते विस्मय ही प्रथम, प्रमुख तथा मौलिक भाव ठहरता है । यह और बात है कि यदि वह आलम्बन ( जैसे अर्द्धरात्रि को दूरतक दावाग्नि का प्रसार) भयानक भी हो तो हमें भय मालूम होगा । लेकिन इस भय का अर्थ यह तो है नहीं कि हमारे जल जाने का वास्तविक संकट उपस्थित है । ऐसी हालत में तो जीवन-मरण का प्रश्न इतना घोर हो उठेगा कि इसका बुदबुद अपने-आपमें उठने के पहले बैठ जायगा, विलीन हो रहेगा । भय की तथा-कल्पित संभावना में ही हम रमण कर सकते हैं, और वह विस्मय का पोषण करेगी । अधिक सूक्ष्मता तो तब आयेगी जब लपटों, ज्वालामालाओं, ज्योतिर्मंडलों तथा उनके लोकातिशय विस्तार से अपनी शरीराभिमानी सत्ता को मानसिक आघात पहुँचे, तथा दृश्य के सौन्दर्य से वह भय भी प्रकाशित होकर मौलिक विस्मय को समृद्ध करे । इस आघात के कारण जो दैन्य और निर्वेद की अवस्था होगी वह कारण की याद दिलाकर विस्मय को पुष्ट करेगी । लेकिन

उत्साह का जो भाव हमको ऊपर उठाता है वह लोकातिशयता के चलते नहीं; लोकातिशयता के चलते तो विस्मय, भय और निर्वेद आते हैं। उत्साह तो उदात्त के उत्कर्षपक्ष के चलते उत्पन्न होता है, अर्थात् अभौतिक स्रोत में रमण करने से। यदि इस स्रोत से हमारा तादात्म्य हो जाय तो हम भी इतने विकसित हो सकते हैं, यह भावना उठती है, और हम उठ जाते हैं। उत्साह के द्वारा हमें ऊपर उठाने की यह क्षमता उदात्त की अन्तिम कसौटी है, जबकि विस्मय से अभिभूत करनेवाली लोकातिशयता उसकी पहली विवशता। उन तीनों की तरह उत्साह भी एक प्रकार असंलक्ष्य क्रम से बुनियादी विस्मय को और भी गम्भीर बनाता है, मर्यादा देता है। इस तरह विस्मय स्थायी भाव ठहरता है तथा भय, (ऐश्वर्य के चलते), निर्वेद (सत्ताभिमान के विगलन के कारण), और उत्साह (उन्नति की संभावना के आलोक से) संचारी का काम करते हैं। पहले समाधान में चारों स्थायी भाव दीख पड़े। ऐसे समाधान पर हँसा भी नहीं जा सकता था। इस दूसरे समाधान में विस्मय रहा स्थायी भाव, और तीन प्रमुख संचारी उसके सहचर हुए। उदात्त अद्भुत रस के भीतर आया।

लेकिन भाव के इतने स्वरूप हैं, जीवन की भोग-पद्धति इतनी निराली तथा विचित्र है कि इस समाधान की भी कुशल नहीं दीखती। यह अपर्याप्त दीखता है, इसमें अव्याप्ति का ब्रह्मघात है। उदाहरण लीजिए।

**उदात्त प्रत्येक रस में—दूसरे समाधान की अव्याप्ति**—(१) पुत्र परदेश गया, लौटा नहीं। सारी दुनिया कहकर हार गई कि वह अब इस संसार में नहीं है, लेकिन माँ बीते तीस वर्षों से पलँग बिछाती है, दीप जलाती है कि उसका लाल आ रहा है। आज तो माँ की मरणवेला है। पलँग के निकट भूमिशय्या पर माँ पड़ी है, लेकिन अब भी प्रायः लुप्त चेतना में उसकी उँगलियाँ बेटे के पलँग की बिछी चादर पर फिर ही जाती हैं—कहीं कोई सिकुड़न न हो। लगता है, दूसरे जन्म में, और फिर दूसरे जन्म में, और फिर दूसरे जन्म में; उस लोक में, और फिर उस लोक में, और फिर उस लोक में भी माँ बेटे की बाट जोहती ही रह जायगी। प्रेम के इस उदात्त स्वरूप को अद्भुत कहना उसका अपमान करना है। इससे कुतूहल का पोषण नहीं होता। यह नये प्रकार की घटना है, नये ढंग का प्रेम है, कोई चमत्कार है, कुतूहल है, ऐसी बात तो नहीं। इसकी भिन्नता प्रेम की लोकातिशयता को लेकर है, जो छिछले वात्सल्य या वासनामय दौर्बल्य को राग के चरम उत्कर्ष तक ले जाती है। है यह शृंगार का ही उदात्त स्वरूप जिसके दर्शन से विस्मय, भय आदि भर जाते हैं। हम भी प्रेमी बनते हैं। यदि हमारा लाल लूट गया तो क्या हम इतनी प्रतीक्षा कर सकेंगे? कैसी है वह मृत्यु जिसके सामने ऐसी आत्मा भी विवश है? कैसी है वह आत्मा जिसे मृत्यु भी नहीं जीत सकती? अपना अभिमान विगलित हो जाता है। असीम दैन्य और निर्वेद से हम भर जाते हैं और अन्त में 'उन्मद' होकर हम भी उत्साहित हो जाते हैं, माँ की भाँति अमर प्रेमी हो जाते हैं। वर्तमान के इस दुर्लभ 'सन्धि-भविष्य' में उस अमरत्व में हम रमते हैं। बेचारा विस्मय जो स्थायी दीखता है, अब मात्र संचारी हो गया। (२) और तो और, बीभत्स की सोचिए; मवाद या सड़ी लाश या

मल का भक्षक यदि बिभित्सा उत्पन्न नहीं करता तो फिर अशौच कहेंगे किसे ? लेकिन दर्शनप्राण, प्रतीक-दृष्टि-सम्पन्न, अभेदशुद्ध, अनन्योपासक किसी शाक्त की सोचिए जो अन्न और मल को ब्रह्ममय, शिवमय, चिन्मय देखता है ! समता के इस आलोक, साधना की ऐसी निर्विकल्पता से ज्ञान की जो रश्मियाँ फूट पड़ती हैं उनमें बीभत्स का आत्यन्तिक उन्नयन सिद्ध हो जाता है । (३) हास्य की ओर बढ़िए । किसी ज्योतिषी को कोई वैज्ञानिक बना रहा है । ज्योतिष को भविष्य का जुआ कहता है, "वाह जी ज्योतिषी महाराज··लहे तो तीर नहीं तो तुक्का; अच्छा रोजगार है, किये चलिए" । ज्योतिषी खीझ जाता है । पोथी-पत्रा खोलने लगता है । सभी हँसते हैं । "अच्छा तो वैज्ञानिक महोदय, आज बारह बजे दिन में आपको परलोक के लिए प्रस्थान करना ही होगा"— ज्योतिषी कह उठता है । वैज्ञानिक अब भी हँसता है, लेकिन सूरत रोनी-सी लगती है और अब दर्शक वैज्ञानिक पर हँसने लगते हैं । धीरे-धीरे वैज्ञानिक की आँखें धँसने लगती हैं। घड़ी में आध घंटे की देर है । मन अब कह रहा है, "हे राम ! बचाओ··" । संक्षेप में यह कि घड़ी टन-टन-टन करने लगती है । प्रत्येक टन के साथ वैज्ञानिक मुट्ठी में अपने हृदय को समेटता है "अब मरे··अब की जरूर मरेंगे"··। बारह बोलकर घड़ी ज्योंही आगे बढ़ती है, वैज्ञानिक तन जाता है । ज्योतिषी को देखने लगता है··क्रोध, फिर घृणा··और यह क्या ? फिर हँसी ! वैज्ञानिक जब हँसने लगता है और ज्योतिषी जब सिमटने लगता है तब देखते ही बनता है, हँसते ही बनता है । वैज्ञानिक हँसने लगा, हँस रहा है तो हँस रहा है । हँसता जाता है और हँसता जाता है । और हँसते-हँसते वहीं ढेर हो जाता है । ऐसी हँसी आपने सुनी है ? वह हँसता है तो एक आदमी नहीं हँसता, दूसरा आदमी भी हँसता है और तीसरा भी··आप भी··हम भी । हँसता है तो विज्ञान के सभी पूर्वज और भावी संतानों की हँसी लिये । और किस पर हँसता है ? फलित ज्योतिष के सभी पूर्वजों, अन्धानुयायियों और भावी अन्धानुदासों पर । बुद्धि आस्था पर हँस रही है, गणित फलित पर हँस रहा है, वर्त्तमान-भूत-भविष्य की एक अखंड दृष्टि वर्त्तमान-भूत-भविष्य की दूसरी अखंड परम्परा पर हँस रही है । ज्योतिषी ज्योतिष हो गया है, एक विश्वरूप मूर्ख हो गया है, और हँसी किसी त्रिकालमूर्त्ति ज्ञानी की हँसी हो जाती है । हँसी की आग लगती है तो बुझती नहीं । लेकिन कौन मूर्ख हुआ ? कल्पना कीजिए, नियति के परिहास की, जिसमें कोई द्वेष नहीं, छल नहीं, जो केवल 'है', नियत है, और जिसमें ज्योतिष की विजय गौरवान्वित हो उठी है ! King Lear कृतघ्न संतानों के निर्मम षड्यन्त्र के कारण विक्षिप्त होकर जब निकल पड़ता है तब उसका विदूषक उससे इस तरह बातें करता है, मानों वह वृद्ध नृपति कोई महा अनाड़ी बालक हो । राजा के बहाने ही वह जीवन की नियति की लीला, और सहसा काम करनेवाले सदा के मूर्खों के साथ विनोद करता चलता है। उस हास्य में इतनी सहानुभूति, इतनी तरल आत्मीयता, इतनी तलस्पर्शी कृतज्ञता, इतनी व्यापक दार्शनिकता, इतनी विक्षिप्तता, इतना स्फुट मरण, तथा साथ ही दारुण प्रारब्ध के साथ इतनी उन्मुक्त क्रीड़ा है कि काव्य-मर्मज्ञों को कहना पड़ा—यह Sublime fooling है । हास्य को छोड़िए । (४) करुणोदात्त नायक की बात सभी जानते हैं।

अखिल व्यापक शक्ति, प्रारब्ध, अन्तस् के अदम्य प्राण या निसर्ग, परिवेष्टन, परम्परा, वंशरेतस्, अर्थचक्र, नीतिव्यूह आदि के विरुद्ध संघर्ष करते-करते मिट जानेवाले अजेय वीर का भैरवपात उदात्त कोटि का होता है। (५) रौद्र का उदाहरण लीजिए। चट्टानों के बीच झोपड़ी बनाकर रहनेवाले एक कुँआरे वृद्ध को एक छैला छेड़ देता है। वृद्ध छैले को बनाकर पीटता है, लेकिन उसका क्रोध शांत नहीं होता। महापुरुषों को तितलियों की तरह छेड़ा नहीं करते। छोड़ देने से लीक लग जायेगी। इस परम्परा--सस्ते, मर्य्यादाविहीन कोमल शिखंडियों की इस विचित्रवीर्य परम्परा--का अन्त होना चाहिए। उसका क्रोध जमकर बर्फ हो जाता है, और बर्फ होकर चट्टान हो जाता है। उस वृद्ध को जुर्माना हुआ। सीधे गिरफ्तार कर ले कोई, ऐसा शेरनी का दूध पीकर पला पट्ठा पैदा ही नहीं हुआ। लोग उसे 'दादा' कहते हैं, प्यार भी करते हैं, देखकर काँप भी उठते हैं। उनका दादा जेल जायगा, ऐसा सोचकर वे छैले पर दाँत पीसते हैं, और जुर्माना अपने पास से अदा करना चाहते हैं। विना स्वीकृति के ऐसा भी करने का तो साहस नहीं। स्वीकृति नहीं मिलती। जुर्माने के बदले जेल जाने का संकल्प है। गधे पर चढ़कर वह महापुरुष उस न्याय के घर जायगा जिसके हृदय में सज्जन और गुंडे में कोई भेद-भाव नहीं। वह नंगी पीठ जाड़े के दिनों में काठ के सख्त तख्तों पर सोयेगा। लकड़ी रीढ़ में गड़ेगी। वह अकड़ उठेगा। तकलीफ झेलेगा, और खूब, यहाँ तक कि बहुत तकलीफ झेलेगा, कि सीमा न रह जाय, जिससे सदा-सदा के लिए इस उपत्यका में ऐसी घटना न घटे; वह छैला और उसकी आनेवाली पीढ़ियाँ और उसके मरे पूर्वज भी जान जायँ कि महापुरुषों को यों ही नहीं छेड़ा करते। जुर्माना देना तो माफ करने या घुटने टेक देने-जैसा होगा। क्रोध के इस दाह की कल्पना कीजिए, इसके राजसिक दर्प की सोचिए। अशरीरी न्यायव्यवस्था तथा आगे-पीछे की पीढ़ियों तक को सिखानेवाली क्रोध की यह महावासना मानों मिटेगी ही नहीं। सूक्ष्म रौद्रोदात्त का यह एक निराला उदाहरण है। (६) "धूप और मेरे बीच तुम खड़े हो, चले जाओ"—डायोजनिज ने कहा, जब विश्वविजेता सिकन्दर उसकी सेवा करना चाहता था। बाणशय्या पर पड़े भीष्म पितामह की कल्पना कीजिए। शान्तोदात्त के ये दो बड़े ही दिव्य उदाहरण हैं। (७) वीरोदात्त का उदाहरण लें। Sir Philip Sidney के अन्तिम वाक्य में—"My need is great but thine is greater"—कष्टसहिष्णु वीर का उदात्त स्वरूप है। समरांगण में वीर मर रहा था, पीने को पानी दिया गया, तबतक एक घायल सिपाही "पानी ! पानी !" कराह उठा। उसी समय का यह वाक्य है। रंतिदेव की याद आती है। लोकमंगल के लिए निस्सीम यातनाएँ सहनेवाले वीर प्रोमेथियस का उत्साह उदात्तकोटि का है। (८) नियाग्रा प्रपात को अद्‌भुत तथा (९) मृगराज की आँखों के दर्प को भयानक के भीतर रख सकते हैं। उदात्त सभी रसों में समान सुविधा से प्रतिष्ठित है; इसलिए अद्‌भुत में बाँधा नहीं जा सकता।

**तीसरा समाधान**—रस तो अनिर्वचनीय है, ब्रह्मसहोदर है या वही है आदि-आदि। ऐसी बातें उपनिषद् के गौरव की हैं, इसलिए इन्हें कौन छेड़े ? रस अपने सामान्य अर्थ में यह सब-कुछ है, लेकिन इस निर्गुण की शृंगार, रौद्र, भयानक आदि के रूप में सगुण अभिव्यक्तियाँ होती हैं। कहने को रस एक है, लेकिन आँवले, नीम और मुनक्के के स्वाद को रसना

बिलगाती है । स्वाद में रश्मि-भेद मानना ही पड़ता है । ऐसा कहकर रस का ब्रह्मत्व भी कोई नहीं लूटता । उसी तरह उत्कर्ष चार कारणों से होता दिखाया गया—सूक्ष्मता, विस्तार, मूल्यभावना तथा परोपभावना । उदात्त के चार स्वरूप हाथ लगे । स्पष्ट है कि उदात्त का यह वर्गीकरण हेतु की दृष्टि से हुआ । लेकिन उदात्तवाली प्रत्येक परिस्थिति या पात्र का केन्द्रभूत कोई भाव भी होगा, और उस भाव की लोकातिशयता और उत्कर्ष के चलते वह परिस्थिति एक विशेष रस के भीतर का उदात्त कहलायगी । इस तरह शृंगारोदात्त से लेकर शान्तोदात्त के वर्ग हाथ लगेंगे । जिस तरह रस का शृंगार या रौद्र एक विशेषण है, गुण है, उसी तरह उदात्त इस विशेष गुण की एक सिद्धिविशेष है । रस के प्रत्येक सगुणविशेष (यथा–शृंगार, रौद्र··) का उदात्त एक उत्थानविशेष हैं, विभूतिविशेष है, ऐश्वर्यसिद्धि है, कोटिसिद्धि है । कोई भी भाव अपने तात्त्विक स्रोत में ज्यों ही हमें रमाने लगता है, उसकी वह कोटिसिद्धि हो जाती है, जिसे उदात्त की संज्ञा देते हैं । [ क्रमशः ]

# तन्मात्र : स्वरूप, उपपत्ति एवं साक्षात्कार

श्री रामशंकर भट्टाचार्य

सांख्य-योग-विद्या में पंचतन्मात्रों के विषय में जो मत भाषित हैं उसके स्पष्टीकरण तथा प्रमाणीकरण के लिए यह निबंध लिखा जा रहा है । तन्मात्र-विचार के पहले पंच-भूतों का ज्ञान आवश्यक है ।

सांख्यशास्त्र में जो सात प्रकृति-विकृतियों का उल्लेख है (सांख्यकारिका,३), तन्मात्र उनमें गणित होते हैं । तन्मात्र भूतों की प्रकृति है तथा अहंकार-द्रव्य की विकृति है, इसलिए वह प्रकृति-विकृति कहलाता है । ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में 'सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतः··' इत्यादि मन्त्र में 'सप्तार्धगर्भा' शब्द से यही सात प्रकृति-विकृतियाँ विवक्षित हैं । प्रश्नोपनिषत् में 'पृथिवी च पृथिवीमात्रा च' (४।८) इत्यादि वाक्य में तन्मात्र का अतिस्पष्ट उल्लेख है । विष्णुपुराण में भी 'तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता, न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढ़ाश्च विशेषिणः' (५ म अंश) कहा गया है । किंच सभी पुराणों में यथास्थान तन्मात्राओं का स्पष्ट विवरण मिलता है, जिनको उद्धृत कर दिखाना अनावश्यक है । यह निबंध शास्त्रीय उल्लेखों की उपपत्ति तथा स्पष्टीकरण के लिए लिखा जा रहा है, अतः शास्त्रवाक्यों के अधिक उद्धरण न देकर न्यायप्रयोग से यहाँ विचार मात्र किया जायगा । जिज्ञासुओं को आकरग्रन्थ देखना चाहिए ।

एक बात और । पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में तन्मात्र और तन्मात्रा—इन दोनों ही शब्दों का अविशेष रूप से प्रयोग मिलता है, और इस निबन्ध में भी तदनुसार शब्द-प्रयोग किया गया है । यदि इन दोनों के अर्थों में कुछ विशिष्ट भेद किया गया हो, तो मुझे पता नहीं है ।

यहाँ स्पष्ट रूप से यह ज्ञातव्य है कि तन्मात्र की सिद्धि ध्यानज दृष्टि से ही होती है, यान्त्रिक बल से नहीं । ज्ञानशक्ति की एक निश्चित स्थिरता में तन्मात्रों की पृथक् उपलब्धि

होती हैं। यन्त्रादि की सहायता से बाह्य द्रव्यों के कितने ही विभाग क्यों न किये जायँ, परन्तु कभी तन्मात्र तक पहुँचा नहीं जा सकता। किंतु तन्मात्र केवल ज्ञेयरूप से उपलब्ध होते हैं, किसी भी प्रक्रिया से उनका पृथक् निर्माण तथा संग्रह नहीं हो सकता।

तन्मात्र के विषय में बहुत बड़ा भ्रम यह प्रचलित है कि वह क्षुद्र, गोलाकार या अन्य आकृतिविशिष्ट द्रव्यांश-स्वरूप है। आधुनिक विद्वानों में यह धारणा बद्धमूल है। तन्मात्र का स्वरूप और उसके साक्षात्कारकालीन बोध के विवरण में इस धारणा का दूरीकरण किया जायगा।

इस विषय में और भी कई भ्रान्त धारणाएँ हैं, यथा 'मॉलिक्यूल', 'एटम' आदि ही तन्मात्राएँ हैं। कोई यह भी कहता है कि वैशेषिक का अणु सांख्य का तन्मात्र है। अन्य लोग मिट्टी, जल, हवा आदि के बहुत छोटे-छोटे कणों को तन्मात्र समझते हैं, इत्यादि। ये सब मत भ्रान्त हैं और सांख्य-योग-विद्या से अपरिचित रहने से ही ऐसा कहा जाता है। ऐसा कहनेवालों ने यह नहीं सोचा कि किस प्रमाण से तन्मात्रों की उपलब्धि होती है तथा तन्मात्र-साक्षात्कार और तन्मात्रजय का जो फल योगशास्त्रों में लिखा है, उनकी प्राप्ति पूर्वोक्त पदार्थों के ज्ञान और जय से संभव होती है या नहीं। तन्मात्र का बोध एक विशेष प्रकार के चित्तस्थैर्य से ही होता है, जिसका पारिभाषिक नाम है 'विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि' ( बाद में विवरण द्रष्टव्य ), तथा तन्मात्र-साक्षात्कार से किसी भी बाह्य भाव-पदार्थ के अतीत और अनागत परिणाम का ज्ञान होता है, एवं उसपर विजय प्राप्त करने से इच्छामात्र के द्वारा जड़ द्रव्यों में असाधारण परिवर्त्तन किया जा सकता है। यान्त्रिक पद्धति से जिन बाह्य द्रव्यों का विभाग किया जाता है वे भौतिक हैं। उनमें अणुमात्र सूक्ष्मता नहीं है। एक घट भी उतना ही स्थूल है जितना अणु आदि जड़-विज्ञान-सिद्ध सूक्ष्मतम पदार्थ। आधुनिक विद्वान् इस रहस्य को नहीं समझ पाते। उनको जानना चाहिए कि योगशास्त्रीय सूक्ष्मता चित्तस्थैर्य-सापेक्ष है, अर्थात् जो पदार्थ एक प्रकार के चित्तस्थैर्य से साक्षात्कृत होते हैं, वे समान स्थूल हैं, आकृति और प्रकृति में उनमें कितनी ही विलक्षणता क्यों न आ जाय। विभिन्न प्रकार के चित्तस्थैर्य से जो-जो विज्ञात होता है, तदनुसार उसकी सूक्ष्मता होती है, यह योगशास्त्रीय पद्धति है। इसीलिए हम बार-बार कहते हैं कि बाह्य विषय का, यान्त्रिक पद्धति से, कितने ही सूक्ष्म विभाग, जड़-विज्ञान की मान्यता के अनुसार, किया जाय, उससे कभी तन्मात्र तक नहीं पहुँचा जा सकता, क्योंकि वे मूलतः भौतिक हैं, भूत भी नहीं, तन्मात्र होना तो दूर की बात है।

सांख्य-योग-रूप मोक्ष-विद्या की पद्धति का, आधुनिक वैज्ञानिक जड़-द्रव्य-विश्लेषण-पद्धति से, कुछ भी मौलिक साम्य नहीं है। मोक्ष-विद्या की प्रयोगशाला स्वकीय चित्त ही है, अन्य कोई यन्त्र नहीं। चित्त-शक्ति चूँकि यान्त्रिक शक्ति से बहुगुण अधिक है, अतः यान्त्रिक प्रक्रिया से जो अचिन्त्य या अकरणीय है, वह चित्तबल से अनायास सिद्ध किया जा सकता है। यान्त्रिक पद्धति से जो अदृश्य या अग्राह्य होता है, चित्तबल से वह दृश्य तथा ग्राह्य हो जाता है। इस रहस्य को न जानकार बहुतेरे अवारदर्शी व्यक्ति वैज्ञानिकों की मान्यता को मोक्ष-विद्या से भी संगत समझे हैं। महाविज्ञानी जिसको लक्ष्य कर शक्ति (Energy) शब्द का प्रयोग करता है, वह सांख्य-योग की दृश्य शक्ति प्रकृति या अव्यक्त

नहीं है, प्रत्युत वह व्यक्त विकृति है और सांख्य जिसको 'अव्यक्त प्रकृति' कहता है उसको यथार्थतः जानने का कुछ भी साधन जड़-वैज्ञानिकों के पास नहीं है, क्योंकि इसका ज्ञान समापत्ति से ही हो सकता है, और वैज्ञानिकों का चित्त समापत्ति-साधन में समर्थ नहीं है। वस्तु-स्थिति यही है।

भूततत्त्व-संबन्धी निबन्ध में यह प्रमाणित किया गया है कि पाँच प्रकाश्य गुण (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध) के जो पृथक्-पृथक् गुणी हैं, वे यथाक्रम आकाश, वायु, तेजस्, अप् तथा क्षिति भूत हैं। ये साधारण मिट्टी, पानी आदि नहीं हैं। सांख्य-योगीय दृष्टि में आकाश = वह जड़ परिणामी बाह्य द्रव्य, जिसका एकमात्र गुण है शब्द, और इसी प्रकार एक-एक गुण को लेकर एक-एक भूत का लक्षण बनाना चाहिए। क्षिति-भूत में केवल गन्ध है, उसमें रूप आदि नहीं हैं, सुतरां, वह वैशेषिक-संमत 'क्षिति' नहीं है।

भूत में जो शब्दादि गुण हैं वे अनेक प्रकार के हैं, अर्थात् आकाशीय शब्द में अनन्त स्वगत भेद हैं। शब्द, स्पर्श आदि क्रियात्मक हैं और प्रत्येक शब्द-बोध में अनेक क्रियाओं का समाहार रहता है। जब क्रिया की सूक्ष्मावस्था में इन स्वगत भेदों का अत्यन्त अपगम हो जाता है और केवल शब्दमात्र, स्पर्शमात्र रह जाता है, तब वह शब्दतन्मात्र, स्पर्शतन्मात्र इत्यादि कहलाता है। वस्तुतः इस प्रकार के अविशेष शब्द-गुण का जो आश्रय द्रव्य है, वह शब्दतन्मात्र है। भौतिक द्रव्यों से पृथक् कर भूतों के पृथक् साक्षात्कार के लिए एक विशेष प्रकार की चित्त-स्थिरता आवश्यक होती है; तन्मात्र-साक्षात्कार के लिए उससे भी अधिक स्थिरता चाहिए। भूत तन्मात्रों का समाहार है। चूँकि तन्मात्र भूत से सूक्ष्म है, इसीलिए तन्मात्र को भूत का उपादान-कारण कहा जाता है। इस विषय में एक सारवान् बात आचार्य अभिनवगुप्त ने कही है, यथा 'शब्दादि-विशेषाणां हि क्षोभात्मनां यदेकमक्षोभात्मकं प्राग्भाविसामान्यमविशेषात्मकं तच्छब्दतन्मात्रमेवं गन्धान्तेऽपि वाच्यम्'। भास्कराचार्य ने भी यही बात कही है, यथा 'गुणस्यैवातिसूक्ष्मरूपेणावस्थानं तन्मात्रशब्देनोच्यते' (वासनाभाष्य)। इस निबन्ध में इस बात की उपपत्ति अब की जा रही है।

भूत-ज्ञान को ठीक से समझ लेने के बाद तन्मात्र पर विचार करना चाहिए। तन्मात्र (क) भूतों का कारण है, (ख) बाह्य-ज्ञान का अन्तिम स्तर है तथा (ग) वह सुख-दुःख-मोह का उत्पादक नहीं है। तन्मात्रों की इन तीन विशेषताओं के ज्ञान से तन्मात्र का यथार्थ सामान्य ज्ञान हो सकता है, अतः इन तीनों की व्याख्या की जा रही है—

भूतों का उपादान कारण तन्मात्र है और एक तन्मात्र से एक ही भूत बनता है; यह नहीं कि शब्द और स्पर्शतन्मात्र से वायु-भूत बनता है और शब्द-स्पर्श-रूप तन्मात्रों से तेजोभूत बनता है, इत्यादि। पंच-भूत की द्विविध उत्पत्ति होती है—एक तात्त्विक और दूसरी व्यावहारिक। तत्त्वतः एक तन्मात्र से एक ही भूत उत्पन्न होता है और व्यावहारिक भूत-सृष्टि में, शब्द-स्पर्श-तन्मात्र से, वायु-भूत बनता है, इत्यादि प्रसिद्ध क्रम जानना चाहिए। इस नियम के रहस्य को यथार्थतः जानने के पहले तन्मात्र-स्वरूप को ठीक से जानना होगा, अतः उसका विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

तन्मात्र एक जड़-बाह्य द्रव्य है जिसका परिणाम तथा परिमाण दोनों हैं। भूत की तरह प्रत्येक तन्मात्र का एक ही गुण है और वह क्रियाशील गुणी है। तन्मात्र में यह क्रिया

अपनी चरम अवस्था में है, अर्थात् जिससे और सूक्ष्मतर क्रिया उपलब्ध नहीं हो सकती। कोई भी स्थूल शब्द अनेक सूक्ष्म शब्दों की समष्टि है। इसकी उपपत्ति यह है कि कोई भी शब्दादिज्ञान (अर्थात् शब्दादि का स्वरूप भी) बाह्य क्रिया से चित में उत्पन्न होता है। क्रिया नियमतः संकोच-विकासवती होती है, एकतान नहीं होती। वह समङ्ग होती है और समङ्ग क्रिया-प्रवाह की समष्टि को ही स्थूल चित्त अपना विषय बना सकता है, जिसका यह फल होता है कि प्रत्येक स्थूल ज्ञान अनेक क्रिया-जन्य अभिघातों से चित्त में उत्पन्न होता है। जिसको स्थूल दृष्टि में एक शब्द बोध कहा जाता है वह वस्तुतः अनेक अणु शब्द-बोधों की समष्टि है। इस प्रकार केवल अणु शब्द-बोधों की समष्टि आकाश-भूत-बोध है और उस शब्दाश्रित बाह्य द्रव्य को आकाश-भूत कहा जाता है।

शब्दोत्पादक एक ही क्रिया से जो बोध चित्त में उदित होता है, वह शब्दतन्मात्र का बोध है और उस शब्द का जो बाह्य आश्रय-द्रव्य है वह शब्दतन्मात्र है। इसी प्रकार स्पर्शोत्पादक एक क्रिया से जो बोध उत्पन्न होता है, वह स्पर्श तन्मात्र का बोध है और तादृश स्पर्श का गुणी स्पर्शतन्मात्र है। यही दृष्टि रूप, रस और गन्धतन्मात्र के विषय में भी प्रयोज्य है। तन्मात्र क्षुद्र कण नहीं है, क्योंकि जबतक कण का बोध रहता है तब-तक वह भौतिक ही है, भूत भी नहीं। तन्मात्र तो बहुत दूर की बात है, यह बाद में दिखाया जायगा।

क्रिया के 'एक अभिघात' का रहस्य ज्ञातव्य है, क्योंकि तन्मात्र-विद्या का यही नाभिस्थान है। प्रत्येक क्रिया तत्त्वतः क्षण-व्यापिनी होती है। इस क्षण का कालिक परिमाण कितना है, यह लौकिक प्रज्ञा से निर्णीत नहीं हो सकता, और वैज्ञानिक पद्धति से जो सूक्ष्मतम काल-परिमाण की धारणा की जा सकती है वह भी क्षणों का समाहार है, योग-शास्त्रीय क्षण नहीं है। क्रिया स्तोकशः (By quanta) होती है, एकतान नहीं होती। क्रिया के इस स्वभाव के कारण प्रत्येक क्रिया की एक प्रतिक्रिया होती है। चूँकि क्रिया समङ्ग है, अतः यह मानना होगा कि स्थूल क्रिया सूक्ष्म क्रियाओं की समष्टि है। यह सूक्ष्मता आपेक्षिक है और समाधिज स्थैर्य से इसका अन्तिम निरूपण भी होता है। क्षुद्रतम क्रिया का कालिक परिमाण (जो अनपेक्षित है) लौकिक उपाय, अर्थात् यन्त्रादि से, नहीं हो सकता, पर चित्त-स्थैर्य से हो सकता है।

साक्षात् प्रत्यक्ष प्रमाण से भी तन्मात्रों की भूत-कारणता जानी जाती है। जिस स्थैर्य से तन्मात्र का साक्षत्कार होता है उसको श्लथ कर देने से भूत का बोध होता है, और जिस स्थैर्य में भूत का साक्षात्कार होता है उसको अतिस्थिर करने से तन्मात्र का बोध होता है। इस स्थिति में जाने से स्पष्ट बोध होता है कि एक-एक तन्मात्र से ही एक-एक भूत बना है, अर्थात् गन्धतन्मात्र में सुरभ्यादि भेद-हीन केवल नासिका-ग्राह्य गन्धमात्र का बोध होता है और क्षिति भूत में अशेषभेदवान् गन्ध का बोध होता है। यह भूत और तन्मात्रों का तात्त्विक स्वरूप है।

पर नैमित्तिक दृष्टि में (व्यावहारिक दृष्टि या सृष्टि में) अन्य प्रकार की दृष्टि भी हो सकती है। गन्ध-ज्ञान कणों के योग से उत्पन्न होता है, इसलिए गन्धतन्मात्र का ज्ञान जिससे होगा उससे, प्रक्रिया-विशेष के बल पर, शब्द, स्पर्श, रूप और रस को भी

ज्ञान हो सकता है । पर स्वरूप के साक्षात्कार-काल में एक-एक तन्मात्र अपने एक-एक गुण से ही साक्षात्कृत होगा । जैसे गन्धतन्मात्र का ज्ञान केवल गन्ध से, रूपादि से नहीं, इत्यादि । वस्तुतः आकाश से वायु, वायु से तेज इत्यादि क्रम गन्धज्ञान के सहभावी काठिन्यादि के संबन्ध में ही घट सकता है; वह नैमित्तिक दृष्टि है, तात्त्विक या औपादानिक दृष्टि नहीं है । समीक्षक को सोचना चाहिए कि शब्द-ज्ञान कभी स्पर्श-ज्ञान का उपादान नहीं हो सकता, पर शब्द क्रिया-रूप निमित्त से अस्मिता-रूप उपादान परिवर्तित होकर स्पर्शज्ञान में व्यक्त हो सकता है । वस्तुतः अतात्त्विक कारण-दृष्टि में ही आकाश वायु का कारण, वायु तेज का, तेज जल का और जल क्षिति भूत का निमित्त-कारण हो सकता है, और इसी दृष्टि से शब्दगुणक द्रव्य से स्पर्श, स्पर्शगुणक द्रव्य से रूप, ऐसा क्रम देखा जाता है । इस रूप से ही गन्धाधार द्रव्य शब्दादि पंचलक्षणों का आधार होता है, इत्यादि । प्रलयकाल में भी क्षिति अप् में, अप् तेजस् में, इत्यादि क्रम से लीन होता है। यह व्यावहारिक भूत-भाव है, तात्त्विक नहीं है [ कापिलाश्रमीय पातंजल योगदर्शन ]। इसका विशेष विचार सांख्यीय सृष्टितत्त्व-विषयक अन्य निबन्ध में किया जायगा ।

तन्मात्र अविशेष क्यों है, अब उसका विचार किया जा रहा है (तन्मात्राण्यविशेषाः—सांख्यकारिका—३८) । इस शास्त्र में विशेष के तीन अर्थ हैं । (क) स्वगतभेद होना, जैसे शब्द का षड्जादि, स्पर्श का शीतादि, रूप का नील आदि, रस का अम्लादि तथा गन्ध का सुरभ्यादि; (ख) सुख-दुःख-मोह-बोध का जो उत्पादक है वह विशेष है; (ग) पंचभूत की पारिभाषिक संज्ञा 'विशेष' है, अतः उसके उपादान-कारण होने के परिणामस्वरूप तन्मात्र को अविशेष कहा जाता है ।

तन्मात्र में स्वगत भेद नहीं हो सकता, जैसा इस निबन्ध में यथास्थान प्रमाणित किया गया है । क्रमभावी अवयवों की समष्टि का युगपत् एकवत् ज्ञान होने से ही शब्द में षड्जादि भेद, स्पर्श में शीतादि भेद होते हैं । एक क्रियाजन्य अभिघात से जो ज्ञान होगा, उसमें यह भेद नहीं हो सकता ।

तन्मात्र से सुख-दुःख-मोह का भी ज्ञान नहीं होता । सुखादि ज्ञान के लिए चित्त-संस्कार तथा बाह्य द्रव्य का एक अभीष्ट स्थूल परिमाण चाहिए । तन्मात्र-ज्ञान चूँकि बाह्य ज्ञान की अणुतम अवस्था है और पूर्व संस्कार के आत्यन्तिक रोधमूलक चित्तस्थैर्य से उसका साक्षात्कार होता है, अतः तन्मात्रिक क्रिया से चित्त में सुख-दुःख-मोह-बोध की उत्पत्ति नहीं होती । भूत-तत्त्व-साक्षात्कार में स्वगत भेद रहता है, अतः उसमें सुखादि-बोध भी कुछ-न-कुछ रहता ही है; पर ग्राह्यव्यापित्व नहीं रहने के कारण तन्मात्र से ये तीन बोध नहीं हो सकते । वस्तुतः सुख-दुःख-मोह का कारण विशेष-विशेष स्पर्शादि गुण हैं । शब्दादि के वे विशेष यदि अपगत हो जायँ, तो उनका सुख-दुःख-मोहकरत्व भी नहीं रहता । राग से सुख होता है और राग एक विशिष्ट प्रकार के शब्द के लिए ही हो सकता है, यह सार्वत्रिक नियम है । यदि शब्द का वह निश्चित प्रकार न हो तो वह राग-मूलक सुख-बोध की उत्पत्ति नहीं करा सकता । यह युक्ति दुःख-मोह-बोध में भी प्रयोज्य है ।

तन्मात्र सुख-दुःख-मोह का उत्पादक नहीं हो सकता, इससे एक और बात निकलती है । वह यह कि आतिवाहिक या प्रेत-शरीर तन्मात्रिक नहीं है, प्रत्युत भूतनिर्मित है।

प्रचलित व्याख्यान-ग्रन्थ में इस विषय में एक भ्रम विद्यमान है। विज्ञान-भिक्षु और उनका शिष्य भावगणेश का मत है कि स्थूल देह के बाद जिस सूक्ष्म शरीर का ग्रहण देही करता है, वह तन्मात्रिक है। वे सांख्यकारिका की ४१ कारिका का पाठ 'विनाऽविशेषैः' ऐसा मानते हैं। यह पाठ ठीक नहीं है और मूल पाठ 'विना विशेषैः' ही होगा, क्योंकि कारिका में पहले तन्मात्र को लिङ्ग-शरीर के अन्तर्गत माना गया है। सर्ग-काल में तन्मात्र भी स्थूल भाव को छोड़कर केवल सूक्ष्म भाव में नहीं रह सकता। यद्यपि तन्मात्रों से करणवर्ग संगृहीत रहता है तथापि स्थूल देह-त्याग के बाद जिस शरीर का ग्रहण होता है वह तन्मात्रिक नहीं हो सकता, क्योंकि तन्मात्र सुख-दुःख-मोह-हीन है, किन्तु उस उपभोग-शरीर में सुखादि का बोध होता है। वह शरीर वस्तुतः भौतिक शरीर का किंचित् सूक्ष्म रूप है, जिसमें विशेष धर्म विद्यमान है। प्रेत-शरीर का निर्माण, वर्धन तथा नाश आदि सम्यक् स्थूल जगत् से संबद्ध हैं, यद्यपि वे इतने स्थूल नहीं हैं, जितने घटादि। इसी प्रकार प्रेतादि शरीर के धारक स्वर्गादि वास्तव स्थूल-लोक हैं जो चर्म-चक्षु के द्वारा अग्राह्य हैं।

तन्मात्र के विषय में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि वह अविभाज्य (=जिसका कोई विभाग नहीं हो सकता) है। तन्मात्र अहंकार-द्रव्य से उत्पन्न एक परिणाम है, और जन्य द्रव्य की कुछ-न-कुछ आकृति (अर्थात् परिमाण) रहती ही है, अतः यह प्रश्न हो सकता है कि तन्मात्र अविभाज्य कैसे है? क्या वस्तुतः तन्मात्र अविभाज्य है, या तन्मात्र का भाग नहीं कर सकने के कारण उसे अविभाज्य कहा गया है और प्रक्रियान्तर से उसका भी विभाग हो सकता है? प्रश्नकारी यह भी कहता है कि गणितज्ञों की दृष्टि से अविभाज्य परिमाण नहीं हो सकता, अतः योगियों की यह मान्यता कैसे तर्कसंगत हो सकती है!

समाधान यह है कि तन्मात्र की साक्षात्कार-पद्धति का ठीक से अनुधावन करने से ही इस आपत्ति का उत्तर मिल जाता है। हमने पहले ही यह कह दिया है कि तन्मात्र क्षुद्र कण नहीं है। वह शब्दादि गुणों की अन्तिम अवस्था है (गुण के साथ गुणी भी ग्राह्य), अर्थात् केवल एक ही क्रिया से चित्त में जो ज्ञान होता है वह तन्मात्र-ज्ञान है। जिस स्थैर्य से ऐसा ज्ञान होता है, यदि और बढ़ाया जाय तो ज्ञान-शक्ति बाह्य दृश्य सम्पर्क से सम्यक् च्युत हो जाती है। यह अवस्था मूर्च्छा आदि की नहीं है (जैसा बाद में दिखाया जायगा), अतः यह सिद्ध होता है कि तन्मात्र से सूक्ष्मतर बाह्य भाव कदापि साक्षात्करणीय नहीं होता। तन्मात्र की जो अविभाज्यता है, वह ज्ञाता की दृष्टि से है, अर्थात् जब ज्ञाता तन्मात्र से भी सूक्ष्म वस्तु में समाहित होना चाहेगा तब चित्त अस्मिता में ही संलग्न होगा,— यह प्रत्यक्षसिद्ध बात है; अतः तन्मात्र का विभाग कार्यतः उपपन्न नहीं होता। इसीलिए योग-ग्रन्थों में तन्मात्र को परमाणु, अखण्ड, निरवयव, एकात्मा आदि शब्दों से कहा जाता है। तन्मात्र अवयवहीन है, पर परिमाणहीन नहीं है, यह ज्ञातव्य है।

अब तन्मात्र-साक्षात्कार की पद्धति कही जा रही है। इस विषय में यह स्पष्ट रूप से जान लेना चाहिए कि इस विवरण को पढ़कर कोई व्यक्ति तन्मात्रों का साक्षात्कार नहीं कर सकता और न इस प्रकार की चेष्टा करनी ही चाहिए, पर वक्तव्य-विषय के स्पष्टीकरण के लिए तथा पूर्वापर लक्षणों के विशद ज्ञान के लिए यह विवरण लिपिबद्ध किया जा रहा है। इस विवरण के लिए हमने अपने आचार्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्य

तथा उनके शिष्य श्री धर्ममेघ आरण्य के लेखों तथा सक्षात् उपदेशों को अविकल रूप से उद्धृत किया है ।

चित्त के जिस विशेष प्रकार के स्थैर्य में तन्मात्रों का साक्षात्कार होता है उसका पारिभाषिक नाम 'विचारानुगत संप्रज्ञात समाधि' है । इसके पहले वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि के बल पर पंचभूतों का साक्षात्कार कर लेना चाहिए, क्योंकि पंचतन्मात्रों का ज्ञान भूत-ज्ञान-पूर्वक ही होता है ।

जब समाधिसंपन्न योगी में इतनी कुशलता आ जाती है कि वह सभी ज्ञानेन्द्रियों का रोध कर सकता है तब यदि वह किसी एक ज्ञानेन्द्रिय को सक्रिय रखकर अन्य इन्द्रियों का रोध करे, तो उसे जो बाह्य ज्ञान होगा वह भूततत्त्व-साक्षात्कार है । जिस स्थैर्य से ऐसा होता है उससे केवल शब्दादि-ज्ञान-कारक एकाधिक बाह्य उद्रेक एकीकृत होता है और बाह्य उद्रेकों के तारतम्य से सुख-दुःख-मोह तथा शब्दादि-ज्ञान में स्वगत-भेद का भी अनुभव होता है । चित्त की स्थिरता जब इतनी अधिक हो जाती है कि वह ज्ञानोत्पादक एक-एक बाह्य उद्रेक को पृथक्-पृथक् ग्रहण करने में समर्थ हो जाती है, तब उस एक बाह्य उद्रेक से चित्त में जो अणु-ज्ञान उत्पन्न होगा, वह तन्मात्र-ज्ञान है, अर्थात् भूतज्ञान में शब्दादि का जो एकाधिक उद्रेक-जनित ज्ञान हो रहा था उसके स्थान पर केवल एक उद्रेकजनित ज्ञान चित्त में उदित होगा ।

एक उदाहरण देकर यह विषय स्पष्ट किया जा रहा है । मान लीजिए कि मुझे रूपतन्मात्र का साक्षात्कार करना है । पहले मुझे किसी रूप में यौगिक पद्धति से चित्त को इस रूप से समाहित करना पड़ेगा, जिससे चक्षुरिन्द्रिय ही सक्रिय रहेगी (कर्णादि इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जायेंगी) और केवल रूपोत्पादक बाह्य क्रिया से चित्त में रूपज्ञान ही होता रहेगा । यह तो रूपलक्षणक तेजोभूत का साक्षात्कार हुआ । इस रूप-ज्ञान में रूपोत्पादक क्रियातरंग की एक समष्टि का चित्त से ग्रहण होता है, एक क्रिया का नहीं; अतः यह रूपज्ञान अणुरूपज्ञान की समष्टि-विशेष है । पर, यदि मेरा चित्त इतना स्थिर हो जाय कि वह रूपोत्पादक क्रियातरङ्गों में से केवल एक तरंग का ही ग्रहण करे अर्थात् केवल एक तरंग से जितना ज्ञान होता है उतना ही चित्त में उदित रहे, तो उससे जो ज्ञान चित्त में उत्पन्न होगा वह रूपतन्मात्र का ज्ञान है । किसी भी लौकिक प्रयत्न या यान्त्रिक बल से ऐसा होना संभव नहीं है । इसका कारण बाद में विवृत होगा ।

एक जड़ वैज्ञानिक दृष्टान्त से इसे समझाया जा रहा है । यान्त्रिक पद्धति से यह निर्णीत हो चुका है कि हमलोगों को लाल रंग का जो अनुभव होता है वह एक सेकेण्ड में ४०० × १०१२ संख्यक तरंग (= उतने संख्यक अनुभूति की) का समष्टि-ज्ञान ही है । यदि एक तरंग से जितना ज्ञान होता है उसका अवधारण किया जाय तो तन्मात्र की कुछ धारणा हो सकती है ।

मैं यहाँ यह स्पष्ट रूप से कह देना चाहता हूँ कि इस गणना के अनुसार एक तरंग-जनित जो ज्ञान की कल्पना की जा सकती है वह वस्तुतः तन्मात्रज्ञान नहीं है, पर तत्सदृश है । यान्त्रिक पद्धति से जो कुछ विज्ञात हो सकता है, वह ध्यानज पदार्थ का सदृश हो सकता है, पर वही पदार्थ नहीं होता, यह पाठक न भूलें । आजकल यश के लोभ में

बहुत-से विद्वान ध्यानज ज्ञान और यान्त्रिक ज्ञान की समानता का प्रतिपादन करते रहते हैं, जो मूलतः भ्रान्त है। अणुवीक्षण-यंत्र-जनित नाड़ी के ज्ञान में और ध्यानज प्रत्यक्ष से नाड़ी के ज्ञान में भिन्नता रहती है, यद्यपि कुछ सदृशता भी रहती है। मैं निःसंशय रूप में कहना चाहता हूँ कि बाह्य विषय को यान्त्रिक बल से मॉलिक्यूल (Molecule), इलेक्ट्रन (Electron), प्रोटन (Proton) आदि कितने ही भाग क्यों न किये जायँ, वे न तन्मात्र हैं और न उस रीति से कभी तन्मात्र में पहुँचा भी जा सकता है। मॉलिक्यूल आदि विभागों का कभी अन्त नहीं होगा, यह भी मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ, पर तन्मात्र बाह्य विषय-ज्ञान का अन्तिम स्तर है, इस संबन्ध में निम्न युक्ति द्रष्टव्य है—

वस्तुतः 'विचारानुग संप्रज्ञात'-रूप चित्त-स्थैर्य वह एकाग्रता है, जिससे गाढ़ चित्त-स्थैर्य होने से बाह्यविषयक ज्ञान नहीं रहता। यह मूर्च्छा आदि नहीं है। चित्त-स्थैर्य के बल पर योगी जब ऐसी अवस्था में पहुँचता है, जिसका अतिक्रमण करने से चित्त विषय-संपर्क से विच्छिन्न हो जाता है, उस स्थैर्य से तन्मात्र का ज्ञान होता है। दूसरे शब्दों में शब्दादि की अनुभूति से चित्त को हटा लेने के ठीक पहले जो ज्ञान चित्त में उदित रहता है, वह तन्मात्रज्ञान है। यदि तन्मात्रज्ञान से चित को अधिक स्थिर कर लिया जाय तो चित्त अहंकार में केन्द्रित हो जायगा, यह प्रत्यक्षसिद्ध है। अतः ऐसा कोई उपाय नहीं है जिससे तन्मात्र से सूक्ष्मतर बाह्यभाव का साक्षात्कार हो जाय। इसी दृष्टि से तन्मात्र की अविभाज्यता है और तन्मात्र को शास्त्र में 'एकावयव' कहा गया है।

तन्मात्र के त्रिविध लक्षण हो सकते हैं। (क) बाह्य, (ख) ऐन्द्रियिक तथा (ग) मानसिक। शब्दतन्मात्र का उदाहरण देकर तीन लक्षण कहे जा रहे हैं, यथा—बाह्य लक्षण में शब्दतन्मात्र बाह्य द्रव्य की क्रिया-विशेष है, अर्थात् बाह्य द्रव्य की जिस एक क्रिया से अणुतम शब्दज्ञान उत्पन्न होता है वह क्रिया। ऐन्द्रियिक लक्षण में शब्द-तन्मात्र = क्षणव्यापिनी बाह्यक्रिया से कर्ण के सक्रिय होने से जो अणुतम ज्ञान उत्पन्न होता है वह तन्मात्र है। मानसिक लक्षण में—शब्दतन्मात्र = एक क्षणव्यापिनी क्रिया से कर्ण के द्वारा जो अस्मिता का अणुतम परिणाम होता है वह शब्दतन्मात्र है। शास्त्रों में शब्दतन्मात्र शब्द से तन्मात्र-ज्ञानोत्पादक क्षणव्यापिनी क्रिया, एतादृश क्रिया-जन्य अणुतम शब्द-ज्ञान तथा एतादृश अणुशब्द गुण का आश्रयभूत बाह्य द्रव्य—इन तीनों को ही ग्रहण किया गया है। इन तीनों में कोई विरोध नहीं है, क्योंकि ज्ञान, सत्ता, क्रिया—ये तीन अविनाभावी हैं।

अब प्रत्येक तन्मात्र के साक्षात्कार-काल में कैसा बोध चित्त में उदित रहता है, उसका लघु विवरण दिया जा रहा है। ध्यान देना चाहिए कि इस विवरण को पढ़कर कोई साक्षात्कारवती प्रज्ञा के विषय में प्रस्फुट ज्ञान नहीं कर सकता, फिर भी स्वरूपज्ञान की विशदता के लिए कुछ लिखा जा रहा है।

गन्धतन्मात्र के साक्षात्कार के पहले सुरभि-असुरभि-भेदवान् क्षिति-भूत का ज्ञान करना पड़ता है और चित्त-स्थैर्य अधिक हो जाने से इन दोनों भेदों से शून्य केवल गन्धमात्र का बोध होता है। ऐसा क्यों होता है, इस विषय में पहले ही कहा जा चुका है कि गन्धोत्पादक बाह्य क्रिया की समष्टि से चित्तसंस्कार के अनुसार तथा शरीर-प्रकृति के

अनुसार सुरभि-असुरभि का बोध होता है, पर इस अवस्था में एक ही क्रिया के ग्रहण होने के कारण सुरभ्यादि का बोध नहीं होता। इसी प्रकार सुख-दुःख-मोह का भी बोध नहीं होता, जैसा कि पहले दिखाया गया है।

रस-तन्मात्र के साक्षात्कार-काल में पहले कटु-लवणादि भेदवान् (इस प्रकार के असंख्य भेद हो सकते हैं, और विभिन्न प्रकार की परिस्थिति में ऐसे-ऐसे रसों का भी अनुभव होता है जो अन्य परिस्थिति में स्थित व्यक्ति के लिए अचिन्तनीय हैं) अप्‌भूत का साक्षात्कार करना पड़ता है और तत्पश्चात् रसतन्मात्र का, जिसमें ये भेद नहीं हैं।

रूपतन्मात्र के साक्षात्कार में पहले श्वेत-पीतादि वर्णवान् तेजो-भूत का साक्षात्कार करणीय है। प्रसंगतः यह जान लेना चाहिए कि आलोक के सात वर्णों की बात बहुत स्थूल है और विभिन्न परिस्थितियों में अन्य अनेक प्रकार के आलोकों का बोध होता है। साधारण अवस्था में जो सप्तवर्ण का बोध होता है वह जिस स्थिति का सापेक्ष है उसके परिवर्तन होने से सप्तवर्णवाद एक हेय म.ा हो जाता है। रूपतन्मात्र के विभिन्न संयोग से कितने प्रकार के रंग हो सकते हैं, इसकी इयत्ता नहीं है, और आज भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टि में हम जिसे मौलिक रंग कहते हैं वह भी एक शैशवीय चिन्तामात्र रह जाता है।

इस विषय में एक बात स्पष्ट रूप से जान लेनी चाहिए कि रूप-तन्मात्र के साक्षात्कार में आलोक और अन्धकार ( प्रचलित अर्थ में ) इन दोनों से पृथक् रूप का बोध होता है। रूपतन्मात्र की विभिन्न समष्टि अर्थात् रूपज्ञानोत्पादक बाह्य क्रिया के विभिन्न स्तोक से परिस्थिति के अनुसार आलोक और अन्धकार का ज्ञान होता है, और रूप-तन्मात्र में चूँकि एक ही क्रिया का साक्षात्कार करना पड़ता है, अतः उसमें न आलोक का बोध होता है, न अन्धकार का। रूपतन्मात्र का बोध आलोक और अन्धकार के परम मूल का बोध है और आलोकादि-बोध उत्पन्न करने के लिए यादृश बोद्धा में जितना क्रिया-स्तोकजन्य रूपज्ञान चाहिए, उतनी समष्टि-तन्मात्र-साक्षात्कार में नहीं रहती, अतः रूपतन्मात्र का ज्ञान तमः-प्रकाश-विलक्षण रूपज्ञान है। तम और आलोक सजातीय पदार्थ हैं। दोनों का अस्तित्व पंचभूत तक ही है, अतः प्रलयकाल में 'तम आसीत् ....' इत्यादि स्थलों पर 'तमः' शब्द को देखकर प्रलयकाल में जो व्यक्ति गाढ़ अन्धकार की कल्पना करते हैं, वे भूल करते हैं। प्रलयकाल का जो विवरण शास्त्रों में है, वह वैकल्पिक शब्द-व्यवहार-(योगसूत्र, १।९) पूर्वक है, इसका यथावत् अर्थ वहाँ अप्रयोज्य है।

स्पर्शतन्मात्र के ज्ञान में भी वही न्याय प्रयोज्य है। पहले शीतोष्णस्पर्शमय वायु-भूत का साक्षात्कार करणीय है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि शीत-उष्ण से सम्यक् विलक्षण अन्यान्य स्पर्शों का भी बोध इस चित्तस्थैर्य में होता है, जिसका ज्ञान किसी भी जड़ विज्ञानी को आजतक नहीं है, पर चित्तस्थैर्य-बल से उसका भी ज्ञान होता है। जब स्थिर होते-होते स्पर्शोत्पादक एक क्रिया को पृथक् कर जानने के लिए चित्त समर्थ हो जाता है तब शीतोष्ण-विलक्षण जिस स्पर्श का बोध होता है वह स्पर्शतन्मात्र-साक्षात्कार है। स्पर्श और त्वक् को प्रायः अयथार्थ रूप से समझा जाता है। इन्द्रिय-तत्व के विचार में त्वक् पर विशेष विचार किया जायगा। पाठकों की अवगति के लिए इस विषय में सांख्य-तत्त्वालोक से एक विचार उद्धृत किया जा रहा है, 'शीतोष्णग्राहकं त्वग्वृत्तिज्ञानेन्द्रियं

त्वगाख्यम् । त्वचि शीतोष्णबोधस्तथा तेज-आख्योऽन्योऽपि कश्चिद् बोधो विद्यते यथाम्नाय-स्तेजश्च विद्योतयितव्यं चेति । तत्र तेज-आख्यः त्वक्स्थोपश्लेषबोधो न स्यात् त्वगाख्य-ज्ञानेन्द्रियकार्यं, शीतोष्णादेराश्लेषबोधस्य च विसदृशत्वात् ।' (४२ प्रक०)

शब्दतन्मात्र के विषय में भी वही 'विचारानुगतचित्त-स्थैर्य' का प्रयोग करणीय है । पहले नानाविध शब्दमय आकाश-भूत का साक्षात्कार होता है और बाद में जब सर्व-विशेष-शून्य षड्जादिभेद-रहित शब्द का ज्ञान होता है तब वह शब्दतन्मात्र का साक्षात्कार है । शब्दतन्मात्र अनाहत नाद नहीं है, जैसा कि भ्रमवश अयोगी व्यक्ति समझता है, क्योंकि अनाहत नाद में 'विचारानुगतसमाधि' की आवश्यकता नहीं होती, और आनन्द का बोध होता है, जबकि शब्दतन्मात्र के बोध में अणुतम आनन्द-बोध नहीं रहता । उसी प्रकार शब्दवती प्रवृत्ति (१।३५ योगसूत्रभाष्योक्त) भी शब्दतन्मात्र नहीं है, क्योंकि इसके ज्ञान के लिए भी पूर्वोक्त समाधि की आवश्यकता नहीं होती । विषय-वती प्रवृत्ति के साक्षात्कार में श्वास-प्रश्वास का अत्यन्त रोध नहीं होता, और तन्मात्र-साक्षात्कार में श्वास-प्रश्वास का पूर्णतः रोध अपेक्षित है ।

तन्मात्रों के प्रत्यक्ष-साक्षात्कार में और भी कितनी विचित्रता का ज्ञान होता है । इसका लघु विवरण दिया जा रहा है । रूपतन्मात्र-साक्षात्कार में यह देखा जाता है कि साधारण आलोक को यौगिक प्रणाली से देखने से वह नील आदि सात या उससे भी अधिक दर्शनीय रश्मि में विभक्त होता है । उसके बाद नील, पीत आदि का भेद नहीं रहता, क्योंकि तब चित्त के अत्यन्त स्थैर्य के कारण नील, पीत आदि से कृत सभी उद्रेक एक रूप से ही गृहीत होंगे । नील आदि में जिसमें अधिक क्रियाभाव है वह अधिकक्षण-व्यापी तन्मात्रज्ञान की उत्पत्ति करेगा । पर उन सभी से एक ही प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होगा । इस स्थिति में दैशिक विस्तार-ज्ञान प्रायः नहीं रहता, केवल कालिक धारा से ज्ञान होता है ।

इस प्रकार साक्षात्कारी की दृष्टि में बाह्य जगत् केवल ग्रहणमात्रयोग्य सर्वविशेष-शून्य की तरह प्रतिभात होता है । स्पष्ट बोध होता है कि बाह्य द्रव्य की जो ग्राह्यता है, वह इन्द्रिय की चंचलता है, और, इन्द्रियस्थ अस्मिता चाल्यमान होकर विषयज्ञान का उत्पादन करती है, यह भी स्पष्ट रूप से विज्ञात होता है । वस्तुतः शब्द-स्पर्शादि भेद केवल अभिमान का चांचल्य-भेद है, यह बोध योगी के चित्त में आहित होता है । इस सर्वेन्द्रिय-साधारण अभिमान का नाम 'षष्ठ अविशेष' या 'अस्मिता' है । [तत्त्वसाक्षात्कार, हरिहरानन्दआरण्य-कृत ]

तन्मात्र सविचारा समापत्ति का विषय है, जैसा योगसूत्र में है 'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता' ( १।४४ ) । वस्तुतः तन्मात्र ही नहीं, प्रत्युत बुद्धि आदि भी इसका विषय है । इस स्थैर्य में वर्तमान कालावच्छिन्न ही बोध होगा, तन्मात्र का उपादान कारण तथा तन्मात्र के कार्य का बोध नहीं होगा । योगी एक प्रक्रियाविशेष से इस सूक्ष्मावस्था में पहुँचता है । कार्यतः इस प्रक्रिया के दो भाग हैं । एक, ध्येय विषय के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अंश में ज्ञान-शक्ति को समाहित करना तथा दूसरा इन्द्रिय-स्थैर्य को क्रमशः स्थिरतर से स्थिरतम करना । प्रत्येक भावद्रव्य के ज्ञान में सामान्य-विशेष भाव अनुस्यूत रहता है, अतः ध्येय-विषय में भी सूक्ष्मतर अंश है, यह मानना चाहिए । सुतरां,

एक ही ध्येय-विषय के सूक्ष्मतर अंश में समाहित हुआ जा सकता है। स्थैर्य भी सामान्य-विशेषवान् है। चूंकि वह अस्थैर्य का अविभव कर अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है, अतः एक ऐसी स्थिरता भी है जिससे अधिक चित्त को स्थिर करने से बाह्य ज्ञान लुप्त हो जाता है। इस लुप्त होने के ठीक पहले जिस बाह्य ज्ञान से चित्त अनुरंजित रहता है, वही तन्मात्रज्ञान है और इस अवस्था में यादृश विषय का ज्ञान होता है, वही तन्मात्र है, जिसका नामान्तर योगसूत्र-भाष्य में परमाणु है। यह परमाणु वैशेषिक का परमाणु नहीं है, यह स्मर्तव्य है। (द्र० कापिलाश्रमीय पातंजल योगदर्शन)

तन्मात्र-साक्षात्कार-काल में दैशिक प्रतीति रहती है या नहीं, अब इसकी आलोचना की जा रही है। इस विषय में सार बात यह है कि तन्मात्रों के साक्षात्कार में दैशिक प्रतीति अत्यन्त अस्फुट रूप से रहती है, यद्यपि वह प्रतीति भूतसाक्षात्कार-काल की तरह अति-विशद नहीं है। इस तथ्य के साथ इतना और जान लेना चाहिए कि इस बोध में कालिक विस्तार-ज्ञान अतिस्फुट रहता है, क्योंकि तन्मात्रिक क्रिया का बोध कालिक धारा से ही होता है; दैशिक अवयव का बोध नहीं के बराबर हो जाता है, यद्यपि उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। तन्मात्र बाह्यज्ञान का चरम क्षुद्रतम अंश है जिससे अधिक सूक्ष्म शब्दादि ज्ञान समाहित चित्त के लिए भी अगोचर है। जिससे अधिक सूक्ष्म शब्द जाना ही नहीं जा सकता, वह शब्दतन्मात्र है, अतः अस्फुटदेश-व्याप्ति-पूर्वक कालिक धारा से ही उसका ज्ञान होता है। तन्मात्रज्ञान में जो दैशिक प्रतीति रहती है, वह अन्तिम दैशिक प्रतीति है, क्योंकि तन्मात्रज्ञान के रोध होने से चित अस्मिता में संलग्न होता है जो काल-व्यापी द्रव्य है। यह सिद्ध है कि इन्द्रियों से विषय ग्रहण कर उसके ज्ञान होने तक कितना समय आवश्यक है। ज्ञानहेतु कोई क्रिया यदि तदपेक्षया अल्पकालस्थायी क्रियाओं का प्रवाहभूत हो तो हम उस खण्ड-खण्ड प्रवाहांशभूत क्रिया को पृथक् कर नहीं जान सकते, प्रत्युत अनेक क्रिया को एकवत् समझते हैं। इस प्रकार बाह्यज्ञान-हेतु बहु-क्रिया को अवि-विक्त रूप से ग्रहण करने पर विस्तार-ज्ञान की उत्पत्ति होती है। तन्मात्रज्ञान में चूंकि एक क्रियाजन्य शब्दादि-ज्ञान ही चित्त में उदित रहता है, अतः उसमें विस्तार का ज्ञान प्रचित नहीं हो पाता, परन्तु विस्तार-ज्ञान का अभाव भी नहीं हो जाता, क्योंकि शब्दादि-ज्ञान और दैशिक प्रतीति अविनाभावी हैं। अतः, चूँकि तन्मात्र-साक्षात्कार में अणुतम शब्दादिज्ञान होता है, इसलिए उस समय अत्यन्त अस्फुट दैशिक व्याप्ति का ज्ञान भी चित्त में रहता है, यह न्यायसिद्ध है। शब्दादिरूप भावपदार्थ के क्रमभावी अवयवों को युग-पद्भावी की तरह जानने के कारण दैशिक प्रतीति होती है, तन्मात्रज्ञान में 'युगपद्भवन'-रूप ज्ञान संभव नहीं है, अतः तब विस्तार-बोध का मूलभूत अत्यस्फुट दैशिक प्रतीति रहती है, यह न्याय से सिद्ध हुआ।

अन्त में तन्मात्र के उपादान कारण पर विचार किया जा रहा है। यों तो इसका शास्त्रीय उत्तर सीधा है—अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति होती है या गुणत्रय के व्यवसेय परिणाम होने से तन्मात्र बनता है, पर मात्र इतना कहने से ही वह बुद्धिग्राह्य नहीं होता। इसमें प्रबल शंका यह उठती है कि तन्मात्र इन्द्रिय-बाह्य जड़-ग्राह्य द्रव्य है, अतः अतःकरण के अंशविशेष अहंकार से उसकी उत्पत्ति कैसे होगी? किंच गुणत्रय की दैशिक या कालिक

व्याप्ति नहीं है, अतः उससे देश-व्याप्तिमान् तन्मात्र कैसे बन सकता है ? इसका एक संक्षिप्त उत्तर यहाँ दिया जा रहा है ।

पहले अहंकार से तन्मात्रों की उत्पत्ति पर विचार किया जा रहा है । तन्मात्र स्वरूपतः इन्द्रिय-गृहीत अतिसूक्ष्म शब्दादि का ज्ञान है और ज्ञान अन्तःकरण का परिणाम है, अतः तन्मात्र का ज्ञानरूप अंश अहंकार (=अस्मिता) का परिणाम है, यह सिद्ध हुआ ।

तन्मात्र का एक दूसरा अंश भी है । यह है वह बाह्य द्रव्य, जिसकी क्रिया से चित्त में शब्दादि का ज्ञान होता है । जिसकी क्रिया से शब्दादि की उत्पत्ति होती है, वह अन्तःकरण द्रव्य है, यह सांख्यतत्त्वालोक में प्रमाणित किया गया है[1] । इस विषय में युक्ति है कि तन्मात्र के साक्षात्कार में विषय की सूक्ष्म चाचंल्यरूपता की उपलब्धि होती है । चित्तस्थैर्य से इन्द्रियशक्ति को सम्पूर्ण स्थिर करने पर विषयज्ञान का लोप हो जाता है, और उस स्थैर्य को किंचित् श्लथ करने से तन्मात्रों का ज्ञान होता है । इस साक्षात्कार-काल में इन्द्रिय अभिमानात्मक हैं, इसका भी स्पष्ट ज्ञान होता है । अभिमान सांख्य-शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है (द्र० सांख्यतत्त्वालोक, १७-२० प्रकरण) ।

इस अभिमान के ग्राह्यकृत उद्रेक से विषयज्ञान होता है । जो अभिमान को चालित कराता है, वह अभिमान सजातीय है—यह न्याय्य है, अर्थात् कालिक क्रियायुक्त एक मन ही अन्य मन को भावित कर सकता है, इस युक्ति से ग्राह्य और ग्राह्यमूल भी अभिमानात्मक है और ग्राहक भी तद्रूप ही सिद्ध होता है । यह चित्तस्थैर्यकारी योगियों का प्रत्यक्ष अनुभव है ।

तन्मात्र का मूल अस्मिता है, इस विषय में अन्य युक्ति भी है, यथा—विषयमूल द्रव्य क्रियाशील है, यह सिद्ध है, क्योंकि विषय-ज्ञान इन्द्रिय-क्रियात्मक है । बाह्य क्रिया का लक्षण है देशान्तर-प्राप्ति और दैशिक प्रतीति शब्दादि-ज्ञान का सहभावी है । बाह्य मूल में शब्दादि नहीं रहने के कारण उसकी क्रिया देशान्तरगति नहीं हो सकती । अतः यह मानना होगा कि बाह्यमूल द्रव्य की क्रिया अदेशाश्रित है । अदेशाश्रित क्रिया अन्तःकरण की ही हो सकती है, अतः बाह्यमूल द्रव्य अस्मितात्मक है, यह सिद्ध हुआ, अर्थात् तन्मात्र का उपादान अस्मिता (=अहंकार द्रव्य) है ।

शंका हो सकती है कि क्यों अहंकारद्रव्य (=अस्मिता) की क्रिया ही मूलतः शब्दादि-ज्ञान की उत्पादकिा होगी, अन्य प्रकार की क्रिया भी तो हो सकती है ? उत्तर—अन्य प्रकार की क्रिया की धारणा नहीं हो सकती, क्योंकि एक देश से अन्य देश में अवस्थान और एक काल से अन्य काल में अवस्थान, इन दोनों लक्षणों के अतिरिक्त अन्य किसी क्रियालक्षण का ज्ञान नहीं हो सकता । यदि पुनः यह प्रश्न हो कि क्या वस्तुतः अन्य प्रकार की क्रिया नहीं हो सकती तो उत्तर होगा—किस वस्तु की वह क्रिया होगी ? क्योंकि वस्तु= जो विद्यमान है । अस्तित्व के साथ ज्ञान का अविनाभावी संबन्ध है, अतः वस्तु यदि सम्पूर्ण अज्ञेय हो तो 'वह है' ऐसा नहीं कहा जा सकता । अतः प्रतिवादी को 'जो नहीं है, उसकी क्रिया' ऐसा अयुक्त कथन करना होगा । वस्तु बाह्य या आन्तर होगी । अतः,

१ द्र० सांख्यतत्त्वालोक ६०, ६१, ६२, ६३ प्रकरण ।

चूंकि युक्ति से यह सिद्ध किया गया है कि ग्राह्यमूल द्रव्य की क्रिया प्रतीयमान बाह्य वस्तु की नहीं है, अतः यह भी सिद्ध होगा कि मूलतः आन्तर वस्तु (या अस्मिता) ही तन्मात्ररूप चरम बाह्य द्रव्य का उपादान-कारण है।

अतःपर तन्मात्र के गुणविभाग पर आलोचना की जा रही है। यद्यपि तन्मात्र का प्रत्यक्ष मूल अस्मिता है, तथापि, चूंकि अस्मिता एक त्रिगुणजात द्रव्य है, अतः तन्मात्र भी त्रिगुणजात है, यह सिद्ध है। तन्मात्र का त्रिगुणात्मकत्व प्रत्यक्ष-प्रमाण से भी सिद्ध होता है, यथा—शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध में प्रकाश, क्रिया तथा स्थितिरूप तीन भाव की स्पष्ट उपलब्धि होती है। शब्दादि में बोध या प्रकार है, बोध का हेतुभूत क्रिया है एवं उस क्रिया का हेतुभूत शक्ति है। प्रकाश = बोध होने की योग्यता। क्रिया = परिवर्तन, अवस्थान्तर। स्थिति = प्रकाश और क्रिया का रोध। उदाहरणार्थ शब्द-विषय का विश्लेष करने से शब्दज्ञान-रूप प्रकाशभाव, कम्पनरूप क्रियाभाव तथा कम्पन का शक्ति-रूप (Potential energy) स्थिति-भाव मिलते हैं। रूपादि में भी ये तीन भाव मिलते हैं। अतः प्रत्येक तन्मात्र त्रैगुणिक है। इस विषय में इतना और जानना चाहिए कि शक्ति के बिना क्रिया नहीं हो सकती और क्रिया के बिना बोध नहीं हो सकता। यदि बोध होता है तो उसके पहले क्रिया की सत्ता और उसके पहले शक्ति की सत्ता माननी ही होगी।

यद्यपि प्रत्येक तन्मात्र त्रिगुणजात है, तथापि गुणसन्निवेश का तारतम्य है। तदनुसार शब्दतन्मात्र सात्त्विक, स्पर्शतन्मात्र सात्त्विक-राजस, रूपतन्मात्र राजस, रसतन्मात्र राजस-तामस और गन्धतन्मात्र तामस हैं। सांख्यतत्त्वालोक के ५८ प्रकरण में इस विषय में युक्ति दी गई है, यथा—शब्द गुण की अव्याहतता, चतुर्दिक् में प्रसार, अपर गुणों की तुलना में अधिकतम ग्राह्यता है, अतः शब्दाश्रय आकाश सात्त्विक है (सुतरां, तत्कारण शब्दतन्मात्र भी सात्त्विक है)। शब्द की अपेक्षा तापादि की अप्रसार्यता है, अतः वायु सात्त्विक-राजस है (सुतरां, स्पर्शतन्मात्र भी)। इन दोनों से रूप का प्रसार अधिक बाध-योग्य है (अर्थात् शब्द और ताप जिससे बाधित नहीं होता है, रूप उससे भी बाधित होता है) और वह अचिंत्य रूप से द्रुत संचारी एवं क्रियाधिक होने से तेज राजस है (सुतरां, रूपतन्मात्र भी)। गन्ध से रस सूक्ष्म क्रियात्मक है, अतः अप् राजस-तामस है (सुतरां, रस-तन्मात्र भी)। गन्ध के स्थूल क्रियात्मकत्व के कारण क्षितिभूत तामस है (सुतरां, गन्ध-तन्मात्र भी)। [सांख्यीय प्राणविद्या के विचार में यह तर्क और स्पष्ट होगा।]

उपसंहार में हम अधिकारी विद्वानों से यह अनुरोध करेंगे कि वे इस विषय पर योगशास्त्रीय पद्धति के अनुसार विचार करें, जिससे इन सूक्ष्मतम विषयों पर आधुनिक अध्येताओं को कुछ स्पष्ट ज्ञान मिल जाय और वे अपनी कपोलकल्पना से शास्त्र को कदर्थित न करें।

❀

# प्रवृत्ति की प्रकृति

श्री यशदेव शल्य

हम प्राणि-व्यवहार या प्रक्रिया के तीन भेद कर सकते हैं—प्रवृत्त्यात्मक, अभ्यास-जन्य और विचारात्मक । इन तीनों में भेद करने अथवा इनकी परिभाषा देने से पूर्व हम इनका एक-एक उदाहरण देंगे । पुँस्कोकिल का वसन्त ऋतु के अंतिम दिनों में काम-पीड़ा से व्याकुल होकर गाना प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार कहा जा सकता है, घोड़े का ताँगे में जुत-कर, आँखे बंद होने पर भी, ठीक रास्ते पर चलते जाना अभ्यासजन्य प्रक्रिया है, और बंदर का, भोज्य पदार्थ के अधिक ऊँचे स्थल पर टँगे रहने पर, तिपाई वगैरह को नीचे रखकर या अपने साथी के कंधों पर चढ़कर उसे उतारने की चेष्टा विचारात्मक व्यवहार कहा जा सकता है । स्पष्टत: इन तीनों प्रकार के व्यवहारों में काफी बड़ा अन्तर है, विशेषत: पहले और तीसरे तथा दूसरे और तीसरे में । इस भेद को हम कुछ इस प्रकार रख सकते हैं—जहाँ प्रवृत्त्यात्मक व्यवहार सहज हैं वहीं अभ्यासजन्य व्यवहार अभ्यास के पश्चात् सहज बना लिया जाता है । इन दोनों में प्राणी प्राय: यंत्र के समान कार्य करता है । इसे इस प्रकार भी रखा जा सकता है कि "यह व्यवहार केवल क्रियारूप में ही जन्म लेता है, उसके पूर्व प्राणी को उसका कुछ अनुभव नहीं होता जबकि तीसरे में प्राणी क्रिया के पूर्व उसकी रूप-रेखा अथवा योजना बनाता है, अर्थात्, विचारात्मक क्रिया पहले मानसिक रूप में जन्म लेती है और तब क्रियारूप में परिणत की जाती है । इस प्रकार विचारात्मक क्रिया एक सूक्ष्म विचार का अनुवाद मात्र होती है । मनुष्य में विचार इतनी अधिक विकसित अवस्था में पहुँच चुका है कि आज उसका क्रिया से अनिवार्य संबन्ध भी नहीं रहा—मनुष्य संपूर्ण संसार भर को मानसिक रूप में रख सकता है, किसी भी अनस्तित्व की कल्पना कर सकता है, कोई भी योजना बना सकता है और उसे क्रियान्वित होने से रोक सकता है । जैसे, वह गधे के सिरवाले मनुष्य की कल्पना कर सकता है, एक विशाल महल को एक धान्य-कण में कल्पित कर सकता है, सम चतुर्भज वृत्त का या २७० अथवा ३६० डिग्री के त्रिकोण का विचार कर सकता है और देवदत्त में, गधे का बिलकुल विचार किये विना, गधेपन का आरोप कर सकता है, इत्यादि ।

प्रवृत्ति को सहज और यांत्रिक प्रक्रिया कहने से हमारा अभिप्राय केवल यही है कि प्रवृत्ति, चाहे उसे केवल शरीर-रचना की भौतिक और रासायनिक परिस्थितियों का परि-णाम कहा जाय, चाहे केवल बाह्य विषयों के साथ उसके प्रक्रियात्मक संबन्ध का और चाहे किसी सजीव प्रेरणा का, प्राणी को विशेष भौतिक-रासायनिक और बाह्य परिवृत्ति-संबन्धी परिस्थितियाँ यंत्र के समान विशेष क्रिया-व्यापार में नियोजित करती हैं । लायड मॉर्गन प्रवृत्ति की परिभाषा करते हुए कहता है—"प्रवृत्ति ऐसी प्रक्रिया को कह सकते हैं जो अपने प्रथम प्रवर्त्तन में, पिछले सभी अनुभवों से स्वतंत्र हो, जो व्यक्ति के लाभ और जाति की सुरक्षा में सहायक हो सकती हो, जिसका आविर्भाव जाति के सभी सदस्यों के समान प्रयास द्वारा हुआ हो और जो अनुभव के आधार पर संशोधित होती रहती हो ।" स्पष्टत:

यह परिभाषा बहुत-कुछ अतिव्याप्ति और अव्याप्ति—दोनों ही दोषों से ग्रस्त है। प्रवृत्ति को पिछले अनुभवों से स्वतंत्र कहने का क्या अभिप्राय है, जबकि वह स्वयं ही कहता है कि "जो अनुभव के आधार पर संशोधित होती रहती हो ?" यद्यपि यह एक सीमातक उन प्रवृत्तियों के लिए ठीक भी है जो अभ्यास से अपनी पूर्णता के लिए सहायता लेती हैं—जैसे चलना, उड़ना इत्यादि, तथापि यहाँ शब्द 'संशोधन' है, जो कि प्रवृत्ति में कम या अधिक लचीलेपन और परिवर्त्तन की संभावना को बल देता है और इस प्रकार प्रवृत्ति और अनुभव को स्वतंत्र नहीं रहने देता; अथवा कम-से-कम यह स्वीकार करता है कि प्रवृत्ति को समझ की तरह ही बदला भी जा सकता है। इसके अतिरिक्त जाति के लाभ या सुरक्षा के लिए होना भी प्रवृत्ति के लिए कोई शर्त नहीं है। यद्यपि प्रवृत्ति जाति के सभी व्यक्तियों में समान रूप से पाई जाती है, और यह बात उसकी यांत्रिकता को और भी अधिक प्रमाणित करती है, तथापि प्रवृत्ति के विकास का जातीय स्तर पर होना प्रवृत्ति का कारण नहीं है, प्रवृत्ति तो केवल व्यक्ति से संबन्ध रखती है, यद्यपि वह संपूर्ण जाति में समान और निरपवाद रूप से पाई जाती है। जैसे प्रवास की प्रवृत्ति कोयल की संपूर्ण जाति में पाई जाती है, किन्तु यदि किसी भी व्यक्ति की प्रवृत्ति में तापमान और प्रकाश को बदल दिया जाय तो वह प्रवास नहीं करेगा; इसी प्रकार, यदि किसी पक्षी की प्रवृत्ति में तापमान और हार्मन को बदल दिया जाय तो वह घोंसला नहीं बनायेगा।

इस प्रकार प्रवृत्ति को एक ऐसा जातीय व्यापार कहा जा सकता है जो व्यक्तिगत स्तर पर विकसित होता है। किन्तु हम मॉर्गन के इस कथन को एकदम गलत नहीं समझते, क्योंकि प्रवृत्ति व्यक्ति की शरीर-रचना में निहित है तो आनुवंशिक आदान-प्रदान के द्वारा वह जातीय-संपत्ति भी हो जाती है। परंतु हमें प्रवृत्ति की लैश्ली द्वारा की गई परिभाषा अधिक उपयुक्त जान पड़ती है; वह 'रिफ्लेक्स' और प्रवृत्ति में भेद करते हुए कहता है—"रिफ्लेक्स' सहज रूप से शरीर की अंत:प्रकृति से निर्धारित ऐसा व्यवहार है जिसका नियमन ज्ञान-तंतुओं का एक विशेष विभाग करता है और जो मांसपेशियों के खिंचाव के रूप में पहले से ही निर्धारित किया जा सकता है। प्रवृत्यात्मक व्यवहार 'रिफ्लेक्स' से कुछ अधिक है, यद्यपि इसमें 'रिफ्लेक्स' प्रक्रिया भी अन्तर्निहित रहती है। इसे सदैव किसी विशेष उकसाहट से नियमित नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत इसे बाह्य आवश्यकता अथवा अभावानुभूति के द्वारा अनुप्राणित कहा जा सकता है। प्रवृत्यात्मक व्यवहार मांसपेशियों के खिंचाव का एक पूर्वनिर्धारित अनुक्रम मात्र नहीं है, बल्कि यह एक पूर्वज्ञात व्यवहार है।" किंतु यह परिभाषा भी पूर्ण नहीं है, क्योंकि यह केवल उन प्रवृत्तियों को प्रवृत्ति स्वीकार करती है जो बाह्य उकसाहट अथवा केंद्रीय स्नायु-तंतु में उकसाहट से उत्पन्न होती हैं, जबकि शरीर की रासायनिक परिस्थितियाँ भी प्रवृत्ति को उत्पन्न करने में बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण कारण हैं। तो भी लैश्ली की परिभाषा मॉर्गन के समान अस्पष्ट नहीं है।

प्रवृत्ति की संभवत: सबसे बड़ी विशेषता है उसमें लचीलेपन का अभाव और सहजता जिससे अनेक बार वह आश्चर्यजनक रूप से कौशलपूर्ण प्रतीत होती है, किन्तु वह कौशल या चातुर्य न होकर केवल यांत्रिक व्यापार है, जो या तो प्राणी की शरीर-रचना की प्रेरणा है अथवा ऐसा प्रक्रियात्मक व्यापार, जिसका कारण ज्ञात नहीं। अनेक वैज्ञानि

ऐसे प्रक्रियाओं या प्रवृत्तियों को भी, उसी रूप में ही, वंशानुक्रम में प्राप्त मान लेते हैं। उदाहरणत: केडॉ (Cadaw) पक्षियों की प्रवास की प्रवृत्ति को, वंशानुक्रम में प्राप्त गृह की मधुर स्मृति समझता है। किन्तु ऐसी मधुर कल्पनाओं में हम यहाँ नहीं उलझेंगे, जो या तो प्रयोग-सम्मत नहीं हैं अथवा जो अधिक रहस्यमय हैं। सम्भवतः प्रवृत्ति की परिभाषा जानने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि विभिन्न प्रवृत्तियों का अध्ययन किया जाय। इसके लिए हम कम प्राणियों में प्राप्य, किन्तु सामान्य-लक्षण-प्रवृत्ति क्रमियों के समाज-निर्माण को पहले लेंगे।

जैसा कि हम सभी जानते हैं, मधुमक्खियाँ एक छत्ते में इकट्ठी रहती हैं; चींटियाँ भी एक बस्ती में इकट्ठी रहती हैं; इनका इकट्ठा भोजनालय होता है, इकट्ठा ही भांडार होता है और इकट्ठे ही बच्चे होते हैं। इस प्रकार इनमें व्यक्तिगत स्वार्थ से भिन्न सामूहिक स्वार्थ भी है, जिसे हम समाज-निर्माण का नाम देते हैं। यह समाज कैसे और क्यों अस्तित्व में आया, इसके बारे में हम कुछ भी अनुमान करने में असमर्थ हैं।

क्रमि-समष्टि एक प्रवृत्यात्मक प्रक्रिया है, अतः उसमें पूर्ण जड़ता है। इसीसे इस समाज की सामूहिकता अथवा सामाजिकता पूर्ण है। हम उसे गुणित इकाई भी कह सकते हैं, जिसमें व्यक्ति सामाजिक इकाई का केवल अंशमात्र है, उससे भिन्न नहीं है। अथवा इस समष्टि को एक ऐसी जैवी इकाई कहा जा सकता है, जिसमें व्यक्ति एक अंगमात्र है जो सजीव प्रेरणा से, अथवा एक ऐसे नियम की अनिवार्य बाध्यता से, जो उसके स्नायु-तन्तु के निर्माण में ही निहित है, एक निश्चित व्यापार को क्रियान्वित करने के लिए साधनमात्र है। इन समष्टियों में जनन-व्यापार भी या तो एक ही व्यक्ति करता है, अथवा कुछ थोड़े-से निश्चित व्यक्ति ही करते हैं, और शेष उस छत्ते की सामाजिक और आर्थिक आवश्यकताओं (जैसे—भोजन इकट्ठा करना, बच्चों को पालना और छत्ते की रक्षा करना इत्यादि) को बड़े सुचारु रूप से पूरा करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, जैसे ये सभी व्यक्ति एक निश्चित और अविभाज्य प्रक्रिया-योजना की पूर्ति के साधन भर हों। एक ही की संतान होने से सभी मक्खियों की एकता और भी पूर्ण हो जाती है। यदि इस समष्टि की उपमा एक संतरे से दी जाय, जिसके विभिन्न भागों को उसका छिलका एक बनाये हुए है, तो अनुचित न होगा, क्योंकि मक्खियों के इस बहुत्व पर भी एक अदृश्य छिलका विद्यमान रहता है। अपने छत्ते के निर्माण की उनकी प्रक्रिया बड़े रोचक ढंग से इस पहलू को सामने लायेगी। यह तो सभी जानते ही हैं कि मधुमक्खियों का छत्ता कितना कलापूर्ण होता है। डारविन इसका वर्णन करते हुए कहता है कि "यह ध्यान देने की बात है कि एक बड़ा चतुर कारीगर अपने हथियारों की पूर्ण कलात्मकता और नाप-तोल की पूर्ण सम्यक्ता के साथ भी इस प्रकार का संतुलित और सुघड़ मोम का छत्ता बना सकना बहुत कठिन कार्य पायेगा, जिसे अँधेरे में कार्य करती हुई मक्खियों का एक झुंड बना लेता है।" डारविन ने परीक्षण के रूप में एक मोम का टुकड़ा छत्ते में फेंका और थोड़ी देर के बाद पाया कि उसके दोनों ओर की सभी कोठरियाँ बराबर काटी गई थीं, और प्रत्येक कोठरी एक-जैसी थी। डारविन आगे कहता है, "इस विषय में कुछ भी अनुमान करना उलझन को और भी बढ़ाने-जैसा प्रतीत होता है कि कैसे ये छत्ते

बनाये जाते हैं, कैसे बहुत-सी मक्खियाँ, एक साथ और एक ही समय में पूर्ण योजना के साथ इस प्रकार कार्य करती हैं।''

''एक मक्खी एक कोठरी में थोड़ी देर कार्य करके दूसरी में चली जाती है और फिर उसके स्थान पर दूसरी आ जाती है, और इस प्रकार बीसियों मक्खियाँ एक ही छत्ते को पूरा करने में भाग लेती हैं'', मानो सब एक ही प्रक्रिया-योजना के विभिन्न पहलू भर हों। इससे स्पष्ट है कि मधुमक्खियों की समष्टि में व्यष्टियाँ केवल एक खंड या अंगमात्र हैं। डारविन इसका कारण बताने का प्रयास करते हुए कहता है, ''चूँकि प्राकृतिक चुनाव व्यष्टि के जीवन की परिस्थिति के अनुसार व्यष्टि के लाभ की दृष्टि से धीरे-धीरे एकत्र या घनीभूत होते हुए प्रभाव के द्वारा आकृति या प्रवृत्ति के क्रमिक परिवर्तन में होता है, इसलिए स्वभावतः यह पूछा जा सकता है कि कैसे दीर्घकालिक और धीरे-धीरे होते हुए कोष-निर्माण की प्रवृत्ति का यह विकास सभी व्यष्टियों में वह कलात्मक पूर्णता प्राप्त कर सका जो हम आज इनमें पाते हैं, और कैसे यह इनके पूर्वजों में सभी व्यष्टियों के लिए इस प्रकार लाभदायक रहा होगा ?'' यहाँ डारविन प्राकृतिक चुनाव और आत्म-सुरक्षा को इसका कारण बता रहा है, किंतु पहला जहाँ केवल नकारात्मक पहलू है, वहाँ दूसरा ऐसी कल्पना जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। प्राकृतिक चुनाव हमें यह नहीं बताता कि सामाजिक प्रवृत्ति का विकास क्यों हुआ। इससे केवल यह ज्ञात होता है कि इस प्रवृत्ति से रहित व्यक्ति या जातियाँ विनष्ट हो सकती हैं और इसके लिए भी कोई प्रमाण नहीं है।

मधुमक्खियों के समान ही चींटियों की बस्ती भी बहुत अधिक सुनियोजित होती है। इस समष्टि में ऐसे विचित्र व्यवहार भी पाये जाते हैं जिन्हें बहुत-से वैज्ञानिक बुद्धिमत्ता-पूर्ण अथवा युक्ति-युक्त व्यवहार समझते रहे, किंतु ऐसी किसी संभावना की गुंजाइश वास्तव में है नहीं। चींटी की बस्ती में श्रम-विभाजन मधुमक्खियों से अधिक विविधतापूर्ण और बस्ती की सुचारुता के लिए अधिक लाभकर पाया जाता है। इनमें भोजन की खोज में प्रयास करनेवाले सैनिक दस्ते, बस्ती की रक्षा के लिए सैनिक दल, बच्चों तथा रानियों के पालन के लिए परिचारिकाएँ, सर्दार, कोषाध्यक्ष इत्यादि सभी पृथक्-पृथक् होते हैं। सैनिक चींटियों का एक दस्ता सदैव द्वार पर सावधान रहता है कि कहीं शत्रु उनपर अचानक आक्रमण न कर दे। ये चींटियाँ अनेक बार लाखों की संख्या में भोजन की खोज में अपने सर्दारों के नेतृत्व में बाहर निकलती हैं और उनके तैयार किये रास्ते पर चलती हैं। प्रायः कभी ऐसा नहीं देखा गया कि ये चींटियाँ अपने नेताओं की आज्ञा भंग करें। एक बार निकारागुआ में बेल्ट ने एक बड़ा विचित्र दृश्य देखा। चींटियों की एक बहुत बड़ी सेना गाड़ी की लाइन पार कर रही थी। जब भी गाड़ी निकलती, हजारों चींटियाँ कुचली जातीं। थोड़ी देर बाद बेल्ट ने देखा कि उस स्थान पर एक भी चींटी न थी। यह सेना अब लाइन के नीचे से रास्ता बनाकर निकल रही थी। बेल्ट ने इस रास्ते को बंद कर दिया। इसपर चींटियों के सर्दारों ने खतरा अनुभव किया और एकदम ठहर जाने की आज्ञा सभी पंक्तियों में दे दी गई। चींटियाँ तबतक घंटों उसी अवस्था में खड़ी नवीन आज्ञा की प्रतीक्षा करती रहीं जबतक नया रास्ता तैयार हो गया और आगे बढ़ने की आज्ञा नहीं

मिल गई। इसी प्रकार की सुचारुता इनकी बस्तियों की व्यवस्था में भी पाई जाती है। जब कभी कोई संकट आता है तब प्रहरी चींटी प्रत्येक अन्दर आनेवाली चींटी की तलाशी लेकर उसे अन्दर जाने देती है, जिससे शत्रु की बस्ती की चींटी अन्दर आकर अशांति उत्पन्न न कर दे। इसी प्रकार बच्चों के निवास-भोजन इत्यादि के प्रबन्ध में भी बड़ी समझदारी दीख पड़ती है। इस प्रकार के व्यवहार स्पष्टतः विचारात्मक प्रतीत होते हैं, क्योंकि द्वार पर आने-जानेवालों की जाँच का अर्थ है कि शत्रु अपने कुछ सदस्यों को सिखाकर उस बस्ती में भेजते हैं और वे बड़ी चतुराई से धोखा देकर अन्दर घुसने का प्रयास करते हैं। किन्तु ये केवल कल्पनाएँ हैं और इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ऐसा होता ही है। आज अधिकतर वैज्ञानिक चींटियों में ऐसी बुद्धिमत्ता या समझदारी की संभावना स्वीकार नहीं करते।

अस्तु, मधुमक्खियों में यह श्रम-विभाजन इतना नहीं पाया जाता। इनमें केवल एक रानी होती है, शेष सभी मजदूर होती हैं और सभी सब कार्य करती हैं। मधु संचय के लिए जाती हुई ये मक्खियाँ एक विशेष व्यवहार करती हैं। जब वे छत्ते में खाली बैठी हुई शहद इकट्ठा करने के लिए बाहर निकलने की प्रतीक्षा करती हैं तब एक मक्खी अपने नृत्य से उन्हें कार्य पर चलने के लिए संदेश देती है। तब वे सब एक निश्चित दिशा में निश्चित दूरी तक जाती हैं, जिसका संकेत नर्तकी अपने नृत्य द्वारा करती है, और उन फूलों की खोज करती है जिनकी सुगंध नर्तकी अपने साथ लाई होती है। वे शहद चूसती हैं और उन फूलों के स्थान का अध्ययन करके घर लौट आती हैं। चीजमैन के अनुसार चींटियाँ अधिक समझदार होती हैं, जबकि मधुमक्खियों की समझदारी प्रवृत्ति तक ही सीमित है। उसके अनुसार, चींटियों की कुछ जातियों का मेरु-तंतु (Spinal cord) काफी विकसित है जिससे उनमें वितर्क की संभावना की जा सकती है। वह इसका श्रेय बहुत-कुछ दास-प्रथा को भी देता है। कुछ चींटियों की जातियाँ तो ऐसी हैं जो स्वयं भी कार्य करती हैं और दास भी रखती हैं, किंतु बहुत-सी ऐसी जातियाँ भी हैं जो पूर्णतः अपने दासों पर ही आश्रित हैं, यहाँ तक कि ये अपना खाना तक स्वयं नहीं खा सकतीं। उनके दास उनके लिए न केवल भोजन संग्रह करके ही लाते हैं, वे चबाते भी स्वयं ही हैं और उसे पचने योग्य बनाकर उनके मुँह में डाल देते हैं। चीजमैन इन जातियों की चींटियों को सबसे अधिक वितर्क-शक्ति से युक्त समझता है, क्योंकि, उसके अनुसार, "इन्हें कोई कार्य-विशेष नहीं करना होता, सिवा किसी अन्य को दास बनाने के, इसलिए ये अधिक बौद्धिक विकास कर सकती हैं। ऐसा प्रतीत होता है, चीजमैन ने अपनी कल्पना के बल पर ही यह सब-कुछ कर डाला है, नहीं तो इसमें कोई संगति और युक्ति-युक्तता नहीं है। जैवी क्षेत्र में जिस प्राणी को जितनी अधिक समस्याओं का सामना करना पड़ेगा उसमें अपनी शारीरिक योग्यता के अनुसार, उतनी ही अधिक 'समझदारी' होगी। जहाँ तक चींटियों का संबन्ध है, इनमें शारीरिक योग्यता इतनी कम होती है कि किसी प्रकार की समझदारी की कल्पना व्यर्थ है। उदाहरणतः दासों पर जीवित रहनेवाली ये चींटियाँ ही इतनी अधिक 'रिजिड' होती हैं कि सामने भोजन पड़ा होने पर भी स्वयं नहीं खा सकतीं, जबतक कि उनके दास चबाकर उनके मुँह में न डाल दें, यहाँ तक कि वे भूखों तक मर जाती हैं, चाहे उनका

भोजन उनके सामने ही क्यों न पड़ा हो । यह नहीं कि वे स्वयं इसे खा नहीं सकतीं, प्रत्युत यह कि एक प्रवृति से निर्धारित होने से वे नहीं खातीं । इसलिए स्वयं दास-प्रथा ही उनमें समझदारी का खंडन करती है ।

ये सामाजिक कृमि पूर्णतः अपने समाज के लिए ही होते हैं, उससे भिन्न इनके अस्तित्व की कल्पना व्यर्थ है । इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि इनकी यह प्रक्रिया शरीर-रचना में निहित है, इसीसे इनमें समाज भी उतना ही आवश्यक है जितना भूख लगने पर भोजन । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे यह प्रवृत्ति उनके स्नायु-तंतु में ही निहित हो, क्योंकि चींटी यदि किसी प्रकार पृथक् भी पाली जाय तो भी वह अपनी सन्तान के साथ अथवा अन्य चींटियों के साथ समाज बनाने लगेगी और उसकी बस्ती का प्रबन्ध ठीक वही होगा । वास्तव में कृमियों की किसी भी प्रक्रिया में पूर्वकल्पना निहित नहीं होती, बल्कि एक निश्चित आन्तरिक धकेल या बाह्य उकसाहट की बाध्यता से ये कृमि एक निर्धारित प्रक्रिया करते हैं । सामाजिकता या समष्टिकत्व को भी यहाँ इसी प्रकार अंतःप्रेरणा से ही निर्धारित कहा जा सकता है, और कुछ नहीं ।

इन सभी छत्तों और बस्तियों में एक छोटे-से राज्य-परिवार को छोड़कर शेष सभी मजदूर या दास होते हैं । ये मजदूर उसी जाति के अपने ही सदस्य होते हैं जिसके छत्ते में वे होते हैं, दासों के समान अन्य जातियों के नहीं होते । ये मजदूर सब-के-सब निरपवाद रूप से बाँझ स्त्रियाँ होती हैं जिन्हें केवल छत्ते या बस्ती के लाभ के लिए ही बाँझ बनाया गया होता है । यदि इन्हें बड़ी आयु में भी राज्य-परिवार का भोजन दिया जाय तो भी ये उपजाऊ बन सकती हैं । इस प्रकार ये केवल भोजन की भिन्नता से ही राज्य-परिवार से भिन्न की जाती हैं । किंतु कुछ चींटियाँ, जैसे ड्राइवर और एनोम्ना, दो भिन्न प्रकार की चींटियों को उत्पन्न करती हैं जो सामाजिक आवश्यकताओं को और भी कुशलता से पूरा कर सकती हैं । इनमें एक संतान दूसरी से चार से पाँच गुना तक आकार में बड़ी होती है । यद्यपि इस जेनेटिक योग्यता का कारण सामाजिक आवश्यकता की पूर्ति नहीं है, तथापि यह योग्यता उन्हें अधिक कुशलतापूर्ण समाज-निर्माण में समर्थ अवश्य करती है ।

ये सब समाज-व्यवस्थाएँ बहुत विचित्र हैं । ऐसा प्रतीत होता है, जैसे इनमें कुछ या सभी सदस्य केवल शिशु-पालन के लिए ही हों, जैसे मधुमक्खियों की सभी जातियाँ मैथुन-ऋतु के पश्चात् या तो नरों को मार ही डालती हैं या उन्हें छत्ते से बाहर धकेल देती हैं । संभवतः इसका उद्देश्य भोजन की खपत को कम करना है, क्योंकि नर कोई भी कार्य छत्ते के लिए या भोजन-संग्रह के लिए नहीं करते, वे केवल खाली बैठे खाते हैं । इसी प्रकार मधुमक्खियों की कुछ जातियाँ, अंडों से बच्चे निकल आने पर, उनके लिए आवश्यक भोजन इत्यादि जुटाकर छत्ते से निकल जाती हैं और आत्महत्या कर लेती हैं,—प्रायः अनशन करके ।

जैसा कि हम पीछे भी कह आये हैं, इन बस्तियों का जीवन पूर्णतः मजदूरों के श्रम पर आश्रित है । रानी मक्खी केवल सन्तानोत्पत्ति ही करती है, उसका बस्ती की व्यवस्था में कोई हस्तक्षेप या भाग नहीं होता, कुझ जातियों में तो रानी कोठरी में कैद तक होती है, वह उसमें से निकल नहीं सकती । किन्तु बंबल जाति इसकी अपवाद है । यद्यपि इस जाति

में भी एक छत्ते में एक ही रानी होती है, तथापि वह छत्ते के प्रबन्ध का नियन्त्रण स्वयं करती है।

कृमियों में दासवृत्ति सम्भवतः जन्मजात नहीं है, ये दास प्रायः पकड़े जाते हैं और इस वृत्ति के लिए बाध्य किये जाते हैं, बाद में ये स्वयं ही इसे स्वीकार कर लेते हैं। एक बार डारविन ने एफ० सेंगुइनी चींटी और एफ० फुस्का दास जाति के कृमियों को लड़ते देखा। एफ०सेंगुइनी ने बड़ी निर्दयता से अपने इन छोटे-छोटे शत्रुओं को मार भगाया और उनके बच्चों को दास बनाने के लिए पकड़ने का प्रयास किया, किन्तु वे इसमें सफल नहीं हो सकीं। इसी प्रकार और एक बार डारविन को एक शिला के पीछे, एफ० फ्लाबा और एफ० सेंगुइनी को एक दूसरे के समीप बस्तियों में देखने का अवसर मिला। एफ० सेंगुइनी चींटी फ्लाबा को बहुत कम ही दास बनाती देखी गई है। डारविन ने इन दोनों बस्तियों को छड़ा और उन्हें लड़ा दिया। युद्ध में उसने देखा कि चींटियों ने एकदम एफ० फुस्का के बच्चों को एफ० फ्लाबा में पहचान लिया और चुन लिया, क्योंकि ये अपेक्षाकृत अच्छे दास होते हैं। इसके पश्चात् वे एफ० फ्लाबा का मुकाबला किये विना ही मैदान छोड़कर भाग गईं। इससे स्पष्ट है कि अनेक जातियों को अपने दास प्राप्त करने के लिए उस जाति से युद्ध भी करना पड़ता है और उनके बच्चे प्राप्त करने पड़ते हैं जिससे वे उन्हें हानि न पहुँचा सकें। दास-प्रथा चींटियों में ही पाई जाती है। इनके ये दास इनकी बस्तियों में बचपन से ही रहकर इनके पूर्ण आज्ञापालक बन जाते हैं, अब न तो ये उत्पात ही करते हैं और न विश्वासघात ही। कुछ जातियों में तो दास ही बस्तियों के सर्वेसर्वा होते हैं, क्योंकि इन जातियों की सभी चींटियाँ सुस्त और परोपजीवी होती हैं।

जैसा कि हम अभी पीछे कह आये हैं, राज्य-परिवार के और मजदूरवर्ग के सदस्यों में अन्तर केवल भोजन का है, जिससे उनकी शरीर-रचना में भी अन्तर आ जाता है। यद्यपि सभी प्रकार के भोजन मजदूर ही जुटाते हैं, तथापि राज्य-परिवार को दिये जानेवाले भोजन का उपयोग वे स्वयं नहीं करते, वे श्रम की महत्ता को अच्छी तरह समझते हैं। अनेक बार राज्य-परिवार में किसी मजदूर सदस्य को ग्रहण करने की आवश्यकता होती है। तब उसे राज्य-परिवार को दिया जानेवाला भोजन ही दिया जाता है और वह शीघ्र ही उस भोजन से राज्य-परिवार में रहने योग्य हो जाता है। अब वह सन्तानोत्पत्ति भी कर सकता है और निष्क्रिय तथा आलस्यपूर्ण जीवन भी बिता सकता है। मधुमक्खियों के छत्ते में भी यह प्रथा पाई जाती है। इनमें यद्यपि राज्य-परिवार के अंडों* में और मजदूर-वर्ग के अंडों में ( दोनों प्रकार के अंडे एक ही रानी मक्खी एक ही साथ देती है ) कोई आकारगत अन्तर नहीं होता, जैसा कि अन्य अनेक कृमियों में होता है, तथापि राजकीय अंडों के लिए कमरे यहाँ भी दूसरों से बड़े होते हैं। भोजन भी मजदूर बच्चों को राजकीय बच्चों से निम्नकोटि का मिलता है जिससे वे मजदूर बनें, जिससे न तो उन्हें राज्य-परिवार की-सी सुविधाओं और आराम-चैन की इच्छा हो और न मैथुन-व्यापार की वासना। भोजन का अंतर मिटाकर वर्गभेद भी समाप्त किया जा सकता है, किंतु

*दोनों प्रकार के अंडे रानी मक्खी ही देती है।

यह केवल बचपन की अवस्था में ही संभव है, बाद में नहीं। सफेद चींटियों में यह परिवर्तन किसी भी अवस्था में किया जा सकता है। यह आश्चर्य की बात है कि यह सब तब होता है जबकि राज्य-परिवार को मजदूरां के श्रम पर ही आश्रित रहना होता है। नियम का यह कड़ा पालन और राज्य-परिवार के प्रति यह सम्मान की भावना वास्तव में प्रवृत्तिमात्र है, किसी प्रकार की भावना या विचारणा नहीं। संभवतः इसीसे यह 'पूर्णता' भी इनमें पाई जा सकती है।

केटरपिलर की कुछ उपजातियों में परिवार-प्रथा तो विद्यमान है, किंतु समाज-व्यवस्था नहीं है। केटरपिलर-परिवार के सभी सदस्य अपने परिवार के निवास के लिए मिलकर छत्ते का निर्माण करते हैं। इंग्लैंड के खेगार केटरपिलर तो काफी बड़े-बड़े घर बनाते हैं। इसी प्रकार एक मनोरंजक कृमि एम्बिया भी है। इन कृमियों की बस्ती एक दूसरे के साथ सटाकर बने हुए प्रायः पंक्तिबद्ध कमरों के रूप में बनी होती है। पत्तों पर पलनेवाले कृमियों (जैसे ऐफिड्ज, जिनकी उपजातियों में से कुछ को चींटियाँ शहद-गाय के रूप में पालती हैं) में भी समाज-व्यवस्था केटरपिलरों से कुछ अधिक विकसित होती है, क्योंकि इनमें भी एक रानी होती है जिसके शासन में ये सब अनुशासित रहते हैं।

एक छत्ते या बस्ती के कृमि प्रायः एक ही स्त्री की संतान होते हैं, क्योंकि उपजाऊ स्त्री की सन्तान केवल उन अंडों में से ही उत्पन्न होती है जो अंडे रानी अपने जीवन में अन्तिम बार देती है। उसके पश्चात् बस्ती उजड़ जाती है और नवीन बस्ती का निर्माण होता है। जिन बस्तियों में अनेक स्त्री मक्खियाँ भी उत्पन्न होती हैं वहाँ भी वे गर्भवती होने पर अपनी अलग बस्ती बना लेती हैं। यद्यपि रानी को एक बार बच्चे उत्पन्न कर पूर्ण विश्राम का अवसर मिल जाता है, तथापि इससे पूर्व उसे भी अथक कार्य करना पड़ता है।

कृमियों के अतिरिक्त पक्षियों में भी कुछ समाज-व्यवस्था पाई जाती है, यद्यपि इनका यह समाज उतना विकसित और व्यक्ति पर उतना हावी नहीं होता। कुछ चिड़ियों की उपजातियों में समाज-व्यवस्था अन्य जाति के पक्षियों से अधिक विकसित है। कौओं और कबूतरों में भी समाज-व्यवस्था कुछ सीमा तक पाई जा सकती है, कौओं में अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्था है। संभवतः इसका कुछ कारण यह है कि इससे इन्हें कुछ सुरक्षा मिलती है। कौओं में एक दूसरे की सहायता की प्रवृत्ति तो सभी जानते हैं। चिड़ियों में तो यह और भी अधिक लाभदायक है। किन्तु इन पक्षी-समाजों या समष्टियों में वैसी कोई व्यवस्था नहीं है जैसी कृमियों की समष्टियों में पाई जाती है। सामान्यतः निर्बल पक्षियों की जातियों में समाज-व्यवस्था अधिक है और इसका सीधा कारण हम दे सकते हैं—शत्रु से रक्षा की सुविधा। इसका दूसरा कारण, और शायद पर्याप्त बड़ा करण, भोजन की खोज भी है। संभवतः, उन्हें स्वभाव से भी अकेला रहना उतना पसन्द नहीं। इसका कारण बच्चों से प्यार और किसी प्रकार की अभावानुभूति भी हो सकता है। किन्तु सबसे प्रमुख और स्पष्ट कारण भोजन की खोज और सुरक्षा की भावना है। शत्रु से बचने के मामले में सहयोग के काफी उदाहरण पाये जा सकते हैं। पक्षियों की अनेक सामाजिक जातियों में शत्रु को देखने पर खतरे के संकेत के लिए अनेक प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं। यद्यपि इस प्रकार ध्वनि करना समाज के लाभ में है, तथापि स्पष्टतः इससे व्यक्ति को हानि पहुँच

सकती है। इसके अतिरिक्त, भय होने पर भी आवाज करना वैसा ही खतरनाक है। किन्तु झुंड में होने पर यह सावधानी-सूचक ध्वनि व्यक्ति के लिए उतनी खतरनाक नहीं; क्योंकि तब वह झुंड में सभी की सहायता से ही बच सकता है। टिटमोस की जाति में बाज को देखने पर इसी प्रकार झुंड के सभी व्यक्ति खतरे की आवाज करते हैं और साथ-ही-साथ बचाव का प्रयास भी करते हैं। यदि यह झुंड कहीं बैठा हुआ हो तो खतरे की आवाज पर सभी चुप और ठिठककर पास के आश्रयों में छिप जाते हैं। यूरोपियन स्टालिंग जब झुंडरूप में, सामान्य अवस्था में, उड़ रहे होते हैं तब उनकी पंक्तियाँ बिखरी हुई-सी होती हैं और वे एक दूसरे से कुछ दूरी पर उड़ रहे होते हैं, किंतु ज्योंही वे बाज को देख लेते हैं, प्रत्येक व्यक्ति एक दूसरे से प्रायः सट जाता है और अब ये आश्चर्यजनक रूप से व्यवस्थित होकर बड़ी तीव्र गति से गोलाकार रूप में चक्कर काटने लगता है। टिंबर्जन के अनुसार, बाज के शिकार के ढंग को देखते हुए स्टालिंग की यह प्रतिक्रिया और उपाय एकदम उपयुक्त प्रतीत होता है। उसके अनुसार, बाज उड़ते हुए पक्षी पर आक्रमण करते हुए प्रायः १५० मील प्रति घंटा की तीव्र गति से सर्राता हुआ झपटता है। उसकी यह तीव्र गति स्टालिंग के लिए इस प्रकार लाभदायक हो जाती है कि वे झुंड के रूप में तीव्र गति से गोलाकार चक्कर काटते हुए उसके लिए किसी एक को झपट लेना असंभव कर देते हैं। इतनी तीव्र गति से अपने शिकार पर कूदकर वह तभी टकराने से बच सकता है जबकि पहले अपने सशक्त पंजे उसके मारता है। किन्तु बड़ी तीव्र गति से चक्कर काटने से एकाकार हुआ झुंड उसके लिए यह असंभव कर देता है। इससे बाज उनपर इस प्रकार आक्रमण नहीं करता। तब वह अव्यवस्थित होकर आक्रमण करता है और प्रयास करता है कि कोई व्यक्ति इस झुंड में से टूट आये। यदि उनमें कोई निर्बल या बच्चा होता है और वह टूट जाता है तो बाज उसे पकड़ने में समर्थ हो जाता है। किंतु, यदि वह इसमें सफल नहीं होता तो उसका प्रयास विफल जाता है। टिंबर्जन के अनुसार, और भी अनेक पक्षियों की जातियों ने बाज से बचने के लिए इसी उपाय को अपनाया है।

किन्तु बहुत-सी जातियों में मिलकर शत्रु पर आक्रमण करने की भी प्रवृत्ति है। यह आक्रमण प्रायः इस प्रकार किया जाता है—कोई एक व्यक्ति खतरे की सूचना एक विशेष प्रकार की ध्वनि करके देता है। इसपर सभी व्यक्ति उसके साथ सट जाते हैं और एकत्र होकर शत्रु पर आक्रमण करते हैं। झुंड का इसके अतिरिक्त यह लाभ भी है कि शत्रु को देखने और उसकी सूचना देने के लिए अधिक आँखें हो जाती हैं, क्योंकि शत्रु प्रायः बहुत ही सावधानी से छिपकर आकस्मिक आक्रमण करने का प्रयास करता है। कुछ पक्षी, जैसे कौए, काली चिड़िया और लाल्लड़ी अपने शत्रु को प्रायः ही तंग करके भगा देते हैं—विशेषतः बिल्ली इत्यादि को, किन्तु कुछ पक्षी केवल चिल्लाकर ही रह जाते हैं।

पक्षियों में इस प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाओं और पहलुओं में भी सामाजिकता के कुछ चिह्न पाये जाते हैं। एक जाति के सभी व्यक्ति प्रवास के समय इकट्ठे हो जाते हैं। कुछ पक्षियों में ऐसे व्यक्ति की संख्या काफी अधिक है जो एक ऋतु में एक या निश्चित दो-तीन मादों से ही संबन्ध स्थापित करता है और उनके साथ घोंसला बनाने तथा शिशु-पालन में कार्य करता है। कुछ जातियों में तो यह प्रवृत्ति और भी

विकसित मिलती है। उदाहरणतः, कौओं की एक विशेष जाति जेकडॉ में व्यक्तिगत प्यार और विद्वेष की भावना पर आधारित सामाजिक संबन्ध भी पाए जाते हैं। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी बस्ती के अधिक शक्तिशाली और अत्याचारी साथी से बचता है और उनसे संपर्क बढ़ाने का प्रयास करता है जिनके साथ विश्रब्ध भाव से रहा जा सकता है। सशक्त व्यक्ति का सभी आदर करते हैं और उससे घबराते हैं। मादा व्यक्ति यहाँ भी शासित हैं, जैसे मनुष्यों में—यदि कोई निम्न श्रेणी की मादा उच्च श्रेणी के नर के साथ संबन्ध स्थापित करने में सफल हो जाती है तो बस्ती के सभी पक्षी उसका भी आदर करने लगते हैं। इस जाति में प्रायः प्रत्येक व्यक्ति नर एक ही मादा से आजीवन संबन्ध रखता है, किन्तु उसके मर जाने पर अथवा किसी कारण से अन्य को भी स्वीकार कर सकता है।

इस सामाजिकता की प्रवृत्ति को हम एक टिपिकल प्रवृत्ति कह सकते हैं, विशेषतः क्रमियों में, क्योंकि उनमें यह प्रवृत्ति और इसके साथ जुड़ी हुई अन्य प्रवृत्तियाँ, परिणाम में सामान्यतः चाहे कितनी भी लाभदायक हों, पूर्णतः 'रिजिड' हैं, वे स्वतः चालित (Automobile) मशीन के समान अन्तर या बाह्य उकसाहट से प्रेरणा पाकर तदीय प्रक्रिया को क्रियान्वित कर देते हैं। उदाहरणतः, चींटियाँ अपने नेताओं से बनाये गये गन्ध-पथ पर अन्धाधुन्ध चली जाती हैं। किन्तु यदि उसमें थोड़ा-सा भी विक्षेप डाल दिया जाय, अर्थात् यदि उस रास्ते के छोटे-से भाग को पोंछकर, छोड़ी गई गंध को साफ कर दिया जाय, तो वे एकदम झमेले में पड़ जायँगी और अपने रास्ते से या तो भटक जायँगी अथवा आकस्मिक रूप से उसे प्राप्त कर सकेंगी। इसी प्रकार दास-प्रथा के लिए भी कहा जा सकता है। जो चींटियाँ पूर्णतः या जिस भी अंश तक दासों पर निर्भर करती हैं वे उसी अवस्था तक उनके अभाव में पीड़ित भी होंगी, किन्तु उनकी इस निष्क्रियता और दासों के विशेष स्पर्श की बाह्य उकसाहट के साथ उनकी प्रक्रियात्मक योजना इत्यादि इस रिजिडिटी से जुड़ी हुई हैं कि वे भोजन सामने पड़ा होने पर भी नहीं खा सकतीं; अथवा उस भोजन का अर्थ उनके लिए भोजन नहीं रहता। उनके लिए भोजन एक प्रक्रियात्मक व्यापार है, इसके अतिरिक्त उनके लिए कोई वस्तु भोजन (भोजन का स्वतंत्र विचार) नहीं। जहाँ तक जेकडॉ का सम्बन्ध है, एकपत्नीत्व की प्रवृत्ति बहुत-से पक्षियों में सामान्य है। वैसे यह एक सीधा-सा प्रवृत्त्यात्मक व्यापार है।

इस यांत्रिक प्रक्रिया (प्रवृत्ति) के और भी कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं तथा प्रवृत्ति को ठीक तरह से समझने के लिए यह आवश्यक भी है कि हम अधिक-से-अधिक उदाहरणों को देखें।

आँटलायन इस यंत्रीकरण और रिजिडिटी तथा परिवृत्ति के साथ संबन्ध का एक बहुत उपयुक्त उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह क्रमि प्रायः सूखी रेत और सूखी मिट्टी में ही रहना पसंद करता है। यह अपने भोजन के लिए चींटियों तथा अन्य इसी प्रकार के छोटे क्रमियों को एक विशेष ढंग से पकड़ता है। इन क्रमियों को पकड़ने के लिए यह एक विशेष प्रकार का गोलाकार छेद-सा जमीन में बनाता है, जो ऊपर से कुछ चौड़ा और नीचे की ओर क्रमशः छोटा होता जाता है। पहले वह किसी सूखी जमीन पर एक गोल रेखा बनाता है और तब सिर से तीव्र गति से मिट्टी बाहर की ओर फेंकते हुए

पीछे की ओर से भीतर पैठता रहता है। इस क्रिया-व्यापार के समय यदि यह किसी ऐसे कंकड़ इत्यादि को बाधारूप में पाये, जो इसके शरीर से बड़ा हो और जिसे यह सामान्य क्रिया से न हटा सकता हो, तो यह एक ओर से इसके नीचे जाकर इसे धकेल-धकेलकर बाहर फेंक देता है। इतना कर लेने पर यह पुनः अपने कार्य पर लौट आता है। यदि कोई छोटा कीड़ा या अन्य कोई वस्तु बीच में आ जाती है तो यह उसे अपनी हँसिये के समान डाढ़ों पर तोलकर पूरे जोर से बाहर फेंक देता है। जब वह गोलाकार आधा बन जाता है तब बीच से कुछ चपटे आकार का होता है, किंतु बाद में यह कृमि उसे नीचे से सूक्ष्म और ऊपर से बड़े, ज्यामिति के त्रिशंकु के समान, बना लेता है और उसमें अपना शरीर छिपाये, केवल मुँह बाहर निकाले, अपने शिकार की प्रतीक्षा में बैठा रहता है। यदि इस गोलाकार में कोई रोड़ा या कुछ मिट्टी पड़ जाय तो यह वहीं से बैठा-बैठा ही उसे बाहर निकाल फेंकता है। किंतु यदि वह मिट्टी किसी भोज्य कृमि के साथ लुढ़ककर आई हो तो यह तुरन्त उसे हटाकर बड़ी चतुराई से अपने क्रूर जबड़ों में ले लेता है।

आँटलायन सदैव अपना घोंसला या शिकार-मंच रेतीले अथवा सूखी मिट्टीवाले तथा वर्षा से सुरक्षित स्थान पर बनाता है, किंतु उस स्थान पर धूप का होना आवश्यक है। इसलिए यह प्रायः किसी वृक्ष की बड़ी मोटी शाखा के नीचे होता है। ऐसा स्थान रेतीली ढलानों में, नदी के रेतीले किनारों पर या जंगलों के किनारों पर अधिक सुविधा से प्राप्त हो जाता है। ऐसे स्थानों पर चींटियाँ और दूसरे कृमि भी काफी मात्रा में उपलब्ध हो सकते हैं।

यह छोटा-सा कृमि अपने जीवन-व्यापार के ठीक संचालन के लिए कैसे ठीक स्थानों को खोज लेता है, यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, परन्तु बहुत सीधा भी। प्रथम तो यह उत्पन्न ही ऐसे स्थानों पर होता है, क्योंकि इसकी माता के लिए भी ऐसे ही स्थान सुविधाजनक होते हैं, किंतु यदि ये कहीं अनुपयुक्त स्थान पर भी उत्पन्न हो जायँ तो भी थोड़ा-बहुत भटकने के बाद अपनी जाति के लिए सुविधाजनक स्थान खोज लेते हैं। यह कार्य यद्यपि प्रथम दृष्टि में आश्चर्यजनक प्रतीत होता है, तथापि यह समझ लेने पर कि इन प्राणियों का जीवन निरंतर अपनी परिवृत्ति की भौतिक रासायनिक परिस्थितियों के साथ ऐसे ही बँधा हुआ है जैसे उनके अन्तःशरीर की भौतिक रासायनिक परिस्थितियों का आपस में सीधा संबन्ध है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं रहती। ये एक निश्चित कार्य-कारण-संबन्ध में बँधे कार्य करते हैं, मनुष्य के समान ये अपनी 'स्वतंत्र मानसिक सत्ता' में नहीं रह सकते। इसी से आँटलायन को जबतक अपनी शारीरिक माँग के अनुसार परिवृत्ति प्राप्त नहीं हो जाती तबतक यह असुविधा और अकुलाहट का अनुभव करता हुआ निरंतर उपयुक्त को खोजने के लिए दौड़ता है। इस खोज के लिए इसे किसी भी प्रकार की पैतृक स्मृति बाध्य नहीं करती, प्रत्युत असुविधानुभूति की अकुलाहट की यांत्रिक प्रेरणा ही बाध्य करती है। यह एक ऐसी ही अचेतन क्रिया है जैसे मनुष्य सर्दी में पास पड़े हुए किसी भी ओढ़ने को, बिना उसका विचार किये ही, ऊपर ओढ़ लेता है अथवा नींद में पड़ा हुआ मनुष्य गर्मी लगने पर स्वयं अनजाने ही कपड़ा उतार देता है। इसी प्रकार आँटलायन सामान्यतः अपना

उपयुक्त स्थान खोज लेता है। प्राकृतिक परिवृत्तियों में ये सामान्यत: २५° से ३०° सेंटीग्रेड तापमान में सबसे अधिक क्रियाशील और सुविधा में होते हैं। यदि नवोत्पन्न बच्चा अपने-आपको प्रच्छाय, पंकिल या पथरीले स्थान में पाता है, वह सूर्य की किरणों का स्पर्श पाते ही उपयुक्त स्थान की खोज में प्रकाश-किरणों की ओर दौड़ पड़ता है। जब एक उपयुक्त, सूखी, गर्म और रेतीली जमीन प्राप्त करता है तभी यह शिशु आँटलायन अपना शिकार-स्थान खोजने लगता है। यदि वहाँ काफी शिकार प्राप्त हो जाय तो वह वहीं रहना प्रारम्भ कर देता है, किंतु यदि शिकार पर्याप्त न हो तो वह उस स्थान को छोड़कर दूसरे की खोज करता है। इस प्रकार उसे किसी प्रकार की स्मृति या 'अतिरिक्त-प्रवृत्ति' निर्धारित नहीं करती, प्रत्युत उसकी शारीरिक आवश्यकताएँ ही उसे नियोजित करती हैं। संभव है, किसी प्रकार की स्मृति भी उसे प्राप्त हो, जो कि उसके प्रक्रियात्मक व्यवहार में देखी जा सकती है; जैसे—वह एक विशेष प्रकार का ही शिकार-गृह या मंच बनाता है जो कि संभवत: इस प्रकार उसकी शरीर-रचना में निहित नहीं हो सकता। किन्तु इन प्राणियों में आश्चर्यजनक रूप से एक व्यवहार के लिए जो रिजिडिटी पाई जाती है उससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह भी किसी-न-किसी रूप में शरीर-रचना में ही निहित प्रवृत्ति होगी जो कि एक विशेष बाह्य और आन्तरिक परिस्थितियों के उत्पन्न होने पर क्रियान्वित हो जाती है।

इसी प्रकार के कुछ और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। यहाँ हम फेवर द्वारा प्रदर्शित केटरपिलरों के एक समूह का उदाहरण देंगे जो कि भोजन की खोज में जा रहे थे। "ये केटरपिलर पाइन के वृक्षों पर एक बड़ी बस्ती के रूप में रहते हैं और भोजन के लिए छोटी-छोटी यात्राएँ करते हैं। इन यात्राओं में ये बिल्कुल एक दूसरे के पीछे, एक सिल्कन सूत्र की लाइन पर, जो कि उनका लीडर बनाता है, चलते हैं। एक बार फेवर इस बस्ती के भोजन-यात्रा पर निकलने पर उसे एक बड़े पत्थर के चारों ओर इस प्रकार चलाने में सफल हो गया कि एक पूरा और अटूट चक्कर बन गया। अब यह झुंड उसी चक्कर में चलने लगा और पूरे एक सप्ताह तक चलता रहा। एक भी केटरपिलर इस चक्कर को तोड़कर भोजन और विश्राम खोजने के लिए बाहर निकलने में समर्थ न हो सका। अंत में आठवें दिन अचानक ही कुछ व्यक्ति उस चक्कर से निकल पड़े और वह सूत्र टूट गया। इस तरह वे उस मुसीबत से छूट सके।" (रसल द्वारा 'बिहेवियर ऑफ एनिमल्ज़' में उद्धृत)।

एक भारतीय चींटी बार्बारूस अपने घोंसले से आठ इंच पर मिट्टी का ढेर लगाती है। इसपर वह प्राय: बीजों के छिलके भी फेंकती है। एक बार हिंगस्टोन ने इस जाति का घोंसला एक दीवार में देखा। उसने सोचा कि चींटियाँ घोंसले के मुँह से ही छिलके इत्यादि नीचे गिरा देंगी, किन्तु उसने देखा कि यह उसका गलत अनुमान था। चींटियाँ इन छिलकों को आठ इंच नीचे तक लातीं और वहाँ से उन्हें छोड़ देतीं, उसी प्रकार सावधानी से, मानों ढेर पर रख रही हों। यह व्यापार महीनों तक इसी प्रकार चलता रहा।

इसी प्रकार प्रवृत्ति की रिजिडिटी प्राणियों के किसी विशेष वस्तु के प्रति विशेष व्यवहार अथवा प्राणी के बाह्य विषय के साथ प्रक्रियात्मक संबन्ध में भी पाई जा सकती है—कोई जाति-विशेष किसी विषय-विशेष से अथवा किसी रूप-विशेष से एक विशेष

प्रकार का ही संबन्ध क्यों रखती है, इसका उसके लिए वही विशेष अर्थ क्यों है, अन्य क्यों नहीं ? इसके मुख्यतः दो कारण हो सकते हैं—प्रथम तो यह कि वह किसी विशेष वस्तु से किसी विशेष मानसिक स्थिति में ही संपर्क में आई हो और वह वस्तु उसी रूप में उसके लिए अर्थ रखती हो, और दूसरा यह कि प्राणी अपनी अन्तरानुभूति से ही उसका विशेष अर्थ समझता हो ? पहले का उदाहरण बिल्ली के लिए चूहे का अर्थ भोजन होना हो सकता है और दूसरे का उदाहरण नरथ्रीस्पाईडेस्टिक्कलबैक का केवल लाल पेटवाले स्टिक्कलबैक पर आक्रमण करना दिया जा सकता है। यदि चूहे को बिल्ली के संपर्क में पहली ही बार ऐसे लाया जाय कि बिल्ली उससे डर जाय तो बिल्ली के लिए चूहे का अर्थ भोजन न होकर भयद वस्तु होगा, किन्तु कठिनाई यह है कि चूहा बिल्ली को देखकर भागता है, इसलिए, वह उससे, संभव है, सदैव डरती न रहे, किन्तु यदि प्रारंभ से चूहे को उसके लिए स्नेह की वस्तु बना दिया जाय तो उसके लिए सभी चूहों का अर्थ स्नेह की वस्तु हो सकता है। थ्रीस्पाईडेस्टिक्कलबैक मैथुन-ऋतु में नर पर आक्रमण करता है, इसी प्रकार इंग्लिश रोबिन भी नर रोबिन के लाल पंख देखकर उस-पर आक्रमण कर देता है, किन्तु संभवतः इसका अर्थ उसके लिए भी उसी प्रकार निश्चित नहीं हुआ जैसे बिल्ली के लिए चूहे का होता है। इसमें संभवतः उसके अपने पेट का लाल होना भी उसे अपने प्रतिद्वन्द्वी का यह विशेष अर्थ समझने में कारण होता है।

प्रायः सभी प्रवृत्तियाँ किसी-न-किसी प्रकार से इन दो वर्गों के अन्तर्गत आ सकती हैं। किन्तु कुछ प्रवृत्तियाँ ऐसी भी होती हैं जो उतनी स्पष्ट रूप से प्रक्रियात्मक अथवा इस प्रकार किसी विषय-विशेष से संबद्ध नहीं होतीं, जैसे हमने पीछे केटरपिलरों का एक लाइन में चलने का उदाहरण दिया था। इसी प्रकार आँटलायन का अपने शिकार-मंच को खोजना भी इसका उदाहरण कहा जा सकता है। आँटलायन के लिए यहाँ इस प्रकार नहीं कहा जा सकता कि रेत का उसके लिए अर्थ है शिकार-मंच बनाना, क्योंकि एक बार शिकार-मंच बन जाने पर वह वैसी अन्य स्थिति मिल जाने पर भी उसे नहीं बनायेगा। इस प्रकार कुछ व्यवहारों को केवल अन्तःप्रेरणा का परिणाम भी कहा जा सकता है। इस प्रकार की प्रक्रियाओं के कारणों को हम प्रथम निबन्ध में पर्याप्त विस्तार से देख ही आये हैं। इससे यहाँ दूसरे प्रकार की प्रवृत्तियों के उदाहरण ही अधिक होंगे।

अस्तु, हेरिंगगल के नवोत्पन्न शिशु माता-पिता की चोंच पर अपनी चोंच लगाकर उनसे भोजन माँगते हैं। माता-पिता अपने गले की थैलियों में सँजोया हुआ भोजन नीचे उगल देते हैं और फिर थोड़ा-थोड़ा भाग उठाकर उनके मुँह में डालते हैं। थोड़ी गलतियों के पश्चात् शिशु भोजन ग्रहण कर लेता है और उसे निगल लेता है। हेरिंगगल की चोंच कुछ पीली होती है और निचली चोंच के अग्र भाग में एक लाल बिंदु-सा होता है। जब बच्चे के सम्मुख ठीक उसी रंग की चोंचवाली एक लकड़ी की विकृत-सी आकृति रखी गई, शिशु में बड़ी उत्सुकता से उससे भोजन ग्रहण करने की प्रक्रिया देखी गई, किंतु जब उसके सम्मुख बिलकुल ठीक आकृति की एक ऐसी लकड़ी की मूर्त्ति प्रस्तुत की गई जिसकी निचली चोंच पर लाल बिंदु नहीं था तो वह एकदम उलझन में पड़ गया। आगे फिर इसी बिंदु को लेकर और भी प्रयोग किये गये—बच्चा लकड़ी की इन आकृतियों में किसी भी

रंग के बिंदुवाली आकृति के प्रति अधिक परिचय-भावना प्रकट करता था। इन सभी आकृतियों की चोंच का वही रंग रखा गया था जो गल (gull) की चोंच का होता है। इससे स्पष्ट है कि बच्चे का प्रक्रियात्मक व्यवहार सबसे अधिक चोंच के बिंदु पर केन्द्रित है।

प्रायः ही प्राणियों में देखा गया है कि उनका प्रक्रियात्मक संबन्ध बाह्य विषय के किसी एक पहलू के साथ ही रहता है जबकि शेष उससे उपेक्षित रहता है, किन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि प्राणिविशेष के लिए वस्तु का केवल एक इन्द्रिय-विषय के रूप में महत्त्व है और दूसरे का दूसरे इन्द्रियविषय के रूप में। इससे भी अधिक कि एक ही वस्तु या विषय के विभिन्न पहलुओं के विभिन्न इंद्रियों के साथ संबन्ध है और एक पहलू दूसरी इंद्रिय का विषय होकर उसके लिए गम्य नहीं रहता। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि मनुष्य या विकसित प्राणियों के समान कृमियों की विभिन्न इंद्रियों के कार्य मस्तिष्क-केंद्र में सजीव रूप से संबद्ध नहीं होते। यदि मनुष्य एक व्यक्ति की केवल आवाज ही सुनता है, वह दुबारा भी उसकी आवाज से ही उसे पहचान सकेगा; किंतु यदि किसी की वह आवाज उसकी आकृति देखने के साथ सुनता है तो कभी भी उसकी आवाज श्रोता में उस व्यक्ति की दृष्टिगत स्मृति को भी उत्पन्न कर देगी। किंतु बहुत-से प्राणियों में यह शक्ति नहीं है। ब्यूकनर के अनुसार घरेलू मुर्गी अपने बच्चों की भयपूर्ण पुकार सुनकर फौरन उनकी रक्षा के लिए दौड़ेगी, किंतु यदि उसके बच्चे उसके सामने ही चुपचाप तड़प रहे हों तो उसमें वे कोई प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं करेंगे। उसने एक बार एक बच्चे को उठाकर किसी अदृश्य स्थान पर रख दिया, मुर्गी उसकी पुकार सुनते ही उसकी रक्षा के लिए व्याकुल हो उठी जबकि एक शीशे के बर्तन में उसके सामने तड़पता बच्चा उसका बिल्कुल भी ध्यान आकर्षित नहीं कर सका। इसी प्रकार चींटी अपने बच्चों को केवल सूंघ-कर पहचान सकती है, देखकर नहीं। चींटी के लिए कहा जा सकता है कि उसके लिए संपूर्ण संसार ही केवल घ्राणेन्द्रिय का विषय है। इसी प्रकार अन्य बहुत-से उदाहरण इसके दिये जा सकते हैं—लेसियो केम्या जाति की कुछ तितलियों में नर केवल अपना सुगंधित अंग खोलकर ही मादा के लिए मैथुन-विषय हो सकता है, अन्यथा नहीं। स्टिक्कलबैक में नर मादा के लिए लाल पेट और एक विशेष प्रकार के नृत्य के साथ ही मैथुन-विषय हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार इपिफिग्गर जाति की टिड्डियों में केवल गाता हुआ नर ही मैथुन-विषय हो सकता है। यदि एक नर उसके बिल्कुल समीप भी है और वह मैथुन के लिए प्रस्तुत है तो भी वह दस गज की दूरी पर गाते हुए नर की ओर दौड़ेगी, अपने समीपवाले नर की परवाह नहीं करेगी।

इस प्रकार की प्रक्रियाएँ संभवतः इसलिए ऐसी नहीं हैं कि ये प्राणी दो भिन्न इन्द्रिय-विषयों की स्मृतियों का समन्वय नहीं कर पाते, इसका कारण यही प्रतीत होता है कि इनके लिए विशिष्ट इंद्रिय-विषय विशिष्ट प्रक्रिया के साथ इस प्रकार बँधा होता है कि उसके प्रस्तुत होते ही उस प्रक्रिया के लिए जितनी वासना और शक्ति उसके पास होती है, वह क्रियान्वित हो जाती है। इस प्रकार इन प्रवृत्यात्मक प्राणियों के लिए संपूर्ण विश्व विभिन्न प्रक्रियाओं का समूह मात्र है, जो प्रक्रियाएँ एक दूसरे से स्वतंत्र अस्तित्व रखती हैं। मादा ग्रेलिंग के लिए दो स्थितियों में एक ही नर दो भिन्न विषयों के रूप

में है, उसके लिए वह एक ही विषय नहीं जिसके विभिन्न पहलू हो सकते हैं। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि जैसे मनुष्य के लिए एक देवदत्त विभिन्न रूपों में भी वही देवदत्त है; वैसा प्रवृत्त्यात्मक प्राणियों में नहीं है। हम कह सकते हैं कि देवदत्त खाता है, देवदत्त सोता है, देवदत्त पढ़ता है, इत्यादि। ऐसा अन्य प्राणियों के लिए नहीं है।

उदाहरणतः कृष्ण-शीर्ष 'गल' को लें। इसके लिए अपना ही अंडा विभिन्न स्थितियों में विभिन्न प्रक्रियाओं का विषय है, अथवा वह इसके लिए विभिन्न विषयों के समान है। यदि पक्षी अंडा सेनेवाला (Broody) है और अंडा घोंसले में पड़ा है तो उसके लिए यह सेने का विषय होगा। यदि घोंसले में कोई ऐसी वस्तु भी रख दी जाय जो गोल हो और लगभग उसी आकार तथा बनावट की हो, फिर चाहे उससे काफी भिन्न भी प्रतीत होती हो, तो पक्षी उसपर उसी प्रकार बैठेगा जैसे अपने अंडे पर बैठता है। यदि उसके घोंसले में लौटने पर उसके अंडे में छेद है तो उसके लिए वह 'कुछ पीने की वस्तु' हो जाता है, चाहे बच्चा काफी बन भी चुका हो। इसी प्रकार किसी दूसरे पक्षी के घोंसले में पड़ा अंडा भी उसके लिए कुछ पेय पदार्थ ही होता है, चाहे वह उसका अपना ही अंडा क्यों न हो। यदि उसका अंडा उसके घोंसले के बिल्कुल समीप पड़ा हो तो उसके लिए वह घोंसले में लौटाने की वस्तु होता है। प्रत्येक गल के लिए 'अंडे का लौटाने की वस्तु होना' उसके घोंसले से एक से डेढ़ फुट तक के अन्तर पर पड़े होने पर ही हो सकता है, उससे बाहर वह केवल उपेक्षा का विषय ही हो सकता है—पक्षी के लिए उसका अस्तित्व समाप्त हो जाता है।

इसी प्रकार एक और भी उदाहरण इस 'प्रक्रियात्मक संबन्ध-परिवर्तन' का दिया जा सकता है। ब्रोक (Brock) ने पागारूस पक्षी के सार्गशिया पारासिटिका ((Sagartia Parasitica ) के साथ प्रक्रियात्मक संबन्ध का अध्ययन करके बड़ा मनोरंजक चित्रण प्रस्तुत किया है। उसके अनुसार सामान्य अवस्था में पागारूस पक्षी गास्ट्रोपोड की गिरी को अपने गृह के रूप में बरतता है और इसपर सागर्शिया के पौधे लगाता है। यदि ये पौधे इसपर से हटा दिये जायँ और पागारूस भूखा न हो तो वह पुनः उन्हें उसपर चिपका देगा, किन्तु भूख लगने पर वे उसके भोज्य द्रव्य होंगे। यदि पागारूस को घर बनाने के लिए गास्ट्रोपोड की गिरी न मिले तो वह सागर्शिया को दबाकर घर के समान बरतता है। इस प्रकार सागर्शिया उसके लिए, उसकी विभिन्न अवस्थाओं के समय, विभिन्न प्रक्रियात्मक संबन्ध रखता है।

यह उदाहरण छिछले उदाहरणों से विपरीत है, क्योंकि वहाँ एक ही विषय विभिन्न अवस्थाओं में भिन्न-भिन्न विषयों के रूप में प्रतीत होता है, वहाँ इसमें एक ही विषय, एक ही स्थिति में, भिन्न-भिन्न वासनाओं में, भिन्न-भिन्न विषयों का पर्याय होता है। वास्तव में प्रक्रियात्मक सम्बन्ध के निर्धारण करने में दोनों ही पहलू महत्त्वपूर्ण हैं।

यह प्रायः निश्चित है, जैसा कि हम दूसरे निबन्ध में भी विस्तार से देख आये हैं, कि कोई भी प्रक्रिया या प्रवृत्ति, चाहे किसी समय प्राणी के लिए उपयोगी होने से उसके

द्वारा अपनाई गई हो, किन्तु बाद में वह केवल एक यांत्रिक व्यापार मात्र रह जाती है। ये उपयोगी प्रवृत्तियाँ तब भी चलती रहती हैं जबकि उस जाति की परिवृत्ति बिल्कुल परिवर्तित हो चुकी हो और उस परिवृत्ति में यह उपयोगी प्रवृत्ति हानिकारक हो। उदाहरणतः, कठफोड़ा अपने भोज्य बीजों का वृक्षों के छिद्रों में संग्रह करता है और अभाव के दिनों में उनका उपयोग करता है। टेलीफोन के तारों के लिए खंभे लगने पर उसने उन बीजों को उन खंभों की दरारों में भी रखना प्रारम्भ कर दिया। जिस ऋतु में (सितंबर-अक्तूबर में) यह बीजों का संग्रह करता है उन दिनों इन खंभों की दरारें खूब खुली होती हैं, किन्तु ये वर्षा होने पर बहुत तंग हो जाती हैं जिससे यह पक्षी उन बीजों का अभाव के दिनों (सर्दी) में उपयोग नहीं कर पाता, क्योंकि तब बीज सड़ जाते हैं। इस तरह ये प्रतिवर्ष करते रहें और प्रतिवर्ष हानि उठाते रहें। इसी प्रकार कुछ कठफोड़े एक टूटे-फूटे सूने घर में रहते थे। वे अपने भोज्य बीज एकत्र कर उस घर की दरारों में रख देते थे। किन्तु दरारें गहरी होने से बीज भीतर चले जाते और उनकी पहुँच के बाहर हो जाते। इस पर भी वे प्रतिवर्ष उसी प्रकार हानि सहते रहे, उनमें किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं आया। ( Ritter )

इसी प्रकार राईडफ्लोवर अपने अंडे सागर या नदी के किनारे की पथरीली जमीन में देता है, जहाँ पर ये देखे न जा सकें। किन्तु जब वह पक्षी अपने अंडे घास में देता है तब भी अपने घोंसले को पत्थरों से ढँक देता है। इस प्रकार वह तब भी अपनी उस प्रवृत्ति को नहीं छोड़ता जबकि उसका कोई भी उपयोग नहीं होता। ( Ritter )

इसी प्रकार एक मछली केवल उन्हीं प्राणियों को खाती है जो कि उसके नीचे की ओर तैर रहे होते हैं। यह प्रायः रात को शिकार करती है। यह अपने गले के नीचे लटकते तन्तुओं से अपने शिकार के अस्तित्व का अनुभव करती है और शिकार के होने पर उसपर आक्रमण करती है, किन्तु यदि शिकार इसके ऊपर हो तो उसको देखने पर भी यह उसका शिकार नहीं करती। यदि इसका शिकार इसके ऊपर से छू भी जाय तो भी यह उसे नहीं पकड़ती। इतना ही नहीं, अनेक बार तो यह अपने शिकार के ऊपर होने पर उससे बुरी तरह से डरती भी है जबकि उसके नीचे आते ही उसपर आक्रमण करती है। इसी प्रकार कुछ मछलियाँ शिकार के नीचे होने पर उनको नहीं देखतीं जबकि ऊपर आते ही उन्हें पकड़ने के लिए दौड़ती हैं।

प्रवृत्ति के लिए सामान्य लोगों से लेकर बड़े-बड़े दार्शनिकों और वैज्ञानिकों तक अनेक बार यह सोचने की भूल करते हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जो अतिप्राकृतिक रूप से समझदारीपूर्ण और अपनी सफलता में अथवा लक्ष्यबोध में अचूक है। यह एक बड़ी भूल है जो कि ऊपर दिये उदाहरणों से देखा जा सकता है। यह ठीक है कि प्रवृत्ति प्रायः एक विशेष ढंग से, एक विशेष परिवृत्ति में, बहुत अधिक अचूक होती है, किन्तु थोड़े से भी परिवर्तन से यह एक नितान्त मूढ़तापूर्ण व्यापार हो जाती है और प्राणी तब भी मशीन के समान उसी प्रकार व्यवहार करता रहता है। पक्षियों के नवजात शिशु अपनी माता को प्रवृत्ति से ही झट पहचान लेते हैं, किन्तु वे उतनी ही अधिक भूलें भी करते हैं। उदाहरणतः कोई भी उनकी माता के समान आवाज करके उन्हें अपने पीछे लगा सकता है, यहाँ तक

कि काफी बड़े बच्चे भी, जो उड़ तक सकते हैं, उनकी माता के समान आवाज करने पर भागे आते हैं और बोलनेवाले के ऊपर आकर बैठ जाते हैं। छोटे बच्चों को तो केवल उँगली दिखाकर अथवा किसी वस्तु से छूकर बहकाया जा सकता है, वे फौरन चिल्लाने लगते हैं और भोजन के लिए मुँह खोल देते हैं। बर्गसाँ ने प्रवृत्ति की अचूकता और अतिप्राकृतिक समझदारी पर इतना बल दिया है कि आश्चर्य होने लगता है कि इतना बड़ा दार्शनिक भी इतनी भावुकता से क्यों बातें कर रहा है। किन्तु वास्तव में उसका वाइटलिज्म का समर्थन उसकी इस बड़ी कमी का उत्तरदायी है। वह 'क्रीयेटिव इवोल्यूशन' में फेबर को उद्धृत करते हुए ऐम्मोफीलिया की, अपने बच्चों के लिए ताजा भोजन जुटाने के लिए केटरपिलर के एक विशेष ढंग से डंक मारने की प्रवृत्ति की अचूकता का बड़े उत्साह से वर्णन करता है। किन्तु ड्रेवर के अनुसार—

"डॉ० और श्रीमती मैकहेम ने दिखाया है कि ऐम्मोफीलिया का केटरपिलर के डंक मारना एकदम अचूक नहीं है, जैसा कि फेबर कहता है। प्रथम तो उसकी डंक मारने की संख्या सदैव एक-सी नहीं होती, इसके अतिरिक्त कभी-कभी केटरपिलर पूरी तरह से आहत नहीं होता और कभी-कभी यह पूरी तरह से मर जाता है। इस प्रकार कभी-कभी केटर-पिलर के न आहत होने से भी एम्मोफीलिया के बच्चों को उसके हिलने-डुलने से कोई हानि नहीं पहुँचती और न उसके मर जाने पर उसके मांस के सूख जाने से ही कोई हानि पहुँचती है।" इसी प्रकार हम एक और उदाहरण ड्रेवर से उद्धृत करेंगे। वह कहता है—

"लोमेचूसा मक्खी का बच्चा चींटियों के बच्चों को खाता है, जिसके घोंसले में वह पलता है। फिर भी चींटियाँ लोमेचूसा के बच्चों को उतनी ही सावधानी से पालती हैं जितनी सावधानी से अपने बच्चों को। इतना ही नहीं, बड़ी जल्दी ही वे जान लेती हैं कि मेहमान बच्चों को उसी प्रकार पालना और खिलाना घातक होगा जैसे अपने बच्चों को। अतः वे उन्हें पालने और खिलाने के ढंग भी शीघ्र ही खोज निकालती हैं।" ('एनेलेसिस ऑफ माइंड' से उद्धृत)

इन दोनों उद्धरणों से स्पष्ट है कि किस तरह प्रवृत्तियाँ न केवल अचूक ही होती हैं, प्रत्युत किसी जैवी उद्देश्य से भी प्रायः रहित होती हैं। ऐसी प्रवृत्तियाँ प्रायः प्रक्रियात्मक संबन्ध से ही विकसित होती हैं—ऐसा हमारा विचार है। इन मूर्खतापूर्ण और चूकनेवाली प्रवृत्तियों के हम थोड़े से और उदाहरण देकर इस प्रकरण से आगे बढ़ेंगे।

प्रेंगमैंटिस अपना घोंसला बनाने में बड़ी चतुराई का परिचय देती है, क्योंकि यह वहाँ घोंसला बनाती है जहाँ पहचाना न जा सके। किन्तु यदि मैथुन-ऋतु में इसमें गर्भा-धान नहीं किया गया तो भी यह अपना घोंसला बनाती है और कभी-कभी तो दो से तीन तक घोंसले बना डालती है जिनमें वह खाली अंडे देती है, जिनसे बच्चे उत्पन्न नहीं होते। इतना ही नहीं, कुत्ते-जैसे समझदार प्राणी भी प्रक्रियात्मक संबन्ध से या अन्तर्वासना से प्रेरित होकर भूलें करते हैं। उदाहरणतः "एक बार एक कुत्ती के गर्भ-भ्रम (Pseudo Pregnancy) हो गया और छाती में दूध उतर आया। वह अब बच्चों के लिए बेचैन होकर इधर-उधर रोती फिरती रही। वह इतनी व्याकुल थी कि जहाँ-कहीं उसे कोई बोरी

का टुकड़ा या ऐसी वस्तु भी दिखाई पड़ती, वह उसे बच्चा समझकर उसकी ओर दौड़ती। अन्त में वह कोठे के ऊपर पहुँची और भूसे के कोठे में उसने बच्चों के लिए गुफा-सी बनाई। तब उसे चूहे के कुछ बच्चे दिये गये। उसने बड़ी ही उत्सुकता के साथ उनका स्वागत किया और उन्हें अपनी छाती के समीप लाकर दूध पिलाने का प्रयास किया। वह उन्हें बहुत देरतक चाटती रही। अब उसे वहाँ से हटाने का प्रयास किया गया, किन्तु वह स्वीकार नहीं करना चाहती थी। जब उसे किसी प्रकार हटने के लिए राजी किया गया तब उसने उनको भूसे से बड़ी सावधानी और प्यार से ढँक दिया।'' इस प्रकार यह सुविधा से कहा जा सकता है कि कृमि, पक्षी तथा मछलियाँ इत्यादि बड़ी रिजिडिटी से अपनी प्रक्रियात्मक योजना को मशीन के समान क्रियान्वित करती हैं। स्तनपायी यद्यपि उनकी अपेक्षा कम रिजिड होते हैं, किन्तु वे भी अपनी अंतर्वासनाओं को व्यय करने के लिए यंत्रवत् ठीक या गलत क्रियाएँ करते हैं।

जो प्राणी अपेक्षाकृत अधिक विकसित हैं, जैसे बंदर, शिम्पांजी इत्यादि, यहाँ तक कि कुत्ता, हाथी और गाय इत्यादि भी, उनमें प्रवृत्ति अधिकतर अंतःशारीरिक वासनाओं की धकेल और आत्मव्ययी प्रक्रियाओं के रूप में ही पाई जाती है, किन्तु अपने प्रक्रियात्मक व्यापारों में ये उतने रिजिड नहीं हैं। इनमें काफी से अधिक समझदारी और नवीन परिस्थितियों को नवीन ढंग से स्वीकार करने की शक्ति रहती है। किन्तु जो शारीरिक वासनाएँ हैं, उनसे ये भी उतने ही बाध्य हैं जितने अन्य प्राणी। किन्तु यहाँ भी इनमें यह भिन्नता है कि ये आत्मव्ययी प्रक्रिया में काफी स्वतंत्र हो सकते हैं।

मनुष्य में प्रवृत्ति और शिक्षा का बहुत जटिल विधान है, किन्तु वह भी अन्ततः अपने मानसिक निर्माण में बहुत-कुछ उसी प्रकार प्रवृत्तियों का दास है जैसे कोई भी अन्य प्राणी। उसमें न केवल अपनी वासनाओं की दासता ही है, प्रत्युत वह बहुत दूर तक प्रक्रियात्मक संबन्ध में भी प्रवृत्यात्मक हो जाता है। उदाहरणतः प्रेम को लें—एक व्यक्ति अपनी प्रेमिका को बहुत प्यार करता है, वह उसे सबसे अधिक सुन्दर लगती है, उसको देखते ही अथवा उसका विचार आते ही, उसकी वासनाएँ जग जाती हैं—इत्यादि। यह क्यों? क्यों उसे दूसरी कोई लड़की, उसकी प्रेयसी से 'अधिक सुन्दर' होने पर भी, वह आकर्षण नहीं दे पाती? यह केवल संयोग पर निर्भर है। इस संयोग का कारण यह होता है कि उस व्यक्ति का उस विषय (प्रेयसी) के साथ एक प्रक्रियात्मक संबन्ध स्थापित हो गया रहता है। इसका मुख्य कारण यह होता है कि वह अपने किसी मधुर क्षण (Life of the moment) में उसको इस प्रकार देख सका होता है और उसमें अपनी तृप्ति की ऐसी आशा से आप्लावित हो चुका होता है कि वह क्षण उसके हृदय में स्थायी हो जाता है—लगभग उसी प्रकार, जैसे बिल्ली के हृदय में चूहे का भय। इस प्रकार उसके लिए वह लड़की पूरी हो जाती है। उनमें और किसी प्रकार का आध्यात्मिक संबन्ध नहीं होता। यदि ऐसा ही अवसर उसे किसी भी अन्य लड़की के साथ मिलता तो वही उसके लिए प्रेयसी हो जाती। इस प्रकार अनन्त काव्यों की स्रोतस्विनी प्रेयसी केवल मनुष्य की प्रक्रियात्मक प्रवृत्ति का परिणाम है। इसी प्रकार मनुष्य के किसी भी अकारण प्यार, अकारण द्वेष इत्यादि को अन्य क्रियाओं में भी देखा जा सकता है। 'वह व्यक्ति यद्यपि बहुत अच्छा है, तथापि पता

नहीं, क्यों उसे देखते ही मेरा खून खौल उठता है' इत्यादि बातें हम प्रायः ही सुनते हैं और ये उसी प्रकार प्रक्रियात्मक संबन्ध की सूचक हैं।

किन्तु मनुष्य इसमें अपेक्षाकृत काफी कम रिजिड है और अपने अधिकांश व्यापारों में तो काफी समझदार भी। जहाँ तक वासनात्मक धकेल (Appetitive push) का संबन्धहै, मनुष्य में वह उसके प्रक्रियात्मक संबन्ध तथा सामाजिक परिवृत्ति से बहुत अधिक प्रभावित होती है। कुछ दूर तक सामाजिक परिवृत्ति भी मनुष्य में प्रक्रियात्मक रिजिडिटी के रूप में ही होती हैं, जैसे सदाचारी (इसका अर्थ प्रत्येक का अपना होता है) रहने का विचार उसमें उसकी मानसिक योजना (Mental dispositiou) के रूप में निहित हो जाता है, दुराचार करते हुए उसको कुछ भद्दा और विचित्र लगता है। इस प्रकार यदि कहा जाय कि उसकी वासना उसकी विचित्र प्रक्रियात्मक योजना से बहुत अधिक प्रभावित होती है, तो अधिक उचित होगा।

संभवतः फ्रायड् के स्वप्न-विज्ञान के आधार में मनुष्य की इसी शारीरिक वासना और उसके मन की प्रक्रियात्मक योजना की उलझन है। कम-से-कम जागृत अवस्था में तो यह उलझन काफी अधिक प्रभावशाली होती है। सोते समय प्रक्रियात्मक योजना वासना पर संभवतः कुछ इस प्रकार प्रभाव डालती है कि जब किन्हीं भौतिक रासायनिक कारणों से प्रसुप्तावस्था में कोई वासना जन्म लेती है (मान लो, वह भोजन की वासना है) तब व्यक्ति की वह वासना एक विशिष्ट प्रकार के स्वप्न को जन्म देगी, जैसे वह व्यक्ति अपनी विशेष वासना के समान एक विशेष भोजन को अपनी प्रक्रियात्मक योजना के अनुसार जुटायेगा और उसे अपनी विशेष प्रक्रियात्मक योजना के अनुसार खायेगा। जैसे, एक ऐसा व्यक्ति, जिसने कभी छुरी-काँटा नहीं देखा, स्वप्न में कभी छुरी-काँटे से नहीं खायेगा।

मेरे विचार में स्वप्न का कारण किसी-न-किसी प्रकार की शारीरिक उकसाहट ही होती है। मान लीजिए, किसी व्यक्ति को किसी ऐसी परी का स्वप्न आता है जो प्रति-क्षण बारी-बारी से दैत्य और परी बनती है, इसका भी कारण किसी प्रकार की अन्तःशारीरिक उकसाहट या अव्यवस्था ही कहा जा सकेगा। हम प्रायः ही ऐसे रोगियों को देखते हैं जो अपने चारों ओर भूत-प्रेत देखते हैं और डरते हैं। इसका कारण प्रायः यह होता है कि अग्र-मस्तिष्क निर्बल पड़ जाता है और पृष्ठ-मस्तिष्क की तथा स्नायु-तन्तुवाय की क्रियाओं पर नियंत्रण नहीं रख पाता। किन्तु क्यों किसी व्यक्ति को भूत और किसी को शेर दिखाई पड़ते हैं, सभी को एक-जैसी आकृतियाँ दिखाई नहीं पड़तीं? यह कहना यद्यपि अभी संभव नहीं, तथापि इसके भी शरीर-वैज्ञानिक कारण होंगे, यह संभावना अनुचित नहीं है। यह तो प्रायः सभी ने अनुभव किया होगा कि यदि सोते समय दिल पर या छाती पर हाथ आ जाय तो अनिवार्य रूप से डरावने स्वप्न आते हैं, इसी प्रकार यदि किसी कारण से मस्तिष्क निर्बल पड़ जाय तो भी विचित्र-विचित्र स्वप्न आते हैं और व्यक्ति प्रायः बड़बड़ाने लगता है, और कभी-कभी स्वप्न में चलने भी लगता है।

इससे भी आगे बढ़कर, यदि यह कहा जाय कि व्यक्ति एकांत में बैठा क्यों एक विशेष स्मृति की आवृत्ति कर रहा है, दूसरी की क्यों नहीं; अथवा क्यों वह अचानक किसी गीत की पंक्ति गुनगुनाने लगा है, दूसरे की क्यों नहीं; इसके भी कुछ शारीरिक कारण ही होने

चाहिए। फ्रायड ने इस प्रश्न को भी उठाया है, किन्तु वह मन को एक रहस्यमय गुफा मानता था। इसके कारण उसके विश्लेषण से हम सहमत नहीं हैं। उसने यद्यपि इस प्रश्न का वहाँ कोई उत्तर नहीं दिया, तथापि हम उसके उत्तर का अनुमान कर ही सकते हैं। हमारे विचार में, इस प्रकार किसी विशेष अभावानुभूति का होना, किसी स्मृति का होना, अथवा किसी विशेष गीत को गुनगुनाना किसी प्रकार केन्द्रीय स्नायु-तन्तु में उत्पन्न उकसाहट को ही कहा जा सकता है इसे क्राटजिग (Kratzig) के शब्दों में वेक्यूम एक्टिविटीज भी कहा जा सकता है। लारेंज के अनुसार केन्द्रीय स्नायु-तन्तु स्वयं भी अनेक ऐसे आवेगों को जन्म देता है जो प्राणी को किसी व्यापार में प्रवृत्त करते हैं। संभवतः, मस्तिष्क-तन्तुओं और मस्तिष्क के रासायनिक स्थलों में भी उकसाहट (और संभवतः स्मृति-जैसी शांत) विशेष व्यापारों को जन्म देती है।

इस प्रकार मनुष्य भी बहुत दूर तक प्रवृत्ति (वासना और प्रक्रियात्मक योजना) से ही परिचालित होता है। परिवृत्ति से उसका संबन्ध यद्यपि बिल्कुल प्रवृत्यात्मक ही नहीं है, तथापि वह बहुत-कुछ प्रवृत्तिमय ही है।

# मार्क्सीय इतिहास-दर्शन का मूल्यांकन

श्री सिद्धेश्वर प्रसाद

मार्क्स का इतिहास-दर्शन वर्ग-संघर्ष पर आधारित है। उनका विचार है कि मनुष्य का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। वर्ग से उनका अभिप्राय शोषक और शोषित वर्ग से है। दूसरों के श्रम की कमाई पर जीनेवाला शोषक और अपना श्रम बेचकर जीवन-निर्वाह करनेवाला शोषित है।

मार्क्स का यह इतिहास-दर्शन हीगेल की द्वन्द्वात्मक प्रणाली को स्वीकार कर चलता है। मार्क्स ने इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली के आधार पर विश्लेषण कर जो निष्कर्ष निकाला है वह इसलिए आलोच्य नहीं है (मौलिकता का प्रश्न प्रस्तुत हीं नहीं होता) कि उसका आधार भौतिक है, अथवा वह सामाजिक शक्तियों में अर्थ को प्राथमिक महत्त्व प्रदान करता है, बल्कि इसलिए आलोच्य है कि वह द्वन्द्वात्मक प्रगति के मूल तक नहीं जाता। मार्क्स का उद्देश्य इस प्रणाली के आधार पर सामाजिक परिवर्तन की गति को तीव्र कर समाज के नवनिर्माण की सुस्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत करना था। पर इस इतिहास-दर्शन से प्रेरित और निर्मित समाज में आर्थिक शोषण पर रोक ही लगती है, उसका बीज नष्ट नहीं होता। इस दृष्टि से मार्क्स के इतिहास-दर्शन पर पुनर्विचार की आवश्यकता है।

मार्क्स ने आर्थिक दृष्टि से शोषित सर्वहारा को ही क्रांति का मूल वाहक माना है। पर यह ठीक नहीं है। इस वर्ग का बौद्धिक और सांस्कृतिक स्तर इतना निम्न होता है कि क्रान्ति का चेतन नेतृत्व इससे संभव ही नहीं। यह वर्ग अनुगामी हो सकता है, नेता नहीं। नेतृत्व सदा बौद्धिक दृष्टि से जाग्रत् व्यक्ति से आता है, वर्ग से नहीं। हाँ, यह व्यक्ति शोषित होता है।

इतिहास की जिस घड़ी में बौद्धिक व्यक्ति का शोषण होता है वही समय की करवट लेने की घड़ी होती है। अविकसित मस्तिष्क को क्रान्ति की बात नहीं सूझती, उसे सुझाने की जरूरत होती है। वस्तुत: मनुष्य का इतिहास विकसित मस्तिष्क को तुष्ट रखने का इतिहास है। विकसित मस्तिष्क आदर्श का निर्माण करता है, लक्ष्य की ओर संकेत करता है; अविकसित मस्तिष्क भेंड़ की तरह उसकी ओर अनुधावित होता है। मार्क्स का कहना था—किसी भी मानवीय प्राप्य को मैं अपने लिए अप्राप्य नहीं मानता (I think nothing human alien to me.)। पर आश्चर्य की बात है कि अपने ऊपर इतना विकास करते हुए भी उन्होंने अपने वर्ग का अविश्वास किया।

समाज के विकास का मूल कारण बुद्धि है। बुद्धि भी एक प्रकार का श्रम है, यत्नज (श्रम एवं अभ्यास-प्राप्त) वस्तु है। इसका विभाजन अर्थ से भी अधिक विषम है। जबतक यह स्थिति रहेगी तबतक साम्य स्वप्न है। विषम बौद्धिक स्थिति में आर्थिक साम्य दया-भावना का विस्तार है—कभी कर्त्तव्यरूप में, कभी अधिकाररूप में। पर, यदि आर्थिक के साथ बौद्धिक साम्य भी संभव हो तो शासन-यंत्र भी लुप्त हो जाय। आज की साम्यवादी कल्पना में विषम अर्थ के बदले विषम बुद्धि का शासन चलता है। यह बुद्धि-भेद ही अधिकार-भेद का जनक है और अधिकार-भेद, व्यवस्था शिथिल होने पर, अर्थ-भेद को प्रश्रय देगा।

आर्थिक के साथ ही बौद्धिक साम्य के आधार पर एक नवीन इतिहास-दर्शन प्रस्तुत किया जा सकता है। यह दर्शन जिस सामाजिक व्यवस्था को पोषण देगा वह (व्यवस्था) प्रत्येक व्यक्ति को मस्तिष्क और शरीर के विकास का समान अवसर देगी। तब आज की तरह आध्यात्मिक और भौतिक विकास में विरोध के लिए स्थान नहीं रहेगा, बल्कि प्रत्येक एक दूसरे का पूरक होगा।

मार्क्स ने विचार की शक्ति की उपेक्षा की है। आश्चर्य की बात है कि उनके विचारों की शक्ति की दुहाई देनेवाले उस धारा के परवर्ती विचारक भी इस तथ्य की ओर से आँखें मूँदे ही रहे। मनुष्य का इतिहास विचारों के विजय-अभियान से भरा पड़ा है। स्वयं मार्क्स की विजय आज विचार के माध्यम से हो रही है, उनके वंशजों की सेना से नहीं। नवीन इतिहास-दर्शन विचार को उसका प्राप्य महत्त्व देगा। साधारणत: मनुष्य की प्रगति, मूल्य-भावना के रूप में, विचार से नियंत्रित-नियमित होती रही है। जब धर्म जीवन का सबसे मूल्यवान् पदार्थ था तब उसके हेतु मनुष्य ने प्राण की बाजी लगाई और आज जब अर्थ सर्वाधिक मूल्यवान् हो गया है तब इसी की प्राप्ति के हेतु कुछ भी किया जाना संभव है। मानव-इतिहास की दिशा को बदलने के लिए इस अर्थवादी मूल्य-भावना में ही परिवर्तन की आवश्यकता है।

इसके पूरक के रूप में मार्क्स का इतिहास-दर्शन बहुत दूर तक सही है। वस्तुत: विचार की स्फोटक शक्ति का अनुभव दो ही को होता है—बुद्धिजीवी को और श्रमजीवी को। बुद्धिजीवी जागरूक होता है, नेता है, श्रमजीवी उसका अनुसरणकर्त्ता। शोषकवर्ग बुद्धिजीवी की उपेक्षा कर सकता है, पर श्रमजीवी की नहीं। पर अजागरूक श्रमजीवी से उसे भय नहीं रहता, अत: अनेक तरीकों से बुद्धिजीवी को तुष्ट रखने का प्रयत्न करता है

जिसमें वह (बुद्धिजीवी) श्रमजीवी में जागरूकता न भरे। बुद्धिजीवी और श्रमजीवी के मेल से ही क्रान्ति संभव है। मार्क्स ने सर्वहारा (श्रमजीवी) की शक्ति को ठीक-ठीक पहचाना था। श्रमजीवी बारूद का खजाना है, बुद्धिजीवी आग की चिनगारी। दोनों अलग रहने पर विस्फोटक नहीं हो सकते हैं। यों, चिनगारी अवसर मिलने पर छप्पर तक पहुँचकर आग लगा सकती है। पर छप्पर जलने से (शोषण की) दीवाल की नींव तो ज्यों-की-त्यों बरकरार रहती है। इस दृष्टि से मार्क्स का यह कथन ठीक है कि सर्वहारा (श्रमजीवी) मूल क्रान्तिकारी वर्ग है। समाज के मूल को बदलने के लिए श्रमजीवी का योग नितान्त आवश्यक है।

उत्पादन के साधनों का इतिहास-दर्शन में क्या स्थान है? उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का जीविका से सीधा संबन्ध है। पूँजीवादी व्यवस्था में यह स्वामित्व कुछेक लोगों के हाथ में रहता है। मार्क्स इसका समाजीकरण चाहते थे, जो उचित ही है। पूंजी पर विशिष्ट व्यक्तियों का स्वामित्व पूँजी का केन्द्रीकरण है जो मार्क्स के अनुसार अनुचित है, अर्थात् पूँजी के राष्ट्रीय स्वामित्व के रूप में उसका विकेन्द्रीकरण उन्हें मान्य था। उद्योग का भी विकेन्द्रीकरण इस तर्क की संभावित परिणति होती है। विज्ञान की सर्जनात्मक और ध्वंसात्मक—दोनों क्षेत्रों की प्रगति विकेन्द्रीकरण का समर्थन करती है। यंत्र-संचालन के लिए विद्युत्शक्ति की पहुँच भू-भाग के कोने-कोने में संभव है। स्वास्थ्य, पिछड़े प्रदेशों की तुल्य सामाजिक प्रगति, बृहत्काय नगरों की समुचित व्यवस्था में अतिरिक्त श्रम-व्यय एवं विभिन्न गुत्थियों आदि से मुक्ति इन दृष्टियों से भी विकेन्द्रीकृत औद्योगिक एवं सामाजिक व्यवस्था उपयुक्त होगी। विकेन्द्रीकृत व्यवस्था बौद्धिक साम्य की अनिवार्य भूमिका है।

विकेन्द्रीकरण से सभ्यता के स्तर के निम्न हो जाने की आशंका हो सकती है। प्राकृतिक आपदाओं से बचने एवं सुविधा के नाम पर मनुष्य आरामतलब होता जा रहा है। सुविधाएँ विकास एवं प्रगति की मापक मानी जाती हैं। अतिकेन्द्रीकरण से ही आधुनिक सुविधाएँ संभव हैं, यह भ्रामक धारणा है। इस भ्रामक पूँजीवादी धारणा का मार्क्सीय इतिहास-दर्शन समर्थन करता है। परन्तु विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में, केन्द्रीकरण की बुराइयों के बिना, विज्ञान की सहायता से, सारी सुविधाएँ प्राप्त हो सकेंगी।

नवीन इतिहास-दर्शन की मान्यता है कि प्रगति सम्पूर्ण होती है। इस धारणा के स्पष्ट न होने के कारण अबतक विकास बाधित रहा है, मनुष्य को स्थान-स्थान पर ठमकना पड़ा है। सम्पूर्णता को लेकर चलने पर इसकी आशंका नहीं रहेगी। क्षेत्रीय विशेषज्ञता का सिद्धांत आज अतिवादी रूप ग्रहण कर चुका है। एक क्षेत्र के विशेषज्ञ के लिए दूसरे क्षेत्र की साधारण बातों का ज्ञान न रखना आलोच्य नहीं माना जाता, फलतः विशेषज्ञ विरोधी दिशा की ओर उन्मुख हैं। विशेषज्ञता की वृद्धि तो विश्लेषण के कारण अवश्य हुई है, परन्तु संश्लिष्ट दृष्टि के अभाव में उसका मनुष्य के लिए उपयोग नहीं हो पा रहा है। शरीर के एक अवयव के लिए उपयोगी पदार्थ दूसरे अवयव के लिए कम उपयोगी अथवा अनुपयोगी तक हो सकता है, परन्तु अन्ततः सम्पूर्ण शरीर के लिए वह कैसा है, इसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। क्षेत्रीय विशेषज्ञता एवं तत्संबन्धी खंडित

प्रगति का सिद्धांत कभी-कभी अवयव के विकास के लिए अवयवी तक के विनाश को नियंत्रित करता है। भौतिक प्रगति को आत्मसात् कर तदनुरूप मानसिक गठन में परिवर्तन कर सकने के कारण ही जीवन से सहज प्रेरणा एवं तत्प्रेरित कार्य दुर्लभ होते जा रहे हैं। केवल सभ्यता के विकास से जीवन में जटिलता आ गई हो, यह बचकाना तर्क है। यदि भौतिक विकास के साथ ही सामूहिक मानसिक विकास भी होता चलता तो यह स्थिति नहीं उत्पन्न होती।

नवीन इतिहास-दर्शन इतिहास की व्याख्या घटनाओं की प्रेरक अनुभूतियों के आधार पर करेगा। ऐसा करते समय वह अनुभूति की परिणति और प्रक्रिया पर भी ध्यान रखेगा। ऐतिहासिक घटनाओं के प्रेरक तत्त्व बहुधा घटनाओं के वात्याचक्र में विस्मृत कर दिये जाते हैं। इसीलिए इतिहास घटनानुक्रम का संकलनमात्र होकर रहा। दूसरी ओर केवल घटनाओं के प्रेरक तत्त्व की ही ओर ध्यान देने के कारण इतिहास ने पुराण का रूप ग्रहण कर लिया; इससे घटनाओं का देशकालवाचक वैशिष्ट्य लुप्त हो गया। यद्यपि पार्जिटर आदि के प्रयत्नों से पुराणों का इतिहास-रूप बहुत-कुछ सामने आया है तथापि साधारणतः उन्हें इतिहास नहीं माना जाता।

नवीन इतिहास-दर्शन का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व स्थिति (Order) और गति (Progress)-संबन्धी सामाजिक विकास का नियम है। भारत ने स्थिति को महत्त्व दिया है, पश्चिम ने गति को। अन्तर्दृष्टि के अभाव में अधिकांश स्थलों पर स्थिति जड़ता का पर्याय हो गया और गति मृगमरीचिका का। नवीन इतिहास-दर्शन स्थिति को गत्युन्मुखी और गति को स्थित्युन्मुखी बनाने का आधार ढूँढ़ता है। स्थिति और गति का समतोल बुद्धि-विकसित-समाज में ही संभव है। इसीलिए नवीन इतिहास-दर्शन बौद्धिक विकास पर बल देगा, जिसकी मार्क्स ने उपेक्षा की है। अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी समाज में कोई एक ही स्थिति संभव है जिसके पुष्कल प्रमाण भारतीय और पश्चिमीय इतिहास में मिलते हैं।

मात्रा-भेद से गुण-भेद मार्क्स-दर्शन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थापना है। नवीन इतिहास-दर्शन इसे और विस्तार एवं स्पष्टता देगा, इसके आधार पर सम्पूर्ण मानवीय परंपरा का नवीन मूल्यांकन प्रस्तुत करेगा। मार्क्स की यह देन वस्तुतः द्वन्द्वात्मक ऐतिहासिक प्रणाली से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। सामाजिक विकास में योग देने और उसे समझने में यह समान रूप से सहायक है। विज्ञान और विज्ञानेतर, दोनों क्षेत्रों में यह सिद्धान्त लागू होता है। अन्तर इतना ही है कि विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रयोगशाला में बुद्धिग्राह्यरूप में आसानी से सामने लाया जा सकता है, पर सामाजिक क्षेत्र में कठिनाई यह है कि सर्वत्र वैज्ञानिक मेधा का ही अभाव है। विज्ञान की तरह समाज के भी मूल तत्त्व बहुत थोड़े हैं जिनके भिन्न अनुपातों के असंख्य योग से सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत् निर्मित हुआ है। इन अनुपातों की खोज ही सत्यान्वेषण है, शोध है, और प्राप्त सत्य वैज्ञानिक नियम। वैज्ञानिक बुद्धि एवं संश्लेषणात्मक दृष्टि के अभाव में अभी बहुत थोड़ी सफलता मिल सकी है।

मार्क्सीय इतिहास-दर्शन ने मानवीय विकास को गति देने का ऐतिहासिक कार्य किया है; रूस के लिए उसका कार्य समाप्त हो चुका है और चीन के लिए समाप्तप्राय है, परन्तु बहुत सारे देशों के लिए अभी उसे बहुत-कुछ करना शेष है। लेकिन, चूँकि पिछले सौ वर्षों

के मानवीय चिन्तन की प्रगति के आधार पर इस इतिहास-दर्शन का संशोधन और संस्कार नहीं किया गया, अतः इसकी प्रेरक शक्ति और ग्राह्यता बहुत-कुछ शंका का विषय बन गई है। इसीलिए आज एक ऐसे इतिहास-दर्शन की आवश्यकता है जो नवीनतम ज्ञान-विज्ञान और अनुभव के आधार पर मानवीय विकास को गति दे सके। यह नवीन इतिहास-दर्शन 'व्यवस्थित गतिशीलता' के आलोक में इतिहास की व्याख्या करेगा, क्योंकि मार्क्सीय इतिहास-दर्शन का यही वह कमजोर पहलू है जिसके कारण वह आर्थिक व्यवस्था से आगे की मंजिल की ओर संकेत करने में असमर्थ है।

# भारतीय वाङ्मय में चित्रविद्या

प्रो० रामदीन पाण्डेय

भारतीय वाङ्मय में चित्रविद्या को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। चित्रविद्या पर कोई विशिष्ट ग्रंथ देखने में नहीं आया; पर वेदों, पुराणों, काव्यग्रंथों में इसका उल्लेख मिलता है। विष्णुधर्मोत्तरपुराण, भागवतपुराण, मत्स्यपुराण, शिल्परत्न, भरत के नाट्य-शास्त्र, शुक्रनीति, वात्सायन के कामसूत्र आदि में चित्रविद्या की चर्चा हुई है। अँगरेजी में भी भारतीय चित्र-कला पर कुछ रचनाएँ हुई हैं। उनमें फणीन्द्रनाथ बोस का Principles of Indian-silpa Shastra, टी० ए० गोपीनाथ राव का Elements of Hindu Iconography, के० टी० शाह का Splendour that was Ind, परसी ब्राउन का Indian Painting उल्लेखनीय हैं।

के० टी० शाह का मत है कि भारतीय चित्रविद्या का सर्वप्रथम साक्षात्कार वैदिक संस्कारों के अनुष्ठान में होता है। आर्यों के संस्कार में वेदी, हवनकुंड, मंडप, ध्वज-यष्टि, केतु, सर्वतोभद्र आदि के निर्माण की अपेक्षा होती थी। प्रत्येक के लिए चित्रकला का ज्ञान अपेक्ष्य था। ऋग्वैदिक युग की सभ्यता विकास के चरम उत्कर्ष पर भले ही न चढ़ी हो, पर हिन्दू-सभ्यता-संस्कृति का अंकुर वहाँ अवश्य वर्तमान था। ऋग्वैदिक आर्यों की कल्पना-शक्ति अद्भुत, सौन्दर्य की अनुभूति गहरी तथा बुद्धि की विलक्षणता अपरिमेय थी। आर्य-ऋषियों को प्रकृति में जो कुछ शोभन, स्वस्थ, शुभावह और स्वर्णिम देख पड़ा, उन्हें उन्होंने शब्दचित्रों के सहारे ऋग्वेद के अमर पृष्ठों पर रख छोड़ा है। इन अमर गायकों और शब्द-चित्रकारों ने निर्मल नभ, जलते अनल, बहते अनिल, प्रवहमान नदी, सविद्युत् गर्जमान घन के मोहक चित्र उरेहे हैं। उन ऋग्वैदिक ऋषियों को ऋतु, मास, दिन-रात, पक्ष, सप्ताह, तारक-राशि आदि का पूरा ज्ञान था। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के मंत्रों में ही अग्नि की कल्पना मंत्रद्रष्टा पुरोहित, देव, ऋत्विक्, होता तथा रत्नधाता के रूप में हुई है।

> अग्निमीले पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्।
> होतारं रत्नधातमम्। —ऋग् १।१।१

यज्ञकर्म के लिए विशिष्ट समय निर्धारित थे। समय के ज्ञान के लिए ऋग्वैदिक आर्य तारों पर निर्भर रहते थे। मेष, वृष, मिथुन, कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक, धनु, मकर, कुंभ, मीन आदि राशियों के नाम तारों के सूक्ष्म पर्यवेक्षण के आधार पर रखे गये हैं। चित्रविद्या में पारंगत ही तारक-राशियों के ऐसे चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो सकता है।

ज्ञानी आर्य सूर्य के उगने और डूबने के समय को ध्यान से देखते थे। जिस दिन सूर्य को मेष की आकृति की तारक-राशि पर उगते देखते थे, उस दिन मेष की शकल पत्थरों या वृक्षों पर बना देते थे, ठीक तीस दिनों के बाद, जब सूर्य को वृष की आकृति की तारक-राशि पर उगते पाते थे, तब वह कहते थे कि सूर्य वृष पर स्थित है। वह वृष का चित्र बना लेते थे। इसी तरह उन्होंने अन्य तारक-राशियों का ज्ञान प्राप्त कर उनके चित्र भी तैयार कर लिये। समूह में रहने के कारण कन्या, तुला और मिथुन की तो जानकारी उन्हें थी ही।

लांसिलौट हागबेन Lancelot Hugben अपनी रचना फ्रोम केभ पेंटिंग टू कामिक स्ट्रीप (From Cave Painting to Comic Strip) में लिखते हैं कि आदिम मानव अपने टोटेम की पूजा का समय भी तारों को देखकर निश्चित करता था। जिस जनजाति का टोटेम भेंड़ा था, वह जब सूर्य को भेंड़ के सदृश तारक-राशि पर देखता था, तब मेष का बलिदान करता था। उस समय को वह मेष-काल कहता था। वृष, मिथुन, कर्क, सिंह आदि विभिन्न कालों का ज्ञान प्राप्त कर प्राचीन जन-जातियाँ अपने-अपने टोटेम के अनुरूप बलिदान और पूजा करती थीं। इन सभी राशियों के चित्र वे पत्थर या लकड़ी पर बनाकर यादगारी के लिए सुरक्षित रखती थीं। ऋग्वैदिक युग में कपड़े पर भी चित्र-कारी होती थी—

*सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया*
*ददातु वीरं शतदायमुक्थ्यम्।*

—ऋग् २।३२।४

(वह हमारा अभिप्राय जानकर सूई के द्वारा हमारे कर्म को बुनें।)

यजुर्वेद में चित्र शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—

*चित्रं देवानामुद्गादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।*

ऋग्वैदिक युग में रंग-बिरंग के पासा बनते थे—

*त्रिपञ्चाशः क्रीलति व्रात एषां देव इव*
*सविता सत्यधर्मा।* —ऋग् १०।३४।८

(तिरपन पासे नक्शे के ऊपर मिलकर विहार करते हैं।)

वाल्मीकीय रामायण में चित्र और चित्रकला के अनेक उल्लेख हैं। रावण के प्रासाद में सीता की खोज करते हुए हनुमान् ने वैदूर्य, रूप्य तथा प्रवाल के बने अनेक चित्र देखे। सोने के घोड़े और हाथी भी देखे। हाथी केसरयुक्त उत्पल सूँड़ में लिये हुए थे। स्तंभों पर हरिण के चित्र बने थे—

कृताश्च वैदूर्यमया विहङ्गा
रूप्यप्रवालैश्च तथा विहङ्गाः।
चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा
जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः ॥
× ×
नियुज्यमानाश्च गजाः सुहस्ताः
सकेसराश्चोत्पलपत्रहस्ताः ॥
× ×
ईहामृगसमायुक्तैः कार्त्तस्वरहिरण्मयैः
सुकृतैराजितं स्तंभैः प्रदीप्तमिव च श्रिया ।

रावण के प्रासाद में हिरण्मय कलश, भाजन तथा पान-पात्र भी हनुमान् ने देखे—

हिरण्मयैश्च कलशैर्भाजनैः स्फाटिकैरपि ।

महाभारत-काल में तो चित्रकारी विकास की पराकष्ठा पर थी। महाभारत के योद्धाओं के झंडों पर विविध प्रकार की चित्रकारियाँ बनी रहती थीं।

महाभारत के द्रोणपर्व में चित्रों का बाहुल्य है। आचार्य द्रोण के झंडे पर सोने की वेदी बनी थी। उस वेदी पर धनुष के साथ कमण्डलु चित्रित था।

जाम्बूनदमयी वेदी कमण्डलुविभूषिता ।
केतुराचार्यमुख्यस्य द्रोणस्य धनुषा सह ॥

दुर्योधन का झंडा मणियों से विभूषित हाथी से चित्रित था।

परवर्ती संस्कृत-साहित्य में चित्र-विद्या को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में दुष्यन्त को हम शकुन्तला का चित्र बनाते पाते हैं और उत्तररामचरित में सीता को वनवास के चित्र दिखाते हुए लक्ष्मण वर्णित हैं। इससे ज्ञात होता है कि राजा भी चित्रकार होते थे।

श्रीमद्भागवतपुराण के दशम स्कन्ध, अध्याय ६२ में तो चित्रलेखा देव, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुज के चित्र उषा के सम्मुख उपस्थित करती है। विशेषरूप से कृष्ण के समस्त परिवार के चित्र उसके सामने रखती है।

पुरुष ही नहीं, भारतीय नारियाँ भी चित्र-विद्या में पारंगत होती थीं।

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में ऋषि नारायण चित्र-विद्या के प्रवर्त्तक बताये गये हैं। कथा बड़ी ही रोचक तथा साभिप्राय है। नर और नारायण विश्व-हित के लिए जब बदरिकाश्रम में तप कर रहे थे, कुछ अप्सराएँ उन्हें विघ्न पहुँचाने आईं। नारायण ने उनका अभिप्राय समझकर आम के रस से एक अनुपम देवबाला का चित्र पत्तों पर खींचा। दूसरे दिन जब अप्सराएँ आईं और नारायण के समीप पत्तों पर अलौकिक सुन्दरी का चित्र देखा, तब लज्जित होकर चली गईं। कारण, उनका रूप-लावण्य चित्रगत देवबाला के सामने तुच्छ था।

'चित्र-लक्षण' में भी चित्रविद्या की कथा अद्भुत ढंग से वर्णित है। इस कथा से चित्र-विद्या की उपादेयता सिद्ध होती है। कथा इस प्रकार है—भयजित् नाम के राजा थे। उनके राज्य में किसी ब्राह्मण का पुत्र अकालमृत्यु को प्राप्त हुआ। उस मृतक पुत्र की स्मृति को अमरत्व प्रदान करने के अभिप्राय से राजा ने उसका चित्र खींचा।

बौद्धयुग में चित्रविद्या का पूरा उल्लेख मिलता है। अजन्ता-चित्रकारी चित्रविद्या के इतिहास में विस्मयकारी स्थान ग्रहण करती है।

आधुनिक मनोविज्ञान के आचार्यों का मत है कि मनुष्य असभ्यावस्था में भी, सौन्दर्य के प्रति अपने जन्मजात भाव को अकुशल हाथों तथा रूक्ष अँगुलियों के सहारे व्यक्त करने में नहीं हिचकता था। जंगली हालत में दिन काटते हुए भी वह मनोहर हरिणों की शोभा पर मुग्ध हो जाता और पत्थर पर उनकी शोभा को—उनके चित्र को खींचने की चेष्टा करता था। कभी-कभी आवेश में आकर वह अपने मुँह, हाथ और नाक को भी गैरिक (गेरुआ) मिट्टी से रँगता था।

छोटानागपुर के उराँव और मुंडा, सुरगुजा के कोरवा, सिंहभूमि के हो, संथालपरगने के संथाल आज भी अपने कपड़ों, ललाट और शरीर पर चित्रकारी करते हैं। उनकी औरतें दोनों भौं के बीच, हाथों, पाँवों, जंघों, चरणों और अँगुलियों पर गोदना के रूप में सूई के द्वारा चित्रकारी करवाती हैं। आज भी चित्रकारी के अनूठे नमूने इन औरतों के शरीर पर देख पड़ते हैं।

मानव चित्र इसलिए बनाता है कि चित्र बनाने में उसे आनन्द मिलता है। अपने को या अपनी प्रिय वस्तु को चित्रों में अभिव्यक्त करने में वह आनन्द की अनुभूति करता है। एक तो सुन्दर वस्तु प्राणिमात्र के लिए आकर्षण रखती है। दूसरी बात यह जान पड़ती है कि चित्रों में चित्रकार अपने को सुरक्षित रखना चाहता है। सुन्दर वस्तु की सुन्दरता लुप्त न हो जाय, इसलिए उसे चित्र में स्थायी रूप प्रदान कर सुरक्षित रखना ही चित्र-विद्या का लक्ष्य है। यही लक्ष्य 'चित्रलक्षण' में भयजित् की कथा के सहारे व्यक्त किया गया है। मैंने एक उराँव महिला को गोदना गोदाने की व्यथा की ओर आकर्षित करते हुए पूछा कि वह क्यों इतना कष्ट सहकर अपने अंगों पर व्रण पैदा कराती है। उसने कहा—"पंडितजी! यही तो शरीर के साथ जायगा। यही मेरे शरीर के स्थायी गहने हैं।" उस ग्रामीण बाला की उक्ति में भी सुन्दरता को सुरक्षित रखने की भावना ही तो है।

भारतीय ऋषियों और कवियों ने तो शब्दचित्रों के सहारे भी प्रकृति की सुन्दरता को अमरत्व प्रदान कर दिया है। ऋग्वेद की उषा और रजनी के जो मोहक चित्र उन अमर गायकों ने उरेहे हैं वे सभी युगों में आधुनिक बने रहेंगे—

"उषा और रजनी सगी बहनें हैं। बारी-बारी से आती हैं। रंग में पृथक्, पर मन में एक-सी हैं। ज्योंही काली बहन (रजनी) की दृष्टि गोरी बहन (उषा) पर पड़ती है, अपना स्थान बहन के लिए छोड़, वह तत्क्षण कूच कर जाती है।" चेतनरूप में प्रकृति का चित्र कवि ने खींच दिया है। प्रातः और निशा के प्रत्यक्ष रूप, उनके आने-जाने का समय, उनके पारस्परिक सद्भाव और नियमों का पालन,—ये पढ़ते ही बनते हैं।

लांसिलौट हॉगबेन का कहना है कि पाँच या छः सहस्र वर्ष पूर्व मनुष्य चिह्न के रूप में चित्र बनाता था। पुरातन-काल में चित्र के द्वारा ही संदेश भेजे जाते थे। ऐतिहासिक युगों में भी चित्र द्वारा संदेश भेजने की प्रथा प्रचलित थी। (फ्रांस में अगिनकोर्ट Agincourt) के युद्ध में अँगरेजी सेना ने एक मुर्गे और एक लार्ड के चित्र शत्रु-शिविर में भेजे थे। भारतीय इतिहास में नन्द के दरबार में पिंजड़े में बन्द सिंह और सरसों के भेजे जाने की दंतकथा आज भी प्रसिद्ध है। १८५७ के सिपाही-विद्रोह या जन-विप्लव में भी जूता आदि संकेत-चिह्न के द्वारा संदेश भेजे गये थे। देहातों में आज भी लाठी, पगड़ी और जूते-छाते के सहारे घर पर संदेश भेजकर रुपये-पैसे मँगाये जाते हैं।

इजिप्ट, क्रीट तथा मेसोपैटेमिया में संकेत-चिह्न का प्रयोग ५००० वर्ष पूर्व हुआ था। ये संकेत-चिह्न चित्र-लेख के रूप में रहते थे। हागबेन ने अनेक उदाहरण इस प्रकार के चित्र-लेख के संबन्ध में उपस्थित किये हैं।

हमारे देश में चित्रविद्या का प्रमुख उद्देश्य आचार तथा दर्शन के तत्वों का अभिव्यंजन था; पर, पश्चिमी देशों में चित्रकारों का एक दल है जो नग्नचित्र उरेहना पसंद करता है। दूसरा दल सजधजकर चित्र खींचना अपना लक्ष्य समझता है। कुछ ऐसे भी चित्रकार हैं जो समुद्र, पर्वत, नदी, वृक्ष और लता की चित्रकारी में अनुरक्ति रखते हैं। कुछ प्रकृति के भीषण और अशोभन रूपों की चित्रकारी में अनुराग रखते हैं। ऐसे चित्रकार क्रूर कर्म, अपराध, यौन-संबन्ध तथा अश्लील यौन आसनों की चित्रकारी करते हैं। वात्सायन-कामसूत्र में वासनोद्योतक आसनों के उल्लेख हैं। हठयोग में भी अनेक आसनों के चित्र आते हैं, जो आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करते हैं।

चित्रकारों की प्रवृत्तियों के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चित्रकार भी अन्य मनुष्यों की भाँति भिन्न-भिन्न रुचि और प्रवृत्ति रखते हैं। यह सिद्धान्त पूर्वी और पश्चिमी—दोनों देशों के चित्रकारों के प्रति लागू होता है।

चित्रकारी में एक दल चित्रित करने के ढंग को ही महत्त्व देता है। पर चित्रकारी का महत्त्व विषय की अभिव्यक्ति में है। चित्रकारी के दो पक्ष हैं—(१) विषय, (२) विषय को चित्रित करने की प्रणाली। चित्रविद्या को दोनों अंगों की अपेक्षा है। एक के अभाव में दूसरा अधूरा रह जाता है।

चित्रकारों के भी भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय होते हैं। विशिष्ट चित्रकारी में जब एक कलाकार विशेष ख्याति प्राप्त कर लेता है, तब उसके अनेक अनुयायी हो जाते हैं। अतः चित्रविद्या के एक स्कूल का वह प्रवर्त्तक हो जाता है। चित्रित करने का ढंग चित्रकार की प्रतिभा तथा व्यक्तित्व पर अवलम्बित रहता है। चित्रकार को अपना व्यक्तित्व न हो तो वह यंत्र ( मशीन ) समझा जायगा। चित्रकार के लिए भी प्रशिक्षण, अभ्यास और लगन की आवश्यकता होती है। विश्व के सभी चित्रकार प्रतिभावान् होते हैं। चित्रकार प्रकृति के पुजारी होते हैं। वे प्राणियों के चित्र ही नहीं खींचते, वरन् उनके हृद्गत भावों को भी चेहरे पर चित्रित कर देते हैं। सच्चे चित्रकारों की छवियों में मुख-मण्डल पर मुस्कराहट खेलती नजर आती है। वे मानव-प्रकृति की प्रत्येक स्थिति में अपने को डालकर उसके अनुरूप भावों की व्यंजना चित्रपट पर करते हैं। प्रकृति ही उनकी चित्रशाला होती है।

आधुनिक अमेरिकी चित्रकार वर्चफिल्ड के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह प्राचीन भारतीय ऋषियों की भाँति प्रत्येक ऋतु में जो दृश्य उपस्थित होते हैं उनकी चित्रकारी करते हैं। ग्रामों, नगरों, अपराध, हत्या, कृषि, उद्योग, नगर के निशा-जीवन आदि के चित्र भी सफलतापूर्वक प्रस्तुत करते हैं।

भारतीय चित्रकारों के तीन दल इस समय दीख पड़ते हैं—(१) पश्चिमी चित्रप्रणाली के अनुवर्ती, (२) विशुद्ध भारतीय चित्रविद्या के उपासक, (३) पूर्वी और पश्चिमी चित्रकलाओं के बीच समन्वय उपस्थित करनेवाले भारतीय चित्रकार।

जो शुद्ध भारतीय चित्रकारी का अनुसरण करते हैं उनमें कुछ-एक पक्षपात से भी काम करनेवाले चित्रकार हैं। गीता प्रेस, गोरखपुर से प्रकाशित होनेवाले चित्रों में राजस्थानी चित्रकारी से ही काम लिया जाता है। उदाहरण के लिए राम, कृष्ण, सीता, राधा आदि के चित्र जो भागवतपुराण और रामायण में देख पड़ते हैं—वे अवश्य चिन्तनीय हैं। चित्रकारों ने राजस्थानी वेश-भूषा, अलंकारादि से इन्हें चित्रित किया है। यह ठीक ढंग नहीं प्रतीत होता। उपनिषदों में भी हिन्दू-देवताओं के चित्रों में राजस्थानी चित्रकारी की गंध है। देश-काल का ध्यान भी चित्रकार को रखना चाहिए।

अतिपुरातनकाल में जो चित्र खींचे जाते थे उनका साक्षात्कार पर्वत-गुफाओं, प्रस्तर-स्तंभों, चट्टानों आदि पर होता है। आदिम मनुष्य मिट्टी तथा रंगीन धातु (गैरिक) से चित्र बनाता था। मिस्र देश की दीवारों तथा बेबिलोन की मुद्राओं पर भी प्राचीन चित्रकारी के नमूने मिलते हैं।

मोहनजोदाड़ो और हड़प्पा के ध्वंसावशेषों में मिट्टी, पत्थर, ताम्बे आदि की मूर्त्तियाँ मिली हैं। बैल, घोड़े, बाघ, गैंड़े, पीपल के पत्तों की आकृतियाँ भी मिली हैं। ये जन्तु मोहनजोदाड़ो के चित्रकारों के लिए बड़े आकर्षण रखते थे।

चित्र तो पत्थर पर बनाये जाते थे। मिट्टी के और पीछे चलकर ताम्बे तथा लोहे के भी चित्र बनने लगे।

कुछ चित्रकारियाँ पर्वतों की ऐसी कन्दराओं में पाई जाती हैं जहाँ सूर्य का प्रकाश भी नहीं पहुँचता। मनुष्यों का वहाँ रहना भी संभव नहीं। अतः जो चित्रकारी वहाँ दीख पड़ती है, चित्रकार ने दूसरे के कंधे पर बैठकर वह चित्रकारी की होगी या पीठ नीचे कर। कृत्रिम दीपक के प्रकाश में उसे काम करना पड़ा होगा। वे दीपक पत्थर के होते होंगे और उनमें मारे हुए पशुओं की चर्बी तेल का काम करती होगी।

प्रोफेसर गौरडोन चाइल्ड (Gordonchilde) ने गुफा-चित्रकारी के संबन्ध में ऐसे ही विचार अपनी पुस्तक Man makes himself में प्रकट किये हैं।

बौद्धकालीन अजन्ता-गुफा की चित्रकारी या अन्य कन्दराओं में स्थित चित्रकारियाँ महान् श्रम के परिणाम हैं। संकेत-चिह्न, अंक-चिह्न तथा चित्रकारी के चिह्नों के विकास में भारतीय मस्तिष्क सदा अग्रगण्य रहा। उदाहरण के लिए अंक-चिह्नों को लीजिए। भारतीय मस्तिष्क के द्वारा ही अंक-चिह्नों का विकास वैज्ञानिक ढंग से हुआ।

(१) ग्रीस-अंक-चिह्न—I, Δ, H, X—१, १०, १००, १०००

(२) रोमन अङ्क-चिह्न—I, X, C, M—१, १०, १००, १०००

( ३ ) इजिप्ट अङ्क-चिह्न—I, ∩ C, ‡—१, १०, १००, १०००

( ४ ) हिन्दू अङ्क-चिह्न—१, १०, १००, १०००

ग्रीक, रोमन तथा अन्य प्राचीन जातियाँ समग्र अक्षर-चिह्नों को अङ्क-चिह्न व्यक्त करने के लिए समाप्त कर देती थीं । यदि ४३८६ लिखना हुआ तो रोमन MMMMC CCLXXXVI—इतने अक्षर-चिह्नों का प्रयोग करते थे । पर प्राचीन हिन्दुओं के अङ्क-चिह्नों ने विश्व की अङ्क-चिह्न-समस्या सदा के लिए शान्त कर दी ।

चित्रकारी में भी भारतीय मस्तिष्क ने ऐसी-ऐसी यौगिक क्रियाओं के चित्र तैयार किये हैं जो तत्कालीन अन्य जातियों के लिए विस्मय के विषय हैं ।

कर्मकाण्ड में सुविधा के लिए आचार्यों ने प्रतीकरूप में विविध देवों की कल्पना कर ली थी । प्रतीक भी चित्रविद्या का एक रूप ही है । शिव का प्रतीक प्रस्तर-लिंगरूप में, गणेश का प्रतीक गोबर के रूप में, विष्णु का शालिग्राम-प्रस्तर के रूप में, धर्म का वृषभ के रूप में, मृत्यु का सर्प के रूप में कल्पित किये गये हैं ।

इन दिनों अङ्कों का स्पष्टीकरण विशिष्ट रेखाओं के रूप में चित्रों के सहारे होता है ।

# शब्द और उसकी शक्ति

## श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

शब्द की शक्ति की महिमा अवाच्य, अगोचर, अगम्य और सीमा-रहित है । इस शक्ति का मूल्यांकन मनुष्य की बुद्धि और ज्ञान के द्वारा असंभव है । आपने देखा होगा कि मदारी के डमरू की डिम-डिम की आवाज में शब्द की वही शक्ति निहित है, जिसके वशीभूत होकर बन्दर और भालू नाचते हैं एवं एक सुशिक्षित सेवक की तरह आचरण करते हैं । सावन के मनभावन बादलों के गुरु-गंभीर गर्जन सुनकर मयूर, मत्त होकर, पंख फैला देते हैं और आनन्द-विभोर हो थिरकने लगते हैं । लड़ाई के मैदान में बैंड की आवाज पर सैनिकों की भुजाएँ फड़क उठती हैं और क्लीब में भी साहस का संचार हो उठता है । तानसेन के सुरीले कोमल कंठ में स्वर-साधना की यही शक्ति थी जिसके 'मेघ-मलार' पर कजरारे मेघ पानी बरसा देते थे और 'दीपक राग' के उद्दीपन से हर्म्यों की दीपमालिका दीपित हो उठती थी । कहते हैं, कृष्ण की वंशी के मधुर स्वर में तो वह जादू था कि नर-नारी को कौन कहे, पशु भी दौड़ पड़ते थे और वृन्दावन के गुल्म-द्रुम झूम उठते थे । बीन के मादक-मोहक स्वर के आगे मतवाले गजेन्द्र और मनियारे सर्प मंत्रमुग्ध हो झूमने लगते हैं तथा वन-मृग मोहित हो स्वयं आगे आकर प्राण गँवा देते हैं । इसी शब्द-शक्ति के सहारे सूर्य, अग्नि, इन्द्र, वरुण, दुर्गा, शिव तथा ग्रह-उपग्रहों को प्रसन्न करके मनोवांछित् फल प्राप्त किया जाता है । इसी बात को लेकर तुलसीदास ने 'राम' शब्द की शक्ति की अमित महिमा गाई है । वह शब्द की ही शक्ति थी जिसके चलते 'वृत्रासुर' इन्द्र के नाश के लिए 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' जपता हुआ, स्वरभेद के कारण, स्वयं नष्ट हो गया । शब्द की यही शक्ति मनुष्य के अन्दर घृणा, द्वेष, क्रोध, ईर्ष्या, प्रेम, आनन्द

भक्ति, श्रद्धा, विश्वास आदि भर देती हैं। इसी के चलते मनुष्य अपना मस्तक दे देता है और दूसरे का उतार लेता है। हिटलर के एक भाषण पर सम्पूर्ण जर्मनी खौल उठता था। इसी शब्द-शक्ति के सहारे चाटुकार बड़े-बड़े ज्ञानियों, विद्वानों और सम्राटों को मूर्ख बनाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। आज के वैज्ञानिक भी अब इस शब्द-शक्ति के बल पर हर दिशा में आश्चर्यजनक करतब दिखाने लग गये हैं। यहाँ मैं इसी शब्द-शक्ति के सम्बन्ध में कुछ विवेचन करना चाहता हूँ।

**सृष्टि और शब्द**—भारतीय शास्त्रों में इस शब्द-शक्ति का अत्यन्त विशद और विस्तृत विवेचन हुआ है। केवल संस्कृत का व्याकरण-शास्त्र ही भाषा-दर्शन और भाषा-विज्ञान का भारी भांडार है। इसके अतिरिक्त तंत्र-शास्त्र और निरुक्त एवं पुराणों में भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। वेदों तथा उपनिषदों में भारतीय ऋषियों ने इसपर काफी मनन किया है। इन ग्रन्थों में कहा गया है कि मानव का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि का जीवन शब्द-तत्त्व की ग्राहकता पर अवस्थित है। भर्तृहरि के 'वाक्यपदीय' के एक श्लोक में बतलाया गया है कि—"शब्द-ब्रह्म ही अपनी शक्ति से सृष्टि को निबद्ध और संबद्ध किये हुए है। शब्द की मात्राओं से ही सृष्टि अपने विवर्त्तरूप में दृष्टिगोचर होती है तथा प्रलयावस्था में वही अर्थतत्त्व ( सृष्टितत्त्व ) शब्दतत्त्व में लीन हो जाता है।"[1] इसलिए समग्र सृष्टि के जीवन के लिए जिस तरह हवा, पानी, रोशनी और भोजन (पृथ्वी-तत्त्व) की आवश्यकता है, उसी तरह और उतनी ही मात्रा में उसके लिए शब्दतत्त्व की भी उपादेयता है। शब्द के विना निखिल सृष्टि गतिशून्य है, यहाँ तक कि शून्य आकाश जो तत्त्वों में से एक तत्त्व है, वह भी शब्द के विना निस्तत्त्व हो जायगा। आज कुछ लोग आकाश को कोई तत्त्व नहीं मानते और शब्द की उत्पत्ति, वायु के स्पन्दन का ही प्रतिफल, मानते हैं, वे यह बात, पता नहीं, कैसे भूल जाते हैं कि स्वयं वायु का अस्तित्व आकाशतत्त्व पर निर्भर है; क्योंकि जहाँ आकाश नहीं है, वहाँ वायु की सत्ता विद्यमान नहीं रह सकती। जल में जो वायु का अस्तित्व है, वह तो उसके समवायी कारण का परिणाम है और द्रवता के कारण आकाशतत्त्व का बाधक नहीं है; अन्यथा जलचरों में गतिशीलता नहीं दीख पड़ती। इस विषय का स्पष्ट विवेचन निरुक्तकार यास्क ने बहुत पहले किया है और बतलाया है कि वाक्तत्त्व का लक्षण अथवा स्वरूप आकाश ही है। यास्क का कहना है कि—"प्रतिभा (वाक्तत्त्व) सम्पूर्ण 'लक्षणों' से परे है। वह महान् आत्मा है। उसका परिचय 'अस्ति' कहकर ही प्रकट किया जा सकता है। उसी को परमतत्त्व, ब्रह्म, सत्य, सलिल, अव्यक्त, अस्पर्श, अरूप, अरस और अगन्ध कहते हैं। वह अमृत (अक्षर) और शुक्ल है। वह समस्त पंचतत्त्वों की आत्मा का जनक है। उसी को भूत प्रकृति और क्षेत्र कहते हैं। उसी के जाननेवाले क्षेत्रज्ञ हैं। वही सत्त्व, रजस् और तमस् भेद से त्रिविध रूपवाली आत्मा है। उसका सत्त्वगुण विशुद्ध रूप है और यह उसके

---

१. ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥
—वाक्यपदीय १-२

मध्य में निर्लिप्त रूप से स्थित है। उसके चारों तरफ रजस् और तमस् विद्यमान रहते हैं। उस महान् आत्मरूपी प्रतिभा का निश्चित स्वरूप आकाश ही है।"[1]

इन पंक्तियों के साथ मेरा कथन है कि शब्द-शक्ति की दृढ़ धुरी पर ही हमारा साहित्यिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, भौगोलिक, ऐतिहासिक, वैज्ञानिक आदि विषय विद्यमान हैं, और इन सबसे घनिष्ठ सम्बन्ध बनाये रखनेवाले प्राणिमात्र का जीवन अवलम्बित है। "शब्द-शक्ति की महिमा विशाल सागर की तरह सीमाहीन है और उसकी अगाध जल की तरह इसकी भी अगाधता अगम्य है एवं क्षय होनेवाली नहीं है।"[2] शब्द की विशेषता अवाच्य और अबोध्य है; क्योंकि "इसी के द्वारा अनुभूति, अभिव्यक्ति, संकल्प और तत्त्व-ज्ञान प्राप्त किया जाता है।"[3] ऋत्, सत्य और तपस्-करण का यही कारण है। इसलिए इसके विवेचन, विश्लेषण और वर्णन में बुद्धि असमर्थ है। यह बतलाया नहीं जा सकता और न इसका स्वरूप ही प्रकट किया जा सकता है। इन उपर्युक्त बातों के समर्थन में आपका ध्यान शब्द की व्यावहारिकता की ओर आकर्षित कर रहा हूँ। थोड़ी देर के लिए इसकी अलौकिक सत्ता को छोड़ दीजिए। आप जरा सोचें कि जिस दिन शब्द का अस्तित्व समाप्त हो जायगा, उस दिन सृष्टि का अस्तित्व क्या होगा? सृजन-क्रिया तत्क्षण समाप्त हो जायगी और सृष्टि का विकास बिलकुल ही अवरुद्ध हो जायगा। आप कल्पना करें कि यदि किसी दिन कोष, व्याकरण, चिकित्सा, विज्ञान, अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों के शब्द समाप्त कर दिये जायँ और श्रेष्ठ जन व्यावहारिक शब्दों का कथन बन्द कर दें, तो उस दिन इस सृष्टि का क्या होगा। मेरा तो कहना है कि सभी ज्ञान, ग्रन्थों के रहते हुए भी, मानव केवल गूँगा भर हो जाय, उसी दिन विकास की सारी क्रिया लुप्त हो जायगी। इसी तरह यदि सम्पूर्ण तत्त्वों से स्फोट-शक्ति नष्ट हो जाय तो उसी क्षण प्रलय हो जायगा और फिर कभी सृष्टि की प्रक्रिया चले ही नहीं। इसलिए सृष्टि के सारे तत्त्वों में शब्द-शक्ति विद्यमान है और सभी तत्त्व शब्द-शक्ति पर आधारित हैं। यही बात 'ऋग्वेद' भी कहता है—"वाग् तत्त्व सहस्रों प्रकार से सर्वत्र व्याप्त है। जितनी दूर तक और जहाँ तक द्युलोक और पृथिवी प्रतिष्ठित है, उतनी दूरतक और वहाँ तक वाक्शक्ति प्रतिष्ठित है। यहाँ तक कि जहाँ तक ब्रह्म व्याप्त है, वहाँ तक वाक्तत्त्व भी व्याप्त है।"[4] वह कहता है—"वाक्तत्व चेतनों की तरह अचेतनों में भी व्याप्त है और अचेतन भी इसका उपयोग चेतनों की तरह ही करते हैं।"[5] इस वेद-वाक्य को डाक्टर

---

१. अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद्ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूपं तदरसं तदगंधं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येकम्। तत्क्षेत्रं तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकम्। अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति। सत्त्वं रजस्तम इति। सत्त्वं तु मध्ये विशुद्धं तिष्ठति। अभितोरजस्तमसी इति। प्रतिभाऽतिलिङ्गो महानात्मा॥ अपि निश्चयलिङ्ग आकाश इति।—निरुक्त, १३, १६–१७

२ वाग् वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते।—ऐतरेय ५।१६

३ वाग् वै मतिः वाचा हीदं सर्वं मनुते।—शतपथ—८।१।२।७

४ ऋग्वेद—१०।११४।८ ५ ऋग्वेद—८।१००।१०

ओस्कर ब्रनलर ने अपने पचीस वर्षों के अध्यवसाय के बाद समझा और उसने कहा—"पर्वतों, वृक्षों, वनस्पतियों आदि के अन्दर स्फोट की क्रिया ने मुझे इस निर्णय पर पहुँचाया है कि पृथ्वी के प्रत्येक पदार्थ में शब्द-प्रवाह चालित है। ऐसी अवस्था में असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य के मस्तिष्क में भी प्रतिक्षण स्फोट-क्रिया होती रहती है।" इसलिए सृष्टि का मूलाधार शब्द-तत्त्व है जिसका परिचय यास्क के मतानुसार आकाश ही है।

**शब्द का स्वरूप**—वैशेषिक दर्शन के अनुसार उसके चौबीस गुणों में से शब्द एक गुण है।[1] सांख्यदर्शन के अनुसार शब्द एक तन्मात्रा है,[2] जिससे सृष्टि की प्रक्रिया चलती है और उसके पचीस तत्त्वों में एक तत्त्व है। वैदिक विचारों के अनुसार सृष्टि के परम तत्त्व आकाश का शब्द विवर्त्त रूप है।[3] इसीलिए आकाश और शब्द में अभेद सम्बन्ध बताते हुए ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा गया है कि "ऋचा-अक्षर ही व्योम है जिसमें समस्त तत्त्व और विभूतियाँ समाविष्ट हैं और वही अक्षर व्योम वेद की संपूर्ण ऋचाओं में व्याप्त हैं।"[4] शब्द आकाश का विवर्त रूप है, इसको उपनिषद् भी दुहराती है—"शब्दः खे पौरुषं नृषु।" अर्थात् जिस तरह नरों में पुरुषत्व व्याप्त है, उसी तरह आकाश में शब्द है। इस मानी में शब्द एक जाति है—एक अवच्छेदक धर्म है। नैयायिक भी शब्द को आकाश का गुणमात्र ही मानते हैं और वे कहते हैं कि शब्द अनित्य है, उसका तृतीय क्षण में ही ध्वंस हो जाता है। किन्तु भाष्यकार पतंजलि ने इन मतों पर शंका प्रकट की है कि अगर शब्द द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति है तब तो पाणिनि को "अथ शब्दानुशासनम्" सूत्र में 'अथ द्रव्यानुशासनम्, अथ गुणानुशासनम्, अथ क्रियानुशासनम् अथवा अथ जात्यनुशासनम् कहना चाहिए था। इसलिए पाणिनि के अनुसार द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति के अतिरिक्त कोई शब्द-सत्ता है। इसका स्पष्टीकरण नागेश और कैयट ने किया है और कहा है कि "वह सत्ता जिसे शब्द कहते हैं और जिससे अर्थ का बोध होता है, वह और कुछ नहीं, स्फोट है, जो द्रव्य, गुण, क्रिया और जाति से अतिरिक्त है। वह नित्य है और उसकी अभिव्यक्ति नाद (ध्वनि) के द्वारा होती है।" पतंजलि स्फोट से अतिरिक्त लोक-प्रचलित ध्वनि को भी शब्द कहते हैं जिससे अर्थ का बोध होता है-"अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तस्मात् ध्वनिः शब्दः।" इससे स्पष्ट है कि भाष्यकार के मतानुसार स्फोट और ध्वनि भी परस्पर भिन्न हैं। वह स्फोट को ही शब्द मानते हैं और ध्वनि को शब्द का व्यंजक कहते हैं। ध्वनि की लघुता और दीर्घता के कारण ही हम शब्द के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित का बोध करते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिकों की तरह कुछ प्राचीन विचारकों ने भी वायु को ही शब्द माना है। वे कहते हैं कि वायु ही शब्दरूप को प्राप्त करती है। ऐसे विचारकों में शिक्षाकार

---

१. आकाशस्य तु विज्ञेयः शब्दो वैशेषिको गुणः।—भाषापरिच्छेद
२. रूपरसगन्धस्पर्शशब्दा इति तन्मात्राः।
३. आकाशाद् वायुर्वायोरापोऽद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या अन्नं तस्मात् प्रजाः।
४. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः। ऋग्—१,१६४,३९

और प्रातिशाख्यकार प्रमुख हैं। उनका कहना है कि वक्ता जब शब्द-प्रयोग की इच्छा करता है तब इच्छानुकूल चेष्टा करने पर प्राणवायु में क्रिया उत्पन्न होती है। उस शब्द-जनक और प्रयत्नपूर्वक चालित वायु का जब कण्ठ, तालु आदि स्थानों में घर्षण होता है तब वही वायु शब्द तथा वर्ण का रूप धारण कर स्फुटित होती है। इन्हीं बातों के आधार पर शुक्लयजु:प्रातिशाख्य कहता है—"वायुः खात् शब्दस्तत्।" यानी आकाश से वायु और वायु से शब्द बने हैं। भर्तृहरि ने इन मतों के अतिरिक्त जैन-दर्शन के अनुसार वायु को शब्द कहा है; पर उन्होंने वैयाकरणों के मतानुसार ज्ञान को ही शब्द कहा है।[1]

**शब्द का ब्रह्मरूप**—बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार वाक्तत्त्व ही सृष्टि का सम्राट् है, वही परमब्रह्म है—"वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म।" इसीलिए अनेक मनीषियों ने शब्द को ब्रह्म की तरह अनादि, अनन्त, नित्य और विभु माना है। भर्तृहरि ने भी कहा है कि—"शब्दब्रह्म आदि और अन्त से रहित है, अक्षर है। शब्द ही अर्थरूप में विवर्त होता है जिससे सम्पूर्ण संसार का कार्य-संचालन होता है।[2] अग्निपुराण के अनुसार भी शब्द अक्षर है, वह परमब्रह्म है, सनातन है, अजन्मा और विभु है। इसी शब्दतत्त्व को वेदान्तों में चैतन्यरूप, प्रकाशमान् ईश्वर कहा गया है।[3] गीता ने इन्हीं सबका सारांश लेकर लिखा है—"ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।" अर्थात् "एक अक्षरवाला ॐ ही ब्रह्म है और जो इसका व्यवहार करते तथा मुझे स्मरण करते हुए शरीर त्याग करता है, वह परमधाम को प्राप्त करता है।" ऐसे ब्रह्मस्वरूप शब्द के अनादित्व, सर्वव्यापकत्व और नित्यत्व के सम्बन्ध में किसी को क्या शंका हो सकती है? हमें स्मरण रखना चाहिए कि शब्द-तन्मात्रा के विवर्त्तरूप आकाश में कोई अन्य गुण नहीं है, केवल एक शब्द ही है। अतएव शतपथब्राह्मण में शब्दतत्त्व को मनस्तत्त्व से भी सूक्ष्म कहा गया है[4] और मन की शक्ति से भी शब्द-शक्ति को तीव्र कहा गया है। इसी आधार पर यजुर्वेद ने अपनी एक ऋचा में कहा है कि "अनेजदेकं मनसो जवीयः।" ये सारी विशेषताएँ शब्दगुणक आकाश की ही हैं। आकाश के अतिरिक्त पंचतत्त्वों में से कोई दूसरा ऐसा तत्त्व नहीं है जिसमें केवल एक ही गुण हो। अतः शब्द नित्य, अनादि, अनन्त, विभु और सबमें व्याप्त रहनेवाला ब्रह्म है। ऐसा दूसरा कोई महाभूत नहीं, क्योंकि सबका तो कारण शब्दतन्मात्रा गुणवाला वह आकाश ही है।[5]

---

१. वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।—वाक्यपदीय १, १०७

२. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
   विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः।—वाक्यपदीय

३. अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्।
   वेदान्तेषु वदन्त्येकं चैतन्यं ज्योतिरीश्वरम्।—अग्निपुराण ३३८,१

४. वाग्वै मनसो ह्रसीयसी।—शतपथ, १,४,४,७

५. आकाशं प्रथमं भूतं श्रोत्रमध्यात्ममुच्यते।
   अधिभूतं तथा शब्दो दिशस्तत्राधिदैवतम्॥—महा० ४२।१८

आकाश से जो दूसरी वस्तु उत्पन्न हुई, वह वायु थी। जहाँ आकाश में केवल एक गुण शब्द है, वहाँ वायु में शब्द और स्पर्श—दो गुण विद्यमान हैं। वायु के बाद तीसरा तत्त्व अग्नि हुआ, इसलिए अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप—तीन गुण निहित हैं। अग्नि के बाद जल उत्पन्न हुआ, इसलिए जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस—ये चार गुण सन्निहित हैं। इन चारों तत्त्वों के बाद पृथ्वी की सृष्टि हुई, इसलिए शब्द, स्पर्श, रूप और रस के अतिरिक्त पाँचवाँ गुण 'गन्ध' भी उसमें अन्तर्भूत हुआ।[1] उपर्युक्त तत्त्वों में आपने देखा कि एक 'शब्द' ही ऐसा गुण है, जो ब्रह्म की तरह सभी तत्त्वों में व्याप्त है और सबका वही आदि कारण है। सारी सृष्टि उसीका विवर्त्त रूप है। इसलिए शब्द नित्य, अजन्मा, अक्षर, सर्वव्यापक और विभु कहा जाता है। सारी सृष्टि इसीका विवर्त्त रूप है और अन्त में समग्र सृष्टि इसीमें लीन होती है—"विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते।"

इस शब्द-ब्रह्म के सम्यग् द्रष्टा हमारे कवि थे। उत्तररामचरित नाटक के अन्तिम श्लोक में महाकवि भवभूति ने इसका समर्थन करते हुए लिखा है कि शब्द-ब्रह्म को जाननेवाले मनीषी कवि की वाणी पर विद्वान् लोग विचार करें—"शब्दब्रह्मविदः कवेः परिणतां प्राज्ञस्य वाणीमिमाम्।" इसी नाटक के द्वितीय अंक में आत्रेयी कहती हैं—"महर्षि वाल्मीकि ने जब तमसा के तट पर क्रौंच-मिथुन में से एक को व्याधा द्वारा वध करते हुए देखा, जिसके फलस्वरूप महर्षि के कण्ठ से 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' के रूप में वाणी प्रस्फुटित हुई तब पद्मयोनि ब्रह्मा प्रकट हुए और उन्होंने प्रसन्न होकर कहा—"ऋषे, प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि तद् ब्रूहि रामचरितम्।" और तब—"ख-भगवान् प्राचेतसः प्रथमं मनुष्येषु शब्द-ब्रह्मणस्तादृशं विवर्त्तमितिहासं रामायणं प्रणिनाय।" इन बातों के द्वारा भवभूति ने अपने नाटक के साथ-साथ यह भी प्रतिपादन किया है कि महर्षि वाल्मीकि-रचित रामायण उसी नित्य, विभु, सर्वव्यापक शब्द का विवर्त्त-रूप है। भाष्यकार पतंजलि ने भी शब्द-ब्रह्म के प्रतिपादन में ऋग्वेद के एक मंत्र[2] को उद्धृत करते हुए लिखा है कि उस मंत्र में शब्द-ब्रह्म का ही विवेचन है। उसमें कहा गया है कि 'चत्वारि शृंगाः'—अर्थात् शब्दरूपी ब्रह्म के चार सींग हैं और वे सींग हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। 'त्रयोऽस्य पादाः'—उसके तीन पैर हैं, यानी भूत, वर्त्तमान और भविष्यत्—ये तीन काल ही उसके तीन पैर हैं। 'द्वे शीर्षे', उसके दो सिर हैं, यानी सुबन्त और तिङन्त दो सिर हैं। 'सप्तहस्तासोऽस्य'—अर्थात् सातों विभक्तियाँ ही उसके सात हाथ हैं। 'त्रिधा बद्धः'—यानी हृदय, कण्ठ और मस्तक, इन तीनों के संस्पर्श से उच्चरित होने के कारण शब्द-ब्रह्म तीन प्रकार से बद्ध है।

---

१ आकाशगुणः शब्दः। आकाशाद् वायुर्द्विगुणस्पर्शेन। वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणः रूपेण। ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन। अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः। तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति।—निरुक्त-१३,१७

२ चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यां आविवेश॥—ऋग्वेद-४-५८-३

'वृषभो रोरवीति'—यानी शब्द वृषभ है—कामना-वर्षणकारी और विवर्तरूप से यह प्रपंच करता है। 'महादेवो मर्त्यां आविवेश' अर्थात् ऐसा शब्दरूपी महादेव सारी सृष्टि में सन्निहित है। इसीलिए भाष्यकार इसके सम्बन्ध में पुनः लिखते हैं कि "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति।" अर्थात् नित्यरूप शब्द को यदि ठीक से जाना गया हो और उसका ठीक-ठीक प्रयोग होता हो तो वह निश्चित रूप से स्वर्ग और लोक, दोनों जगहों में कामधेनु की तरह इच्छित फलदायक होता है। इसीलिए कवियों द्वारा उचित सुप्रयुक्त शब्द में इसका परिपाक होता है और वही रस ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा जाता है। इन्हीं कारणों से कवियों की इतनी बड़ी महिमा गाई गई है; क्योंकि शब्द-ब्रह्म के वे साक्षात् द्रष्टा होते हैं। अग्निपुराण कहता है कि—"ब्रह्म की तरह शब्द का स्वाभाविक गुण आनन्द है जो कभी-कभी अभिव्यंजित होता है, उसी आनन्द की अभिव्यक्ति को चैतन्य, चमत्कार या रस नाम से पुकारते हैं। उसके प्राथमिक विकार को ही दर्शन की भाषा में अहंकार कहा गया है और उससे उत्पन्न ममत्व में ही सारी सृष्टि का लय होता है। उस ममत्व से ही परिपोषित होकर रति प्रकट होती है तथा वही रति व्यभिचारी आदि भावों से पुष्ट होकर शृंगार आदि रस के नाम से अभिहित होती है।"[1] तब ऐसे आनन्दमय ब्रह्मरूप शब्द के द्रष्टाओं और उपासकों के लिए परमपद प्राप्त करने का अधिकार ध्रुव है।

**शब्द के विविध नाम और रूप**—'शब्द' की परिभाषा और विवेचन के लिए हमें कोषों, प्राचीन शास्त्रों तथा अपने ज्ञानार्जित अनुभवों का आश्रय लेना पड़ेगा। कोषों में इसके जो पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, वे ये हैं—निनाद, निनद, निस्वन, स्वन, स्वान, ध्वान, निःस्वान, ध्वनि, रव, राव, आरव, आराव, विराव, संरव, संराव, नाद, निर्ह्लाद, घोष, निर्घोष[2] आदि। इन पर्यायवाची शब्दों पर ध्यान दीजियेगा तो स्पष्ट इनमें सूक्ष्म विभेद मालूम होगा। किन्तु यही शब्द जब ज्ञानमय अर्थ का प्रतिपादक होता है तब इसका नाम—ब्राह्मी, भारती, भाषा, गीः, गिरा, वाणी और सरस्वती हो जाता है। यही जब कण्ठ-मस्तकादि अवयव के व्याघात से उच्चरित होकर अर्थ का प्रतिपादन करता है तब—उक्ति, लपित, कथित, कथन, भाषित, भाषण, वचन और वचस् नाम से व्यवहृत होता है। साथ ही जब यह तोड़-मरोड़कर या घृणोत्पादक रूप में व्यक्त होता है, तब अपभ्रंश तथा अपशब्द के नाम से अभिहित होता है। शब्द के स्वरूप, अर्थ, ध्वनि काल के प्रवाह में घिसती हैं, बढ़ती हैं तथा बदलती हैं; पर नित्य शब्द का क्षरण नहीं होता है। यही शब्द विभिन्न परिस्थितियों तथा वक्ताओं के तात्पर्य के अनुसार अपने अनेक नामों

---

१ आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन। व्यक्तिः सा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया॥
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः। ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्॥
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी। व्यभिचार्यादिसामान्याच्छृंगार इति गीयते॥
—अग्निपुराण ३३८।२-४

२. शब्दो निनादनिनदध्वनिध्वानरवस्वनाः
स्वाननिर्घोषनिर्ह्रादनादनिस्वाननिस्वनाः।
आरवारावसंरावविरावाः।—अमरकोश

और नाना रूपों के साथ हमारे सामने अवतरित होता है। यही शब्द कहीं तो वाग्देवता का रूप धारण करके अपनी परम पावनता के साथ हमारे मस्तिष्क और हृदय को पूत-परिप्लावित कर देता है और कहीं अपने विद्रूप स्वरूप तथा अर्थ के कारण हमारे मन में घृणा, क्रोध तथा जुगुप्सा भर देता है और हृदय में ऐसा व्रण पैदा कर देता है जिसका मवाद कभी सूखता ही नहीं। मानव ने अपने जीवन और दैनिक कार्यों को व्यवस्थित करने के लिए तथा हर्ष, द्वेष, क्रोध, ममत्व आदि एवं अनेक स्वार्थ-साधन के लिए ध्वनि आदि का अनुकरण कर अनेक नाम-रूपों के साथ शब्दों का निर्माण किया है और करते जा रहे हैं। इनके प्रमाण अनेक कोष-ग्रन्थ तथा विविध बोलियों के करोड़ों शब्द हैं। इस तरह शब्द के नाम और रूप भी ब्रह्म की तरह अगेय और अबोध्य हैं।

महाभारत के अश्वमेधपर्व में व्यासदेव ने शब्द को दस भागों में बाँटा है। उनके अनुसार ये दस भेद हैं—षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, निषाद, धैवत, इष्ट, अनिष्ट और संहत।[1] सृष्टि के सभी तरह के शब्दों का समावेश इन भेदों के अन्दर है। इन भेदों का विस्तृत विवेचन संगीतशास्त्र में किया गया है। इनमें प्रथम सात भेद स्वर के भेद हैं।[2] इन्हीं भेदों के प्रथम अक्षरों के सांकेतिक नाम पर संगीत के स र ग म प ध नि—ये सात स्वर बने हैं। संगीतशास्त्र में ध्वनि को ही नाद कहा गया है और गाया गया है—"नाद उदधि अथाह।" लघुमंजूषाकार नागेश ने तांत्रिक मतों के अनुसार नाद को चित्-अचित्-मिश्रित माना है। उनका कहना है कि मायावृत्ति से विन्दुरूपी त्रिगुणात्मक अव्यक्त उत्पन्न होता है और इसी को शक्ति कहा गया है। इसके तीन भाग हैं—बीज, नाद और विन्दु। चित् अंश विन्दु है, चिदचित् अंश नाद है तथा अचित् अंश बीज है। उनके अनुसार अचित् रूप बीज से शब्द और अर्थ के संस्काररूप अविद्या का ग्रहण है, विन्दु से शब्द-ब्रह्म का और नाद से वर्णादिविशेष-रहित, ज्ञानप्रधान सृष्टि की उपयोगी अवस्था विशेष चेतना का। यही सृष्टि का उपादान कारण है। इसीको 'रव' तथा 'परा' कहते हैं। इसी 'रव' या 'परा' नामक नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं—

विन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते॥

**शब्द की परिभाषा और भेद**—ऐसे महिमामंडित शब्द की परिभाषा है—"कानों के द्वारा ग्रहण किया जानेवाला गुण पदार्थ।[3] शब्द दो तरह के होते हैं—श्रोत्रात्मक और वर्णात्मक; अर्थात्—कान से सुना जानेवाला और वर्णों में उच्चरित

---

१. षड्जर्षभः स गान्धारो मध्यमः पंचमस्तथा।
अतः परं तु विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा॥
इष्टश्चानिष्टशब्दश्च संहतः प्रविभागवान्।
एवं दशविधो ज्ञेयः शब्द आकाशसम्भवः॥ —महा०, अश्व०—५०। ५२-५३

२. निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः।
पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः।—अमरकोश

३. श्रोत्रग्राह्यो गुणपदार्थविशेषः शब्दः।

होनवाला । जैसे किसी वस्तु के गिरने की आवाज, पशु-पक्षियों की बोली, वाद्यों पर किये गये आघात और हृदय, कंठ आदि के संयोग से उत्पन्न होनेवाले स्वर अथवा वर्ण।[१] किन्तु पतंजलि ने उक्त परिभाषा के अतिरिक्त महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में शब्द का लक्षण यह लिखा है—"श्रोत्रोपब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः ।" यानी जिसकी उपलब्धि श्रोत्र द्वारा, ग्रहण बुद्धि द्वारा, अभिव्यक्ति उच्चारण द्वारा हो और जिसका स्थान आकाश हो, वही शब्द है । इससे स्पष्ट है कि प्रथम परिभाषा दोनों प्रकार के शब्दों के लिए है; पर पंतजलि की परिभाषा सिर्फ वर्णात्मक शब्द के लिए ही है । वर्णात्मक शब्द में भी दो भेद हैं—सार्थक और निरर्थक । जैसे—डित्थ, डवित्थ हवित्थ निरर्थक हैं और पाद्य, पुष्प, पवन सार्थक हैं । अर्थात् जिन शब्दों से हमारा काम नहीं चलता और जिन्हें हम समझ नहीं सकते, वे निरर्थक कहलाते हैं और जो हमारे लिए उपयोगी हैं, वे सार्थक कहलाते हैं । किन्तु ऐसा कथन युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता; क्योंकि यदि कोई अपने लड़के का नाम डित्थ, डवित्थ या हवित्थ रख देता है—जैसे एक राजा का नाम था 'कनिष्क' तो ऐसे शब्द भी सार्थक हो जाते हैं । किन्तु इससे भी बड़ा अनर्थ तो तब होता है जब कोई मेघ या सागर-गर्जन को अथवा पशु-पक्षियों की बोली को निरर्थक मानते हैं । ऐसे लोग नित्य, सर्वव्यापक, अक्षर, अनादि, अनन्त शब्द को समझने में असमर्थ होते हैं । अक्सर हम ऐसी भूल इसलिए करते हैं कि ऐसे शब्द हमारे जीवन के उपयोगी नहीं होते हैं; किन्तु यह तो हमारे सीमित ज्ञान और समझ के दोष हो सकते हैं । यदि उपयोगिता की ही केवल बात मानी जाय तो प्रत्येक अनजान विदेशी शब्द भी निरर्थक हो जायँ अथवा वेदों के कठिन शब्द भी उसी कोटि में आ जायँ । हम विदेशी संगीतों की मधुरिमा की, पशु-पक्षियों की कूजन तथा भ्रमरों की झंकार की अथवा वाद्यों की आवाज की उपयोगिता को कैसे बाद दे सकते हैं । और, अब तो हम रेडियो, ग्रामोफोन, टेलीफोन, टेलीग्राफ आदि अचेतन यंत्रों के उपयोगी शब्दों की उपयोगिता से कभी इनकार नहीं कर सकते । वस्तुतः यदि शब्द भाव-व्यंजक हैं और मनोविकार के व्यक्त करने के साधन हैं, तो उस श्रोत्रात्मक शब्द के निरर्थक होने की बात कभी बुद्धि में आ नहीं सकती । जब भूकम्प और बादलों की गड़गड़ाहट, हवाई जहाज और समुद्र के गर्जन, रेलगाड़ी की धड़धड़ाहट आदि शब्द तथा बनैले जानवरों की दहाड़ हमारे मन में भय, आशंका, आश्चर्य और औत्सुक्य भरती हैं तथा उत्तेजित करती हैं एवं कोयल की कूक, सितार के तार की झंकार, भौरों के गुंजार हमारे मन में आनन्दातिरेक प्रकट करते हैं, तब वे निरर्थक किस तरह हो सकते हैं । कवि-प्रयुक्त काव्यगत शब्दों का भी तो इसी तरह पाठकों की भावना से साधारणीकरण होकर हर्ष, आश्चर्य, औत्सुक्य आदि संचारी भावों का प्रकटीकरण होता है । अतः केवल श्रोत्रात्मक शब्द भी निरर्थक नहीं हैं, क्योंकि वे उपयोगी हैं । अस्तु ! श्रोत्रात्मक और वर्णात्मक—दोनों प्रकार के शब्द आकाश के ही गुण हैं[१] और ये श्रोत्र के द्वारा ही ग्रहण किये जाते

---

१. शब्दो ध्वनिश्च वर्णश्च मृदंगादिभवो ध्वनिः ।
कण्ठसंयोगादिजन्या वर्णास्ते कादयो मताः ॥

हैं। इस सम्बन्ध में हमको जान लेना चाहिए कि हमारी इन्द्रियाँ असम्बद्ध विषयों को कभी ग्रहण नहीं करतीं। जो इन्द्रिय जिस तत्त्व की बनी है, वही उस तत्त्व को ग्रहण कर सकती है। कान में विद्यमान आकाशतत्त्व को ही श्रोत्र कहते हैं, अतः उसी के द्वारा शब्द की उपलब्धि होती है। श्रोत्रात्मक और वर्णात्मक, दोनों प्रकार के शब्दों के सम्बन्ध में पूर्वाचार्यों ने विस्तृत विवेचन और विश्लेषण किया है। जहाँ महावैयाकरण पाणिनि ने वर्णात्मक शब्द का अत्यन्त सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है, वहाँ पतंजलि और भर्तृहरि ने दोनों प्रकार के शब्दों का विश्लेषण पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। किन्तु श्रोत्रात्मक शब्द का विश्लेषण अभी तक जारी है जिससे आगे के युग में अनेक आश्चर्यमय दृश्य उपस्थित होंगे।

❀

# कामायनी का ऐतिहासिक आधार

**श्री दिनेश्वर प्रसाद**

प्राचीन इतिहास के प्रति प्रसाद के मोह से हम अपरिचित नहीं। उनके अधिकांश नाटकों और कामायनी का आधार यही रहा है। परंतु कामायनी सम्पूर्ण प्रसाद-साहित्य में सबसे दुस्साहसिक प्रयत्न है, क्योंकि इसके आधाररूप में काल का जो खण्ड चुना गया है वह ऐतिहासिक न होकर प्रागैतिहासिक है, और इस सीमा तक प्रागैतिहासिक कि वहाँ अनुमान को भी सहम-सहमकर पाँव रखना पड़ता है। इस दृष्टि से 'करुणालय' उनकी समस्त कृतियों में एक और अपवाद है, क्योंकि इसमें जिस शुनःशेप की कथा कही गई है वह वैदिक पात्र है। ऋग्वेद (१,२४,१२-१३) में वरुण की प्रार्थना करते हुए ऋषि कहता है—"जिसकी प्रार्थना पाश में बँधे हुए शुनःशेप ने की, वही महान् वरुण राजा मुझे मुक्त करेंगे। क्योंकि एक बार तीन खंभों में बँधे हुए शुनःशेप ने आदित्य से साहाय्य की प्रार्थना की थी। वरुण राजा मुझे भी मुक्त करें....।" इसी प्रकार अग्नि की प्रार्थना करते हुए वैदिक ऋषि शुनःशेप का स्मरण करता है—"हजारों खम्भों में बँधे हुए शुनःशेप को तुमने मुक्त किया, क्योंकि उसने तुम्हारी प्रार्थना की। हे देव, हमारे पाशों को भी दूर करो।" परन्तु शुनःशेप की कथा की स्पष्ट रूपरेखा परवर्त्ती वैदिक साहित्य में मिल जाती है और प्रसाद को इसके उपयोग में कोई कठिनाई नहीं हुई। कामायनी के कथानक का वृत्त बहुत बड़ा है और यह काल की उस सीमा तक पहुँचता है जहाँ अनुमान की भी शक्ति निःशेष हो जाती है। वैदिक कथाओं की प्राचीनता का अनुमान इसीसे किया जा सकता है कि ईस्वी-पूर्व सात-आठ सौ के आसपास ही इनकी व्याख्या करनेवाले अनेक सम्प्रदाय विकसित हो चुके थे। उनमें ऐतिहासिक जहाँ इन्हें ऐतिहासिक घटनाएँ मानते थे, वहाँ निरुक्तकार यास्क आध्यात्मिक-अर्थगर्भित रूपक। यहाँ पर यह संकेत कर देना विषयान्तर नहीं होगा कि आज वेद के मंत्रों की आधिभौतिक-आध्यात्मिक व्याख्या करने की रीति प्रचलित है। पश्चिम के विद्वान् ऐसा ही करते हैं और निरुक्तकार का अनुगमन करनेवाले आर्यसमाजी तथा अन्य भारतीय विद्वान् उनका इसी रीति से अर्थ लगाते

हैं, परन्तु जिन ऐतिहासिकों की चर्चा की गई है, वे उन्हें ऐतिहासिक उल्लेख ही समझते थे। यदि नैरुक्तों के अनुसार वृत्र का अर्थ मेघ था तो ऐतिहासिकों के अनुसार त्वाष्ट्र असुर ( तत्को वृत्रः मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोसुर इत्यैतिहासिकाः )। प्रसाद यद्यपि ऐतिहासिकों के स्कूल में आते हैं, तथापि वे उनके रूपकात्मक अर्थ को एकदम अस्वीकार नहीं करते। वास्तव में दोनों अर्थ सही हैं। अतीत के इतिहास की स्मरणीय घटनाएँ और कथाएँ लोकस्मृति में जीती थीं। उन्हें तत्काल अक्षरों की शृंखला में बाँधकर सुरक्षित करने की प्रथा नहीं थी—स्वभावतः लेखनकला की अनभिज्ञता के कारण। मौखिक रूप में ही प्रचार पाने और मौखिक परम्परा में ही जीवित रहने से कालान्तर में उनका वही रूप नहीं रह जाता था, यद्यपि मूल सत्य से उनका एकदम सम्बन्धाभाव भी नहीं हो जाता था। मूल घटनाओं में कुछ नवीन जुट जाता था और कुछ प्राचीन विनष्ट हो जाता था। लोकमानस में बस जाने के पश्चात् जनता अपनी रुचियों, विश्वासों और आदर्शों के अनुसार उनमें कभी-कभी इतना परिवर्त्तन कर डालती थी कि उनके रूप को पहचानना कठिन हो जाता था। परन्तु युगों तक लोक-कल्पना द्वारा परिमार्जित होते-होते उनमें अनायास ही गम्भीर मानवीय मूल्यों का समावेश हो जाता था—उनमें ऐसी अर्थवत्ता आ जाती थी जो उनके मूलरूप में नहीं थी। व्यक्ति और घटनाएँ प्रतीकात्मक हो उठती थीं। केवल वेद ही नहीं, विश्व की अनेक प्रिय कथाएँ इस सत्य को उदाहृत करती हैं। यूरोप के मध्ययुग में थॉर और ओडिन की कहानी बहुत प्रसिद्ध रही है। विद्युत् का देवता थॉर परमशक्तिशाली था। ओडिन सदैव पृथ्वी पर घूमता रहता था और ज्ञान की खोज में उसने अनेक कष्ट झेले थे। उसने अपनी एक आँख से ज्ञान की एक घूंट का विनिमय किया था और राक्षसों के बीच से काव्य तथा ज्ञान के जल को उसी प्रकार चुराया था जिस प्रकार प्रामीथियस ने स्वर्ग से आग। पृथ्वी के अन्धकारमय गर्त्त में जाकर उसने विश्व के रहस्यों के उद्घाटन की चेष्टा की थी। ट्यूटॉनिक परम्पराओं के अनुसार मनुष्य को पशुत्व के स्तर से ऊँचा उठाकर सभ्यता की भूमि में लाने का श्रेय ओडिन को ही है। कालान्तर में वह मनुष्य की सदैव अतृप्त रहनेवाली जिज्ञासावृत्ति का प्रतीक हो गया जिसके कारण ही वह पशु से विवेकशील प्राणी की स्थिति में आ सका है। थॉर के विरुद्ध युद्धों में ओडिन हारता नहीं था, यद्यपि थॉर उससे अधिक शक्तिशाली था। इसका अर्थ आगे चलकर यह हो गया कि बुद्धि बल से बड़ी है। इसी प्रकार गेटे का फॉस्ट किस प्रकार प्रतीकात्मक अर्थ ग्रहण कर बैठा, इसकी भी बड़ी मनोरंजक कथा है। फॉस्ट मनु या राम की तरह कोई प्रागैतिहासिक व्यक्ति नहीं था। डुण्टजर आदि जर्मन विद्वानों ने उसका ऐतिहासिक अस्तित्व सिद्ध कर दिया है और उपलब्ध सामग्री के आधार पर यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि वह पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण से लेकर सोलहवीं सदी के प्रथम चरण के कुछ वर्ष बाद तक अवश्य जीवित था। परन्तु १६ वीं से लेकर १८ वीं सदी के मध्य तक—केवल ढाई सौ वर्षों के बीच ही—वह व्यक्ति से प्रतीक बन गया। गेटे के 'फॉस्ट' की सारी कहानी कामायनी की तरह ही अपना रूपकात्मक अर्थ रखती है। इसी तथ्य को लक्ष्य कर प्रसाद ने अपने को ऐतिहासिकों के सम्प्रदाय में रखते हुए भी कामायनी के 'आमुख' में लिखा है—"श्रद्धा और इड़ा

इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थ की भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" कामायनी की रूपकात्मकता का यही रहस्य है।[1]

मनु के जलप्लावन की घटना भारतीय इतिहास में अत्यन्त प्रसिद्ध है और इससे सम्बद्ध सामग्री वेदों, पुराणों और महाकाव्यों में बिखरी हुई मिलती है। यह घटना वैदिक आर्यों के निवासस्थान सप्तसिंधु प्रदेश म हुई थी। इसके पूर्व इस प्रदेश के निवासी आर्य देव कहलाते थे, जिनकी अपनी समृद्धिशाली सभ्यता थी। जलप्लावन में इनका नाश हो गया। मनु इसी देवजाति के अवशेष थे जिनसे मानवता के इतिहास का नया अध्याय प्रारम्भ होता है। यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि कामायनी के मनु और श्रद्धा की बाईबिल के आदम और ईव से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि वे उस अर्थ में सृष्टि के आदि पुरुष-स्त्री नहीं, जिस अर्थ में कि आदम और ईव। मनु-श्रद्धा से मानवी सृष्टि का प्रारम्भ नहीं होता, क्योंकि उनके पूर्व भी मनुष्यों की सृष्टि देवजाति के रूप में जीवित थी। मनु मानवता के नवयुग (मन्वन्तर) के प्रवर्त्तक हैं। उनसे मनुष्य जाति के इतिहास में एक नवीन समाज-व्यवस्था का उसी तरह प्रारम्भ होता है जिस तरह लेनिन से एक नवीन समाज-व्यवस्था का।[2] उनको, कामायनी में, इस दृष्टि से नहीं स्वीकार करने पर हमारे अध्ययन में अनेकानेक आपत्तियाँ खड़ी हो सकती हैं। जलप्लावन के बाद सारस्वत प्रदेश और गंधर्व देश[3] में मनुष्यों की स्थिति ऐसी ही आपत्ति है। यदि जलप्लावन में सभी जीव नष्ट हो गये, जैसा कि बाईबिल या ग्रीक पुराण में दिखाया गया है, तो सारस्वत प्रदेश में मनुष्य कहाँ से आ गये जिनपर मनु ने शासन किया? कामायनी में वाच्य और व्यंग्य, किसी भी रीति से उन्हें मनु की सन्तान नहीं माना गया है और यदि ऐसा माना जाता तो बुद्धिग्राह्य नहीं होता। वास्तव में मनु का प्रलय सप्तसिंधु-प्रदेश की निश्चित सीमा में ही काम कर सका था।

आर्यों का आदिदेश अबतक विवाद का विषय बना हुआ है। उत्तर जर्मनी, मध्य एशिया, काश्मीर, उत्तरी ध्रुव आदि प्रदेशों के नाम इस संबन्ध में लिये जा चुके हैं।

---

१. प्रायः लोग गाथा और इतिहास में मिथ्या और सत्य का व्यवधान मानते हैं। किन्तु सत्य मिथ्या से अधिक विचित्र होता है। आदिम युग के मनुष्यों के प्रत्येक दल ने ज्ञानोन्मेष के अरुणोदय में जो भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है। + + + घटनाएँ कहीं-कहीं अतिरंजित भी जान पड़ती हैं। तथ्य-संग्रहकारिणी तर्कबुद्धि को ऐसी घटनाओं में रूपक का आरोप कर लेने की सुविधा हो जाती है, किंतु उनमें भी कुछ सत्यांश घटना से सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।

—कामायनी : आमुख

२. जलप्लावन भारतीय इतिहास में एक ऐसी प्राचीन घटना है जिसने मनु को देवों से विलक्षण, मानवों की एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करने का अवसर दिया।

—कामायनी : आमुख

३. क. उधर रहे गंधर्वों के देश—श्रद्धा सर्ग

ख. ये प्राणी जो बचे हुए हैं इस अचला जगती के।—कर्म सर्ग

साधारणतः इस विवाद से सम्बद्ध विद्वानों को दो दलों में बाँटा जा सकता है । एक दल—जिसमें अधिकांश यूरोपियन और उन्हीं की दिशा में सोचनेवाले भारतीय हैं—मध्य एशिया को और दूसरा दल—जिसमें अधिकांश भारतीय विद्वान् आते हैं—भारतवर्ष (सप्तसिंधु) को आर्यों की प्राचीन वासभूमि स्वीकार करता है । वैदिक साहित्य के अनेक यूरोपीय अध्येताओं ने भी इस बात को स्वीकार किया है कि उससे कहीं भी यह ध्वनित नहीं होता कि आर्य लोग किसी बाहरी प्रदेश से आये हुए थे, वरन् बार-बार इसके विपरीत मत को ही पुष्टि मिलती है । यह विश्वास मनु के इन शब्दों में बड़े जीवन्त रूप में प्रकट हुआ है—

*एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।*
*स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥*

प्रसाद इसी मत के समर्थक हैं [1] और अपने 'प्राचीन आर्यावर्त और उसका प्रथम सम्राट्' (कोशोत्सव-स्मारक-संग्रह, सं० १९८५, पृ० १५५-१९४) शीर्षक निबन्ध में उन्होंने आर्यों के अग्रजन्मा-देवों की भूमि सप्तसिंधु की सीमा निर्धारित करने की चेष्टा की है।

भारतीय देवताओं का मेरु से वही संबन्ध है जो ग्रीक देवताओं का ओलिम्पस से। मेरु पर ही देवताओं का स्वर्ग अवस्थित था । यह प्रदेश उत्तर कुरु के पास था । 'पांडवों के महाप्रस्थान की यात्रा में उत्तरकुरु के समीप ही मेरु और स्वर्ग का वर्णन मिलता है। × × यह उत्तरकुरु भारतीय उपाख्यानों में पवित्र और पूर्वजों का देश माना जाता है। भीष्मपर्व में इसका विशद वर्णन है ।' (वही, पृ० १६१-१६२) बृहत्संहिता में भी कहा गया है—

*उत्तरतः कैलासो हिमवान् वसुमान् गिरिर्धनुष्मांश्च ।*
*क्रौंचो मेरुः कुरवस्तथोत्तरा क्षुद्रमीनाश्च । १४—२४*

वेंदिदाद, फरगर्द १ में जिन सोलह प्रदेशों के नाम आये हैं उनमें मौरु, बख्दीद (बलख या वाल्हीक) तथा इन दोनों के बीच निशय प्रदेश भी हैं । मालकंद गिरिपथ के समीप मसागा का ध्वंस कर सिकंदर ने निशा प्रदेश और मेरु-विजय करने की इच्छा प्रकट की । यही मेरु या मेरोस (Meros) अब कोहमोर कहलाता है । ग्रीकों ने इसे त्रिशृंग कहा है । ऋग्वेद में इसे त्रिककुद् और विष्णुपुराण में त्रिकूट कहा गया है । वर्तमान कोहमोर इस त्रिकूट का एक शृंग मात्र है । तीनों शृंग पेशावर से ही दीखते हैं । उच्च शैलमालाओं और शस्यपुष्पों से युक्त यही भूमि देवताओं का क्रीड़ाकेन्द्र थी । 'यहीं पर स्वर्ग-सुख का आनंद लेने के लिए सिकंदर ने दस दिन बड़ा भारी महोत्सव मनाया था। उक्त प्रदेश की निसर्ग-रमणीयता का उल्लेख करके ग्रीकों ने बड़े उल्लास से कहा था कि सचमुच यही पृथ्वी का स्वर्ग है ।' (पृ० १६९) मेरु के समीप की यही भूमि जो अफगानिस्तान, काश्मीर और बलख के बीच अवस्थित थी, देवों का स्वर्ग और पारसीकों का प्रथम आर्यनिवास (Airyans Vaejo)[2] थी । पीछे चलकर यह आर्यावर्त या आर्यों

१. हमारी जन्मभूमि थी यहीं कहीं से हम आये थे नहीं । —स्कंदगुप्त
२. वेंदिदाद्, फरगर्द १

की भरत-शाखा की वासभूमि होने के कारण भारतवर्ष कहलाई। मनुस्मृति में आर्यावर्त की सीमा हिमालय और विंध्य के बीच की भारतभूमि में ही संकुचित दीखती है, पर वैदिक आर्यों का विस्तार यहीं तक परिमित नहीं था। मेगास्थनीज ने मेरु और निशय प्रदेश को भारतवर्ष की सीमा में गिना है। वस्तुतः सप्तसिंधु प्रदेश के विस्तार का निश्चय करने पर "गंगा से लेकर वर्त्तमान हेलमंद की घाटी और वाल्हीक से लेकर दक्षिण के ऋक्कालिक राजपूताना के समुद्र तक हम आर्यों की घनी बस्ती मानते हैं, जिसके बीच मेरु स्थित है। मगध, अंग तथा मीडिया और मेसोपोटामिया के प्रदेश भी आर्यक्षेत्र कहे जा सकते हैं, किंतु इन प्रदेशों में आर्यों को अनार्यों तथा अपनी ही जाति के भिन्न मतावलंबी अधार्मिकों से बराबर युद्ध और संघर्ष करना पड़ता था।" (पृ० १७४)

वैदिक काल की आर्यभूमि को सप्तसिंधु के नाम से अभिहित किया गया है जिसका अर्थ होता है 'सात नदियों का देश'। अविनाशचंद्रदास ने अपनी 'ऋग्वेदिक इंडिया' में सिंधु तथा उसकी सहायक अन्य छः नदियों के प्रदेश को सप्तसिंधु कहा है। परंतु प्रसाद के अनुसार केवल सिंधु-सप्तक को ही आर्यभूमि का विस्तार नहीं माना जा सकता, वरन् गंगा और सरस्वती के भी अपने सप्तक थे और इन त्रेधा सप्तकों से आच्छादित भूमि ही सप्तसिंधु थी। गंगा का सप्तक यमुना, सदानीरा आदि नदियों से बनता था और इसकी सीमा सदानीरा (गंडक) तक थी। अविनाशचन्द्रदास ने यह मत प्रतिपादित किया है कि गंगा और यमुना ऋग्वेदकाल में विशेष महत्त्वपूर्ण नदियाँ नहीं थीं, कदाचित् इसलिए कि ये हिमालय से निकलने के कुछ बाद ही समुद्र में गिरती थीं। उस समय गंगा-यमुना की प्रसिद्ध समतल भूमि का अस्तित्व नहीं था। परंतु प्रसाद इसका विरोध करते हुए यह तर्क देते हैं कि ऋग्वेद में यद्यपि कोशल, पांचाल आदि का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, परंतु 'जाह्नव्य' (३-५८-६)—गंगा के प्रदेशों—का और सो भी 'पुराणमोकः' (प्राचीन वासभूमि) कहकर उल्लेख है और इसी प्रकार 'आवदिंद्रयमुनातृत्सवश्च' (७-१८--१९) में यमुना-तटवर्ती देश भी उल्लिखित हुआ है। कीकट (मगध) की उस समय वास्तविक अवस्थिति थी (किं कृण्वन्ति कीकटे गावः। ३--५३-१४) जिसे दास स्वीकार करना नहीं चाहते। गंगा के सप्तक के अतिरिक्त दूसरा सप्तक सिंधुसप्तक तो प्रसिद्ध है ही। प्रसाद का अनुमान है कि तीसरा सप्तक सरस्वती का रहा होगा, क्योंकि ऋग्वेद के षष्ठ मण्डल के ६१ वें सूक्त में ("उत वः प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा") सरस्वती सात बहनोंवाली मानी गई है। यह सरस्वती पंजाब की सरस्वती से भिन्न थी, क्योंकि वेंदिदाद, फरगर्द १ में जिन सोलह प्रदेशों की चर्चा मिलती है उनमें 'सप्तसिंधु (हप्तहिंदव या हप्तहेंदु) का अलग से उल्लेख है और सारस्वत प्रदेश (हरहवैती) का अलग से।[1] हरहवैती सम्भवतः सरस्वती का ही विकृत रूप है। इसके अन्य दो रूप मिलते हैं—अररोखाग और अरगंद। अरगंदाब अफगानिस्तान में कंधार की एक बड़ी नदी है और आज भी हारूत से लेकर कंधार तक के अरगंदाब-सप्तक को हम देख सकते हैं।

(१) आर्यानावाएजो···(३) मौरु या मार्गियाना (४) बख्धी या बैक्ट्रिया (५)···निशाया (११) हरहवैतो···(१५) हप्तहेंदु (सप्तसिंधु)···

इस प्रकार सप्तसिंधु प्रदेश के विस्तार के साथ हमने मनु और इड़ा की कार्यभूमि सारस्वत प्रदेश की अवस्थिति का भी निश्चय कर लिया।

आर्यों का यह आदि देश चारों ओर समुद्र से घिरा हुआ था। ऋग्वेद में इन चार समुद्रों की चर्चा आई है—

(१) रायः समुद्रांश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्रुतः। आपवस्व सहस्रिणः।—ऋ० ९-३३-६

(२) स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्। ऋक्‌त्यं शंस्यं भूरिवारम-स्मभ्यं चित्रं वृषणं रयिन्दाः।—ऋ० १०-४७-२

यहाँ पर उन लोगों की चर्चा व्यर्थ है जो समुद्र का अर्थ समुद्र न मानकर नदी मानते हैं और यह घोषित करते हैं कि ऋग्वैदिक आर्यों को समुद्र का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं था।[1] मैक्डॉनल समुद्र का अर्थ 'सम+उद्र' (जल की इकट्ठी राशि) करते हैं और यह सम्मति प्रकट करते हैं कि इस शब्द का व्यवहार सिन्धु नदी के निम्न भाग के लिए होता था जो पंजाब की नदियों के जल के मिल जाने के बाद इतना विस्तृत हो जाता था कि उसके बीच में चलती हुई नाव दीख भी नहीं सकती थी।[2] परंतु ऋग्वेद ८-६-४ में सिन्धु (नदी) और समुद्र का भेद स्पष्ट कर दिया गया है जब यह कहा गया है कि सभी मनुष्य इन्द्र के सामने भय से उसी प्रकार अपना सिर झुकाते हैं जिस प्रकार सिंधुएँ समुद्र के प्रति अपने को समर्पित करती हैं।[3]

पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के समुद्र 'चतुःसमुद्र' थे जिनसे प्राचीन आर्यावर्त घिरा हुआ था। ऋग्वेद १०-१३६-५ में पूर्व और पश्चिम के समुद्रों की चर्चा आई है—

वातस्याश्वो वायोः सखाय देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रा वा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥

[ मुनि, जो वायु के सखा हैं, जिन्हें देखने के लिए देवगण लालायित रहते हैं तथा पूर्व और पश्चिम, दोनों ओर अवस्थित समुद्र जिनके निवासस्थान हैं, वाताश्व—वायु के अश्व—हैं।]

यहाँ मुनि केशी अर्थात् सूर्य देवता हैं। सूर्य को ऋग्वेद में अनेक बार अश्व कहा गया है। पूर्व समुद्र कीकट (मगध) के पूर्व का समुद्र था।[4] पश्चिमी और दक्षिणी समुद्र

---

१. The ocean was probably known only from hearsay.
—Macdonell : History of Sanskrit Lit.

२. केगी ( Kaegi) ने यही मत प्रकट किया है,—"To the Indus also belongs, for the most part, the designation sham-udra, 'gathering of waters' (not to the ocean) ;"
—The Rigveda : p. 110.

३. समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्तः कृष्टयः। समुद्रायेव सिंधवः॥

४. दास ओल्डहम( Manual of the geology of India, p. 109, Ed 1893) का प्रमाण देते हुए सम्पूर्ण गंगा-ब्रह्मपुत्र समतल को समुद्र मानते हैं। ओल्डहम के अनुसार यमुना से लेकर ब्रह्मपुत्र तक का मैदान परीक्षा करने पर नदियों के द्वारा लाई गई मिट्टी की जमावट के कारण बना हुआ सिद्ध होता है। इसके विपरीत पंजाब में ये लक्षण नहीं मिलते। प्रसादजी के अनुसार ऋग्वैदिक काल में गंगा-यमुना का मैदान मगध तक विस्तृत हो चुका था। यह प्रमाण दास की अपेक्षा वैदिक युग के समय को खींचकर अधिक नीचे ले आता है और शायद इसीलिए अधिक बुद्धिग्राह्य बनाता है।

सिन्धु की निम्न घाटी के पश्चिम और दक्षिण में लहराता था। यह अरब समुद्र से संयुक्त था और आज के सिंधप्रांत के बहुत-से भाग को घेरे हुए था। उस समय राजपुताने की मरुभूमि का अस्तित्व नहीं था और द्रविड़ों की भूमि डेक्कान आर्यावर्त्त से समुद्र द्वारा एकदम अलग था। भूतत्ववेत्ताओं ने यह प्रमाणित किया है कि (प्रसाद द्वारा निश्चित) आर्यों के प्रदेश के उत्तर में एक समुद्र था जो एक ओर तुर्किस्तान से लेकर साइबेरिया तक और दूसरी ओर मंगोलिया की सीमा से लेकर कृष्णसागर तक विस्तृत था। इसका लोप पृथ्वी के जीवन की नवीन घटनाओं में है जिसके बाद कृष्णसागर, अराल सागर और बल्काश झील अलग-अलग हो गये। स्ट्राबो आदि प्राचीन भौगोलिकों के लेखों से इस बात का प्रमाण मिल जाता है कि इन तीनों में परस्पर तथा इनमें और उत्तरी महासागर में नौकाएँ आती-जाती थीं। इस बात की सम्भावना की जाती है कि बॉस्फोरस ज्वालामुखी के फूटने के फलस्वरूप ये तीनों परस्पर तथा उत्तरी महासागर से अलग हो गये। बहुत-से लोगों ने इस घटना से ड्यूकेलियन के प्रलय (The deluge of Deucalion) का सम्बन्ध जोड़ा है।[1]

तीन सप्तकों तक विस्तृत और चार समुद्रों से घिरी हुई प्राचीन आर्यावर्त्त की यही रमणीक भूमि[2] आर्यों की अग्रजन्मा[3] देवजाति का लीलानिकेतन थी। इन्हें अमर कहा गया है, क्योंकि ये मरते नहीं थे।[4] ऋग्वेद के मंत्रों से ही यह ध्वनित होता है कि देवता लोग पहले अमर नहीं थे, मरते थे, और अथर्ववेद (११-५-१९; ४-११-६) में तो ऐसा स्पष्ट रूप से कहा गया है। देवताओं को अमरत्व सविता ने (४-५४-२), अग्नि ने (६-७-४; अथर्व ४-२३-६), सोम-पान ने (९-१०६-८) प्रदान किया। एक परवर्त्ती कल्पना है कि तप से इन्द्र ने अमरत्व प्राप्त किया (१०-१६७-१) अथवा ब्रह्मचर्य और तपस्या के द्वारा देवों ने मृत्यु को जीत लिया (अथर्ववेद ११-५-१९)। इन्द्र तथा अन्य अनेक देवताओं के विषय में कहा गया है कि वे कभी वृद्ध नहीं होते (३-४६१, आदि)।[5] उज्ज्वल वर्ण के होने के कारण देवगण इस नाम से अभिहित होते थे ('दिव्' धातु का अर्थ होता है 'चमकना')।[6] देवों के दो वर्ग थे। एक वर्ग आकाशवासी

---

१. विशेष के लिए देखिए दास की ऋग्वेदिक इंडिया और एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका (खण्ड ५)

२. कीर्त्ति, दीप्ति, शोभा थी नचती
अरुण किरण-सी चारों ओर
सप्त सिंधु के तरल कणों में,
द्रुमदल में आनंद-विभोर।—चिन्ता

३. आह सर्ग के अग्रदूत! तुम
असफल हुए विलीन हुए।—चिन्ता

४. अरे अमरता के चमकीले पुतलो!

५. चिर-किशोरवय नित्य विलासी—चिन्ता

६. क. अरे अमरता के चमकीले पुतलो! ख. अब न कपोलों पर छाया-सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप—वही

वरुण, सविता, मरुत आदि देवताओं का था जो 'प्रकृति के शक्तिचिह्न' (आशा सर्ग)—प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक—थे और ग्रीक लोगों की तरह अपने को इन्हीं की सन्तान माननेवाले मनुष्य जाति के लोग भी देवता कहलाते थे। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में पूर्ववर्त्ती (पूर्वे) देवताओं की चर्चा आई है (७–२१–७, आदि) और देवताओं के पूर्वयुग का भी उल्लेख किया गया है (१०–७२–२,३)। अपने को आकाशवासी देवताओं की सन्तान माननेवाली देवजाति का ही कामायनी में उल्लेख हुआ है। मनु इसी जाति के अवशेष थे।[1]

देवजाति बल और ऐश्वर्यप्रिय जाति थी। इन्द्र इस अर्थ में इसका प्रतिनिधि व्यक्ति था। वेदों में उसके वीर्य की बार-बार प्रशंसा की गई है। युद्ध और पराक्रम में उसकी तुलना का कोई दूसरा व्यक्ति नहीं था। देवता और मनुष्य, कोई भी उसकी प्रतिस्पर्द्धा के योग्य नहीं (६–३०–४)। सभी देवता उसके पराक्रम के सामने विनम्र हैं (८-५१-७)। वह शचीपति (शक्ति का अधीश्वर) और शक्र (पराक्रमी) है। इन्द्र के व्यक्तित्व का अध्ययन कर मैक्डॉनल्ड ने उसपर यह सम्मति दी है कि शारीरिक शक्ति और भौतिक संसार पर एकच्छत्र अधिकार उसकी प्रधान विशेषताएँ हैं।[2] देवताओं के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। उनके डर से द्यावा-पृथिवी और पर्वत तक काँपते थे (२-१२-१३)।[3] असुरों पर उनकी विजय-हुंकार से सम्पूर्ण आर्यावर्त गुञ्जायमान था।[4] इन्द्र कहता है—"मैंने अत्क को मनुष्य की भलाई के लिए वज्र से मार डाला है।" "मैंने शत्रुओं के सात दलों का संहार कर दिया है।" (१०-४९) इन्द्र ने अपने तीरों से यज्ञ-विरोधी शनकों का नाश कर दिया (१-३३-४)। देवासुर-संग्राम में असुर सहस्रों की संख्या में मारे जाते थे। एक भयंकर युद्ध में उनके भीषण संहार पर भावोच्छ्वसित होकर वैदिक ऋषि कहता है—"जहाँ-कहीं भी शत्रु जुट आये हैं, मार डाले गये हैं और वे गहरी खाई में सो रहे हैं।"[5]

शक्तिशाली और अपराजेय होने के साथ-साथ देवता सुरा और सुन्दरी के प्रेमी थे। वेदों में सोम और सुरा की अनेक स्थानों पर प्रशंसा की गई है। यज्ञ का सोम से गहरा

---

१. आज अमरता का जीवित हूँ मैं वह भीषण जर्जर दम्भ—वही

२. Regarded as a whole the attributes of Indra are chiefly those of physical superiority and of dominion over the physical world.
—Vedic Mythology, 1893, p. 61

३. शक्ति रही हाँ शक्ति; प्रकृति थी
पदतल में विनम्र विश्रांत;
कँपती धरणी उन चरणों से
होकर प्रतिदिन ही आक्रांत।—चिन्ता

४. अरे अमरता के चमकीले
पुतलो! तेरे वे जयनाद
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बनकर मानों दीन विषाद। —वही

५. प्लग्य यत्र हता अमित्रा वैलस्थानं परितृष्ठहा अशेरन्।—ऋ० १-१३३-१

सम्बन्ध था। ऋग्वेद में ११४ ऋचाओं का एक मण्डल ही इसको समर्पित हैं। यह देवताओं का प्राचीन पेय था। इन्द्र ने वृत्रवध के पूर्व तीन सरोवर सोम पिया था और तीन सौ भैंसे खाये थे ( ऋ० ५–२९–७,८ )। सुरा ( १–११६–३, आदि ) और मांस (शतपथ ३-६-४; आ० गृ० १-११) भी यज्ञों से सम्बद्ध थे।[१] देवों की गंधर्वजाति को कामिनीप्रिय (योषित्कामा वै गन्धर्वाः, श० ब्रा० ३-२-४-३; स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः, ए० ब्रा० १-२७; ५-२९) कहा गया है और गंधर्वों के अन्तर्गत शतपथ-ब्राह्मण ने सूर्य, अग्नि आदि देवों को गिना है। गंधर्वों के साथ अप्सराओं का घनिष्ठ सम्बन्ध 'गंधर्वाप्सरसः' इस संयुक्त उल्लेख से स्पष्ट है। गंधर्व गंध और नृत्य-संगीत के प्रेमी हैं। वे सुरभित माला पहनते हैं (ऋ० १०-१२३-७); गंध, मोद और प्रमोद में विशेष आसक्त हैं (जै० उ० ३-२५-४)। उनकी पत्नियाँ अप्सराएँ नृत्य-संगीत और क्रीड़ा में आसक्त (शतपथ ११-६-१) बतलाई गई हैं। उनकी वीणा और बाँसुरी का उल्लेख अथर्ववेद ४-३७-४ में मिलता है।

इस प्रकार कामायनी में गंध,[२] संगीत,[३] सुरा[४] और विलासप्रिय[५] देवजाति का जो चित्र खींचा गया है, वह वैदिक साहित्य से प्रमाणित है। वे रत्नसौधों में रहते थे (चिंता, ४४,१) और अम्लान पुष्पों एवं मणियों की मालाएँ पहनते थे (चिंता, ४६,१-२)। वे विपुल सुख की सामग्री का भोग करते थे ( चिंता, २७)। पृथ्वी पर आधिपत्य और अतुलनीय पराक्रम[६] के कारण वे अहंकारी हो गये थे। धीरे-धीरे उनमें यह विश्वास घर करने लग

---

(१) क. यज्ञ समाप्त हो चुका तो भी
धधक रही थी ज्वाला
दारुण दृश्य! रुधिर के छींटे!
अस्थि - खंड की माला!
वेदी की निर्मम प्रसन्नता,
पशु की कातर वाणी;
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।
सोमपात्र भी भरा, धरा था
पुरोडाश भी आगे,
श्रद्धा वहाँ न थी मनु के तब
सुप्त भाव सब जागे।
—कर्म

ख. देवयजन के पशुयज्ञों की
वह पूर्णाहुति की ज्वाला
—चिंता

(२) क. सौरभ से दिगंत पूरित था
ख. चलते थे सुरभित अंचल से
जीवन के मधुमय निश्वास
—चिंता

(३) क. मुखरित था कलरव, गीतों में
स्वर लय का होता अभिसार।
ख. मौन हुई हैं मूर्च्छित तानें
और न सुन पड़ती अब बीन।
—वही

(४) सुरा-सुरभिमय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस-अनुराग
—वही

(५) क. विकल वासना के प्रतिनिधि वे
ख. अरी उपेक्षाभरी अमरते!
री अतृप्ति! निर्बाध विलास
—वही

६. सब-कुछ थे स्वायत्त विश्व के
बल, वैभव, आनन्द अपार……
—चिंता

गया था कि विश्व में उनसे बढ़कर और कोई शक्ति नहीं, क्योंकि प्रकृति के वास्तविक अधीश्वर तो वे ही हैं।[1] इस भावना ने उन्हें एक ओर भोगवाद की ओर प्रवृत्त किया, तो दूसरी ओर उन्हें दम्भी बना दिया। और दम्भ का परिणाम क्या होता है—पारस्परिक कलह ! इन्द्र, जो कि इस जाति की चारित्रिक विशेषताओं को बड़ी दूरी तक प्रतिविम्बित करता है, केवल असुरों पर ही विजय-हुंकार नहीं करता, वरन् दम्भ के आवेश में अपने सहयोगी मरुतों ( ऋ० १-१७०--२ ), कुन्स और सूर्य से भी झगड़ पड़ता है।[2] ऐसी उच्छृंखल, विलासासक्त और अहंकारी जाति की स्वाभाविक परिणति प्रलय—सामाजिक विशृंखलता और नाश—ही हो सकता है।[3]

कामायनी का प्रारम्भ जिस प्रलय से हुआ है उसका उल्लेख विश्व के अनेक प्राचीन साहित्यों में मिलता है। यदि भारत में मनु का प्रलय प्रसिद्ध है तो ग्रीस में ड्यूकेलियन का, बाईविल में नूह का, बेबीलोन में ज्रिसुथ्रॉस का, वेंदिदाद में थिम का, चैल्डिया में हासिसद्र का और गिल्गेमिश में उपनपीश्तम का। इस प्रकार यह कथा विश्व के बहुत बड़े भाग में व्याप्त मालूम पड़ती है। बड़ी सरलता से यह अनुमान किया जा सकता है कि मनुष्य के प्राचीन जीवन में अवश्य ही कोई ऐसी घटना घटी होगी जो अपने विनाशकारी कृत्य के कारण उसके स्मृति-पट पर बड़े गहरे रंगों में अंकित हो गई होगी। यह घटना कब और किस प्रदेश में घटी, इस संबन्ध में विद्वानों में बड़ा मत-भेद है। पृथ्वी की सतह पर अनेक बार परिवर्तन हुए हैं और वास्तव में अनेक भू-भागों में इसकी संभावना है। प्रसाद ट्रिंकलर का मत उद्धृत करते हुए ओघ को भारतीय घटना सिद्ध करते हैं—"उनका (ट्रिंकलर का) विचार है कि बालू में दबे हुए प्राचीन नगरों के चिह्न इस बात को प्रमाणित करते हैं कि हिमालय और उसके प्रांत में जलप्रलय वा ओघ का होना निश्चित-सा है।" (पृ० १६१)[4]

जलप्रलय की कथा वैदिक ग्रंथों के अतिरिक्त पुराणों और इतिहासों में बिखरी पड़ी है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं मिलता जिससे अनुमान किया जा सकता है कि यह इसके बाद की घटना है। अथर्ववेद में इसका संकेत मिलता है ( नावप्रमशनम्, १९-३९-७,८) और शतपथ में तो इसका वर्णन ही उपलब्ध है। हस्तप्रक्षालन करते समय मनु को जल में एक छोटा मत्स्य मिलता है। वह उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करता है और बदले में जलप्रलय के अवसर पर उनकी रक्षा करने का वचन देता है। मनु के उसकी रक्षा के उपाय पूछने पर वह कहता है कि छोटा रहने पर बड़े मत्स्य हमलोगों को खा जाते हैं। तुम मुझे पहले पात्र, फिर जलाशय आदि में रखकर अन्त में समुद्र में छोड़ दो। मनु ऐसे

---

१. मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म-मंगल-उपासना में विभोर
उल्लासशील मैं शक्तिकेंद्र किसकी खोजूँ फिर शरण और —इड़ा

२ मरुत इन्द्र के परम सहयोगी हैं। वह अनेक बार 'मरुत्वत्' कहा भी गया है।

३. स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि, —चिंता

४ पायनियर, १६ अक्तूबर, १९२८ में प्रकाशित डा० ट्रिंकलर का लेख

ही करते हैं और शीघ्र ही वह एक विशाल मत्स्य में परिणत हो जाता है। तब वह उनको सूचित करता है कि अमुक वर्ष वह ओघ आयगा। तुम नाव बनाकर तैयार रहना और जब ओघ का अवतरण हो, तब उसमें सवार हो जाना। मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा। प्रलय के समय मनु मत्स्य के सींग में अपनी नाव बाँध देते हैं। उसके उत्तरगिरि से आ लगने पर वह उसे एक वृक्ष में बाँधते हैं। ओघ के जल के घटने के साथ-साथ वे पहाड़ की चोटी से नीचे उतरते जाते हैं। अतएव उत्तरगिरि का वह ढलाव 'मनोरवसर्पण' कहलाता है। वहाँ के सब जीवों को ओघ का जल बहा ले जाता है और मनु वहाँ अकेले रहने लगते हैं। कुल्लू की घाटी में मिनाल्डी-नामक एक स्थान है जहाँ मनु का मन्दिर है। सम्भव है, 'मनोरवसर्पण' इसीके आसपास रहा हो।

शतपथ में वर्णित प्रलय की कथा में कोई धार्मिक रंग भरने का प्रयास नहीं है। परन्तु पुराणों में मत्स्य शनैः-शनैः मत्स्यावतार का रूप धारण कर लेता है और प्रलय विश्व के पाप-प्रक्षालन के निमित्त घटित होता है, यद्यपि कथा का ढाँचा शतपथ का ही बना रहता है। महाभारत में मत्स्य चारिणी नदी के तट पर तप में निरत मनु के पास आकर अपनी रक्षा की प्रार्थना करता है (मत्स्योपाख्यान, वनपर्व)। मनु उसे क्रमशः पात्र, तालाब और गंगा में रखकर अन्त में समुद्र में छोड़ देते हैं। उस समय उन्हें भावी प्रलय की सूचना देते हुए वह कहता है कि संसार के पाप-प्रक्षालन का समय आ गया है, और सप्तर्षियों के साथ नाव में बैठकर उन्हें अपनी प्रतीक्षा करने का आदेश देता है। पृथ्वी के जलमग्न हो जाने पर मत्स्य मनु की नौका को 'हिमगिरि' के नौबन्धन तक ले जाता है। वह सप्तर्षियों से कहता है कि मैं प्रजापति ब्रह्म हूँ जिससे महान् कोई नहीं। वह मनु के जगत् के सभी जीवों—मनुष्यों, देवों, असुरों आदि के स्रष्टा होने की भविष्यवाणी करता है। मत्स्यपुराण में सूर्यपुत्र मनु अपने पुत्र को राज्य देकर मालावार प्रदेश में दस लाख वर्ष तपस्या करते हैं। पितरों को जल देते समय उनके कमण्डलु से एक मछली गिर पड़ती है। वह उनसे अपनी रक्षा की प्रार्थना करती है। मनु उसे पात्र, घट, कूप, झील और गंगा में आकार-वृद्धि के साथ क्रमशः छोड़ते जाते हैं और अन्त में समुद्र में डाल देते हैं। समुद्र में आकर वह अत्यन्त विशाल आकार धारण करती है और भयभीत मनु उससे प्रार्थना करते हुए कहने लगते हैं कि तुम अवश्य ही कोई देवता हो अथवा तुम स्वयं वासुदेव हो। मछली इस बात को स्वीकार करती है और उनसे कहती है कि युग के अन्त में जब प्रलय आयगा, तब तुम अपनी नाव में विश्व के बीज की रक्षा करना और मेरे सींग से उसे बाँध देना। भागवत में यह कथा बहुत सुंदर ढंग से कही गई है, यद्यपि यह दूसरे प्रसंग में आती है। विष्णु के परम उपासक सत्यव्रत (द्रविड़ों के राजा) कृतमाला नदी के किनारे तपस्या करते हैं। यहीं उनकी अंजलि में मछली आती है। वह उनसे आज के सातवें दिन प्रलय के आगमन की सूचना देती है। सत्यव्रत पशु आदि का एक-एक जोड़ा अपनी नाव में सुरक्षित करते हैं और सप्तर्षियों के साथ मत्स्य की प्रतीक्षा करते हैं। यही सत्यव्रत अगले जन्म में विवस्वत के पुत्र मनु के रूप में जन्म लेते हैं।

शतपथ की कथा से पुराणों की कथा में दो-तीन नई बातें स्पष्ट रूप से संन्निविष्ट हुई हैं, जैसे मत्स्यावतार विश्व के पाप-प्रक्षालन और विश्व के बीजों की रक्षा की कल्पनाएँ। प्रलय-कथा के पौराणिक रूप से चैल्डिया और बाईबिल की प्रलय-कथाओं का आश्चर्यजनक मेल है।

चैल्डिया की कथा—[1]

(१)⋯ भगवान इआ (Ea) ने मुझ दास से कहा—"मनुष्यों ने मेरे विरुद्ध विद्रोह किया है और मैं उनके विरुद्ध न्याय करूँगा⋯आकाश से प्रलय की वर्षा होगी⋯निश्चित समय आ गया है।"

(२)⋯मैं (सबको) साथ लाया और नाव में सवार हो गया—प्रत्येक प्रकार के जीवन (जीव) का बीज, अपना परिवार, अपने पुरुषदास और स्त्रीदास⋯और अपने निकट मित्रों को भी।

इस कथा का अन्य कथाओं से यह अन्तर है कि इसके नायक हासिसद्र को मनु की तरह सृष्टिरथ के परिचालन का भार नहीं दिया जाता। वह अपनी पत्नी के साथ अमरत्व प्राप्त कर लेता है।

जेनेसिस (७--९, बाईबिल) में भी इसीसे मिलती-जुलती कथा है—

(१)⋯और ईश्वर ने पृथ्वी को देखा, और देखो, यह अपवित्र थी। और ईश्वर ने नोआ से कहा⋯"मैं पृथ्वी पर जल का प्रलय लाऊँगा⋯और इसपर अस्तित्व रखनेवाली प्रत्येक वस्तु नष्ट हो जायगी।"

(२)⋯⋯ तुम नाव में आना—तुम, और तुम्हारे पुत्र, और तुम्हारी पत्नी, और तुम्हारे पुत्रों की स्त्रियाँ। प्रत्येक प्रकार के जीव (का एक-एक जोड़ा)⋯तुम नाव में लाना⋯उन्हें जीवित रखने के लिए।

(३)⋯ और ईश्वर ने नोआ को, और उसके पुत्रों को आशीर्वाद दिया, और उनसे कहा—फलो-फूलो और बढ़ो, और पृथ्वी को भर दो।

प्रलय-कथा के इस परवर्ती रूप के नैतिक स्वर का आधान कामायनी में भी हो गया है। प्रसाद प्रलय को आकस्मिक घटना के रूप में नहीं, वरन् देवताओं की उच्छृंखल, विलासपूर्ण और अहंकारी संस्कृति की अनिवार्य परिणति के रूप में चित्रित करते हैं। यह ऐतिहासिक आवश्यकता की जैसे मूर्त्त अभिव्यक्ति था।[2] परंतु मत्स्य यहाँ मत्स्यावतार के रूप में गृहीत नहीं हुआ है और न मनु और उसका संबन्ध पूर्व-निश्चित ही है। मत्स्य का मनु की नाव से टकराना और उसका उत्तरगिरि

---

1. 'Chaldean Delaye Tablet' से उद्धृत

२. स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होवी सृष्टि,
अरे अचानक हुई इसी से
कड़ी आपदाओं की वृष्टि। —चिंता

से लगकर बच जाना जैसे संयोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं था।[१]

भारतीय प्रलय-कथा की विदेशी प्रलय-कथाओं से समता के आधार पर अनेक यूरोपीय विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि यह मूलत: सेमेटिक है। परंतु वैदिक और पौराणिक साहित्य में यह कथा इतनी गहराई से जमी हुई है कि इसे भारतीय मानने में कोई संकोच नहीं होता। मैक्डॉनल ने सेमेटिक उद्गम की बात को 'अनावश्यक कल्पना' कहा है।[२] प्रसादजी तो यहाँ तक विश्वास प्रकट करते हैं कि भारतवर्ष से ही यह कथा अन्य जातियों में फैली। सुमेरिया के निवासी वस्तुत: आर्य-संतान थे। "मेरा विश्वास है कि सुमेरिया के जलप्लावन में 'पीर निपीश्तीम्' का जो वर्णन है, वह एक कल्पना है, जो जलप्लावन से बच जाने के बाद वहाँ के निवासियों ने गढ़ी थी। जलपुत्र वा जलशक्ति का नाम ऋग्वेद में आपन्नपात् है।....उनके पीर निपीश्तीम् (Pir Nepishtim) भी जल के बीच में द्वीप के रहनेवाले देवता थे। जैसा कि आगे चलकर दिखलाया गया है, ये सुमेरियावासी भी आदिम आर्यसंतान ही थे; उससे इनका ऋग्वैदिक देवता से परिचित होना असंभव नहीं।" (पृ० १६०)

परन्तु प्रश्न है कि यदि प्रलय भारतीय घटना है तो यह कौन-सी घटना था और इसका काल क्या था?

प्रसाद ने ट्रिंकलर का मत उद्धृत करते हुए हिमालय-प्रदेश में घटित ओघ का उल्लेख किया है, परन्तु इससे विशेष कहने का उन्होंने अपने निबन्ध में अवसर नहीं पाया। कुछ लोग इसका सम्बन्ध कैस्पियन, कृष्ण और अराल सागर के अलग होने से बतलाते हैं और कुछ लोग हिमालय के उठने से। अविनाशचन्द्रदास ने इसे राजपुताना समुद्र की सतह के ऊपर उठने से संबद्ध किया है जिसके फलस्वरूप वह धीरे-धीरे सूख गया और स्थल में परिवर्त्तित हो, दक्षिण भारत और उत्तर भारत का संयोजक बन गया। यह राजपुताना समुद्र की तल के ज्वालामुखियों का कृत्य था। इनके विस्फोट से आर्यावर्त्त के अनेक नगर ध्वस्त हो गये और समुद्र का जल स्थल की ओर उपट आया। इनके ताप से समुद्र का पानी वाष्प बनकर ऊपर उड़ने लगा और फलत: घोर वर्षा हुई। ऋग्वेद के मंत्रों से इसका प्रमाण मिलता है कि प्राचीन काल में आर्यावर्त्त में बहुत भूकम्प होते थे और पृथ्वी ऊँची-नीची होती रहती थी। अनेक मंत्रों में ऐसा उल्लेख मिलता है कि इन्द्र ने क्रुद्ध पहाड़ों

---

1. It is generally regarded as borrowed from a Semitic Source but this seems to be an unnecessary hypothesis. —Vedic Mythology P.139

२. एक नाव थी, और न उसमें
डाँड़े लगते या पतवार;
तरल तरंगों में उठ-गिरकर
बहती पगली बारम्बार!
× × ×
काला शासन-चक्र मृत्यु का
कब तक चला न स्मरण रहा,
महामत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा।
किंतु उसी ने ला टकराया
इस उत्तर-गिरि के सिर से,
देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।
—चिंता

को शान्त कर दिया, काँपती हुई पृथ्वी को प्रशमित किया, पृथ्वी की उठानों को बराबर कर दिया, आदि—

(१) *यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात् । यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः ।*—ऋ० २-१२-२

"जिसने हिलती हुई पृथ्वी को स्थिर कर दिया, क्रुद्ध पर्वतों को प्रशमित किया, अन्तरिक्ष को फैलाया, द्युलोक को स्तम्भमान किया—हे लोगो, वही ( वैसा ही ) है इन्द्र ।"

(२) *स प्राचीनान्पर्वताँ दृंहदोजसाधराचीनमकृणोदपामपः ।*—*आधारयत् पृथिवीं विश्वधायसमस्तभ्नान्मायया द्यामवस्रसः ॥*—ऋ० २-१७-५

"अपने ओज से उसने चलते हुए पर्वतों को स्थिर कर दिया, नदियों के प्रवाह को नीचे की ओर किया, ( सभी जीवों की ) धाय पृथ्वी को आधारित किया और अपनी कला से द्युलोक को नीचे गिरने से रोका ।"

(३) *विभूम्या अप्रथय इन्द्रसानु दिवो रज उपरमस्तभायः ।*— ऋ० १-६२-५

"तुमने पृथ्वी की उठानों ( सानुओं ) को सीधा कर दिया ।"

इन्द्र के ये महान् कृत्य भूकम्प के उत्पातों की ओर संकेत करते हैं । राजपुताना समुद्र की सतह के ज्वालामुखियों का विस्फोट एक ऐसा ही उत्पात था, यद्यपि यह उपर्युक्त उत्पातों से कहीं अधिक भयंकर था । कामायनी के प्रलय-वर्णन में ज्वालामुखियों की चर्चा आई है—

*धँसती धरा, धधकती ज्वाला*
*ज्वालामुखियों के निश्वास ।*—चिंता

और श्रद्धा भीत मनु का उद्बोधन करते हुए जो कुछ कहती है, उससे भी जलप्रलय के ज्वालामुखियों के कृत्य होने का स्पष्ट संकेत मिलता है—

*पटें सागर, बिखरें ग्रहपुंज*
*और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण ।*—श्रद्धा

प्रसाद के मनु का प्रलय सम्भवतः राजपुताना समुद्र की घटना अथवा हिमालय की उठने-जैसी घटना के कारण उस प्रदेश में घटित ओघ से सम्बद्ध है, यद्यपि इस विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता ।

शतपथ में लिखा है कि मनु प्रलय के बाद संतान की कामना से तप करने लगे—

"६····प्रलय सभी जीवों को बहा ले गया और मनु वहाँ अकेले बच गये। ७. संतान की इच्छा से वे तप में लीन हो गये ।" कामायनी के मनु भी प्रलय के बाद अपने चारों ओर गहरे सूनेपन का अनुभव करते हैं[1] और सागर के तीर पर अग्निहोत्र में संलग्न

(१) क. नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे ।
ख. उस एकांत नियति-शासन में
चले विवश धीरे-धीरे ।—आशा

हो जाते हैं।[१] वेदों में मनु प्राचीनतम यज्ञकर्ताओं के साथ उल्लिखित हैं, जैसे अंगिरस् और ययाति ( ऋ० १-३१-१७ ), भृगु और अंगिरस् ( ८-४३-१३ ), अथर्वण और दध्यांच ( १-८०-१६ ) तथा दध्यांच, अंगिरस्, अत्रि और कण्व ( १-१३९-९ ) के साथ। वे प्रथम यज्ञकर्ता कहे गये हैं, क्योंकि उन्हींने पहलेपहल अग्नि प्रज्वलित की थी और सप्तर्षियों के साथ देवताओं को हवि प्रदान की थी[२]—

*येभ्या होत्रां प्रथमामयेजे मनुसमिद्धाग्निर्मनसा सप्तहोतृभिः।*

*—ऋ० १०६-७*

संतान की कामना को प्रसाद ने और भी गहरे अर्थ में ग्रहण किया है। मनु संतान की कामना से नहीं, संगिनी की कामना से व्याकुल रहते हैं, और संतान की कामना क्या संगिनी की कामना का, मनोविज्ञान की दृष्टि से, पर्याय नहीं हो सकती? मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति की—एकोऽहं बहु स्याम् की भावना दोनों के मूल में वर्त्तमान है—

*कबतक और अकेले? कह दो*
*हे मेरे जीवन, बोलो?*
*किसे सुनाऊँ कथा? कहो मत*
*अपनी निधि न व्यर्थ खोलो। —आशा*

शतपथ में प्रलय के बाद मनु का संयोग इड़ा से होता है। अपनी पुत्री इड़ा के संयोग से उन्होंने मनुष्यजाति को जन्म दिया ( अथर्व० १९-३९-८ )। शतपथ में भी इड़ा मनु की पुत्री कही गई है। जब मनु से उसकी भेंट होती है तब वे उससे पूछते हैं—'तुम कौन हो?' वह अपने को उनकी दुहिता घोषित करती है, क्योंकि वह उनके यज्ञ की हवि से पोषित हुई थी। इड़ा और मनु के संयोग की चाहे जो भी रूपकात्मक व्याख्या की जाय, परंतु अत्यन्त प्राचीन समाज में पिता-पुत्री या भाई-बहन के संयोग कुछ असम्भव नहीं थे। यम-यमी-संवाद में अपने संयोग के प्रस्ताव का विरोध करने पर यमी भाई-बहन के पति-पत्नी होने की अत्यन्त प्राचीन प्रथा का उल्लेख करती है। प्रसाद ने परवर्त्ती नैतिक धारणा के अनुकूल मनु का संयोग इड़ा से न करा श्रद्धा से कराया है। शतपथ में मनु को 'श्रद्धादेव' कहा गया है, परंतु इसी आधार यर उन्हें श्रद्धा का पति नहीं कहा जा सकता। भागवत में इस संकेत को, जैसे उनको श्रद्धा का पति कहकर, स्पष्ट कर दिया गया है। शतपथ (१९,७,३,११) के अनुसार श्रद्धा सूर्य की और तैत्तिरीय ( २,३,१०, १ ) के अनुसार प्रजापति की पुत्री है, परंतु ऋग्वेद में १५१ वें मण्डल की १० वीं ऋचा की ऋषिका श्रद्धा 'कामायनी' है और सायण ने उसे 'कामगोत्रजा' माना है। श्रद्धा का

(१) जलने लगा निरंतर उनका
अग्निहोत्र सागर के तीर; —वही

(२) शुष्क डालियों से वृक्षों की
अग्नि-अर्चियाँ हुईं समिद्ध;
आहुति की नव धूम-गंध से
नभ-कानन हो गया समृद्ध। —वही

ऋषिका रूप मनु के उद्बोधन (श्रद्धा सर्ग) और दर्शन तथा रहस्य सर्गों में, पथप्रदर्शन में, हुआ है।

श्रद्धा से विच्छेद के बाद मनु का सारस्वत प्रदेश में इड़ा से सम्पर्क स्थापित होता है। बीच का काल उनके जीवन की 'अंधकारमय रजनी' का काल है।[१] इड़ा के सम्पर्क से उनमें नवीन चेतना का उदय होता है और उसकी सहायता से वे राज्य-स्थापन तथा शासन करते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि देवताओं ने इड़ा को मनुष्यों की शासिका बनाया[२] ('इड़ामकृण्वन्मनुषस्य शासनीम्' १-३१-११) और मनु को चेतना प्रदान की[३] (आनो यज्ञं भारती तूय मेत्विड़ा चेतयन्ती १०-११०-८)। मनु को वेदों में अनेक स्थलों पर प्रजापति या मनुष्यों का राजा कहा गया है (प्रजापतिर्वै मनुः, श० ६,६,१,१९; मनुर्वैवस्वतो राजेत्याहतस्य मनुष्याविशः, श० १३,४,३,३)। कामायनी में मनु अनेक बार प्रजापति कहे गये हैं।[४] कठोर शासक[५] और वर्णव्यवस्थापक[६] मनु का जो रूप संघर्ष सर्ग में मिलता है उसकी पुष्टि मनुस्मृति के रचयिता मनु की उक्तियों से हो जाती है। मनुस्मृतिकार ने राजा की यह रूपरेखा उपस्थित की है—

*क. मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो नृपः।*
*ख. महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति।*

प्रसाद ने इड़ा का ग्रहण आधुनिक बुद्धिवाद के रूप में किया है। वह प्रत्यक्षवादी, नास्तिक तथा बुद्धि की अजेयता में विश्वास करनेवाली है। ऋग्वेद में महि या भारती और सरस्वती के साथ वह एक त्रैत बनाती है (१०-११०-८) और सरस्वती की तरह बुद्धि साधनेवाली है (२-३-८)। इन संकेतों के आधार पर उसकी यह कल्पना की गई

---

(१) जीवन-निशीथ के अन्धकार! —इड़ा

(२) क. यह सारस्वत देश तुम्हारा तुम हो रानी!
ख. वहीं घर्षिता खड़ी इड़ा सारस्वत रानी —संघर्ष

(३) क. निस्वन दिगंत में रहे रुद्ध सहसा बोले मनु "अरे कौन
आलोकमयी स्मित चेतनता आई यह हेमवती छाया"
तंद्रा के स्वप्न तिरोहित थे बिखरी केवल उजली माया —वही
ख. जीवन-निशीथ का अन्धकार
भग रहा क्षितिज के अंचल में मुख आवृत कर तुमको निहार
तुम इड़े उषा-सी आज यहाँ आई हो बन कितनी उदार
कलरव कर जाग पड़े मेरे ये मनोभाव सोये विहंग —वही

(४) क. आह प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा
ख. आह प्रजापति होने का अधिकार यही क्या
ग. तुम पर हो अधिकार प्रजापति न तो वृथा हूँ —संघर्ष

(५) मैं शासक, मैं चिर-स्वतंत्र —वही

(६) तुम्हें तृप्तिकर सुख के साधन सकल बताया,
मैंने ही श्रमभाग किया फिर वर्ग बनाया। —वही

है। इड़ा का शासन अत्यन्त समृद्धिशाली है। मैक्डॉनल ने इला को समृद्धि की प्रतीक माना है। उनके अनुसार वह दुग्ध और नवनीत की हवि का मूर्त्तरूप है और इस प्रकार गौ से प्राप्त समृद्धि की प्रतिनिधि है।[1]

बुद्धि और समृद्धि की प्रतीक इड़ा का सारस्वत प्रदेश से सम्बन्ध अत्यन्त स्वाभाविक है। ऊपर सरस्वती, भारती और इड़ा के त्रैत की चर्चा की गई है। ऋग्वेद में सरस्वती केवल नदी के रूप में ही आई है, परंतु ब्राह्मण-ग्रंथों में वह वाक् और वेदोत्तरकाल में बुद्धि की देवी का रूप धारण कर लेती है। परंतु उसके रूप के इस विकास के संकेत पीछे के साहित्य में ढूँढ़े जा सकते हैं। ऋग्वेद १-३-१२ में वह ज्ञान उत्पन्न करनेवाली कही गई है। उसके किनारे यज्ञों में मंत्रोच्चार कर ऋषिगण इन्द्र-वृत्र-युद्ध में इन्द्र को स्फूर्ति प्रदान करते थे। वाजसनेयी संहिता में सरस्वती का वाक् द्वारा इन्द्र को स्फूर्ति प्रदान करने की चर्चा आई है (१९,१२)। इस प्रकार वाक् और परिणामस्वरूप बुद्धि से पीछे चलकर, उसका संबन्ध जुट जाना कुछ असम्भव नहीं। ऋग्वेद में सरस्वती और सिन्धु की बड़ी महिमा मिलती है। सिन्धु की तरह सरस्वती के तट समृद्धिपूर्ण थे। समृद्धि प्रदान करनेवाली (ऋग्वेद १-३-१०) सरस्वती के किनारे मनु और इड़ा की धन-धान्य से सम्पन्न संस्कृति का विकास स्वाभाविक है।

सारस्वत प्रदेश की भौगोलिक स्थिति पर हम पीछे विचार कर चुके हैं। ऋग्वेद में इला प्रदेश की चर्चा आई है। शतपथ में मनु प्रलय के बाद धीरे-धीरे हिमालय से नीचे उतरते जाते हैं और यहीं पर कहीं उनकी भेंट इड़ा से होती है। अविनाशचन्द्रदास अनुमान करते हैं कि इला प्रदेश यहीं हिमालय की तराई में स्थित होगा, क्योंकि यहाँ वर्ष को 'हिम' कहा जाता था (त्वामला शतहिमासि, ऋ० २-११-१)। प्रश्न उठता है कि क्या सारस्वत प्रदेश और इला प्रदेश एक ही भूखण्ड के विभिन्न नाम हैं अथवा दो भिन्न प्रदेश हैं? इला के साथ सम्बद्ध देखते हुए इला प्रदेश के साथ सारस्वत प्रदेश का सम्बन्ध अनुमित किया जा सकता है, परन्तु ऋग्वेद से प्राप्त संकेत इसके विरुद्ध पड़ते हैं। अग्नि जिस प्रदेश में जलाई जाती थी, उसी नाम से पुकारी जाती थी, जैसे सरस्वती के किनारे प्रज्वलित अग्नि सरस्वती कहलाती थी और इला प्रदेश में प्रज्वलित अग्नि इला। अग्नि के दो भिन्न नामों की चर्चा की आवश्यकता नहीं थी, यदि ये दो प्रदेश भिन्न नहीं होते।

इड़ा पर अधिकार करने के अपराध में मनु को देवताओं का कोपभाजन बनना पड़ता है। शतपथ में लिखा है कि इड़ा देवताओं की स्वसा थी। मनु ने उसके साथ बलात्कार करना चाहा जिससे रुद्र कुपित हो गये और उन्हें दण्डित किया (तं प्रजापतिरुद्रोभ्यावर्त्य विव्याध, १०१, ७, ४, ३)।[2] प्रसाद ने शतपथ के ही मन और

---

१. Ila, Nourishment, is the personification (mentioned less than a dozen times in the RV) of the offering of milk and butter, this representing plenty derived from the cow—Vedic Mythology, p. 124

२. आलिंगन! फिर भय का क्रंदन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्बल नारी परित्राण पथ नाप उठी!
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार, भयानक हलचल थी······ —स्वप्न

वाक् के युद्ध की ओर संकेत किया है जिससे दोनों के संघर्ष की पुष्टि होती है। स्वप्न में श्रद्धा को इन घटनाओं का पूर्वाभास मिल जाता है। वह घायल मनु के पास पहुँचती है और उनकी सेवा कर उनमें चेतना लाती है। डा० फतह सिंह ने (कामायनी-सौन्दर्य, पृ० १८४) इस स्थल का संकेत काठकसंहिता में यम की मृत्यु से सम्बद्ध एक दृश्य में पाया है जिससे पता चलता है कि यम की मृत्यु देवासुर-संग्राम की एक घटना थी और उनकी मृत्यु के बाद यमी उनके निकट थी।[1]

*अहर्वावासीन्न रात्री। सा यमी भ्रातरं मृतं नामृष्यत। तां यदपृच्छन् यम कर्हि ते भ्राता मृतेस्यद्येत्येवाब्रवीत् देवां अब्रुवन्नन्तर्देधामिदम्। इत्यादि (७–१०)*

श्रद्धा मनु का पथप्रदर्शन करती है और उन्हें आनन्दलोक तक ले जाती है। ऋग्वेद में यमी यम का पथप्रदर्शन करनेवाली बतलाई गई है (ऋ० १०-१५४) और श्रद्धा कामायनी के ऋषिका-रूप की ओर संकेत किया जा चुका है। मनु के ऋषित्व का उल्लेख भी ऋग्वेद में प्राप्त है। वहाँ वे एक सूक्त (८,२७-३३) के रचयिता हैं। आनन्द-सर्ग में उनका यही रूप प्रकट हुआ है। मनु जिस लोक तक पहुँचते हैं वह न केवल प्रसाद के अनुसार, वरन् वैदिक ऋषियों के अनुसार भी, मनुष्य जाति का गंतव्य है। उनके कार्यों को 'मनुष्वत्' कहकर अनुकरणीय माना गया है। वैदिक ऋषि विश्वेदेवा से प्रार्थना करता है कि आप मुझे मनु के परावर्त मार्ग से दूर नहीं ले जायँ (मा नः पथः पित्र्यान्मानवादधि दूरं नेष्ट परावतः)। कल्याण-पथ को प्राप्त करनेवाले मनु का उदाहरण देते हुए वह कहता है कि जिस कल्याण-पथ को विश्वेदेवा ने मनु को प्राप्त कराया, हम, पिता से पुत्र की तरह, तुमसे वही (कल्याण) माँग रहे हैं (१,१,६४,१)।[2] मनु जिस तत्त्व को उपलब्ध करते हैं, वह अद्वैत तत्त्व है। उनकी विश्वेदेवा की स्तुति में इसका संकेत प्रच्छन्न है, क्योंकि विश्वेदेवा, प्रजापति और विश्वकर्मन्—वैदिक साहित्य की वे ऐसी परिकल्पनाएँ हैं जिनमें हम उस युग के विकसित चिन्तन की परिणति पाते हैं। वे भिन्न-भिन्न देवताओं को एक मूल शक्ति में अन्तर्भुक्त करने के प्रयास हैं। परन्तु कामायनी के अद्वैतत्व की कल्पना प्रसाद की अपनी है जिसमें शैवदर्शन का अद्वैत और आधुनिक युग का मानवतावाद घुल-मिल गये हैं।

प्रसाद ने युग-अनुकूल वातावरण-निर्माण का जो कौशल अपने नाटकों में दिखाया था, उसका उपयोग कामायनी में भी हुआ है। वैदिक देवताओं और प्रथाओं-जैसे महत्त्वपूर्ण उल्लेखों द्वारा ही नहीं, वरन् यदा-कदा युग की वास्तविकता के क्षुद्र अंशों के उल्लेखों द्वारा भी वे हमें अपने अभीष्ट काल के जीवित सम्पर्क में ला देते हैं। उदाहरण के लिए उस काल में गांधार देश की भेंड़ें अपने ऊन के सौन्दर्य और मसृणता के लिए बहुत प्रसिद्ध थीं (ऋ० १-१२६-७; ४-३७-४)—

*मसृण गांधार देश के, नील*
*मेषवाले रोमों के चर्म*

---

१. उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यम मनु से अभिन्न हैं।

२ इसपर डा० फतहसिंह ने 'कामायनी-सौन्दर्य' में विस्तार के साथ विचार किया है।

ढँक रहे थे उसका वपु कांत
बन रहा था वह कोमल वर्म —श्रद्धा

अपने नाटकों की अपेक्षा कामायनी में, इसके रोमैंटिक स्वरूप के कारण, प्रसाद युग की वास्तविकता का वैसा चित्रण नहीं कर सके, परंतु वे उसकी चेतना को आत्मसात् करने में समर्थ हुए हैं जिसका प्रमाण अपने वातावरण के प्रति मनु की वह जिज्ञासामूलक दृष्टि है जिसे लोग रहस्यवाद का नाम देकर संतुष्ट हो जाया करते हैं।[१] वैदिक ऋषि प्रकृति के क्षुद्रतम व्यापारों को भी आश्चर्य की दृष्टि से देखता है। रात में दीखनेवाले सप्तर्षि दिन में कहाँ चले जाते हैं, लाल गौ उजला दूध कैसे देती है और यद्यपि सभी नदियों का जल समुद्र में गिरता है, फिर भी समुद्र भरता नहीं? कितने आश्चर्य की बात है कि सूर्य विना पाश से बँधे द्युलोक में भ्रमण करता रहता है और पृथ्वी पर नहीं गिर पड़ता? (ऋ० ४-१३-५) वैदिक मनुष्य की इन जिज्ञासाओं के आलोक में मनु की विस्मयमूलक उक्तियाँ कितनी स्वाभाविक लगती हैं! जान-अनजान में प्रसाद युग की चेतना को मनु में संक्रान्त कर उन्हें अपने काल का ऐसा प्रतिनिधित्व दे डालते हैं जिसकी ओर आलोचकों का ध्यान जाना चाहिए।

*

# राजनीति और शासन में बिहार की देन

## डॉ० विश्वनाथप्रसाद वर्मा

भारतवर्ष के इतिहास और संस्कृति में बिहार का एक गौरवशाली और विशिष्ट स्थान है। प्राचीन काल में बिहार काफी समय तक नेता और समय-निर्माण-कर्त्ता रहा है। आज के तथा भविष्य के इतिहास में भी बिहार का स्थान तेजस्वी ही रहेगा, इसकी सूचना हमें इसके प्रभावशाली अतीत के द्वारा मिल रही है। प्राचीन बिहार ने भारतीय राजनीति और शासन-नीति के क्षेत्र में क्या वैशिष्ट्य प्राप्त किया था, इसकी मीमांसा करने के लिए हमें अथर्ववेद से आरम्भ करना है। यदि ऋग्वेद के अन्दर उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी भारतीय सभ्यता के प्राचीनतम रूप दृष्टिगोचर होते हैं तो अथर्ववेद हमें पूर्व-प्रदेशीय संस्कृति का दर्शन कराता है। अथर्ववेद गौरवशाली और उदात्त शब्दों में घोषणा करता है "माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।" पृथिवी हमारी माता है, अर्थात् भारतवर्ष को हमें एक भौगोलिक स्थल के रूप में नहीं देखना है। भूगोल के पीछे, यहाँ

१ (क) महानील इस परम व्योम में अंतरिक्ष में ज्योतिर्मान,
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से सन्धान!
छिप जाते हैं और निकलते आकर्षण में खिंचे हुए;··· —श्रद्धा
(ख) मधुमय वसन्त जीवन वन के, बह अन्तरिक्ष की लहरों में;
कब आये थे तुम चुपके से रजनी के पिछले पहरों में! —काम

की प्रत्येक वस्तु में आच्छादनीय एक विराट्‌रूपिणी मातृस्वरूप का हमें दर्शन करना है। भारतवर्ष का राष्ट्रवाद इसी तेजस्विनी भावना से आन्दोलित था। आधुनिक युग में बंकिमचन्द्र, द्विजेन्द्रलाल राय और योगिराज अरविंद ने इसी मातृरूप का वर्णन किया है। भारतवर्ष को संसार में यदि सफल होना है तो हमें सामयिक क्षुद्र स्वार्थों का बलिदान करते हुए इस महती मातृभावना की उपासना करनी ही है। अथर्ववेद के द्वादश काण्ड में मंत्र है—

'सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति'—भारतीय राष्ट्रवाद को पुष्ट करने के लिए विशाल सत्य और महान् ऋत की आवश्यकता है। जो लोग राजनीति को भ्रम, मिथ्याजाल और स्वार्थों की दलदल बना रहे हैं, उन लोगों को यह मंत्र सावधान करता है। क्षुद्रता और सीमित दृष्टि से ऊपर उठकर जगद्व्यापी सत्य और ऋत की उपासना करना भारतीय धार्मिक और राजनीतिक जीवन का चरम लक्ष्य था। किसी भी महान् कार्य को करने के लिए दीक्षा और व्रत की आवश्यकता है। राजकीय जीवन एक तपस्या है, यज्ञ है; ब्रह्म, अर्थात् प्रकृष्ट अनन्त सनातन आदर्श की आवश्यकता है। अल्प और क्षुद्र के परे जाना होगा। भूमा को अपनाना होगा। संसार नाशवान् भोग के पीछे पागल होकर आत्मिक सत्य खो बैठा है। इसलिए अथर्ववेद में कहा है—"ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।" राष्ट्र की रक्षा केवल सैनिकों से नहीं हो सकती। धन इकट्ठा करना ही राजकीय जीवन का परम लक्ष्य नहीं है। राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को दीक्षित होना होगा और व्यापक परमार्थ की भावना से अनुप्राणित होना पड़ेगा। राजनीति के क्षेत्र में इतना व्यापक आदर्शवाद संसार के किसी भी आधुनिक साहित्य में नहीं मिलता; महान् यूनानी विचारक प्लेटो के 'रिपब्लिक' नामक ग्रंथ में ही इस प्रकार के उच्चाशय, निर्मल विचार प्राप्त होते हैं।

उपनिषत्काल में भी बिहार का राजकीय आदर्शवाद विशाल रहा। ज्ञान-शक्ति और ब्रह्म-शक्ति का समन्वित विकास करना इस युग का ध्येय था। इसी काल में उत्तरी बिहार में हम राजा जनक का नाम सुनते हैं। जनक राजकार्य में निपुण थे, किन्तु साथ-ही-साथ उपनिषद्वर्णित ब्रह्म का भी ज्ञान उन्हें था। इस युग के ब्रह्मवादी दर्शन के प्रणयन और सवर्धन में क्षत्रिय राजाओं का हाथ था। 'राजर्षिवाद' इस काल का महान् संदेश है। राजनीति की उपेक्षा कदापि नहीं करनी है, अन्यथा राष्ट्र वर्णसंकर हो जायगा। किंतु राजनीति को ही सर्वस्व नहीं समझना है। राजनीति के पीछे और परे व्यापक सत्य को प्राप्त करना है। केवल राजनीति में लिप्त रहने से अनेक प्रकार की एषणाएँ हमारा संहार कर देंगी। इसलिए राजनीति के साथ महान् आदर्शवाद का समन्वय करना है। इसी प्रकार का समन्वय हम योगिराज कृष्ण, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी के जीवन में पाते हैं।

उपनिषत्काल के बाद बिहार के राजकीय वैशिष्ट्य को दो रूपों में हम समझ सकते हैं—(१) गणतंत्रीय परम्परा और (२) साम्राज्यवादी परम्परा। गणतंत्रों में विदेह और वज्जियों के संघ-राज्य ही प्रसिद्ध हैं। वैशाली नगरी का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण है। इस नगर को रक्षा करने के लिए तिहरे परकोटों से घेरा गया था, जिनमें जहाँ-तहाँ गोपुर

और बड़े-बड़े द्वार बने थे। वज्जियों के प्रत्येक ग्राम के नेता को राजा कहते थे। तत्कालीन पालि और प्राकृत-साहित्य में इस प्रकार के ७००७ राजाओं तथा उनके उप-राजा, सेनापति आदि का वर्णन मिलता है। वज्जियों का संघराज्य प्रजातंत्रीय नहीं था, किंतु विशिष्ट कुलीय (Aristocratic republic था, अतएव इसकी तुलना एथेंस से नहीं, प्रत्युत स्पार्टा से हो सकती है। ये ७००७ राजा अपने ग्रामीण कार्यों के संचालन में स्वतंत्र थे। राज्य के व्यापक प्रश्नों के समाधान और संचालन के लिए एक परिषद् थी, जिसका निर्वाचित प्रधान होता था। वेदकाल से ही बिहार विचार-स्वातंत्र्य का पक्षपाती था, और इसीलिए ब्राह्मण-परम्परा में लिच्छवि, विदेह आदि जातियों को व्रात्य कहा है।

मगधराज अजातशत्रु साम्राज्यवादी था और राज्य तथा धन की लिप्सा के कारण लिच्छवि-गण पर वह अधिकार करना चाहता था। किंतु अपने प्रयत्न में असफल होने के कारण वह उनपर आक्रमण करने की तैयारी करने लगा। उस समय भगवान बुद्ध गृद्धकूट में निवास कर रहे थे। अजातशत्रु अपने अमात्य सुनीप और वस्सकार को बुद्ध के पास इस आशय से भेजा कि वे उनका मत जान सकें। उस समय, गणतंत्र की स्थिति अधिक दिनों तक कायम रहे, इसलिए बुद्ध ने सात नियम घोषित किये। (१) परिषद् की सभा नियमपूर्वक हो, और काफी सदस्य उसमें भाग लें। जबतक इस प्रकार की सभा होगी तबतक गणतंत्र उन्नति करेंगे। (२) एक भाव से अर्थात् सामूहिक एकता को ध्यान में रखते हुए सभाओं में एकत्र होना चाहिए और मिलकर उद्यम करना चाहिए। (३) विधान का निर्माण नियमपूर्वक होना चाहिए। कानून के अनुसार आज्ञा देनी चाहिए। बने हुए कानून तोड़ना अपेक्षित नहीं है तथा पुराने वज्जिधर्मों (राष्ट्रीय नियमों) के अनुसार ही वर्त्तमान कार्यों को सम्पादित करना चाहिए। (४) ज्ञान और अवस्था में वृद्ध लोगों का आदर-सत्कार होना चाहिए और उनकी श्रोतव्य बातों को मानना चाहिए। (५) कुल-स्त्रियाँ और कुल-कुमारियों का पूरा सम्मान होना चाहिए और किसी भी प्रकार उनका अपमान नहीं होना चाहिए। (६) परम्परा-प्राप्त चैत्यों का सत्कार होना चाहिए और पहले से दी हुई उनकी धर्मानुकूल बलि नहीं लेनी चाहिए। (७) अर्हतों की रक्षा अपेक्षित है, बाहर के अर्हतों को राज्य में आने की सुविधा हो और वे लोग राज्य में भ्रमण और उपदेश कर सकें।

प्राचीन बौद्ध-साहित्य में इन नियमों को 'सत्त अपरिहाणि धम्म' कहते हैं। इनसे स्पष्ट है कि भगवान बुद्ध केवल योग, वितृष्णा और निर्वाण का ही उपदेश नहीं करते थे। राजनीति में वर्णित भगवान बुद्ध के इन उपदेशों का वही स्थान है जो एथेन्स के राज-नीतिवेत्ता पेरिक्लिस के प्रसिद्ध व्याख्यान का है। आज भारतवर्ष के नूतन गणतंत्र को आचार्य बुद्ध से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। केवल इंग्लैण्ड और अमेरिका से हमें भिखारी के समान राजनीति की शिक्षा उधार नहीं लेनी है। बौद्ध-साहित्य और भगवद्-गीता तथा महाभारत में राजनीति के बड़े गम्भीर और विशद विवेचन हैं। बिहार को इस बात का गर्व है कि चरित्र और ज्ञान में बेजोड़ महात्मा बुद्ध को गया में सत्य-ज्ञान का बोध हुआ और राजगिरि के पास गृद्धकूट पर्वत के ऊपर गणतंत्रीय दर्शन पर उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण विचार प्रस्तुत किये।

बिहार के राजनीतिक जीवन का दूसरा रूप मगध के साम्राज्यवाद में व्यक्त हुआ। जरासंध के समय से ही यहाँ बड़े-बड़े साम्राज्यों के निर्माण की परम्परा चली थी। बिम्बिसार, अजातशत्रु महापद्मनन्द और चन्द्रगुप्त मौर्य ने इस साम्राज्यवाद को दृढ़ किया। चन्द्रगुप्त स्वयं हिमालय की तराई में स्थित पिप्पलीवन के मोरिय-नामक संघ-राज्य का निवासी था। तक्षशिला के तेजस्वी ब्राह्मण चाणक्य विष्णुगुप्त के साथ मिलकर यूनानियों को उसने भारत से निकाल दिया। चन्द्रगुप्त मगध-साम्राज्यवाद का जबर्दस्त संस्थापक था। उसके बाद बिन्दुसार और अशोक ने भी उसे दृढ़तर बनाया। भारतीय विद्वानों का विचार है, प्रसिद्ध 'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' इसी चन्द्रगुप्त के सहकारी कौटिल्य चाणक्य की रचना है, किन्तु प्रसिद्ध जर्मन विद्वान विण्टर नीत्स और अँगरेजी विद्वान कीथ का कहना है कि यह पीछे का रचा हुआ है और रचयिता ने प्रसिद्धि प्राप्त कराने के लिए ग्रंथकार के रूप में कौटिल्य का नाम दे दिया है। इतना स्पष्ट है कि मगध की वास्तविक शासन-प्रक्रिया का वर्णन इसमें नहीं है। मेरा विचार है कि यह ग्रंथ सैद्धान्तिक रूप से शासन-प्रणाली का वर्णन करता है। निस्सन्देह यह ग्रंथ एक महान् विद्वान् की लेखनी से प्रसूत है। इस ग्रंथ में चातुरन्त साम्राज्य की स्थापना का वर्णन है। व्यापक और गूढ़ राष्ट्रीय जीवन का वर्णन इसमें मिलता है। इसमें युद्ध-नीति और शांति, दोनों का बड़ा ही सुन्दर विवेचन है। किन्तु मण्डलयोनि, षाड्वंग, योगवृक्त और औपनिषदिकम् का समर्थक होते हुए भी कौटिल्य राजर्षिवृत्ति का पोषक था। राजा को अपने स्वधर्म का सर्वदा अनुवर्त्तन करना चाहिए, यही अर्थशास्त्र की मुख्य शिक्षा है। इसमें कहा है कि—'यथार्हदण्ड: पूज्य:'—दण्ड उचित होना चाहिए। राजकीय दण्डशक्ति का प्रयोग मत्स्यन्याय की अवस्था उपस्थित करता है, किन्तु विनय-विरुद्ध दण्ड नाश की ओर ले जाता है। धर्म और विनय के लिए ही दण्ड की व्यवस्था है। कौटिल्य के राजनीतिक दर्शन का सार, मेरे विचार से, निम्नलिखित श्लोकों में है—

*प्रजा - सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।*
*नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥*
*तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम्।*
*अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः॥*

इस प्रकार के महान् अर्थ की सिद्धि के लिए उत्थान और अप्रमाद की आवश्यकता है। अतएव कौटिल्य के अनुसार इन्द्रियजय अपेक्षित है—"कृत्स्नं हि शास्त्रमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवशेन्द्रियः चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।" इसलिए शत्रुषड्वर्ग को छोड़ने का उपदेश कौटिल्य ने दिया है—

*विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।*
*अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥*

जिस व्यापक राष्ट्रीय आदर्शवाद का सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से कौटिल्य ने प्रणयन किया था उसका चरम उत्कर्ष अशोक के जीवन और चरित्र में हुआ। राज्य-कार्य का भी प्रयोग धर्म और संस्कृति के लिए होना चाहिए, ऐसा उसका विचार था। अपने विचार

को उसने क्रियान्वित भी किया और सीरिया के राजा अन्तियोक द्वितीय, मिस्र के राजा ओलमाव किलादेल्कोस तथा मकदूनिया और अन्य पश्चिमी एशिया के राजाओं के पास भी उसने धर्मसदेश भेजे। चक्रवर्ती सम्राट् अशोक का, बौद्धधर्म की नीति-सम्मत धर्म-शिक्षाओं के प्रचार का, इस प्रकार का उद्योग, संसार के इतिहास में अद्वितीय है। अशोक के पुत्र महेंद्र और पुत्री संघमित्रा भी धर्मकार्य के लिए पटने के 'महेन्द्र घाट' से ही सिंहल द्वीप गये थे। पूर्वी और पश्चिमी एशिया के अन्य देशों में भी इस प्रकार का सांस्कृतिक और नैतिक उपदेश वितरित किया गया। किन्तु अशोक अपने राजकीय कार्य की उपेक्षा कदापि नहीं करता था। निम्नलिखित वाक्यों में उसका महान कर्मयोग व्यक्त होता है—

"मैं खाता रहूँ, या शयनकक्ष में रहूँ, प्रतिवेदक लोग प्रजा का कार्य मुझे बतावें, मैं सब समय प्रजा का कार्य करूँगा। जो कुछ आज्ञा मैं जबानी दूँ या अमात्यों को जो आत्ययिक कार्य सौंपा जाय, उस संबन्ध में विवाद या निज्झति (आपत्ति) होने पर मुझे सूचना देनी चाहिए।···लोगों के कार्य करने के सिवा मुझे अन्य काम नहीं है। जो कुछ प्रक्रम मैं करता हूँ····इसीलिए कि जीवों के ऋण से उऋण होऊँ···बिना उत्कट प्रक्रम के यह दुष्कर है।"

इससे स्पष्ट है कि जिस प्रकार के कर्मयोग का भगवद्गीता में वर्णन है, उसीका अनुसरण अशोक करता था। अशोक का राजकीय जीवन महान् संयम का पाठ पढ़ाता है। दुनिया में अन्य भी धर्मकार्यानुरत नेता हुए हैं, जैसे रोमन सम्राट् मादकस, औरेलियस तथा अमेरिकन नेता लिंकन; लेकिन प्रकृष्ट राजनीतिक शक्ति के साथ महान संयम का समन्वय किस प्रकार होना चाहिए, इसका उदाहरण हम अशोक में ही पाते हैं।

इस प्रकार विहार की देन अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। अथर्ववेद का राष्ट्रीय आदर्शवाद, जनक का राजर्षिव्रत, लिच्छवि गणतंत्र का राजकीय संगठन, बुद्ध भगवान् के सात महान् नियम, कौटिल्य का 'राज्ञो व्रतमुत्थानम्' और अशोक का धर्मयज्ञ बिहार की निर्मल राजनीति-धारा के तेजस्वी प्रतीक हैं।'

बिहार शक्ति का संदेशवाहक है—गुप्त सम्राटों का हूणों के साथ ऐतिहासिक समर इसका उदाहरण है, किन्तु शक्ति के साथ संयम, दम और नियम का समन्वय होना चाहिए—यही उसका सर्वतोभावेन उत्कृष्ट संदेश है।

❀

# राजस्थानी भाषा की शकुन-संबन्धी कहावतें

डॉ० कन्हैयालाल सहल, एम० ए०, पी-एच० डी०

## १. शकुन और जातीय चेतना

जिस जाति में किसी व्यक्ति का जन्म हुआ है, वह उस जाति के विश्वासों, भावनाओं, अभिरुचियों आदि को उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त करता है। मनुष्य जो कुछ दूसरों के मुख से निरन्तर सुनता रहता है उससे प्रभावित हुए विना नहीं रहता, चाहे वह उसके व्यक्तिगत अनुभव के विरुद्ध ही क्यों न पड़ता हो। जातीय चेतना व्यक्तिगत चेतना को

आक्रान्त कर लेती है । ऐसी स्थिति में आत्म-स्वीकृति ही प्राय: देखी जाती है, सत्यासत्य के तात्त्विक निर्णय का प्रयत्न नहीं किया जाता ।

आज भी हम देखते हैं कि यदि रास्ते में बिल्ली आ जाती है, शृगाल अथवा खर दायें बोलने लगता है, गाय बाईं तरफ आ जाती है, कोई विधवा स्त्री मिल जाती है, बूँदें पड़ने लगती हैं अथवा खाली घड़ा मिल जाता है तो बहुत-से मनुष्य अपनी यात्रा स्थगित कर देते हैं । ये सब वस्तुएँ उनके व्यक्तित्व का अंग बन गई हैं, क्योंकि बचपन से ही उनको इस तरह की बातों में विश्वास करना सिखलाया गया है । इस तरह के विश्वास व्यक्तिगत घटित घटनाओं के आधार पर ही बने हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, ये तो इस तरह के विश्वास हैं जिनको स्वत: स्वीकार कर लिया गया है । इस प्रकार के विश्वास सामाजिक संस्कारों का रूप धारण कर लेते हैं, उस हालत में व्यक्तिविशेष का कोई महत्त्व नहीं रह जाता । ऐसे समाज का प्रतिक्रियावादी व्यक्ति तो प्राय: सोचा करता है कि "मैं कौन होता हूँ जो अपने विद्वान् एवं अनुभवी पूर्वजों की मान्यताओं के विरुद्ध आचरण करूँ ? पूर्वजों ने जिन उपयोगी परम्पराओं का निर्माण किया है, मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उनको बनाये रखने में पूर्णत: योग दूँ ।"

सगुन-असगुन का संबन्ध केवल व्यक्ति से नहीं, किन्तु जैसा ऊपर कहा गया है, विशेषत: सामाजिक संस्कारों से है । शकुन-मनोविज्ञान का रहस्य तभी हृदयंगम किया जा सकता है जब व्यक्ति का विचार न कर वर्ग अथवा समूह पर हम अपनी दृष्टि रखें। जहाँ मस्तिष्क का बहुत अधिक विकास न हुआ हो, जहाँ विचारों की दृष्टि से मानसिक शैशव की अवस्था हो, वहाँ अत्यन्त उच्च बौद्धिक और धार्मिक स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती । पीढ़ी-दर पीढ़ी चली आती हुई परम्पराएँ शकुनों को चिरस्थायी बनाये रखने में बड़ा योग देती हैं । कभी-कभी तो यहाँ तक देखा जाता है कि आधुनिक युग का अत्यन्त उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति भी शकुनों के प्रभाव से बुरी तरह आक्रान्त है। केवल उस व्यक्ति की दृष्टि से विचार करने पर यह बात हमें बड़ी अजीब-सी लगती है, किन्तु जिन जातिगतसंस्कारों में उस व्यक्ति का पालन-पोषण हुआ है और जिस प्रकार के घर तथा समाज के वातावरण में वह अब भी अपना जीवन व्यतीत कर रहा है, उन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए यदि हम उस शिक्षित व्यक्ति के व्यवहार पर विचार करें तो सारा रहस्य खुलने लगता है । डा० जानसन तक के लिए प्रसिद्ध है कि वह शकुनों आदि में विश्वास रखता था ।†

## २. शकुन का महत्त्व

हमारे यहाँ तो इस विषय का एक अलग शास्त्र ही बन गया है जो शकुन-विद्या अथवा शकुनशास्त्र के नाम से विख्यात है । पद्मपुराण, अग्निपुराण तथा मुहूर्तचिन्तामणि आदि ग्रन्थों में शकुन-विद्या का सविस्तर वर्णन हुआ है । यह शकुनशास्त्र भी बहुत

---

† Dr. Johnson was a scrupulous observer of signs, omens, and particular days. (Select proverbs of All Nations by Thomas Fielding. P. 219.)

प्राचीन है। कुमार गौतम के जन्म के समय भी ज्योतिषी बुलाये गये थे और शकुन देखने-वाले लोग भी उस समय विद्यमान थे।[१]

राजस्थानी भाषा में भी शकुन से संबन्ध रखनेवाली अनेक कहावतें मिलती हैं। एक कहावत में कहा गया है—"मिनख सूण की दई रोटी खाय है" जिसका आशय यह है कि मनुष्य शकुन की दी हुई रोटी खाता है। शुभ शकुन होने पर ही मनुष्य को यात्रा में यथेच्छ धन-धान्यादि की प्राप्ति होती है, अन्यथा वह इधर-उधर भटककर खाली हाथों लौट आता है। शकुन की प्रशंसा में ही यह उक्ति कही गई है।

## ३. शकुन के विविध रूप

अकाल, बीमारी, मृत्यु आदि जीवन के विषादात्मक प्रसंगों तथा जन्म, विवाह, उत्सव आदि शुभ अवसरों से शकुनों का विशेष संवन्ध प्रायः सभी देशों में देखा जाता है। राजस्थानी भाषा की कहावतों में अनेक रूपों में शकुनों की अभिव्यक्ति हुई है।

**(क) शरीर के अंगों द्वारा शकुन-निर्धारण**—पुरुषों की दाहिनी आँख का फड़कना शुभ तथा बाईं आँख का फड़कना अशुभ समझा जाता है। इसके विपरीत स्त्री की दाईं आँख का फड़कना अशुभ और बाईं आँख का फड़कना शुभ समझा जाता है।

*आँख फड़ूकै बाईं, कै वीर मिलै कै साईं।*
*आँख फड़ूकै दहणी, लात-घमूका सहणी॥*

अर्थात् यदि स्त्री की बाईं आँख फड़के तो भाई मिले या पति मिले। यदि दाहिनी फड़के तो उसे लात-घूसा सहना पड़े।

अपने-आप विना किसी प्रयत्न के जब मनुष्य का कोई अंग फड़कने लगता है तब मानव का शिशु मन उसके साथ शुभाशुभ परिणाम की नियोजना कर लेता है। सामान्यतः मनुष्य अपनी इच्छा से अंगों का संचालन करता है, किन्तु जहाँ उसकी इच्छा के विना, अपने-आप उसका कोई अंग फड़कने लगता है तो मानव की आदिम मनोवृत्ति उसमें एक प्रकार की असाधारणता के दर्शन करने लगती है और अहेतुक-से प्रतीत होते हुए इस कार्य में वह शुभ अथवा अशुभ की कल्पना कर लेती है।

यह तो आँख-जैसे अंग के यत्किंचित् फड़कने के सम्बन्ध में हुआ, किन्तु नाक और मुँह से वेग के साथ सहसा छींक के रूप में जो प्रबल वायु-स्फोट होता है, उसके संबन्ध में विश्व के सभी देशों में यदि शकुन-अपशकुन का विचार किया गया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। चीनियों का विश्वास है कि यदि कोई साल की अन्तिम संध्या को छींके तो नव वर्ष उसके लिए अशुभ समझना चाहिए। जापानियों का कहना है कि यदि कोई एक बार छींके तो समझना चाहिए, कोई उसकी प्रशंसा कर रहा है, दो बार छींके तो जानना चाहिए, कोई उसकी निन्दा कर रहा है, तीन बार छींकना अस्वास्थ्य का द्योतक है। स्याम देश के लोगों का विश्वास है कि देवता हमेशा मनुष्य के पाप और पुण्य के हिसाब की किताब के पन्ने उलटते रहते हैं और जब जिसका पन्ना उनके सामने

१. बुद्धकालीन लोकजीवन, भरतसिंह उपाध्याय, सम्मेलन-पत्रिका, लोक-संस्कृति अंक, पृष्ठ १३८

होता है तब वह मनुष्य छींकता है। इसी कारण स्याम देश में छींकने पर कहा जाता है—'निर्णय आपके अनुकूल हो।' हमारे देश के हिन्दुओं में भी एक प्राचीन रीति है कि जब कोई छींकता है, तब कहते हैं 'शतं जीव' या 'चिरं जीव'। बुद्ध के जमाने में भी यह प्रथा प्रचलित थी। गग्ग जातक में बुद्ध ने छींक के बाद 'चीरं जीव' कहनेवाले अपने शिष्यों को आड़े-हाथों लिया था। हिन्दुओं में ही नहीं, यह प्रथा यूनानियों, रोमनों और यहूदियों में भी थी। अँगरेजों में भी जब कोई छींकता है तब पुरानी परिपाटी के लोग कहते हैं 'ईश्वर कल्याण करे।'[1]

राजस्थान में प्रचलित निम्नलिखित कहावर्ती दोहे के अनुसार यह माना जाता है कि भोजन करने, पानी पीने और सोने के समय छींक शुभ है; किन्तु दूसरे के घर जाते समय छींक एक प्रकार का अपशकुन है।

*छींकत खाये, छींकत पीये, छींकत रहिये सोय।*
*छींकत पर घर कदे ना जाये, आछा कदे न होय॥*

भोजन के लिए बैठते समय यदि किसी ने छींक दी तो वह शुभ है, क्योंकि वह किसी दूसरे के यहाँ निमंत्रण की पूर्व-सूचना समझी जाती है, किन्तु पराये घर जाने के समय यदि किसी ने छींक दी तो इससे दूसरों से लड़ाई होने की सम्भावना रहती है, इसलिए वह अशुभ है।

(ख) जातिविशेष द्वारा शकुन-निर्धारण—माथे पर विना तिलक किये हुए यदि ब्राह्मण मिल जाय तो वह अपशकुन समझा जाता है। राजस्थानी भाषा की एक कहावत में कहा गया है 'सूनै माथे बामण आछ्यो कोन्या।' किन्तु वही यदि तिलक किये हुए मिले तो सब आशाएँ पूर्ण हो जाती हैं—

*बामण जो तिलकाँ कियाँ सामो आय मिलंत।*
*सुकन विचारे पंथिया आसा सकल फलंत॥*

दर्पण हाथ में लिये हुए नाई का सामने मिलना भी अत्यन्त शुभ समझा जाता है—

*नाई सामो आवतो दरपण लीधाँ हाथ।*
*सुकन विचारे पंथिया आसा सह पूजन्त॥*

धुले कपड़े लिये हुए यदि धोबी सामने आ रहा हो तो वह रोजगार के लिए शुभ समझा जाता है—

*धोबी धोया कापड़ा सामो आय मिलन्त।*
*सुकन विचारे पंथिया पग-पग लाभ करन्त॥*

सुनार के लिए कहा गया है कि वह चाहे दाहिनी ओर मिले, चाहे बाईं ओर; वह किसी भी अवस्था में शुभ नहीं है।[2]

---

1. Vide, Sneezing Salutations Appendix. (The Ocean of story Vol. III edited by N. M. Penzer.)

२ आटो काँटो घी घड़ो खुल्लै केसाँ नार।
बावों भल्लो न दाहिणो त्याली जरख सुनार॥

(ग) **पशु-पक्षियों द्वारा शकुन-निर्धारण**—खर, शृगाल, गाय, तीतर, शकुन-चिड़िया, नीलटाँस आदि पशु-पक्षियों को दायें-बायें देखकर भी शकुन-निर्धारण किया जाता है। उदाहरणार्थ कुछ राजस्थानी कहावतें लीजिये—

*अ—बाँऊँ तीतर बाँऊँ स्याल बाँऊँ खर बोले असराल।*
*बाँऊँ घूघू घमका करै तो लंका को राज विभीषण करै॥*

अर्थात् तीतर, सियार, खर तथा उल्लू यदि निरन्तर बायें बोलें तो उतनी ही समृद्धि प्राप्त हो जितनी समृद्धि लंका का राज्य मिलने पर विभीषण को मिली थी। ध्वनि यह है कि विभीषण को भी लंका का राज्य मिलते समय ये ही शकुन हुए थे।

*आ—सदा भवानी दाहणी सन्मुख होय गणेश।*
*पाँच देव रिच्छा करें ब्रह्मा विष्णु महेश॥*

'भवानी' से तात्पर्य 'यहाँ सोनचिड़ी' अथवा 'शकुनचिरैया' से है जो दाहिनी आने पर शुभ समझी जाती है।

*इ—सींगालो दस जीमणी ज्यों जोवंतो जाय।*
*ओं सुकनाँ सूँ पंथिया पग-पग लाभ कराय॥*

अर्थात् दाहिनी तरफ आया हुआ बैल पद-पद पर लाभप्रद होता है।

*ई—गऊ सबच्छी आवती कबहुक साँमी होय।*
*सकुन विचारै पंथिया लषमी लाहो होय॥*

अर्थात् बछड़े-सहित गाय सामने मिलने पर लक्ष्मी प्राप्त होती है।

*उ—हस्ती सुंदर माँडियो साहमो जो आवंत।*
*सुकन विचारै पंथिया कि दिन अत दीपन्त॥*

अर्थात् सुसज्जित हाथी यदि सामने मिले तो शुभ समझा जाता है।

कहा जाता है कि यात्रा के समय यदि हरिण आ जायँ तो मृत्यु होती है।[1] एक प्रचलित लोकविश्वास के अनुसार प्रवास के लिए जाते समय हरिणों का दायें तथा लौटते समय बायें आना शुभ समझा जाता है।

किन्तु जहाँ भगवान का बल हो वहाँ शकुन कोई चीज नहीं समझा जाता। राजस्थान के एक कहावती दोहे में कहा गया है—

*हर बडा क हिरणा बडा सुगणा बडा क श्याम।*
*अरजन रथ नै हाँक दे भली करै भगवान॥*[2]

---

१. द्रष्टव्य 'कल्पना', वर्ष ३, अंक २ में प्रकाशित श्री मन्मथराय का 'पुराणों में वर्णित कुछ विद्याएँ' शीर्षक लेख, पृष्ठ १३५

२. मिलाइये— शुकुन भलाँ के शामलाँ, सारा माठाँ काम।
रथिड़ा रथ संकार जे, लइ नारायण नाम॥
राम-कथा, पृष्ठ ७७, शारदा, मई १९५४

प्रसिद्ध है कि एक बार हरिणों को बाईं ओर देखकर रथ हाँकने में अर्जुन को हिचकिचाहट होने लगी। इसपर किसी ने कहा—जब भगवान अनुकूल हों, तब शकुनों का क्या विचार ? हरि बड़े या हरिण बड़े ? शकुन बड़े या श्याम ? अर्थात् हरि अथवा श्याम ही बड़े हैं, हरिण और शकुन नहीं।

राजस्थान के वे योद्धा भी जो प्राणों को हथेली पर रखकर युद्ध के लिए प्रयाण किया करते थे, सगुन-असगुन का कोई विचार नहीं करते थे। राजस्थान के प्रसिद्ध कवि बाँकीदासजी कह गये हैं—

*सूर न पूछै टीपणौ, सुकन न देखै सूर।*
*मरणाँ नूँ मंगल क गणै समर चढ़ै मुख नूर ॥*

अर्थात् शूर-वीर ज्योतिषी के पास जाकर मुहूर्त नहीं पूछता, न वह शकुन को ही देखता है। वह तो मृत्यु को मंगलस्वरूप समझता है और युद्ध में उसके नूर चढ़ता है। राजस्थान के जिन वीरों ने धर्म और मान-मर्यादा की रक्षा के लिए मरण-महोत्सव मनाया, उनके लिए शकुन-अपशकुन का विचार कैसा ?

## ४. शकुनों का मनोविज्ञान

तो, क्या इसका अर्थ यह है कि कायरमनुष्य ही शकुन-अपशकुन के विचार से भयभीत होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें शकुनों के मनोविज्ञान पर विचार करना होगा। श्री लालजीराम शुक्ल के मतानुसार असगुन पर विचार करनेवाले व्यक्ति के मन में कोई मानसिक ग्रन्थि रहती है। इस ग्रन्थि के कारण उसका ध्यान असगुन पर ही आकर्षित होता है। बुद्ध भगवान का कथन है कि छिपा हुआ पाप ही मनुष्य को लगता है, खुला पाप नहीं लगता। जो व्यक्ति अपने खुले पाप को प्रकट कर देता है, उसका पाप नष्ट हो जाता है। आधुनिक मनोविश्लेषण-विज्ञान द्वारा मानसिक चिकित्सा का रहस्य भगवान् बुद्ध के उक्त कथन में निहित है। जब मनोविश्लेषण द्वारा रोगी अपने पुराने कुकृत्य को जानकर उसे स्वीकार कर लेता है तब उसका रोग नष्ट हो जाता है। जो व्यक्ति सदा स्वच्छ धारणाएं अपने मन में रखता है, जो दूसरे के अहित की बात मन में नहीं लाता, जो परोपकार में ही अपना समय व्यतीत करता है, उसका असगुनों की ओर ध्यान आकर्षित नहीं होता। यदि उसका ध्यान आकर्षित भी किया जाय तो वह उसमें भी कल्याणकारी भावना ही पाता है। जिसका मन जितना ही अधिक दूषित होता है, वह उतना ही अधिक कायर होता है। ऐसे व्यक्ति को अनेक प्रकार के दुःख होना अनिवार्य है। जब उसको वास्तविक दुःख नहीं रहता तब वह कल्पना से ही दुःख की सृष्टि कर लेता है। असगुन के विचार, उनको ध्यान में लानेवाले व्यक्ति को जितना त्रास देते हैं, उतना त्रास वास्तविक घटना में भी उनकी परवाह न करनेवाले व्यक्ति को नहीं होता।

शुक्लजी ने जो कहा वह ठीक हो सकता है, किन्तु ऐसा लगता है कि रहस्यमय अनागत के अज्ञान के कारण मनुष्य शकुन-अपशकुनों की ओर उन्मुख होता है। ऐसा करके वह चिर-सुख और चिर-जीवन की अपनी अभिलाषाओं को तृप्त करना चाहता है। तो फिर प्रश्न यह है कि अनागत घटनाएँ क्या शकुनों के रूप में अपना पूर्वाभास दे जाती

हैं ? आश्चर्य की बात तो यह है कि एक तरफ तो भाग्य की अमिटता-जैसे विश्वास हैं और दूसरी ओर शकुनों से लाभ उठाकर उस भाग्य को अपने अनुकूल बनाने का प्रयास है। शकुनशास्त्रियों की मान्यता है कि शकुन चाहे भविष्यवाणी के रूप में न हों, किन्तु इस प्रकार की चेतावनी वे अवश्य हैं जिनसे लाभ उठाने पर हम अनागत विपत्तियों से बच सकते हैं।

### ५. निष्कर्ष

विज्ञान की उन्नति होने से शकुन-अपशकुन पर लोग अपेक्षाकृत कम ध्यान देने लगे हैं, किन्तु, फिर भी कभी-कभी ऐसा जान पड़ता है कि अत्युच्च बौद्धिक तथा वैज्ञानिक विकास होने पर भी मनुष्यजाति शकुनजाल से अपने-आपको मुक्त नहीं कर सकेगी। जबतक ससीम मानव अपनी सीमाओं में बँधा है तबतक भौतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक वातावरणविषयक उसका ज्ञान तथा प्रकृति और मन की शक्तियों पर उसका नियंत्रण कभी सम्पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकेगा। अज्ञात और अज्ञेय की भावना उसे सर्वदा दिग्भ्रान्त करती रहेगी, प्रकृति और मन की शक्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए वह छटपटाता रहेगा। एक क्षेत्र पर विजय प्राप्त कर लेने पर नित नये-नये क्षेत्र उसकी कल्पना के सामने आते रहेंगे। यदि अनागत का आवरण हट जाय, विश्व का रहस्य ज्ञात हो जाय तो शकुन-अपशकुन का प्रश्न ही न रहे। जीवन का अज्ञात-अनन्त रहस्य शकुन-भावना को प्रोत्साहन देता है—इतना प्रोत्साहन जिसे देखकर हमारी बुद्धि हैरान हो जाती है। मनुष्य का जन्म ही छटपटाने के लिए हुआ है—उस अज्ञात-अनन्त का पता लगाने के लिए। आधुनिक युग की सुप्रसिद्ध कवयित्री भी इसका साक्ष्य भर रही है—

*तोड़ दो यह क्षितिज, मैं भी देख लूँ उस ओर क्या है।*

जहाँ तक राजस्थानी जनता का संबन्ध है, उसकी अधिकांश संख्या शकुन-अपशकुन की भावना से आक्रान्त है। बहुत सम्भव है, ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ेगा, यह भावना मन्द पड़ती जायगी। किन्तु सर्वांश में इसका उन्मूलन हो सकेगा, ऐसा नहीं कहा जा सकता।

❀

# आन्ध्र-कवि-सार्वभौम श्रीनाथ

श्री बालशौरि रेड्डी

तेलुगु-साहित्य के इतिहास में विजयनगर-साम्राज्य का काल स्वर्णयुग माना जाता है। उसके उपरांत रेड्डी राजाओं का युग अपना अच्छा-सा स्थान रखता है। रेड्डी राजाओं ने स्वयं काव्य-रचना ही नहीं की, अपितु अनेक कवियों को भी अपने दरबारों में आश्रय देकर उनके द्वारा ग्रंथ रचवाये हैं। यों तो असंख्य कवि इन राजाओं के आस्थानों में थे; परन्तु उन सबमें श्रीनाथ महाकवि अत्यंत श्रेष्ठ माने जाते हैं।

**जन्मस्थान**—अनेक प्राचीन कवियों की भाँति इनके जन्मस्थान के संबन्ध में भी विद्वानों में मतभेद है। लेकिन अधिकांश आलोचकों के निर्णय के अनुसार श्रीनाथ महा-

कवि का जन्म आन्ध्रदेश के दक्षिण भाग में स्थित पाकनाटि सीमा में हुआ था। यह प्रांत वर्तमान समय के नेल्लूर जिले के ओंगोल के अंतर्गत है। स्वयं कवि ने भी अपने जन्म-स्थान के संबन्ध में अपने 'भीमेश्वरपुराण'-नामक काव्य में संकेत किया है। उसके अनुसार 'कालपट्टण' इनका जन्मस्थान ठहरता है। कुछ आलोचकों के मतानुसार यह कालपट्टण कृष्णा जिले में स्थित कालीपट्टण बताया जाता है।

श्रीनाथ के कुछ पद्यों में वर्णित विषय को लेकर विद्वानों ने संदेह किया कि ये कर्णाटक-निवासी तो नहीं हैं! किंतु यह बिलकुल निराधार विषय है। महाकवि कर्णाटक राजा के दर्शन के लिए गये, तो कर्णाटक भूमि में पाँव धरते ही उन्होंने प्रार्थना की—"हे कर्णाटक-राज्यलक्ष्मी! क्या मुझपर आपकी कृपा नहीं है?" इतने मात्र से कवि को आन्ध्रवासी होने में संदेह प्रकट करने की आवश्यकता नहीं है। भक्तिवश लोग किसी नये प्रदेश में प्रवेश करते समय प्रार्थना करते हैं।

महाकवि के जन्मकाल के संबन्ध में भी यही बात है। श्री जयंति रामय्यापंतुलुजी इनका जन्म ई० सन् १३६० मानते हैं, तो श्री वीरेशलिंगम १३६५ और श्री चिलुकूरि वीरभद्ररावजी १४२२। कुछ लोग तो १३८० भी मानते हैं। परन्तु इनके जीवन-काल के संबन्ध में समुचित निर्णय करने के लिए हमें कोई भी प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं होता। हाँ, कवि ने अपनी रचनाओं के संबन्ध में 'काशीखंड' में उल्लेख किया है, जिससे हम यह निर्णय कर सकते हैं कि उन्होंने अपनी रचनाएँ किस अवस्था में की हैं।

*चिन्नारि पोन्नारि चिरुतकूकटि नाडु*
*रचियिंचिति मरुत्तराट्चरित्र*
*नूनूगु मीसाल नूत्न यौवनमुन*
*शालिवाहन सप्तशति नुडिविति*
*संतरिंचिति निंडु जव्वनंबुन यंदु*
*हर्षनैषध काव्य मांध्रभास*
*प्रौढ निर्भर वय:परिपाकमुन गोनि*
*याडिति भीम नायकुनि महिम*
*प्रायमिंतकु मिगुल ग्रैवाल कुंड*
*गाशिका खंडमनु महाग्रन्थमेनु*
*तेनुगु जेसेद गर्नाट देश कटक*
*पद्मवन हेलि श्रीनाथ भट्ट कविनि*

**भावार्थ**—बचपन में मैंने 'मरुत्तराट्चरित्र' की और किशोरावस्था में शालिवाहन-सप्तशती की रचना की। यौवनकाल में 'नैषध-काव्य' का आन्ध्रीकरण (आन्ध्रभाषा में अनुवाद), अधेड़ उम्र में 'भीमपुराण' और बुढ़ापे के पूर्व ही 'काशीखंड'-नामक महाकाव्य का अनुवाद किया। मेरा नाम श्रीनाथ भट्टकवि है।

श्रीनाथ महाकवि द्वारा कथित इस पद्य के द्वारा उनके काल की वयःपरिमिति का इस प्रकार निर्धारण किया जा सकता है—

बचपन यानी १५ वर्ष की अवस्था में मरुत्तराट्चरित्र,
किशोरावस्था १७—२० के लगभग शालिवाहनसप्तशती,
पूर्ण यौवन—२५—३५ शृंगारनैषध,
अधेड़ उम्र—४०—४५ भीमपुराण,
बुढ़ापे के करीब—५०–५५ काशीखण्ड ।

इस पद्य में कवि ने अपने द्वारा रचित 'पंडिताराध्यचरित्र' का उल्लेख नहीं किया है। वह काव्य संभवतः शृंगारनैषध के अनुवाद के पूर्व यानी २०–२५ वर्ष की अवस्था के मध्य में रचा होगा । स्वर्गीय श्री कंदुकूरिवीरेशलिंगमपंतुलुजी ने, जो आधुनिक तेलुगु-गद्य-साहित्य के युगनिर्माता माने जाते हैं, बताया है कि श्रीनाथ ने अपनी ६० वर्ष की आयु के बाद 'भीमपुराण' रचा और ७० वर्ष की उम्र के उपरान्त काशीखण्ड का निर्माण किया ।

इस महाकवि के मृत्युकाल के संबन्ध में भी वाद-विवाद है। १४७० को अधिकांश लोग मानते हैं ।

श्रीनाथ महाकवि को शिक्षा-दीक्षा अपने पितामह पद्मनाभामात्य से ही प्राप्त हुई । वे ही इनके गुरु थे । वे संस्कृत, प्राकृत और तेलुगु के बहुत बड़े पंडित थे । महाकवि श्रीनाथ ने अनेक स्थलों पर अपने पितामह के पांडित्य की अच्छी प्रशंसा की है ।

महाकवि श्रीनाथ ने अपने समय को विद्या-गोष्ठी, काव्य-रचना इत्यादि में बिताया । ये अनेक वर्षों तक कोंडवीडु तथा राजमहेन्द्री के रेड्डी राजाओं के दरबारों में रहे थे । महाकवि वहाँ न केवल आस्थान-कवि थे, अपितु शिक्षाविभाग के अधिकारी भी थे । ये अपने आश्रयदाताओं द्वारा स्वर्णाभिषिक्त होकर धन्य हुए थे । इन्होंने अपने जीवनकाल में धन की बहुत बड़ी राशि एकत्र की और उसे भोग तथा दान में खर्च भी कर दिया । अतिथिपूजा, ब्राह्मणधर्म आदि के निर्वाह द्वारा प्रथम पुरुषार्थ को और शिवभक्त हो, ईश्वर की उपासना करते, चतुर्थ पुरुषार्थ को भी प्राप्त कर लिया । इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों को प्राप्त कर अपने जीवन को धन्य बनाया । किंतु अपने अवसान-काल में महाकवि को दारिद्र्य से पीड़ित होकर अनेक कठिनाइयाँ भोगनी पड़ीं । इस तरह हिंदी-साहित्य के कवि रहीम का स्मरण हमें हो जाता है । अन्य विषयों में हम इनकी तुलना बिहारीलाल और केशवदास के साथ कर सकते हैं । महाकवि बड़े रसिक थे, साथ-ही-साथ भक्त भी । इनकी शैली प्रौढ़ होने के कारण ये साधारण लोगों के लिए दुर्बोध रहे हैं ।

**रेड्डी राजाओं के दरबार में**—महाकवि के प्रथम आश्रयदाता कोंडवीडु राज्य के रेड्डी राजा थे । इस वंश में पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के पुत्र वेमारेड्डी अच्छे रसज्ञ और पंडित थे । इनके मंत्रियों को श्रीनाथ ने अपनी कृतियाँ समर्पित कर दरबार में स्थान प्राप्त कर लिया । तदुपरान्त प्रधान शिक्षाधिकारी बनकर श्रीनाथ ने २० वर्षों तक कार्य किया । इनके आश्रयदाता वेमारेड्डी ने 'अमरुक'-नामक संस्कृत-काव्य की व्याख्या लिखी

हैं ।[१] चार-पाँच कवियों ने इस काव्य का तेलुगु में अनुवाद किया है । इस संबन्ध में यह दंतकथा प्रचलित है कि श्रीनाथ ने ही अमरुक-काव्य की व्याख्या पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के नाम से की है ।

राजा वेमारेड्डी के दरबार में संस्कृत और तेलुगु के अनेक कवि थे । उनमें वामन-भट्ट ने 'पार्वतीपरिणय' (प्रबंधकाव्य), वेमभूपालचरित्र (गद्यकाव्य) और नलाभ्युदय-नामक संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की है । 'वेमभूपालचरित्र' में प्रारंभ से वेमारेड्डी तक के समस्त रेड्डी राजाओं के चरित्र वर्णित हैं । वेमभूपाल ( वेमारेड्डी ) ने 'साहित्य-चिंतामणि'-नामक एक आलंकारिक ग्रन्थ भी लिखा है । इनके अलावा उन्होंने कई ग्रन्थ और टीकाएँ रची हैं। अन्नपाडु के शिलालेख में इस राजा की उपाधि 'सर्वज्ञचक्रवर्ती' उल्लिखित है । महाकवि श्रीनाथ और वेमारेड्डी की कृतियों में कहीं-कहीं समानता दिखाई देती है । इसलिए पंडितों का कहना है कि इन दोनों ने रचना-निर्माण में एक दूसरे की सहायता की होगी ।

इतिहास बताता है कि वेमारेड्डी ई० सन् १४०० में कोंडवीडु राज्य के सिंहासन पर बैठे और २० वर्षों तक राज्य किया । इसी समय श्रीनाथ भी उनके दरबार में थे, परंतु उन्हें अपनी कोई भी कृति समर्पित नहीं की ।

वेमारेड्डी की मृत्यु के उपरांत श्रीनाथ राजमहेन्द्रवर में स्थित दुव्वूरिरेड्डी राजाओं के दरबार में गये और उस वंश के वीरभद्ररेड्डी को 'काशीखण्ड'-नामक अपना काव्य समर्पित किया । कोंडवीडु और दुव्वूरिरेड्डी राजाओं में सभी दृष्टियों से आदान-प्रदान होता था । इन रेड्डी राजाओं के वंशों के साथ श्रीनाथ का संबन्ध लिपटा हुआ है । इसलिए यदि हमें श्रीनाथ का पूर्ण परिचय प्राप्त करना है तो इन रेड्डी राजाओं के इतिहास को जानना अत्यन्त आवश्यक हो जाता है, परन्तु हम यहाँ विस्तार के भय से उनका वंशवृक्ष नहीं दे रहे हैं ।

**शिक्षा-विभाग के अधिकारी के रूप में**—शिलालेखों से पता चलता है कि श्रीनाथ महाकवि ने पेदकोमटि वेमारेड्डी के आस्थान में २० वर्षों तक शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष के पद पर काम किया । उस समय उनका कार्य यों था —(१) राजाओं द्वारा किये जानेवाले दानों का दान-पत्र लिखना, (२) अवकाश के समय राजसभा में विद्या-गोष्ठियाँ चलाना, (३) राजसभा में आनेवाले पंडितों के पांडित्य की जाँच करके उन्हें उचित पुरस्कार द्वारा सम्मानित करना, (४) राजा के पठनीय ग्रंथों के कठिन स्थलों का अर्थ बताना, (५) राजा की ग्रंथ-रचना का पर्यवेक्षण और सहायता पहुँचाना, (६) समस्या-पूर्ति में गुण-दोषों का विवेचन करना और कभी-कभी समस्याओं की पूर्ति करना, (७) प्राचीन

---

१ 'अमरुक' शृंगाररस-प्रधान है । इसकी अनेक व्याख्याएँ हैं । इस ग्रंथ के लेखक के [illegible] में विद्वानों में मतभेद है । कुछ पंडितों का कथन है कि जब श्रीशंकराचार्यजी ने मण्डन मिश्र की पत्नी के साथ कामशास्त्र पर शास्त्रार्थ करने के लिए परकाय-प्रवेश विद्या द्वारा अमरुक राजा के मृत शरीर में प्रवेश किया, तब इस ग्रन्थ की रचना की । कुछ विद्वानों के कथनानुसार अमरुक कवि ने ही इसकी रचना की ।

और आधुनिक ग्रंथों की पांडुलिपियाँ तैयार कराना और (८) राजपंडितों के लिए आवश्यक पुस्तकें मँगाना तथा पुस्तकालय का पर्यवेक्षण करना ।

उपर्युक्त कार्यों के साथ-साथ इन बीस वर्षों की अवधि में श्रीनाथ ने श्रीहर्ष-कृत नैषध का तेलुगु में शृंगारनैषध नाम से अनुवाद किया । यह अनुवाद न होकर स्वतंत्र प्रबंध-जैसा है और तेलुगु के पंच-महाकाव्यों में एक माना जाता है ।

राजा पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के समय के १३ शिलालेख अभीतक प्राप्त हुए हैं । इनमें अधिकांश शिलालेख श्रीनाथकविसार्वभौम-कृत हैं । समय-समय पर रचित ये लेख कलवपामुल, कसुकुर्रु, पोन्नुपल्लि, पिनपाडु, फरंगिपुर, आलपाडु, रुद्रवरम, नंदमूरु, पोट्लपाडु, मूलंगूरम्म, कुरुनूतल, पुल्लरिबोडु शिलालेख कहलाते हैं । इनमें अधिकांश ताम्रशासन हैं । तेलुगु में ये शिलालेख अथवा ताम्रलेख शासन कहलाते हैं । इनमें कुछ शासन (शिलालेख) पद्यों में और कुछ गद्य में हैं ।

पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के निधन के उपरांत उनके पुत्र राय वेमारेड्डी गद्दी पर बैठे । श्रीनाथ इनके भी दरबार में रहे । १४२४ के लगभग इन्हें कोंडवीडु छोड़ना पड़ा ।

महाकवि कई राजाओं के यहाँ रहे । परन्तु केवल राजाओं को ही नहीं, बल्कि अनेक मंत्रियों, धनियों एवं मित्रों को भी अपनी कृतियाँ समर्पित कीं । इनकी कृतियों के कृतिभर्त्ता कई हैं । महाकवि ने 'पंडिताराध्यचरित्र' मामिडि प्रेग्गडामात्य को, 'शृंगारनैषध' इनके भाई सिंगनामात्य को, 'हरविलास' अपने बाल्य-मित्र अवसितिप्पयसेट्टि-नामक एक वैश्य को, 'काशीखंड' देसटि वीरभद्रा रेड्डी को, 'भीमेश्वरपुराण' बेंडपूडि अन्नमंत्री (ये वीरभद्रा रेड्डी के मंत्री थे) को, 'धनंजयविजय' दंतुलूरि गन्नभूपाल को तथा 'शिवरात्रि-माहात्म्य' शांतप्या को समर्पित किया है ।

महाकवि श्रीनाथ अपने जीवनकाल में अनेक राजाओं के दरबारों में गये और वहाँ अच्छा सम्मान प्राप्त किया तथा उपाधियाँ भी पाईं । इसका उल्लेख उन्होंने निम्नलिखित पद्य में किया है—

*दीनारटंकाल दीर्थ माडिंचिति*
*दक्षिणाधीशु मुत्याल शाल*
*बलुकुतोडै आन्ध्रभाषा महाकाव्य*
*नैषध ग्रन्थ संदर्भमुनक*
*बगुल गोट्टिंचितुद्भट विवाद प्रौढ़ि*
*गौड डिंडिमभट्टु कंचुढक्क*
*जंद्रशेखर क्रियाशक्ति देवरायल वद्द*
*बादुकोलिपति सौर्वभौम बिरुद*
*मेटुल मेप्पिंचेदो नन्नु निंकमीद*
*रावु सिंग महीपालु धीविशालु*
*निडु कोलुवुन नेलकोनि युंडि नीवु*
*सकल सद्गुण निकुरंब शारदांब !*

भावार्थ—हे भारती ! अबतक आपकी कृपा मेरे ऊपर रही। आप ही की कृपा के कारण मैंने दक्षिणाधीश (देवराय) की 'मुत्यालशाला' (मोतीभवन) में स्वर्णाभिषेक प्राप्त किया। यह सम्मान आपकी वाणी· द्वारा आन्ध्र भाषा का महाकाव्य 'शृंगार-नैषध' रचने के कारण ही प्राप्त हुआ है। शास्त्रार्थ में गौड़ डिंडिम भट्ट को पराजित कर उनके काँसे के ढक्के ( वड़े ढोल ) को फोड़वा दिया। चन्द्रशेखरक्रियाशक्ति-उपाधि-धारी देवराय के समक्ष कविसार्वभौम की उपाधि पाई। अब रावसिंगम महीपाल की सभा में जा रहा हूँ। यहाँ पर भी आपकी कृपादृष्टि रहे,– यही आपसे मेरी विनती है।

ई० सन् १४१० के लगभग प्रथम सर्वज्ञ सिंगमनाय ने महाकवि श्रीनाथ का असाधारण सम्मान किया था। शिलालेखों तथा अन्य ऐतिहासिक आधारों से पता चलता है कि उस समय महाकवि रेड्डी राजाओं के दरबार में शिक्षाधिकारी के पद पर थे। ऐसी दशा में वे कर्णाटक राजाओं के यहाँ कैसे गये ? इस संशय का उत्तर यों है—एक दरबार के कवि को अपने पांडित्य का प्रदर्शन कर गौरव या सम्मान प्राप्त करने के लिए दूसरे राजाओं के दरबारों में जाने पर उस समय कोई बन्धन नहीं था। जैसे भ्रमर मधु-संचय के लिए विविध वृक्षों पर जाता है और मधु-संपादन कर अपने स्थान में लौट आता है, वैसे ही कवि सहृदय, विद्याप्रेमी और साहित्य-मर्मज्ञ राजाओं के दरबार में जाकर, उनके द्वारा आदर एवं सम्मान प्राप्त करके, अपनी यशश्चन्द्रिका को चतुर्दिक् फैलाने के लिए निर्बन्ध था।

उपर्युक्त पद्य के आधार पर इसका भी निर्णय हो जाता है कि श्रीनाथ का कनकाभिषेक प्रथम देवराय ने ही किया था। सर्वज्ञ सिंगमनाय की राजसभा में जाते समय ही श्रीनाथ ने सरस्वती से प्रार्थना की थी कि वहाँ पर इस गौरव का अपमान न हो। उन्हें इसके पूर्व ही स्वर्णाभिषेक प्राप्त हुआ और सार्वभौम की उपाधि भी उपलब्ध हुई। कर्णाटक राज्य के संगमवंशी राजा ही देवराय थे। संगमवंश में देवराय-नामधारी चार राजे हुए हैं। उनमें प्रथम देवराय ने ई० सन् १४०६ से १४२२ तक और द्वितीय ने १४२२ से १४४७ तक राज्य किया था। शेष दोनों श्रीनाथ महाकवि के उपरान्त हुए हैं। ऐतिहासिक सूत्रों की छानबीन से प्रथम देवराय का समय ही श्रीनाथ के लिए ठीक बैठता है।

श्रीनाथ ने स्वयं कहा है कि चन्द्रभूषणक्रिया-शक्ति देवराय के समक्ष 'कविसार्वभौम'-नामक उपाधि प्राप्त की है। द्वितीय देवराय के समय में चन्द्रभूषणक्रिया-शक्ति उपनामधारी कोई व्यक्ति नहीं था। ताम्रलेखों से विदित हो गया है कि चन्द्रभूषण-क्रियाशक्ति उपाधिधारी व्यक्ति विजयनगर के राजाओं के कुलगुरु थे। इससे यह भी स्पष्ट है कि प्रथम देवराय ने ही चन्द्रभूषणक्रियाशक्ति-विरुदावली ( उपाधि ) प्राप्त की थी। इन्हीं प्रथम देवराय के दरबार में डिंडिमभट्टारक-नामक कवि को हराकर श्रीनाथ महाकवि ने 'कविसार्वभौम' उपाधि के साथ कनकाभिषेक भी प्राप्त किया था।

**एक दंतकथा**—कोंडवीडु से प्राप्त एक ताम्रपत्र में यह वृत्तांत है कि राजा पेदकोमटि वेमारेड्डी ने एक ही स्तम्भवाला महल बनवाया,। उसकी अद्भुत कला और कारीगरी की सर्वत्र चर्चा थी। प्रसंगवश श्रीनाथ ने देवराय की सभा में इसका उल्लेख किया

इसपर देवराय ने भी अपनी राजधानी में उसी प्रकार का महल बनवाने की अभिलाषा से, इस कला का अध्ययन करने और इसमें दक्षता प्राप्त करने के लिए, कुछ कारीगरों एवं शिल्पियों को रेड्डी राजाओं की राजधानी कोंडवीड़ भेजा। इस सौध-निर्माण का उल्लेख श्रीनाथ ने अपनी सूक्तियों (चाटुओं) में किया है।

इससे हमें भली-भाँति पता चलता है कि उस समय केवल काव्य-कला का ही विकास नहीं हुआ; बल्कि अन्य ललित कलाओं का भी समुचित रूप से विकास होता रहा। देश की आर्थिक दशा अच्छी थी। लोग कला-प्रेमी थे। राजा के विद्वान होने के कारण, कलाओं की उन्नति भी उस समय में हुई।

**डिंडिम की कहानी**—'दीनार टंकाल····' नामक पद्य में वर्णित है कि श्रीनाथ ने गौड़ डिंडिम भट्ट के काँसे के ढक्के (बड़े ढोल) को फोड़वा दिया। यह डिंडिम भट्ट कौन थे? वास्तव में 'डिंडिम' एक वाद्यविशेष है। राजसभा में जिस व्यक्ति के जाते समय यह डिंडिम बजाया जाता है, उसे डिंडिम या डिंडिम भट्ट कहकर पुकारने की परिपाटी उस समय प्रचलित थी। अर्थात् उस व्यक्ति को 'डिंडिम' की उपाधि प्राप्त थी। ये डिंडिम उपाधिधारी चार व्यक्ति हुए हैं। उनमें द्वितीय डिंडिम को श्रीनाथ ने प्रथम देवराय के दरबार में पराजित किया था। इस द्वितीय डिंडिम भट्ट का असली नाम 'अरुण गिरिनाथ' था।

उपर्युक्त पद्य में श्रीनाथ ने प्रौढ़ राय का उल्लेख किया है। यह देवराय का विशेषण मात्र है। श्रीनाथ ने अपनी कृतियों में देवराय का 'वीरप्रताप' और 'प्रौढ़' शब्द जोड़कर उल्लेख किया है। शिलालेखों में हमें इसका उल्लेख मिलता है।

श्रीनाथ ने अपनी कृतियों में अपनी उपाधियों का उल्लेख किया है। शृंगारनैषध और शिवरात्रि-माहात्म्य में 'सकलविद्यासनाथ श्रीनाथनामधेय' नाम से अपना परिचय दिया है तो भीमेश्वरपुराण तथा हरविलास में 'सुकविजनविधेय श्रीनाथनामधेय' कहा है और भीमेश्वरपुराण के चौथे और छठे उच्छ्वासों में 'सुकविजनविधेय, कविसार्वभौम श्रीनाथनामधेय' कहकर अपनी उपाधि का उल्लेख किया है।

**श्रीनाथ का काव्य-सौन्दर्य**—एक लोकोक्ति है—'पंडित कवि नहीं हो सकता।' पर, वह श्रीनाथ के प्रति लागू नहीं हो सकती। तर्क और व्याकरण में श्रीनाथ ने जो असाधारण पांडित्य प्राप्त किया, उसका अपने लोकानुभव के साथ समन्वय कर, तेलुगु-साहित्य को प्रदान किया है। गंगा की धारा में भी उतार-चढ़ाव हो सकते हैं, परन्तु उनकी कविता-धारा समान रूप से प्रवाहित होती दिखाई देती है। कविता का प्रारम्भ भले ही कठिन प्रासों से उन्होंने किया हो, परन्तु यति और प्रासों के चुनाव में निरर्थक शब्दों का प्रयोग नहीं किया। एकरस कविता रचने की कला उन्हें प्राप्त थी। उनकी कविता संस्कृत-शब्द-बहुला होती हुई भी मृदु, मधुर एवं अत्यन्त मनोहर है। रसराज शृंगार का वर्णन इन्हें अत्यन्त प्रिय था। संदर्भ के अनुसार अतिस्वाभाविक रूप से अनेक लोकोक्तियों एवं कहावतों का अपनी कविता में समावेश कर अपनी रचनाओं को तेलुगु-साहित्य के लिए अलंकारप्राय बना दिया है। श्रीनाथ बहुमुखी प्रतिभा रखते थे। उनका काव्यादर्श बाद के कवियों के लिए अनुकरणीय रहा है। कविता की

दृष्टि से देखा जाय तो तेलुगु में महाकवि तिक्कना के उपरान्त उन्हीं का स्थान माना जाता है।

कुछ लोग श्रीनाथ की कविता को कठिन कहते हैं। वास्तव में वह कठिन है भी। परन्तु 'राधामाधव' के कवि चेल्लय (राधामाधव कवि) ने श्रीनाथ की कविता की बड़ी प्रशंसा की है। 'सूनास्त्रप्रमदामदस्फुरित····' नामक पद्य इसका अच्छा उदाहरण है। केवल चेल्लय कवि ने ही नहीं, बल्कि असंख्य कवियों ने अपने काव्यों के प्रारंभ में पूर्व-कवि-स्तुति के अन्तर्गत श्रीनाथ की विशिष्टता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। महाकवि रेड्डी राजाओं के समय के 'कविता-महल' के प्रधान स्तम्भ माने जाते हैं। इन्होंने अपनी कविताओं, शैलियों तथा आदर्शों के द्वारा उस युग का प्रतिनिधित्व किया है। इसीलिए रेड्डी राजाओं का समय तेलुगु-साहित्य में 'श्रीनाथ-युग' नाम से विख्यात है।

**श्रीनाथ की कृतियाँ**—महाकवि की रचनाओं में विशेष ख्यातिप्राप्त काव्य शृंगार-नैषध है। यह आठ उच्छ्वासों का काव्य है। यह कृति महाकवि ने पेद्दकोमटि वेमारेड्डी के महामंत्री मामिडि सिंगय्या को समर्पित की है। श्रीहर्ष-कृत संस्कृत नैषध का यह आन्ध्रीकरण (आन्ध्रभाषा में अनुवाद) है। इस काव्य के संबन्ध में पंडितों ने कहा है कि 'नैषधं विद्वदौषधम्'। हर्ष-रचित नैषध के संबन्ध में ऐसी अनेक कथाएं प्रचलित हैं, जो उसके कठिन होने का परिचय देती हैं। कठिन काव्य होने पर भी उसमें वर्णित भाव अत्यंत मनोहर हैं और पंडितों के लिए आनन्ददायक हैं। महाकवि ने यह भी लिखा है कि कृतिपति सिंगनामात्य संस्कृत नैषध का बराबर अध्ययन करते हुए उस काव्य का आनन्द लेते थे।

नैषध के आन्ध्रीकरण में श्रीनाथ ने जो रीति अपनाई उसका इस प्रकार काव्य के अन्त में उल्लेख किया है—

"महाकवि हर्षकृत शृंगारनैषध का मैं तेलुगु भाषा में, अशेष मनीषियों के हृदयंगम योग्य रीति में–शब्द का अनुसरण कर, अभिप्राय (भाव) को समझ, रस-पोषण अलंकार-भूषणों द्वारा परिपुष्ट बना करके औचित्य का आदर, अनौचित्य का अनादर कर मातृकानुसार कहूँगा।"

इस काव्य की भाषा को लोग अत्यंत कठिन बतलाते हैं, परन्तु संस्कृत भाषा में रचित नैषध का अनुवाद होने के कारण, उसके भावगांभीर्य को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि श्रीनाथ कवि की भाषा सहज ही बन पड़ी है। इससे भी कठिन भाषा का प्रयोग अनेक तेलुगु कवियों ने किया है। संस्कृत के विद्यार्थी भी काव्यपंचक के अध्ययन के उपरांत ही नैषध पढ़ना प्रारंभ करते हैं।

**भीमेश्वरपुराण**—इस काव्य के 'गोदावरीखण्ड' और 'भीमखण्ड' नामान्तर हैं। कवि ने 'बंधुरसपादलक्ष··' नामक पद्य में बताया है कि स्कन्दपुराणान्तर्गत गोदावरी-खण्ड-नामक एक भाग का यह आन्ध्रीकरण है। यह भाग स्कन्दपुराण का सार माना जाता है। इस कथावस्तु को ग्रहण कर कवि ने उसे प्रबन्ध-काव्य का रूप प्रदान किया। इसमें गोदावरीमण्डल में स्थित द्राक्षाराम तीर्थ तथा वहाँ पर प्रतिष्ठित श्री भीमेश्वर की महिमा विशेष रूप से वर्णित है। इस संबन्ध में एक दंतकथा भी प्रचलित है कि दक्ष ने यहीं पर यज्ञ किया था जिसे वीरभद्र ने नष्ट किया।

इस क्षेत्र (तीर्थ) के संबन्ध में एक कथा और प्रचलित है कि महर्षि व्यास को काशी नगरी में एक सप्ताह तक भोजन नहीं मिला। इससे वह क्रुद्ध होकर काशी को शाप देनेवाले थे। इसी समय अन्नपूर्णा देवी ने भोजन देकर उनके क्रोध का शमन किया। लेकिन शिवजी ने महर्षि द्वारा काशी की निन्दा सुनकर, कुपित हो, आज्ञा दी कि महर्षि उनकी नगरी (विश्वनाथपुरी) में रहने योग्य नहीं हैं। इसपर महर्षि व्यास काशी को छोड़कर दक्षिण आये और महर्षि अगस्त्य के दर्शन किये। उनके द्वारा दक्षिण के पुण्य-क्षेत्रों का ज्ञान प्राप्त कर, दक्षिण काशी कहे जानेवाले द्राक्षाराम और वहाँ के आराध्य देव भीमेश्वर की उपासना करते हुए काशीत्याग के दुःख को भूलकर यहीं पर रह गये। यही इस काव्य की कथावस्तु है।

इस काव्य में श्रीनाथ ने अनेक स्थलों पर वाराणसी ( काशी ) और द्राक्षाराम को अभिन्न माना है। 'दक्षिणकाशीनगरमु द्राक्षारामंबु भीमधाममु···' नामक पद्य इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

**काशीखण्डमु**—महाकवि के काव्यों में श्रृंगारनैषध के बाद काशीखण्ड ही अत्यंत महत्त्वपूर्ण माना जाता है। संस्कृत में रचित स्कन्दपुराण के विभिन्न खण्डों में से यह भी एक है। इसी खण्ड के आधार पर यह काव्य रचा गया है। महाकवि ने एक पद्य में बतलाया है कि स्कंदपुराणसंहिता के ५० खण्ड हैं। इनमें 'आनंदवन' (काशी) का वर्णन भाव, कथोपकथन इत्यादि श्रोता और वक्ता के लिए भी आनंददायक है। इसलिए मैंने इस काशीखण्ड के अनुवाद का उपक्रम किया।

'नैषधं विद्वदौषधम्' की भाँति पंडित इस काव्य को 'काशीखण्डमयःपिण्डम्' कहते हैं। काशी तीर्थ का दूसरा नाम 'आनंदवन' है। यह काव्य सात उच्छ्वासों में समाप्त हुआ है। इसमें काशी तीर्थ तथा वहाँ के विभिन्न देवी-देवताओं का माहात्म्य वर्णित है। यही नहीं, गोदावरीमण्डल के द्राक्षाराम, कोटिफलि, राजमहेन्द्रवर, भद्राचलम् आदि पुण्य-तीर्थों तथा गौतमी, काशी, वृद्ध गौतमी इत्यादि पवित्र नदियों की महिमाएँ—अगस्त्य महर्षि की तीर्थ-यात्रा के संदर्भ में, भक्तों के लिए आनंददायक शैली में वर्णित हैं।

इसके अलावा संदर्भ के अनुसार नारी-धर्म इत्यादि के साथ, समान शत्रु के होने पर कैसे सभी प्रकार के सुख अरुचिकर हो जाते हैं, इन सबका वर्णन किया है। अंत में कवि ने बताया है कि नाना प्रकार के शास्त्रों का अभ्यास, धनार्जन, संतान-प्राप्ति आदि में ही सारा समय बिताया है, परंतु काशीनाथ के भजन और अर्चन की ओर ध्यान नहीं दिया। फिर महर्षि व्यास के बारे में भी कहा है कि आपने अनेक पुराणों की रचना की···सब-कुछ किया, सबका ज्ञान रखते हुए पुण्य गुणों की राशि काशी नगरी की निन्दा कैसे की ?

**हरविलासमु**—संस्कृत भाषा में बालभारत, बालरामायण, विद्धशालभंजिका, कर्पूरमंजरी तथा काव्यमीमांसा-नामक ग्रन्थ रचकर विशेष ख्याति प्राप्त महाकवि राज-शेखर ने 'हरविलास'-नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी। श्रीनाथ की कृति को उक्त ग्रन्थ का अनुवाद बताया जाता है। परन्तु तेलुगु में वह हरविलास इस समय उपलब्ध नहीं है। वह सात उच्छ्वासों का प्रबन्ध था। उसमें शिवजी की लीलाएँ वर्णित थीं।

**पलनाटिवीरचरित्रमु**—यह 'मंजरीद्विपद'-नामक छन्द में रचित पद्य-काव्य है। कुछ लोग इसे श्रीनाथ की रचना नहीं मानते हैं। इसमें कई दोष भी दिखाई देते हैं। यह आन्ध्र देश की एक प्रधान ऐतिहासिक घटना के आधार पर निर्मित है।

महाकवि श्रीनाथ ने समय-समय पर अनेक चाटूक्तियाँ कही हैं। हम यहाँ एक उदाहरण दे रहे हैं—महाकवि पलनाडु प्रदेश (वर्तमान गुंटूर जिले) में भ्रमण कर रहे थे। उन्हें जब कहीं भी पानी प्राप्त नहीं हुआ तब अपने इष्टदेव शिवजी से प्रार्थना करते हैं—

*सिरिगल वानिकि जेल्लुनु*
*दरुणुलु पदियारुवेल दग वेड्लाहन्*
*दिरिपेमुन किद्दरांड्रा !*
*परमेशा ! गंग विडुमु पार्वति चालुन।*

हे ईश्वर ! यह कार्य तो धनियों का है। वे चाहें तो हजारों पत्नियाँ रख सकते हैं। आप तो मधुकरी करके जीनेवाले हैं। आपके लिए दो पत्नियों की आवश्यकता ही क्या? पार्वतीजी को रख लीजिए और गंगा को छोड़ दीजिए।

**महाकवि के समकालीन**—श्री वेटूरि प्रभाकरशास्त्रीजी के मतानुसार महाकवि बम्मेर पोतना इनके समकालीन हैं। कुछ विद्वानों का तर्क है कि पोतना का जन्म श्रीनाथ के बाद हुआ है। अनेक ऐतिहासिक एवं साहित्यिक प्रमाणों द्वारा यह सिद्ध हुआ है कि महाकवि पोतना केवल श्रीनाथ के समकालीन ही नहीं, अपितु उनके बहनोई भी थे। इनके रिश्ते के संबन्ध में अनेक प्रकार की कथाएँ आज भी प्रचलित हैं। पोतना ने आन्ध्र-महाभागवत की रचना की है। उसे सुनकर श्रीनाथ महाकवि ने किसी राजा को समर्पित कराकर पोतना की आर्थिक दशा सुधारनी चाही; परंतु पोतना ने न माना, वे कृषिकार्य को ही पसंद करते थे। निःशंक कोम्मना, भैरवकवि, पिल्लल मर्रिपिन वीरन्ना आदि भी इनके समकालीन थे।

**श्रीनाथ का चरित्र और स्वभाव**—कुछ पंडितों का विचार है कि श्रीनाथ महाकवि लंपट और अपव्ययी थे। उनके ग्रंथों से पता चलता है कि वे शृंगार-प्रिय व्यक्ति थे। परन्तु इतने मात्र से उनके चरित्र पर कलंक नहीं लगाना चाहिए। वे सदा-सर्वदा राजा-महाराजाओं की महासभाओं में महापंडितों के समक्ष विद्या-गोष्ठी द्वारा अपना समय बिताते थे। शिवभक्त थे। महामंत्रोपासक थे। उनके काव्यों में शृंगार रस के साथ-ही-साथ समान रूप से शान्त रस का भी पोषण हुआ है। भक्ति और नीति का प्रबोध किया गया है। जब वे कोंडवीडु में रेड्डी राजाओं के यहाँ शिक्षाधिकारी के पद पर थे, तब कितने ही पंडित शिष्य उनके घर पर ही भोजन किया करते थे। यह उनकी उदारता और स्नेह का परिचायक है।

देवरळय ने इनका स्वर्णाभिषेक किया तो महाकवि ने उस धन को ब्राह्मणों और पंडितों में बाँट दिया। किसी के पूछने पर उन्होंने जवाब दिया था—'स्नानोदक का पान करना उचित नहीं है।' महाकवि जिस समय घर पर नहीं रहते थे, उस समय का पूरा खर्च मैलार रेड्डी राजा वहन किया करते थे। अन्तिम समय में भी एक ग्राम कौल पर लेकर

कृषिकार्य करना प्रारंभ किया; परन्तु किसी के यहाँ जाकर दान नहीं माँगा। ये आत्माभिमानी थे। भीमपुराण और काशीखंड के कुछ पद्यों द्वारा पता चलता है कि ये अधिक भोजनप्रिय थे। प्रतिदिन स्वयं पंचभक्ष्यों से पूर्ण भोजन करते और दूसरों को भी कराते थे। धन के संबन्ध में महाकवि ने कहा है—

*दानमु भोगमु नाशमु*
*पूनिकनो नीमूड्ड गतुलु भुवि धनमुनकुन्*
*दानमु भोगमु नेरुगनि*
*धनमुनकुन गति तृतीयमे पोसगन्।*

इस संसार में धन की केवल तीन ही अवस्थाएँ हैं—दान करना, भोगना अथवा व्यर्थ ही नाश। जो धन दान और भोग को नहीं जानता है अर्थात् इन दोनों में लगाया नहीं जाता है, उसकी अवस्था तीसरी (नाश) ही है।

इस सूक्ति से परिचित व्यक्ति क्या धन का संग्रह करना चाहेगा? प्रकृति और स्वभाव के सौंदर्य-वर्णन करने से अथवा विलासार्थ रचित कुछ पद्यों को आधार मानकर कवि-स्वभाव का निर्णय करना न्यायसंगत नहीं है।

**महाकवि की अवसानदशा**—श्रीनाथ ने अपना अधिकांश जीवन सुखपूर्वक ही व्यतीत किया; परन्तु बुढ़ापे में उन्हें अनेक कष्ट भोगने पड़े। कृष्णा नदी के तट पर स्थित बोड्डुपल्ले-नामक गाँव में जमीन कौल पर लेकर खेती प्रारंभ की तो बाढ़ के कारण सारी फसल नष्ट हो गई। जमींदार को कौल की रकम चुका नहीं पाये। अधिकारी इन्हें अनेक यातनाएँ देने लगे। इसी दशा में महाकवि का देहान्त हो गया। इस वर्णन को पढ़ते समय हमारा हृदय द्रवीभूत हो जाता है। स्वयं कवि के शब्दों में उनकी अन्तिम दशा का वर्णन सुनिए। यहाँ हम केवल भावार्थ दे रहे हैं। "मैं जब राजपथ से निकलता तब इस कविराज के कंठ में हाथी माला पहनाता। विद्वान वीरभद्रा रेड्डी द्वारा अच्छी प्रशंसा और सम्मान पाया।··अंत में कृष्णा नदी ने खेती की कुछ फसल नष्ट कर दी तो तिल और मूँग को पक्षियों ने समाप्त कर दिया। बोड्डुपल्ले को कौल पर लेकर मैंने धोखा ही खाया। अब मैं कौल के ७०० रुपये कैसे चुकाऊँ? वीरारेड्डीजी तो ईश्वर में जा मिले, अब मुझे रत्नजटित वस्त्र कौन देगा? देवराय का देहान्त हो गया है, अब कस्तूरी का खर्च कौन सँभालेगा? विस्सत्र मंत्री का स्वर्गवास हो गया है, अब किसकी पंक्ति में स्वर्ण-थाल में भोजन करूँगा? राजा मैलाररेड्डी कैलास गये हैं, इस समय प्रतिदिन का खर्च कौन वहन करेगा? भास्कार तो पहले ही इस पृथ्वी को त्यागकर चले गये। आगे इस कलियुग में रहने से कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होंगी। यह सोचकर मेरा हृदय फटा-सा जा रहा है। इसलिए अब मैं अमरपुरी की यात्रा कर रहा हूँ।"

कविसार्वभौम श्रीनाथ का तेलुगु-साहित्य में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और वे मध्ययुग के प्रतिनिधि कवि थे। प्रबन्धों के निर्माण की नींव डालने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है।

❀

# मालव और मालव-जनपद

श्री सूर्यनारायण व्यास

महामालव और अवंती-जनपद की सीमा के विषय में पुरातन ग्रंथों और इतिहासकारों में मत-पार्थक्य प्रतीत होता है। यदि आक्रांता महान् सिकन्दर का मालव-गणों ने पंजाब प्रदेश में शौर्य के साथ मुकाबला किया था, तो वे मालव पंजाब में कहाँ से आये थे? क्या वे वहीं के थे? तो, आज के मालव में उनका आगमन कब और कैसे हुआ? और कब से इस प्रदेश का मालव नाम-संस्कार हुआ? ये प्रश्न विचार और अनुशीलन की अपेक्षा रखते हैं।

पुराण के मालव और मल्लों की संगति बिठाने की भी आवश्यकता है। इसी प्रकार अवंती के विषय में वराहमिहिर, राजशेखर तथा कुछ अन्य विद्वानों ने देश-वर्णन में जो उल्लेख किया है, वह विचारणीय हो जाता है। उन्होंने अवंती और मालव को स्वतंत्र और एक दूसरे से अलग माना है, जबकि आज अवंती और मालव में किसी प्रकार का पार्थक्य नहीं माना जाता। मालव-प्रदेश और अवंती-प्रदेश एक ही समझे जाते हैं, और इनकी सीमाएँ विन्ध्य के अंचल से लेकर नर्मदा-उपत्यका और वेत्रवती तथा बूँदी की पर्वत-शृंखला के अन्तर्गत मानी जाती हैं। भाषा तथा संस्कार भी इसका समर्थन करते हैं। अवश्य ही आज इस सीमा के कुछ भाग मध्यप्रदेश एवं राजस्थान से संयुक्त हैं, किन्तु जिस प्रकार अँगरेजी शासनकाल में अप्राकृतिक प्रदेश-विभाजन हुआ था, उसी प्रकार आज के शासकों ने भी इतिहास और संस्कृति को ध्यान में रखे विना विभाजन का कार्य किया है और कर रहे हैं।

कामसूत्र के लेखक वात्स्यायन ने अवंती के रहनेवालों को उज्जयिनी-देश का निवासी माना है—'आवंतिका उज्जयिनीदेशभवाः' और उन्हीं को 'अपरमालवीय' (ता एवापरः मालव्यः) माना है और अपरमालव के पश्चिम में लाट (गुजरात) को सूचित किया है (अपरमालवपश्चिमेन लाटविषयः)। उन्होंने नर्मदा के दक्षिण भाग को दक्षिणापथ कहा है। यह भी ठीक ही है। स्वयं नर्मदा मालव और दक्षिणापथ की प्राकृतिक विभाजक रेखा है, परन्तु बौद्ध-युग में माहिष्मती के भाग को पश्चिम-मालव कहा गया है। विदिशा के भाग को पूर्व-मालव तथा आकर-अवंती सूचित किया है और दशपुर को उत्तर-मालव। अवंती मध्य-मालव के नाम से ज्ञापित हुई है। विष्णुपुराण ने 'मालव' शब्द में समस्त मालव-प्रदेश की एकता स्वीकार की है—'कारुषा मालवाश्चैव पारियात्रनिवासिनः'।

स्कन्दपुराण, महाभारत और भागवत-काल में भी अवंती एवं मालव को पृथक् नहीं माना गया और अवंती को केन्द्रविन्दु मानकर ही मालव कहा गया।

काव्य-शिक्षाकार विनयचंद्र ने देश-वर्णन में जिन देशों की चर्चा की है, उनमें—'मालव-लोहित' में मालव प्रयुक्त कर 'कुरुकाहलकामरूपकांच्यवन्ती' में अवंती को स्वतंत्र सूचित किया है, और उसकी जनसंख्या 'अष्टादश लक्षाणि द्विनवत्यधिकानि मालवो देशः' अर्थात् १८ लाख ९२ हजार की बतलाई है।[1]

---

१ स्कंदपुराण में मालव के ग्रामों की संख्या ११८१८० है। (कुमारखण्ड, अ० ३९)

परंतु अभिधानचिन्तामणिकार ने—'मालवाः स्युरवन्तयः'—मालवीयों को 'आवंतिक' ही कहा है ।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता में 'आवंतोऽथानर्तो' कहकर 'प्रस्थल-मालव-कैकय' में मालव का पृथक् उल्लेख किया है और इस प्रदेश का नदियों के नाम इस प्रकार दिये हैं—'शोणस्य नर्मदाया भीमरथायाश्च पश्चिमार्धस्थाः । निर्विन्ध्या-वेत्रवती-सिप्रा-गोदावरी-वेणा ।'

राजशेखर ने अवन्ती, पारियात्र एवं दशपुरीयों को भूत-भाषा का जानकार कहा है (आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते) । उसने भाषा-दृष्टि से इस प्रदेश को एक, और आवंतिक ही कहा है ।

भरत-नाट्य-शास्त्र के १३ वें अध्याय में आवंतिक और मालव के दाशार्णों और वैदिशिक (भेलसा) को भी अलग बतलाया है, पर इन सभी को एक आवंती-रीति माननेवाले कहा है । यथा—

आवंतिका वैदिशिका सौराष्ट्रा मालवास्तथा ।
सैन्धवास्त्वथ सौवीरा आनर्तास्सार्बुदेयकाः ॥
दाशार्णास्त्रैपुराश्चैव तथा वैमर्शिका मताः ।
कुर्वन्त्यावन्तिकामेते प्रवृत्तिं नित्यमेव तु ॥

यह नाट्य-प्रवृत्ति आवंती के उक्त देशों में नित्य-प्रचलित है, यह कहते हुए भी, आवंतिक, मालव, वैदिशिक (भेलसा के) तथा दशार्णों के एक प्रदेशस्थित रहते हुए भी, उनकी स्वतंत्रता सूचित की है ।

जिस प्रकार भौगोलिक और प्राकृतिक कारणों से हमारे देश और दिशा-विभाजन की मान्यता है, उसी प्रकार खगोल की दृष्टि से भी तारों से दिग्विभाजन होता है, जैसे चित्रा और स्वाती के तारे के बीच का प्रदेश प्राची है, उसीके अनुसरण से प्रतीची, ध्रुव के कारण उदीची (उत्तर) और उसके अंतर में विदिशा (भेलसा) आदि । इसमें केवल विदिशा को गृहीत किया गया, और भागों का उल्लेख नहीं है । हाँ, राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जनपदों की चर्चा की है । वहाँ पुनः अवंती और मालव को दो स्वतंत्र जनपदों के रूप में प्रदर्शित किया है । और विदिशा को भी भिन्न बतलाया है,—'ततः सोऽवन्तीन्प्रत्युच्चचाल, यत्राऽवन्तीवैदिशिसुराष्ट्रमालवाऽर्बुदभृगु-कच्छादयो जनपदाः ।'' अवश्य ही इस पृथक्ता में भी यह स्पष्ट कहा है कि उनका आचरण और बोलचाल, दोनों एक दूसरे से भिन्न हैं—

यज्जल्पितं यच्चरितादिकं तदन्योन्यसंभिन्नमवन्तिदेशे ।

बहुत समय पूर्व डॉ० सिल्वन लेवी ने एक प्राकृत पद्य प्रकाशित किया था । पता नहीं, उसका आधार क्या है ? परंतु उसमें अवंती की केन्द्रीय भूमि 'माहिष्मती' बतलाई है—

दन्तपुरं कलिङ्गानां अस्सकानां च पोटनम् ।
माहिस्सती अवंतीनां सोवीरानां च रोरुकम् ॥[1]

१. नोटस् इंडियन्स, जन० १९२५, पृ० ४८

और, हेमचंद्र ने अभिधानचिन्तामणि में एक 'कुमालव' शब्द अंकित किया है (भूमिकांड, २६) । संभव है, पं० भगवद्दत्तजी के अनुसार यह छोटा मालव होगा । परन्तु यह सौवीर गणराज्य के अन्तर्गत था । अलबेरूनी इसे मुलतान के पास के प्रदेश में सूचित करता है। वैसे सौवीर का स्वतंत्र वर्णन अष्टाध्यायी की काशिका वृत्ति, भास के नाटक आदि में तथा आयुर्वेद-ग्रंथों में भी है, किन्तु वहाँ मालव की कहीं चर्चा नहीं है। इसी तरह वाल्हिक देश में क्षुद्रक और मालवों को आयुधजीवी कहा गया है (काशिका वृत्ति।५।३।११४)। महाभारत–कर्णपर्व में वाल्हिक में अनार्य-निवास बतलाया है । संभव है, इन अनार्यों के उच्छेदन के लिए आयुधजीवी (सैनिक) मालवों को रखा गया हो। क्षुद्रक मालवों का वर्णन प्रायः महाभारत में कई स्थलों पर आया है । पतंजलि ने भी (महाभाष्य) इनकी चर्चा की है । मालव का वर्णन सभापर्व ( ७८-७० ) में भी आया है । ये गेहूँ के पात्र भरकर युधिष्ठर को अर्पण करने के लिए लाये थे, और यह सभी जानते हैं कि मालवभूमि गेहूँ के लिए प्रख्यात है, वे यहाँ से यह उपहार ले गये हों ! इससे यह प्रतीत होता है कि महाभारत-युद्ध-काल में जो मालव योद्धा गये थे, वे उत्तर भारत में कुछ समय रहे हैं, परन्तु कुछ इतिहासज्ञ आधुनिक फिरोजपुर (पंजाब) से लगे हुए भाग को उस प्रदेश का मालव मानते हैं । पंजाब के मालव उदीच्य-मालव कहे गये हैं और सौराष्ट्र से संलग्न प्रतीच्य-मालव । अवश्य ही उदीच्य और प्रतीच्य मालव महाभारत में (भीष्मपर्व, ११७।३३।११९।८५ और द्रोणपर्व ७।१५) युद्ध-काल में संयुक्त थे । और कर्णपर्व के इस श्लोक—

*मालवा मद्रकाश्चैव द्राविडाश्चोग्रकर्मिणः ।* —५०, अ० २

—के अनुसार भी महाभारत-युद्ध में उनका सहयोग था । किंतु उज्जैन के विन्द और अनुविन्द ने भी पाण्डव-युद्ध में भाग लिया है, यह महाभारत——भागवत स्पष्ट बतलाता है । इससे यही खयाल होता है कि अवंती से जाकर ही इनके सैन्य ने उदीच्य में संघर्ष किया, शौर्य किया, उन्हें पंजाब के मालव समझने या मानने की आवश्यकता नहीं।

एक समस्या यह भी सामने आती है कि दशार्ण देश मालव से संयुक्त रहा है । ऊपर हम बतला चुके हैं कि अवंती या मालव जनपद में एक भाग को दशार्ण कहा है, परन्तु महाभारत तथा कुछ पुराणों में उसे मध्यदेश में (भीष्मपर्व, ९।३९-४२, वायु ४५।१०-१११, ब्रह्माण्ड पू० भा०, मत्स्य ११४।३४।३६ आदि) रखा है ।[1]

११वीं शती के राजशेखर ने मध्यदेश की व्याख्या—'यो मध्ये मध्यदेशो निवसति सततं' की है । इससे आज जिस प्रदेश का नाम मध्यदेश कहा जाता है, वह न होकर मध्यभारत ही होना चाहिए । जिस प्रकार चेदि के लिए विद्वानों में मतभेद है, कुछ बुंदेलखण्ड को चेदि मानते हैं, और कुछ त्रिपुरी को; परन्तु कलचुरियों के समय में यह विस्तार ठेठ मालव तक हो गया था । उनकी राजधानी अनर्घराघव के (७।११५) मतानुसार माहिष्मती हो गई थी । इसी के शासक शूर की कन्या राजाधिदेवी की शादी आवन्त्यराज से हुई थी, और उसी के पुत्र विन्द-अनुविन्द थे । ये ही महाभारत-युद्ध में अवंती से

---

१. दशार्ण देश पर हम स्वतंत्र रूप से लिखेंगे, विदिशा के पास के प्रदेश का नाम ही दशार्ण है ।

जाकर सम्मिलित हुए थे, और इन्हीं के घर आकर भगवान श्रीकृष्ण ठहरे थे, उज्जैन में विद्याध्ययन किया था, और इनकी बहन मित्रविन्दा से विवाह किया था।

पं० भगवद्दत्तजी ने विन्ध्य-पृष्ठवर्ती जनपदों का पुराणों के आधार पर (वायु ४५, १३१,१३४, ब्रह्माण्ड २।१६। ६३।६६, मत्स्य ११४।५१-५४) निम्न रूप माना है—

१ मालव, २ करुष, ३ दशार्ण, ४ भोज, ५ तोसल, ६ कोसल, ७ त्रिपुर, ८ विदिशा, ९ तुहिण्ड, १० तुण्डिकेर, ११ निषध, १२ वीतिहोत्र।

हम ऊपर इसी प्रकार पुराणों के अतिरिक्त साधनों से भी मालव, दशार्ण, विदिशा आदि विभक्त जनपदों का उल्लेख कर चुके हैं। उज्जैन के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश मालव कहलाता था, अपरमालव भी इसे ही कहते थे, और महाभारत (भीष्मपर्व, ११७।३३, ११९।८५) में इसे प्रतीच्य, और पश्चिमी मालव कहा है। ऐसी स्थिति में पंजाब के स्वतंत्र मालव होने का कुछ अर्थ नहीं रहता। इसी तरह महाभारत और गीता में जिस कुन्तिभोज का उल्लेख है, वह भी मालव-सीमा में था, जहाँ सहदेव—पाण्डव चम्बल के तट पर आया था। ऐसी अवस्था में महाभारतकार प्रधान रूप से इसी मध्यमालव को महत्त्व देता है। और, निषध देश भी अवन्ती के निकट ही कहा गया है। महाभारत-समर में इसका शासक भी लड़ाई के लिए गया था (द्रोणपर्व, २७।१३)। अवश्य ही उस समय में छोटे-छोटे जनपद रहे होंगे, और इसी भूमि में होंगे, जब विन्द-अनुविन्द दोनों भ्राता इसी जगह द्वैराज्य-पद्धति से रहते थे।

पं० भगवद्दत्त ने मत्स्यपुराण के अनुसार (४३।४६-४८) कार्त्तवीर्यार्जुन के कुल में उत्पन्न अवंती-नामक राजकुमार से इस प्रदेश का नाम अवंती सूचित किया है, किंतु स्कन्द-पुराण (जिसका नाम ही कार्तिकेय के नाम से ज्ञापित है) में अवंती की उत्पत्ति स्वतंत्र प्रकार से की है, और विभिन्न नामों की स्वतंत्र गाथा प्रस्तुत की है। अन्य पुराणों में भी इसी प्रकार चर्चा है। उधर ब्रह्माण्डपुराण में अवंतियों को 'वीतिहोत्रा-ह्यवन्तयः'—'वीतिहोत्र ही आवंतिक थे' कहा है। किन्तु मत्स्य में अवंती और वीतिहोत्र को भिन्न-भिन्न जनपद कहा गया है (११४।५४)। जो भी हो, ये निकटवर्त्ती अवश्य रहे हैं; क्योंकि माहिष्मती के सहस्रार्जुन के कुल में वीतिहोत्र एवं अवंती दीर्घकाल तक संयुक्त बने रहे हैं। जैन पंडित मल्लिषेण ने उज्जैन को अवंती-देशान्तर्गत लिखा है। भास, कालिदास, बाण, शूद्रक—ये अवंती और उज्जैन में कोई अंतर नहीं मानते हैं। अवश्य ही कालिदास आज से २००० वर्ष पूर्व विदिशा को शुंगों की राजधानी मानता है। यह मालविकाग्निमित्र से स्पष्ट प्रमाणित है, परंतु जब वह मेघदूत के द्वारा अपने मेघ को उज्जैन भेजता है, तब लगता है, विदिशा राजधानी नहीं रही थी। इसीलिए 'वक्रः पन्था यदपि भवतः' कहकर वह 'प्राप्यावन्तीं' और 'मा स्म भूरुज्जयिन्याः' में कोई अंतर नहीं करता, दोनों में एक ही नगर अवंती (उज्जैन) स्वीकार करता है। इसी प्रकार भास की वासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण में भी ई० सन् पूर्व अवंती-उज्जैन में कोई भेद लक्षित नहीं होता। हाँ, हम एकदम शक एवं कुषाण-काल में मालवों को पंजाब छोड़कर पश्चिमोत्तर राजस्थान के उर्वर अंचल में पाते हैं। जो पंजाब में दिखाई देते थे, अब वे राजस्थान में मिलते हैं, पुष्कर-वन उनका स्थान प्रतीत होता है। नहपान ने अपने

जमाता अवदात को एक सबल सेना के साथ मालवों पर प्रभाव डालने के लिए भेजा था, जिसने उन्हें अधीन करके पुष्कर में स्नान किया था। यह उल्लेख नासिक के १०म शिलालेख में नहपान ने किया है। फिर भी मालवों ने राजपुताना में स्वतंत्र जनपद स्थापित कर लिया था, यह पिछले पौराणिक जनपदों में अवंती के अन्तर्गत जनपदों की सूची से भी प्रमाणित होता है। यहाँ से वे अवंती में आये होंगे—यह भ्रामक है; क्योंकि वे अवंती-जनपद के ही व्यापकरूप में रहने के कारण तथा आयुधजीवी होने के कारण विभिन्न भागों में गये, रहे, और फैले हैं, उनका मूल स्रोत अवंती ही रहना चाहिए। जिन मालवगणों की मुद्राओं से नाम-भ्रम के कारण उन्हें कुछ विद्वान विदेशी होने की भ्रांत धारणा बनाते हैं, वे मुद्राएं ३री या ४थी शती की हैं। और इनके निर्माण में विदेशी प्रभाव है। इस काल के पूर्व मालवों का अनेक ग्रंथों में, अनेक स्थानों में, उल्लेख मिलता है। और, स्वयं सिकन्दर ने भी इन्हें इसी देश के गणतंत्री स्वीकार कर इनका लोहा माना है। इसलिए इनके विदेशी होने की बात निरर्थक ही नहीं, गलत भी है। महाभारत में कीचक की भगिनी सुदेष्णा एवं कीचक को मालव-कुमारी से उत्पन्न कहा गया है—

*पुत्रास्तस्य कुरुश्रेष्ठ मालव्यां जज्ञिरे तदा।*

और, अश्वपति कैकय की कन्या सावित्री ( जो सत्यवान् के कारण प्रसिद्ध है ) का विवाह द्युमत्सेन के सुत सत्यवान से हुआ था। यह सावित्री मालवी थी, इससे शत संतति हुई थी—

*पितुश्च ते पुत्रशतं भविता तव मातरि।*
*मालव्यां मालवा नाम शाश्वता पुत्रपौत्रिकाः॥*

—वनपर्व, २९७

संभवतः सैनिक-मालव कुछ पांचाल में रह गये हों, और वे बाद में सिख हो गये हों। आज भी फिरोजपुर, पटियाला, जिन्द आदि के कुछ सिख मालवी माने जाते हैं। इसी तरह नकुल की पश्चिमी देशों की विजय-यात्रा के प्रसंग पर मालवों की विजय की चर्चा है—

*शिवींस्त्रिगर्तानंबष्ठान् मालवान् पंच कर्पटान्।*

यह विजय माध्यमिका नगरी एवं पुष्कर-वन की है, और स्पष्ट ही उन्हें 'गण' सूचित किया है (गणानुत्सवसंकेतान्) और कर्ण ने दिग्विजय के समय मद्र-रोहितक में विजय की थी (मद्रान् रोहितकांश्चैव आग्नेयान् मालवानपि, २० वन०)। इस प्रसंग में क्षुद्रकों के साथ इन्हें संयुक्त बतलाया है। इससे प्रतीत होता है कि मालवक और क्षुद्रक में पारस्परिक सौहार्द रहा है। ये संयुक्त संघर्षरत रहते थे। ऐसा सिकन्दर के समय भी हुआ है। अर्जुन ने जब इन्हें परास्त किया था तब भी ये 'गण' ही रहे हैं—

*प्राच्याश्च सौवीरगणाश्च सर्वे निपातिताः क्षुद्रक-मालवाश्च।* —(अ० ५९)

स्पष्ट है कि मालवों के जनपद देश की उत्तर, पश्चिम, पूर्व दिशा में विस्तृत रहे हैं—

*प्राच्याः प्रतीच्योदीच्यमालवाः।* —(अ० १०६)

भार्गव राम (परशुराम) ने मालवे में जमदग्निवध के कारण संग्राम-घोषणा की थी। तब भी मालव ही प्रमुख थे। उनके साथ भी क्षुद्रकों का सहयोग था। ये गणतन्त्र बहुत

सबल और बहुत विशाल थे,—यह स्पष्ट है। कुछ लोग 'मालव' को गोत्र समझने लगे थे। इसका स्पष्टीकरण महाभाष्यकार को करना पड़ा—

*न च क्षुद्रकमालवशब्दौ गोत्रम् ।*

और क्षुद्रक-मालव की विभिन्नता बतलाते हुए तथा विशुद्ध सैनिक-संगठन सूचित करते हुए कात्यायन ने महाभाष्य के सूत्र की व्याख्या विशद कर संदेह-निरसन किया है—

*सेनायां नियमार्थं वा, अथवा नियमार्थोऽयमारंभः । क्षुद्रक-मालवशब्दात् सेनायामेव, माभूत् क्षौद्रक मालवमन्यत् ।*

इस वार्त्तिक से बहुत बड़ा संदेह समाप्त हो जाता है कि ये मालव कहीं विदेश या प्रदेश के निवासी नहीं हो सकते। किन्तु सैन्य-संगठन के कारण ही विभिन्न भागों में थे और क्षुद्रकों के साथ संधि द्वारा जुड़े हुए थे। वस्तुतः इनका मूलस्थान महाभारत में भी अवंती रहा है, जो अनेक उल्लेखों से स्पष्ट है। अवश्य ही वे विभिन्न भागों में विस्तृत हुए थे, अनेक स्थानों पर उनकी सत्ता हो गई थी, इस कारण वहाँ उनका रहना, सुरक्षा और शासन के लिए, स्वाभाविक भी था; परन्तु इससे यह नहीं प्रतीत होता कि मालवे में भी वे कहीं बाहर से आये हैं। वस्तुतः ये इसी भूखंड के रहे हैं। महाभारत और वाल्मीकीय-रामायण में अनेक जगह इन्हें इसी प्रदेश का स्वीकार किया गया है। महाभारत-समर में इनके वीरों का सहयोग स्पष्ट ही मिलता है और जिस 'नरो वा कुञ्जरो वा' की घटना जनजीवन में उदाहरण बनी हुई है, वह भी मालवे से ही सीधी संबद्ध है। मालवे का राजा इन्द्रवर्मा के हाथी का नाम अश्वत्थामा था। उसे भीम ने मारा था जो इन्हीं के पक्ष का था, और घोषित कर दिया गया था कि 'अश्वत्थामा हतः'।

*परप्रमथनं घोरं मालवेन्द्रस्य वर्मणः ।*
*जघान गदया राजन् अश्वत्थामानमित्युत ॥*
*···अश्वत्थामा हत इति शब्दमुच्चैश्चकार सः ॥*

यह सारा साहित्य प्रमाणित करता है कि मालव इसी अवंती भूमि के थे। न तो वे बाहर के थे, न बाहर से आये ही।

वस्तुतः मालव शब्द की—जिसका मल्व के रूप में अथर्ववेद के (२० काण्ड०, सू०१८-१९-२०-२१) अन्दर भी उल्लेख आया है—व्याख्या कालिदास ने 'मालं मालवदेशे च' और 'क्षेत्रमारुह्य मालम्' में उन्नत भूतल के रूप में की है।[1] यह इस प्रदेश का एक

---

१. जनसाधारण में भी 'माल' शब्द से ऊँचे भाग को कहा जाता है। किसानों का माल भी खेत का टीला या उसपर बाँधा गया 'मचान' (मंच) होता है। आज भी गुजरात, बम्बई आदि में मकान के दूसरे-तीसरे खण्ड को दूसरा माला, तीसरा माला कहकर संबोधित किया जाता है। इस प्रकार सारे देश का मालव मध्यभाग, और 'प्लेटो' होने के कारण ऊँचाई पर स्थित है। इस कारण उसे माल (उन्नत भूतल—मालमुन्नत-भूतलम्) ज्ञापित किया है।

— लेखक

प्रकार से चित्र ही है। अवश्य ही मालवों का देश के विभिन्न भागों पर पर्याप्त प्रभाव था। अतएव विभिन्न भागों में मालवों का अस्तित्व समय-समय पर दिखाई पड़ता है। ये गण-प्रधान थे। ऐसी अनेक शाखाओं का उल्लेख यूनानी लोगों ने भी किया है। व्यापक प्रभाव के कारण उनका फैलना संभव है, परन्तु इससे उन्हें बाहर के मानना तो तथ्य का उपहास करना या अज्ञता प्रकट करना ही होगा।

हाँ, मालवों ने जयपुर के निकटस्थ कर्कोटक को राजधानी बनाया था। यह कर्कोटक के नाम पर स्थापित किया नगर था। परन्तु यह मालव पर नागवंशियों के प्रभाव-काल की घटना है। नागों का मालवों से संबन्ध नया नहीं। मत्स्य और विष्णु-पुराण में स्पष्ट ही इस कर्कोटक-विजय का मालव से संबन्ध है, और माहिष्मती उसका स्थान रहा है।

*एष नागो मनुष्येषु माहिष्मत्यां महाद्युतिः।*
*कर्कोटकसुतं जित्वा पुर्यान्तित्र न्यवेशयत्॥*
*स हि नागसहस्रेषु माहिष्मत्यां नराधिपः।*
*कर्कोटक-सभां जित्वा पुरीं तत्र न्यवेशयत्॥*

—ब्रह्माण्डपुराण

अर्थात् माहिष्मती (महेश्वर) के कार्तवीर्यार्जुन ने कर्कोटक नाग को उत्तर में, पातालस्थ नागों को दक्षिण में परास्त किया था और अपना अधिकार प्रतिष्ठित किया था। जय-पुर के कर्कोटक नगर के मालव भी यहीं से गये थे। हमें इतिहास को पुराण से सुसंगत बनाये विना तथ्य पाना कठिन है। डॉ॰ जायसवालजी ने जिन नागों को अंधकार-युग में खोजा, उनकी संगति पुराण प्रकट कर रहे हैं।

सारे मालव जनपद में आज भी सर्प के निकलने पर कार्तवीर्य का मंत्र पढ़ने की प्रवृत्ति है। यह प्रवृत्ति सीधे कर्कोटक नाग से सम्बद्ध है, जो मालवों के कर्कोटक नगर पर प्रभाव को ही परम्परा से पोषित करती है—

*कर्कोटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च।*
*ऋतुपर्णस्य राजर्षेः कीर्तनं कलिनाशनम्॥*

यह कथा कितनी इतिहास-संगत, और मालव-प्रभाव को प्रमाणित करती है! इसलिए कर्कोटक के मालवों को भी हमें बाहरी मानने का कारण नहीं। उनका सीधा माहिष्मती से संबन्ध प्रमाणित हो जाता है।

हमने पुराणों की उपेक्षा की है। 'पुराण' शब्द ही पुरातन गाथा का प्रतीक है। भारत में इसी रोचक रूप में इतिहास-वर्णन की प्रवृत्ति रही है। यदि हम उसे सावधानी और सतर्कतापूर्वक देखें तो आधुनिक इतिहास की अनेक उलझनें सहज और सरलता से हल हो सकती हैं। मालव के विषय में पुराणों का उल्लेख बहुत प्रकाश प्रदान करता है। उनके व्यापक प्रभाव और विस्तार-अधिकार की संगति भी सूचित करता है। महाभारत, ब्रह्माण्डपुराण, रामायण, भास, कालिदास, बाण, भारवि, शूद्रक, राजतरंगिणी, कथा-

सरित्सागर, अनर्घराघव, पाणिनि आदि ने मालव का मध्यस्थान अवंती को ही माना है। कुछ ग्रंथ, जैसे गोविन्दसुत्त और दिघनिकाय (१९।३६) में माहिष्मती को मालव-राजधानी कहा गया है तथा कुछ आधुनिक इतिहासकारों ने विक्रम की ७ वीं सदी में अवंती को मालव कहने की चर्चा की है। विदिशा का नाम भी आकर-अवंती कहा है। वशिष्ठ-पुत्र पुलमायी और रुद्रदामा के गिरनार के अभिलेखों में भी आकर-अवन्ती का उल्लेख है। वे पूर्व और अपर-अवन्ती का संकेत करते हैं। ये संभवतः तत्कालीन शासन के केन्द्र-नगर को लक्ष्य करके ही कहे गये हैं। दोनों भेदों से अवन्ती के मध्यभाग में होने में कोई अंतर नहीं आता। आकर शब्द 'खदान' का सूचक है, और कालिदास के उस संकेत के अनुसार, जिसमें उसने उज्जैन के बाजार में विद्रुम आदि रत्नों के ढेर को देखकर कहा है कि मालूम होता है, समुद्र के ('रत्नाकर' नाम से) समस्त रत्न उज्जैन में ही ढेर हो गये हैं, और अब सागर केवल जल मात्र रह गया है, यही लगता है कि इस भाग में रत्नों की खदानें थीं, और उसीको ध्यान में रखकर 'आकर-अवंती' नाम दिया गया होगा। पेरिस्प्लस ने इसे व्यापारिक महत्त्व के कारण इस नाम के दिये जाने की चर्चा की है। पूर्व और पश्चिम की अवंती या विदिशा तथा माहिष्मती के ऊर्जस्वित काल में ये दिग्भेद भी समझे गये हों, परन्तु अंततः ये भेद मालव की व्यापक एकता में बाधक नहीं हो सकते। ये प्रदेश इसी के अंग रहे हैं और आजतक विद्यमान हैं। यह सत्य है कि अवंती का विस्तार बहुत दूर-दूर तक था, मालवों का प्रभुत्व भी देश के विभिन्न भागों पर था, और अनेक जनपदों के समूह उसके प्रभावक्षेत्र में रहते थे, इसलिए विभिन्न भागों में मालवों को मिलते देख सहसा भ्रम की आशंका हो सकती है, किंतु मालवों का मूल स्थान अवंती ही रहा है, और इसी प्रदेश––जनपद के मालव रहे हैं, यह अनेक ग्रंथों––प्रमाणों से स्पष्ट प्रमाणित होता है। भारतीय गणतंत्रों के इतिहास में भी मालवों का महत्त्व सर्वोपरि और पुरातनतम है––यह निर्विवाद है। मालव ने इतिहास, साहित्य, पुराण, कथा, गाथा आदि को अपने शौर्य-वैभव से सुसमृद्ध बनाया है।
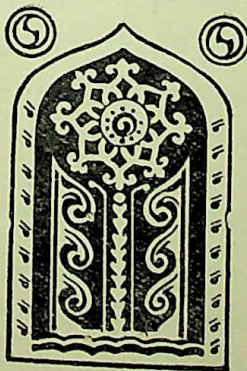
# बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन : एक ऐतिहासिक दिग्दर्शन

श्री व्रजशंकर वर्मा, प्रधान मंत्री, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

[ बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का रजत-जयंती-महोत्सव शुक्रवार, दिनांक २४ फरवरी, १९५६ ई० को, समुचित समारोह के साथ, सम्पन्न होगा। उक्त महोत्सव का उद्घाटन राष्ट्रपति देशरत्न डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद करेंगे और सभापतित्व श्री रामधारी-सिंह 'दिनकर' करेंगे। साथ ही, सम्मेलन का २५ वाँ वार्षिक अधिवेशन भी शनिवार, दिनांक २५ फरवरी, १९५६ ई० को श्री मथुराप्रसाद दीक्षित के सभापतित्व में सम्पन्न होगा। इस अभूतपूर्व अवसर पर, सम्मेलन के वर्त्तमान प्रधान मंत्री श्री व्रजशंकर वर्मा ने इस महत्त्वपूर्ण संस्था का जो संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया है, वह पाठकों के ज्ञानार्थ प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक ]

बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की स्थापना, मुजफ्फरपुर में, कुछ नवयुवक साहित्य-सेवियों के सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप, देशरत्न श्री राजेन्द्रप्रसादजी की शुभ-प्रेरणा से, १९१९ ई० के अन्तिम चरण में, हुई। इसकी स्थापना के संबन्ध में, जो सर्वप्रथम वक्तव्य, अक्तूबर, १९१९ ई० में समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ, उसे सर्वश्री लक्ष्मीनारायण गुप्त, लक्ष्मी-नारायण सिंह, पीर मुहम्मद मूनिस, लतीफ हुसेन ( ललितकुमार सिंह ) 'नटवर' तथा मथुराप्रसाद दीक्षित ने हस्ताक्षरित किया था। उक्त वक्तव्य के समर्थन में पटना के सुप्रसिद्ध पत्र 'पाटलिपुत्र' ने एक सम्पादकीय टिप्पणी भी प्रकाशित की थी। तदनुसार १९ अक्तूबर, १९१९ ई० को, मुजफ्फरपुर नगर में, हिन्दीप्रेमियों की एक सार्वजनिक सभा, स्वर्गीय दर्शनकेसरी पाण्डेय जगन्नाथ प्रसाद की अध्यक्षता में, हुई। उसी सभा में, सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि प्रस्तावित सम्मेलन का प्रारंभिक अधिवेशन, आगामी हरिहरक्षेत्र (सोनपुर) के मेले में ८ और ९ नवम्बर, १९१९ ई० को, आयोजित हो। उक्त अधिवेशन के लिए तत्काल एक स्वागत-समिति संघटित हुई। स्वर्गीय श्री वैद्यनाथप्रसाद-सिंह स्वागताध्यक्ष, श्री श्यामनन्दन सहाय ( वर्त्तमान उपकुलपति, बिहार-विश्वविद्यालय ) उपस्वागताध्यक्ष और श्री मथुराप्रसाद दीक्षित स्वागत-मंत्री निर्वाचित हुए। कालक्रम से, हास्यरसावतार स्व० पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी उक्त सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए और उनके सुयोग्यतापूर्ण नेतृत्व में सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन ८ और ९ नवम्बर, १९-१९ ई० को, सोनपुर ( सारन जिला ) में सफलता के साथ संपन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में, अनेक सुविख्यात विद्वान और साहित्यसेवी सम्मिलित हुए, जिनमें देशरत्न श्री राजेन्द्र-प्रसाद, डा० काशीप्रसाद जायसवाल, आचार्य बदरीनाथ वर्मा, बिहार-विभूति श्री अनुग्रह-नारायण सिंह, लोक-सेवक श्री महेन्द्र प्रसाद, श्री श्यामनन्दन सहाय, पं० जीवानन्द शर्मा, श्री पारसनाथ त्रिपाठी, श्री लक्ष्मीनारायण सिंह, हिन्दी सर्चलाइट के संपादक श्री हरवंश सहाय, 'तिरहुत-समाचार' के संपादक श्री सिंहेश्वरप्रसाद शर्मा, श्री देवकीप्रसाद सिंह, पं० प्रजापति मिश्र, महन्त दर्शन दास, श्री राघवप्रसाद सिंह, श्री 'नटवर', पं० मथुरा-प्रसाद दीक्षित, पाण्डेय जगन्नाथ प्रसाद, राय व्रजरायकृष्ण, रायबहादुर द्वारकानाथ

श्री कालिकाप्रसाद-प्रभृति के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। निस्संदेह, यह खेद का विषय है कि आज जब सम्मेलन की रजत-जयंती मनाई जा रही है, उक्त सज्जनों में से अधिकांश दिवंगत हो चुके हैं।

पं० मथुराप्रसाद दीक्षित, जो सम्मेलन के आगामी २५ वें वार्षिक अधिवेशन के सभापति निर्वाचित हुए हैं, इसके सर्वप्रथम प्रधान मंत्री और स्व० श्री रामधारी प्रसाद तथा श्री पीरमुहम्मद 'मूनिस' उप-मंत्री चुने गये। सम्मेलन का कार्यालय, मुजफ़्फरपुर नगर में, एक किराये के मकान में, स्थापित हुआ और वहीं एक पुस्तकालय तथा वाचनालय की भी स्थापना की गई। उस समय, यह संस्था अत्यंत अभावग्रस्त थी; किन्तु इसके संचालकों तथा कार्यकर्त्ताओं का उत्साह अदम्य एवं हिन्दी-प्रेम अपार था। फलतः, विविध प्रकार की प्रतिकूलताओं के रहने पर भी, वह उत्तरोत्तर उन्नति के पथ पर अग्रसर होती गई। इस प्रसंग में, यह भी उल्लेखनीय है कि सम्मेलन के प्रारंभिक अधिवेशन में, प्रधान मंत्री तथा दो उपमंत्रियों के अतिरिक्त, छः उपसभापति—सर्वश्री व्रजकिशोर प्रसाद, राजेन्द्र प्रसाद, धरणीधर प्रसाद, वैद्यनाथप्रसाद सिंह, बदरीनाथ वर्मा और भगवानप्रसाद चौबे निर्वाचित हुए। उक्त सभी पदाधिकारियों के अलावा, सर्वश्री जगन्नाथप्रसाद पाण्डेय, लक्ष्मीनारायण सिंह, पांडेय सोना सिंह चौधरी, श्यामनन्दन सहाय, शिवपूजन सहाय, जीवानन्द शर्मा, गोकुलानन्दप्रसाद वर्मा, रामानन्द प्रसाद, रामचन्द्र मिश्र और कृष्णप्रकाश जेन सिंह स्थायी समिति के सदस्य निर्वाचित हुए। और, साथ ही सीमित को यह अधिकार दिया गया कि वह आवश्यकतानुसार अपने सदस्यों की संख्या-वृद्धि कर ले। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि, विगत ३६ वर्षों की अवधि में, इस लोकसेवी संस्था ने, क्रमशः विकसित होकर, राष्ट्रभाषा हिन्दी की जो महत्त्वपूर्ण सेवाएँ की हैं, उसका श्रेय मुख्यतः पूर्वोक्त व्यक्तियों को ही है, जिन्होंने, इसके शैशव में, बड़े नेह के साथ, इसका परिपोषण एवं संवर्धन किया था। निस्संदेह, इस राज्य के समस्त हिन्दी-प्रेमियों के लिए, विशेषकर इस संस्था के सदस्यों तथा संचालकों के लिए, यह परम गौरव का विषय है कि इसके पूर्वोक्त आदि प्रवर्त्तकों में से अनेक व्यक्ति आज महान् उत्तरदायित्वपूर्ण पदों को सुशोभित कर रहे हैं और उन सबका सक्रिय सहयोग इसे सुलभ है।

## सम्मेलन के अधिवेशन

सम्मेलन का प्रथम अधिवेशन एवं प्रारंभिक अधिवेशन ८-९ नवम्बर, १९१९ ई० को हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी के सभापतित्व में संपन्न हुआ, इसका उल्लेख प्रस्तुत लेख के आरंभ में ही किया जा चुका है। उक्त अधिवेशन में कुल मिलाकर १५ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनके द्वारा पटना की शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी को उचित स्थान देने के लिए अधिकारियों से अनुरोध किया गया और बिहार-विश्वविद्यालय तथा बिहार-संस्कृत-समिति की विभिन्न परीक्षाओं में हिन्दी को उचित स्थान देने की माँग की गई।

सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन-अक्तूबर, १९२० ई० में बेतिया (चम्पारण जिला) में, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में सभापति के सुललित काव्यमय अभिभाषण के अतिरिक्त पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा, पाण्डेय

जगन्नाथ प्रसाद तथा श्री शिवपूजन सहाय ने महत्त्वपूर्ण विषयों पर निबन्ध-पाठ किया था। इस अधिवेशन में कुल १२ संकल्पों को स्वीकृत किया गया, जिनके द्वारा शिक्षण-पद्धति और परीक्षाओं में हिन्दी को उचित स्थान देने की माँग की गई और हिन्दी का प्रचार-कार्य आरंभ करने का निश्चय किया गया। प्रचार-कार्य-सम्बन्धी प्रस्ताव देशरत्न श्री राजेन्द्र-प्रसादजी ने प्रस्तुत किया था। इसी अधिवेशन में सम्मेलन की प्रथम नियमावली की स्वीकृति हुई। उक्त अवसर पर हिन्दी की प्राचीन पुस्तकों तथा पत्र-पत्रिकाओं की एक प्रदर्शनी भी हुई। सम्मेलन का तृतीय अधिवेशन अक्तूबर, १९२१ ई० में सीतामढ़ी (मुजफ्फरपुर) में वयोवृद्ध साहित्य-सेवी बाबू शिवनन्दन सहाय के सभापतित्व में हुआ। उक्त अवसर पर सभापति महोदय ने जो गवेषणापूर्ण भाषण किया था, वह बिहार की प्राचीन साहित्यिक परम्परा के सम्बन्ध में अनुशीलन तथा अनुसंधान करनेवाले व्यक्तियों के लिए विशेष रूप से पठनीय है। इस अधिवेशन में कुल ६ संकल्प स्वीकृत हुए थे, जिनमें स्थायी समिति के संघटन और सम्मेलन की संबद्ध संस्थाओं की स्थापना-सम्बन्धी संकल्प थे। सम्मेलन का चतुर्थ अधिवेशन छपरा (सारन जिला) में महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा के सभा-पतित्व में सम्पन्न हुआ। इसी सम्मेलन के अवसर पर पहले-पहल कवि-सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसका सभापतित्व हास्यरसावतार पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी ने किया। इस अधिवेशन में कुल ७ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें हिन्दी पुस्तकों के प्रणयन और प्रका-शन तथा अहिन्दी क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का पंचम अधिवेशन अप्रैल, १९२४ ई० में पटना में भारतेन्दु के समकालीन कविवर पं० चन्द्रशेखर-धर मिश्र के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल ११ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें प्रान्त के प्रत्येक जिले में सम्मेलन की सम्बद्ध संस्थाओं की स्थापना तथा हिन्दी में उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन की व्यवस्था और हिन्दी आशुलिपि, टंकन एवं मुनीमी के शिक्षण के लिए, एक विद्यालय की स्थापना-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। इस अधिवेशन में सम्मेलन की नियमावली का संशोधन भी किया गया। सम्मेलन का षष्ठ अधिवेशन नवंबर, १९२४ ई० में मुजफ्फरपुर में बनैली-नरेश राजाबहादुर श्री कीर्त्यानन्द सिंह के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में ९ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग की परीक्षाओं के प्रचार, कचहरी के कामों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के व्यवहार-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का सप्तम अधिवेशन जुलाई, १९२६ ई० में लहेरियासराय (दरभंगा जिला) में देशरत्न श्री राजेन्द्रप्रसादजी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में कुल ११ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें बिहार के प्राचीन हिन्दी-लेखकों और कवियों की कृतियों की खोज, विभिन्न शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी के अध्ययन की व्यवस्था, साहित्य-सम्मेलन की परीक्षाओं की मान्यता तथा हिन्दी-प्रचारकों की नियुक्ति और कचहरियों में हिन्दी के व्यवहार-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का अष्टम अधिवेशन जुलाई, १९२७ ई० में, आचार्य बदरीनाथ वर्मा के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन में कुल ११ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें बिहार के प्राचीन लेखकों और कवियों की कृतियों की रक्षा, शिक्षण-संस्थाओं में हिन्दी को उचित स्थान देने की माँग, कचहरियों में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि का व्यवहार, सम्मेलन की

क्षाओं की मान्यता तथा हिन्दी में रेलवे-टाइम-टेबुल प्रकाशित करने की माँग-सम्बन्धी संकल्प विशेषरूप से महत्त्वपूर्ण थे ।

**विशेष अधिवेशन**

सम्मेलन के पूर्वोक्त गया अधिवेशन के कुछ ही मास बाद, अक्तूबर, १९२७ ई० में बिहार-सरकार द्वारा नियुक्त वर्नेक्युलर डेवेलपमेण्ट कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई । उस रिपोर्ट में जो सिफारिशें की गई थीं, वे हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के हित की दृष्टि से अत्यन्त अवांछनीय थीं । इसलिए, उक्त रिपोर्ट पर व्यापक रूप से विचार करने के लिए सम्मेलन का एक विशेष अधिवेशन, १० नवम्बर, १९२७ ई० को, सोनपुर में, हरिहरक्षेत्र-मेला के अवसर पर श्री साँवलियाविहारीलाल वर्मा के सभापतित्व में हुआ । इस अधिवेशन में कुल ५ संकल्प स्वीकृत हुए । उनके द्वारा उक्त कमिटी की सिफारिशों का विरोध किया गया और उक्त सिफारिशों को कार्यरूप में परिणत होने से रोकने की माँग की गई ।

सम्मेलन का नवम अधिवेशन, अप्रैल, १९२९ ई० में, रायबहादुर श्री रामरणविजय-सिंह के सभापतित्व में, मुंगेर नगर में सम्पन्न हुआ । इस अधिवेशन में कुल ८ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें प्रान्त के प्रत्येक जिले में जिला-हिन्दी-सभा की स्थापना, सम्मेलन की नियमावली का संशोधन तथा संतालों के बीच देवनागरी लिपि का प्रचार-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे । सम्मेलन का दशम अधिवेशन अक्तूबर, १९३१ ई० में स्वामी भवानीदयाल-संन्यासी के सभापतित्व में श्री वैद्यनाथधाम ( देवघर ) में सम्पन्न हुआ । उक्त अधिवेशन में कुल ९ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें कचहरियों में वैकल्पिक रूप में फारसी लिपि के व्यवहार की आज्ञा का विरोध, संतालों के बीच नागरी लिपि के प्रचार, हिन्दी-साहित्य की उच्चकोटि की शिक्षा के लिए, देवघर में गोवर्द्धन-साहित्य-विद्यालय की स्थापना का स्वागत तथा प्रान्त की नई हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं का अभिनन्दन-सम्बन्धी संकल्प मुख्य थे । सम्मेलन का एकादश अधिवेशन, अक्तूबर, १९३३ ई० में महामहोपाध्याय श्री काशीप्रसाद-जायसवाल के सभापतित्व में, भागलपुर में सम्पन्न हुआ । इस अधिवेशन में कुल १२ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें हिन्दी मासिक 'गंगा' के प्रकाशन का अभिनन्दन, बिहार प्रांत में प्रकाशित सर्वोत्तम बालकोपयोगी पुस्तक के लिए पुरस्कार देने का निश्चय, प्रान्त के प्रत्येक जिले में हिन्दी-संस्थाओं की स्थापना के लिए अपील, सम्मेलन के कार्य के लिए भवन-निर्माण का आयोजन और संताल परगना में हिन्दी-प्रचार-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे । सम्मेलन का द्वादश अधिवेशन अप्रैल, १९३५ ई० में श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' के सभा-पतित्व में, छपरा ( सारन जिला ) में सम्पन्न हुआ । इस अधिवेशन में कुल ७ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें पटना-विश्वविद्यालय तथा बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग में हिन्दी-संबन्धी अभाव, विभिन्न जिलों में सम्मेलन की शाखाओं की स्थापना तथा हिन्दी और उर्दू पढ़नेवालों के लिए 'समान भाषा' का निर्माण-संबन्धी संकल्प प्रमुख थे । सम्मेलन का त्रयोदश अधिवेशन, फरवरी, १९३६ ई० में, श्री यशोदानन्द अखौरी के सभापतित्व में, पूर्णिया में सम्पन्न हुआ । इस अधिवेशन में कुल १६ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें पुस्तकालय-आन्दोलन का समर्थन, 'समान भाषा' का सिद्धान्त, प्रान्त के साधनहीन प्रतिभाशाली

लेखकों का प्रोत्साहन तथा सम्मेलन द्वारा एक त्रैमासिक समालोचनात्मक पत्र प्रकाशित करने का आयोजन-संबन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का चतुर्दश अधिवेशन, दिसम्बर १९३६ ई० में, श्री व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' के सभापतित्व में, बेगूसराय (मुंगेर जिला) में सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल ९ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें प्राचीन तथा लुप्तप्राय हिन्दी-ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं का उद्धार, हिन्दी-प्रचार के अभिप्राय से 'हिन्दी-दिवस' मनाने का आयोजन, बिहार-टेक्स्टबुक-कमिटी में साहित्य-सम्मेलन के दो प्रतिनिधियों को स्थान देने के लिए अनुरोध, बिहार-सरकार द्वारा प्रस्तुत 'समान भाषा'-संबन्धी अव्यावहारिक योजना का विरोध, पटना में सम्मेलन-भवन का निर्माण तथा मैथिली भाषा के लिए देवनागरी लिपि के व्यवहार का अनुरोध-संबन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का पंचदश अधिवेशन, दिसम्बर, १९३७ ई० में, श्री पीरमुहम्मद 'मूनिस' के सभापतित्व में, आरा (शाहाबाद जिला) में संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल १२ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें 'हिन्दी-दिवस' मनाने का निश्चय, प्रान्तीय पुस्तकालय-सम्मेलन के संघटन का स्वागत, जन-साहित्य की सृष्टि और प्रचार, हिन्दी-पुस्तक-माला के प्रकाशन का आयोजन तथा साहित्य-सम्मेलन की परीक्षा की मान्यता-सबन्धी संकल्प प्रमुख थे। इस अधिवेशन की विशेषता यह थी कि, इसके अवसर पर, कवि-सम्मेलन के अतिरिक्त पत्रकार-परिषद्, इतिहास-परिषद्, विज्ञान-परिषद् तथा कहानी-परिषद् का भी आयोजन किया गया था। पत्रकार-परिषद् के अध्यक्ष 'आज' के यशस्वी संपादक श्री बाबूराव विष्णु पराड़कर थे, इतिहास-परिषद् के अध्यक्ष श्री जयचन्द्र विद्यालंकार थे, विज्ञान-परिषद् के अध्यक्ष श्री फूलदेवसहाय वर्मा थे और कहानी-परिषद् की अध्यक्षा, उपन्यास-सम्राट् श्री प्रेमचन्दजी की धर्मपत्नी, श्रीमती शिवरानी देवी थीं। सम्मेलन का सोलहवाँ अधिवेशन दिसम्बर, १९३८ ई० में, महापंडित राहुल सांकृत्यायन के सभापतित्व में, राँची में, सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल इक्कीस संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें स्कूलों और कालेजों में हिन्दी द्वारा वैज्ञानिक शिक्षा का प्रबन्ध, मानभूमि जिले में हिन्दी शिक्षा की समुचित व्यवस्था, हिन्दुस्तानी शैली का निर्माण, हिन्दुस्तानी-समिति के संघटन में हिन्दी के विद्वानों की उपेक्षा, शिक्षा के माध्यम के रूप में 'समान भाषा' का व्यवहार, हिन्दुस्तानी के नाम पर एक कृत्रिम और अव्यावहारिक भाषा में पुस्तकों के प्रकाशन का विरोध, पटना-विश्वविद्यालय में हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा की व्यवस्था, सम्मेलन-भवन का निर्माण, हिन्दी भाषा के लिए रोमन लिपि के प्रचार का विरोध तथा संताल परगना, पूर्णिया और छोटानागपुर के क्षेत्रों में हिन्दी-प्रचार-संबन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का सत्रहवाँ अधिवेशन, फरवरी, १९४१ ई० में, हिन्दी-भूषण आचार्य शिवपूजन सहाय की अध्यक्षता में, पटना में संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में, अनेक महत्त्वपूर्ण संकल्प स्वीकृत हुए। किन्तु हिन्दी-हिन्दुस्तानी-संबन्धी विवाद के संबन्ध में भयंकर संघर्ष के कारण सभापतिजी की विशेष आज्ञा से तत्संबन्धी संकल्प पर विचार स्थगित कर दिया गया। सम्मेलन का अठारहवाँ अधिवेशन, अप्रैल, १९४२ ई० में, श्री मनोरंजनप्रसाद सिंह के सभापतित्व में, मोतिहारी (चम्पारण जिला) में संपन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में अनेक संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी का स्वरूप तथा हिन्दुस्तानी के

का विरोध-संबन्धी संकल्प महत्त्वपूर्ण थे। मोतिहारी-अधिवेशन के बाद, १९४२ ई० की अगस्त-क्रान्ति के कारण, आगामी चार वर्षों तक सम्मेलन का कोई अधिवेशन नहीं हो सका।

## अगस्त-क्रान्ति के बाद

१९४२ ई० की अगस्त-क्रान्ति के बाद, सम्मेलन का उन्नीसवाँ अधिवेशन, फरवरी १९४६ ई० में, श्री रामधारी प्रसाद की अध्यक्षता में बौंसी (भागलपुर जिला) में, संपन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल एक दर्जन संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें अखिलभारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन द्वारा निर्धारित रेडियो की भाषा-सम्बन्धी नीति का समर्थन, बिहार के लोक-साहित्य की सुरक्षा, 'समान भाषा' की रीडरों को उठाने की माँग, संताली भाषा के लिए रोमन लिपि के व्यवहार का विरोध और सम्मेलन के विधान का संशोधन-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का बीसवाँ अधिवेशन, अक्तूबर, १९४८ ई० में, श्री जगन्नाथप्रसाद मिश्र की अध्यक्षता में, मुजफ्फरपुर में, सम्पन्न हुआ। इस अधिवेशन में कुल २२ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें हिन्दी-समाचार-पत्रों के प्रति सरकार की उपेक्षा, बिहार में राजभाषा हिन्दी का व्यवहार, पटना-विश्वविद्यालय में हिन्दी की उपेक्षा, भारतीय संविधान में हिन्दी का स्थान, हिन्दी में उत्कृष्ट ग्रंथों का प्रकाशन और हिन्दी-रंगमंच की स्थापना-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का इक्कीसवाँ अधिवेशन अप्रैल, १९५० ई० में, श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु की अध्यक्षता में, गया में, संपन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में कुल एक दर्जन संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें अँगरेजी-परित्याग-आन्दोलन, रेडियो का बहिष्कार, हिन्दी-लेखकों की आर्थिक स्थिति का सुधार, हिन्दी की परीक्षाओं की मान्यता तथा पटना-विश्वविद्यालय में हिन्दी का स्थान-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का बाईसवाँ अधिवेशन, जनवरी १९५१ ई० में, श्री रामवृक्ष बेनीपुरी की अध्यक्षता में, आरा (शाहाबाद जिला) में, संपन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में कुल ९ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें राजभाषा हिन्दी, राजलिपि देवनागरी के अधिकाधिक व्यवहार, पटना-विश्वविद्यालय में हिन्दी का स्थान, रेडियो की भाषा-नीति और सम्मेलन का भावी कार्यक्रम-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का तेईसवाँ अधिवेशन, मई १९५२ ई० में, श्री छविनाथ-पाण्डेय की अध्यक्षता में, झरिया (मानभूम जिला) में, सम्पन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में कुल ९ संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें राष्ट्रभाषा हिन्दी के व्यवहार, बिहार-सरकार की भाषा-नीति, उर्दू को बिहार की क्षेत्रीय भाषा के रूप में स्वीकृत करने की माँग, हिन्दी-अनुशीलन-प्रतिष्ठान की स्थापना तथा साहित्य-सर्जन के लिए प्रोत्साहन-सम्बन्धी संकल्प प्रमुख थे। सम्मेलन का चौबीसवाँ अधिवेशन, अक्तूबर १९५३ ई० में, श्री देवव्रत शास्त्री की अध्यक्षता में, जमशेदपुर ( सिंहभूम जिला ) में सम्पन्न हुआ। उक्त अधिवेशन में कुल सोलह संकल्प स्वीकृत हुए, जिनमें छोटानागपुर में हिन्दी का प्रचार, उच्च न्यायालय में हिन्दी का व्यवहार, राजभाषा के रूप में हिन्दी का उपयोग, विश्वविद्यालयों में हिन्दी का स्थान, बिहार-सरकार की भाषा-नीति तथा सम्मेलन की नियमावली का संशोधन-संवन्धी संकल्प प्रमुख थे।

## महत्त्वपूर्ण सेवाएँ

सम्मेलन के विगत अधिवेशनों का जो संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया गया है, उससे यह स्पष्ट है कि विगत तीन दशाब्दियों में बिहार में हिन्दी भाषा और साहित्य का जो प्रचार तथा विकास हुआ है, उसका अधिकांश श्रेय इसी संस्था को है। 'देवनागरी लिपि में लिखित हिन्दी भाषा' को भारत की राष्ट्रभाषा तथा बिहार की राजभाषा के रूप में विधिवत् स्वीकृत कराने में सम्मेलन ने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यह सम्मेलन के अनवरत प्रयत्नों का ही परिणाम है कि, आज, इस राज्य के विश्वविद्यालयों तथा अन्य शिक्षण-संस्थाओं में, हिन्दी को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। सम्मेलन द्वारा १९३७ ई० में प्रकाशित 'साहित्य'-नामक त्रैमासिक पत्र से भी हिन्दी की महत्त्वपूर्ण सेवा हुई है। यह पत्र, इस समय, सम्मेलन तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के संयुक्त मुख-पत्र के रूप में प्रकाशित हो रहा है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् की स्थापना तथा संचालन में भी सम्मेलन ने सक्रिय सहयोग प्रदान किया है। मानभूम तथा छोटानागपुर प्रमंडल के अन्य भागों में हिन्दी भाषा के प्रचार के लिए भी सम्मेलन ने यथेष्ट प्रयास किया है और इस प्रयास में उसे संतोषजनक सफलता मिली है। सम्मेलन के तत्त्वावधान में स्थापित 'कला-केन्द्र' द्वारा बिहार के सांस्कृतिक विकास में सक्रिय सहयोग प्रदान किया जा रहा है। सम्मेलन-पुस्तकालय में लगभग पन्द्रह हजार हिन्दी पुस्तकें संगृहीत हैं और वाचनालय में देश की सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाएँ नियमित रूप से आती हैं। पुस्तकालय और वाचनालय से भी यथेष्ट हिन्दी-प्रचार-कार्य हो रहा है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग द्वारा संचालित परीक्षाओं का एक केन्द्र भी सम्मेलन-कार्यालय में स्थापित है। यह संतोष का विषय है कि पटना में सम्मेलन का एक विशाल भवन भी निर्मित हो गया है और विभिन्न प्रकार के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आयोजनों के लिए इस भवन का यथेष्ट उपयोग हो रहा है। सम्मेलन के प्रयास से पटना, शाहाबाद, सारन, भागलपुर, सिंहभूमि, मुजफ्फरपुर, चम्पारण आदि विभिन्न जिलों में, जिला-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलनों की भी स्थापना हुई है और बहुत-सी अन्य संस्थाएँ भी अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सेवा-कार्य में संलग्न हैं।

## उपसंहार

निस्सन्देह, यह हमारे लिए गर्व एवं गौरव का विषय है कि सम्मेलन के रजत-जयंती-समारोह तथा पचीसवें वार्षिक अधिवेशन का आयोजन पटना में हो रहा है। आशा है, उक्त महोत्सवों के फलस्वरूप इस लोकोपयोगी संस्था के जीवन में एक नवीन चेतना का संचार होगा और भविष्य में इसके द्वारा राष्ट्रभाषा हिन्दी की अधिकाधिक गौरव-वृद्धि होगी।

*

# संकलन

## मुहाविरों का व्यवहार

मेरे विचार में हिन्दी-लेखकों और पाठकों से यह निवेदन करना चाहिए कि वे हिन्दी-मुहाविरों और उनके व्यवहारों पर अनावश्यक अभिनिवेश छोड़ दें। उनकी इच्छा यह होनी चाहिए कि अभिव्यक्ति के जितने विभिन्न रूप मिल सकें, उन्हें ग्रहण करें। × × × हिन्दी-पाठकों को अपनी रुचि में उदारता लानी चाहिए और उन्हें यह आकांक्षा होनी चाहिए कि अन्य प्रान्तों के अर्थपूर्ण मुहाविरों से अपनी भाषा को समृद्ध बनायें।

—राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद

('भारतीय साहित्य', आगरा-विश्वविद्यालय-हिन्दी-विद्यापीठ, जनवरी १९५६)

## श्री दिनकरजी का एक पत्र

**[यह पत्र पोलैण्ड की राजधानी वारसा से श्री दिनकरजी ने पटना के प्रसिद्ध हिन्दी-कवि और 'जनजीवन'-संपादक श्री ब्रजकिशोर 'नारायण'जी के पास भेजा था। इस पत्र को पढ़कर, प्रत्येक हिन्दी-पाठक का मस्तक गर्वोन्नत होगा, इसी दृष्टि से यह अविकल रूप में यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है। —सम्पादक]**

वारसा
२९।११।५५

प्रिय भाई,

वारसा में २४ को आया। तब से कान्फ्रेंसों, पार्टियों और हंगामों में व्यस्त रहा हूँ। कल शाम को यहाँ 'इण्टरनेशनल इवनिंग ऑफ पोयट्री' के नाम से एक अन्तरराष्ट्रीय कवि-सम्मेलन हुआ, जिसमें ३० देशों के ४४ कवियों ने भाग लिया। यहाँ सभी देशों के प्रख्यात कवि पधारे हुए हैं और वातावरण अत्यन्त भव्य है। सम्मेलन में मेरा नाम १२ वें स्थान पर था। अपने देशवासियों को विश्वास दिलाने का कोई साधन मेरे पास नहीं है, किन्तु, मेरा अपना मत है कि रात का कवि-सम्मेलन भारतवर्ष के हाथ रहा। आज वारसा-यूनिवर्सिटी के एक प्रोफेसर बधाई देने को आये तो बोले—"This has been the year of India in Poland, beginning from Pandit Nehru's visit and culminating in your great poem."[1]

हुआ यह कि मैंने कुरुक्षेत्र के षष्ठ सर्ग का एक अंश पढ़ा। षष्ठ सर्ग का एक अँगरेजी अनुवाद वाशिंगटन रहते समय रघुवंशकिशोर कपूर ने किया था। उसे छपवाकर मैं अपने साथ यहाँ ले आया हूँ और वितरित कर रहा हूँ। उसी अनुवाद से यहाँ पोलिश अनुवाद तैयार हुआ। कल मुझे प्रोफेसर ओलजियर्थ कह गये थे कि "The Polish translation of your Poem has come marvellous."[2]

---

**१. पोलैण्ड में यह वर्ष भारत (के उत्कर्ष) का ही रहा है, जिसका आरंभ पण्डित नेहरू के शुभागमन से हुआ और अन्त आपकी महान् कविता से।**

**२. आपकी कविता का पोलैण्ड की भाषा में अनुवाद विस्मयजनक रूप में सफल हुआ है।**

रात जब मैं कविता पढ़ने को उठा तो मुझपर नशा छा गया। न जाने, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी का प्रभाव था या उस छन्द का चमत्कार ! या मेरे स्वर में सरस्वती प्रविष्ट हो गई थीं ! जबतक मैं कविता पढ़ता रहा, लोग आनन्द से झूमते रहे और ज्योंही पढ़ना खत्म किया कि तालियों की भयानक गड़गड़ाहट शुरू हो गई, जो देरतक चलती रही। यहाँ रूसी कवि पेट्रोनोव आये हुए हैं जिनकी बड़ी आवभगत है। उन्होंने उठकर हाथ मिलाया। और भी कवि उठकर हाथ मिलाने लगे। बड़ी मुश्किल से जनता शान्त हुई। तब कविता का पोलिश अनुवाद यहाँ की प्रसिद्ध अभिनेत्री 'स्तरजंका' ने पढ़ा। अनुवाद खत्म होने पर तालियों का हंगामा शुरू हुआ और पूरे तीन मिनट तक चलता रहा। इंटरवल में मैं ज्योंही बाहर निकला, देश-देश के कवि मुझसे लिपटने लगे और आटोग्राफ-वालों की भीड़ जमा हो गई। आज अखबारों ने मेरा फोटो और कार्टून छापा है। कल वह इंटरव्यू छपेगा, जो अखबारवाले ले गये हैं।

संयोग ऐसा था कि मैं अकेला ही आनेवाला था। मेरी तबियत घबराने लगी। तब मैंने राधाकृष्णन् साहब से आग्रह करके सागर निजामी को साथ कर लिया। अभी तक सागर भला बर्ताव कर रहे हैं। रात उनका भी काव्य-पाठ खूब जमा। उन्होंने तरन्नुम में कविता पढ़ी थी। आज यहाँ के एक अखबार ने लिखा है—"In certain parts of India poetry is still not seperated from music."[1] मगर सुयश सागर ने भी अर्जित किया है।

कल मैं वारसा-यूनिवर्सिटी गया था। वहाँ इंडिया इंष्टिच्यूट अभी-अभी कायम हुआ है। इंष्टिच्यूट को मैंने अपनी किताबें भेंट कीं, तुलसीकृत रामायण की एक प्रति दी और एक प्रति शान्तिदूत की, जिसकी प्रतियाँ तुम्हें नहीं भिजवा सका हूँ। फिर वहाँ से हमलोग चाइनीज इंष्टिच्यूट गये। वहाँ अँगरेजी जाननेवाले छात्रों और प्रोफेसरों के सामने इंडियन पोयट्री पर एक लिखित भाषण दिया।

कल के Performance[2] के बाद से शहर में हमलोगों की कदर बहुत बढ़ गई है। हमलोग हीरो बनकर विचर रहे हैं।

जो कुछ देख रहा हूँ, उससे विचारों की नींव पर बुरा असर पड़ रहा है। सख्ती के विना अनुशासन नहीं, अनुशासन के विना काम नहीं और काम के विना प्रगति नहीं। यहाँ के कवि और कलाकार देश के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति हैं। वहाँ भारत में हम मिनिष्टर से भी सस्ते और आलू-कोबी से भी हीन माने जाते हैं। आकर अनुभव कहूँगा। भारतवर्ष अब भी नींद में है। उसे झकझोर चाहिए। सिविल लिबर्टी के नाम पर देश बर्बाद हो जायगा। इस दिशा में अपने यहाँ सोचने की जरूरत है। शेष कुशल है।

२–१२ को हम लंदन जायँगे। वहाँ से पेरिस, रोम, जिनेवा और कैरो रुकते हुए २२–१२ तक बंबई पहुँचेंगे।

तुम्हारा—
दिनकर

---

१. भारत के कई भागों में कविता आज भी संगीत से पृथक् नहीं हुई है।
२. समारोह

## सम्मेलन के दो नये प्रकाशन

### बिहार के उर्दू शायर और उनकी शायरी

लेखक—श्रीरज़ा नकवी

इस पुस्तक में १३ वीं सदी से ही बिहार-प्रान्त में उर्दू-साहित्य के विकास की कहानी है। साथ ही, बिहार के पुराने और नये उर्दू-शायरों का संक्षिप्त परिचय और उनकी शायरी के चुने हुए नमूने, आवश्यक टिप्पणियों के साथ दिये गये हैं। लेखक ने इसकी भूमिका में उर्दू और हिन्दी को एक ही भाषा सिद्ध किया है। पुस्तक यन्त्रस्थ है। शीघ्र ही प्रकाशित होगी।

### बिहार का साहित्य ( दो खण्डों में )

इस पुस्तक में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के भूतपूर्व सभापतियों के भाषण संगृहीत हैं। आरंभ से आजतक के सभी सभापतियों के भाषण ज्यों-के-त्यों प्रकाशित किये गये हैं। इन भाषणों में बिहार के साहित्यिक इतिहास की प्रचुर प्रामाणिक सामग्री है। पुस्तक के दोनों खण्ड इसी विशेषांक के साथ प्रकाशित हैं।

प्राप्तिस्थान—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, कदमकुआँ, पटना-३

---

## बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ( पटना ) के आगामी प्रकाशन

१. बौद्ध-धर्म-दर्शन—ले० आचार्य नरेन्द्रदेव
२. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड (सचित्र)—श्री राहुलजी
३. दोहा-कोष (बौद्ध-सिद्ध सरहपा) सं०—श्री राहुल सांकृत्यायन
४. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
५. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (पिशल-कृत)-(मूल जर्मन से अनूदित)—डॉ० हेमचन्द्र जोशी
६. राजनीति और दर्शन—डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा (पटना-विश्वविद्यालय)
७. शिवपूजन-रचनावली—श्री शिवपूजन सहाय

सूचना—पुस्तक-सं० ६ और ७ शीघ्र ही प्रकाशित होंगी।

---

## बिहार का साहित्यिक इतिहास

बिहार-राज्य के हिन्दी-प्रेमियों और साहित्यानुरागियों से नम्र निवेदन है कि 'बिहार का साहित्यिक इतिहास'-नामक ग्रन्थ तैयार हो रहा है। उक्त ग्रन्थ में बिहार-राज्य के लेखकों, कवियों, सम्पादकों, पत्रकारों, प्रकाशकों, साहित्यिक संस्थाओं, पत्र-पत्रिकाओं आदि का विवरणात्मक परिचय रहेगा। जिन सज्जनों ने अपनी जीवनी न भेजी हो, वे कृपया शीघ्र भेज दें। साथ ही, विस्मृत और स्वर्गीय साहित्यिकों के विषय में जो कुछ जानते हों, स्पष्ट लिख भेजें। प्रेषित विवरण में निम्नलिखित बातें अवश्य हों—(१) उपनाम-उपाधि-सहित नाम, (२) पिता का नाम, (३) जन्म-स्थान का पूरा पता, (४) जन्मकाल, (५) शिक्षा (समय और संस्था), (६) प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का पूरा ब्योरा, (७) रचनाकाल, (८) गद्य-पद्य-रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण, (९) विशेष उल्लेखनीय विषय।

—मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ( पटना ) के इक्कीस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। अजिल्द २॥।)
२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। सजिल्द, सवा तीन रुपये।
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मूल्य ९।)
४. विश्वधर्म-दर्शन—श्री साँवलियाविहारीलाल वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
५. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। सौ चित्र, दो मानचित्र।
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा—डा० सत्यप्रकाश। मूल्य साढ़े आठ रुपये।
७. सन्तकवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री। मूल्य १४)
८ काव्यमीमांसा ( राजशेखर-कृत )—अनुवादक, पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत। मूल्य साढ़े नौ रुपये।
९. श्री रामावतारशर्मा-निबन्धावली—स्व० म० म० रामावतार शर्मा। मूल्य ८॥।)
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद। मूल्य सवा सात रुपये।
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये। २७ चित्र।
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी। मूल्य १३॥)
१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्री गोरखनाथ सिंह। मूल्य डेढ़ रुपया।
१४. रबर—श्री फूलदेवसहाय वर्मा। मूल्य साढ़े सात रुपये।
१५. ग्रह-नक्षत्र—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। मूल्य सवा चार रुपये।
१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरख प्रसाद। चित्र २१०। मूल्य सवा चार रुपये।
१७. हिन्दू-धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह। मूल्य तीन रुपये।
१८. ईख और चीनी—प्रो० फूलदेवसहाय वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
१९. शैवमत—अनुवादक, डा० यदुवंशी। मूल्य आठ रुपये।
२०. मध्यप्रदेश—ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन—डा० धीरेन्द्र वर्मा। मूल्य सात रुपये।
२१. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (द्वितीय खण्ड)—डा० धर्मेन्द्रब्रह्मचारी शास्त्री। मूल्य ढाई रुपये।

सभी पुस्तकों की मजबूत जिल्द पर कलापूर्ण रंगीन सचित्र आवरण है। हिन्दी-संसार के प्रमुख विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

मुद्रक—श्रीअजन्ता प्रेस लि०, पटना—४ :: प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना—३

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् का सम्मिलित शोध-समीक्षा-प्रधान त्रैमासिक मुखपत्र

वर्ष ७ : अंक २ } आषाढ़, संवत् २०१३ :: जुलाई, १९५६ ई० { वार्षिक ७) : एक प्रति २)

सम्पादक

शिवपूजन सहाय : : नलिनविलोचन शर्मा

सहकारी

श्रीरञ्जन सूरिदेव

सम्पादकीय

डा० विश्वनाथप्रसाद वर्मा ९ वैदिक राजनीति-शास्त्र का दार्शनिक विवेचन
प्रो० वासुदेव उपाध्याय १२ बौद्ध-कला में हिन्दू-कल्पना
श्री अगरचन्द भँवरलाल नाहटा १८ गोरखनाथ का ज्ञानचौंतीसा
श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य २१ योगभाष्य का अध्ययन
श्री अम्बाशङ्कर नागर ३५ कवि दयाराम की हिन्दी-कविता
श्री बजरंग वर्मा ४४ उमापति उपाध्याय
डा० कन्हैयालाल सहल ५५ कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन
श्री गणेश चौबे ६१ भोजपुरी के पावस-गीत
समीक्षा : संकलन

## सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

सभापति—श्री मथुराप्रसाद दीक्षित; उपसभापति—श्री शिवपूजन सहाय, श्री देवव्रत शास्त्री; प्रधानमन्त्री–श्री व्रजशंकर वर्मा ('योगी'-सम्पादक); अर्थ-मन्त्री—श्री उमानाथ, एम्० ए० (उपनिर्देशक, जनसम्पर्क-विभाग); साहित्य-मन्त्री—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; कला-मन्त्री—श्री व्रजनन्दन आजाद (संयुक्त संपादक, इण्डियन नेशन); प्रबन्ध-मन्त्री—श्री बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल (प्रबन्धक, हिन्दुस्थान-समाचार-एजेन्सी); पुस्तकालय-मन्त्री—कवि श्री रामदयाल पाण्डेय; प्रचार-मन्त्री—श्री रामनारायण शास्त्री; सदस्य—सर्वश्री पं० छविनाथ पाण्डेय; प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम्० एल० सी०; रामवृक्ष बेनीपुरी ('नईधारा'–संपादक); मोहनलाल महतो 'वियोगी', एम्० एल० सी०; श्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार ('आर्यावर्त्त'-संपादक); लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम्० एल० ए० ('अवन्तिका'–सम्पादक); गंगाशरण सिंह (संसद्-सदस्य); कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' (संसद्-सदस्य); मुकुटधारी सिंह ('युगान्तर'–संपादक, झरिया); राजेन्द्र शर्मा ('योगी'-प्रबन्ध-सम्पादक); बैजनाथ राय, एम्० ए० (जमशेदपुर); प्रो० केसरीकुमारसिंह, एम्० ए० (राँची-कालेज); उमाशंकर; प्रो० श्रीमती यमुना वर्मा (पटना-वीमेन्स कालेज); प्रो० श्रीमती शारदा वेदालंकार (प्राचार्या, महिला-महाविद्यालय, भागलपुर)।

## 'साहित्य' के नवीन संस्करण की पूरी फाइल

'साहित्य' के विगत छह वर्षों के दुर्लभ अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। विद्वानों ने शोध और साहित्यालोचन के क्षेत्रों में इन अंकों को प्रतिष्ठा का अधिकारी माना है। विद्यानुरागी सज्जन तथा स्थायी साहित्य के संग्रहालय एवं पुस्तकालय इन फाइलों को 'साहित्य'-व्यवस्थापक से पत्र-व्यवहार कर मँगा सकते हैं।

एक वर्ष के चार अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ७) रुपये। डाकखर्च अलग।

छह वर्ष के छब्बीस अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ४२) रुपये। डाकखर्च अलग।

'साहित्य' के पुराने संस्करण की कुछ प्रतियाँ बच गई हैं, जिनमें से प्रत्येक प्रति का मूल्य आठ आना है। यद्यपि वे प्रतियाँ दुर्लभ हैं, तथापि साहित्य-प्रचार की दृष्टि से उनका वही मूल्य लिया जायगा, जो उस समय था। सम्मेलन ने पुराने या नये संस्करण के अंक का मूल्य इसलिए नहीं बढ़ाया है कि उसका उद्देश्य केवल साहित्य का अधिकाधिक प्रचार है। पुराने और नये संस्करण के अंक विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तरवर्ग के विद्यार्थियों और साहित्यिक शोध करनेवाले अनुसंधायकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और लाभदायक हैं।

—'साहित्य'-व्यवस्थापक, सम्मेलन-भवन, पटना

वर्ष ७ : अंक २] आषाढ़, संवत् २०१३ :: जुलाई, सन् १९५६ ई० [वार्षिक ७) : एक प्रति २)
सम्पादक—शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

## सम्पादकीय

### बिहार के कवियों की गद्य-रचनाएँ

बिहार के कई कवि अपनी कविता के कारण तो हिन्दी-संसार में प्रसिद्ध ही हैं, अपनी गद्य-रचनाओं से भी उन्होंने हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। इस प्रसंग में चार कवियों की ओर सहसा हमारा ध्यान जाता है। वे हैं—श्री दिनकर, पण्डित मोहनलाल महतो 'वियोगी', आचार्य जानकीवल्लभ शास्त्री और पण्डित हंसकुमार तिवारी।

श्री दिनकर जी की गद्य-रचनाओं में सब से पहला निबंध-संग्रह 'मिट्टी की ओर' है। उसके बाद 'अर्द्धनारीश्वर' और 'रेती के फूल' के नाम से दो निबंध-संग्रह और भी प्रकाशित हो चुके हैं। उनके सांस्कृतिक निबंधों का चौथा संग्रह 'हमारी सांस्कृतिक एकता' भी प्रकाशित है। संभवतः इसी चौथी पुस्तक का विकसित-विराट् रूप उनका 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक ग्रन्थ है, जिसका परिचय हम गतांक में दे चुके हैं। श्री दिनकर जी का गद्य काव्यात्मक है। उनके गद्य में जो स्वाभाविक बाँकपन है, वह उसकी सुबोधता में बाधक नहीं होता।

वियोगी जी का रचा हुआ कथा-साहित्य तो सुन्दर है ही, उनके लिखे संस्मरण भी साहित्यिक निधि हैं। उनकी हास्य-व्यंग्यपूर्ण कहानियाँ भी मार्के की हैं। उनकी नई पुस्तक 'जातक-कालीन भारतीय संस्कृति' बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से प्रकाशित होनेवाली है। उसमें उन्होंने बौद्ध-ग्रन्थों और जातक-कथाओं से ही प्रमाणित किया है कि भगवान् बुद्ध वैदिक मार्ग के विरोधी नहीं, बल्कि प्रकारान्तर से समर्थक ही थे।

शास्त्री जी कुशल कथाकार के सिवा समर्थ निबंधकार और सफल समीक्षक भी हैं। उनके समान प्रौढ़ निबन्धकार हिन्दी-संसार में गिने-चुने ही होंगे। संस्कृत-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् होने के कारण उनका शास्त्रीय पक्ष अत्यन्त प्रबल है। इसीलिए, उनकी पद्धति

शुद्ध भारतीय है। उनके प्रकाशित निबन्ध-संग्रह ('साहित्य-दर्शन' और 'चिन्ताधारा') हिन्दी की लाली रखनेवाले हैं।

तिवारी जी पत्रकार और कथाकार के साथ-साथ निबन्धकार भी उच्चकोटि के हैं। उनके निबन्ध-संग्रह उनकी चिन्तनशीलता और समीक्षा-शक्ति के परिचायक हैं। उनकी 'कला' नामक पुस्तक एक उत्कृष्ट गद्य-रचना है। बँगला से हिन्दी अनुवाद करने में वे बड़े सिद्धहस्त हैं, यह भी उत्तम गद्यकार का ही लक्षण है।

ऐसे ही एक पाँचवें कवि श्री जनार्दनप्रसाद झा 'द्विज' हैं, जिनकी गद्य-पद्य-रचनाएँ हिन्दी में पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं। वे जैसे ओजस्वी वक्ता हैं वैसे ही कुशल कथाकार और आलोचक भी। यदि वे पण्डित नन्दकिशोर तिवारी की तरह विरक्त होकर साहित्य-क्षेत्र से संन्यास न लेते, तो उनके निबन्ध और संस्मरण हिन्दी को गौरवान्वित करते। उनके अंकित किये हुए 'रेखा-चित्र' उन्हें गद्यकवि भी प्रमाणित करते हैं।

छठे कवि श्री आरसीप्रसाद सिंह कथाकार के रूप में काफी प्रसिद्ध हो चुके हैं। गद्य-क्षेत्र की अन्य दिशाओं में उनका अभियान दृष्टिगोचर नहीं हुआ है। निबन्धकार और आलोचक की प्रतिभा पाकर भी वे कविता की आराधना में ही एकनिष्ठ हैं। हिन्दी के पुराने महाकवियों की जो पद्यबद्ध जीवनियाँ वे लिखने लगे हैं उनमें कवि-हृदय की विशेषताएँ दर्शनीय हैं।

कवि 'प्रभात' की कोई ऐसी उल्लेखनीय गद्य-रचना अभी तक सामने नहीं आई है, जो उनके सुयश के अनुकूल हो। पर, उनकी प्रखर मेधाशक्ति से जो परिचित हैं वे यह अस्वीकार नहीं कर सकते कि जब कभी वे गद्य-क्षेत्र में अवतीर्ण होंगे, यश के ही भागी बनेंगे। सुना है कि उनके आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित होने पर बड़े क्रान्तिकारी सिद्ध होंगे। हम उनकी प्रतीक्षा में बड़े उत्सुक और आशान्वित हैं।

पण्डित रामदयाल पाण्डेय लब्धकीर्त्ति कवि एवं पत्रकार हैं। उनकी जो छोटी-मोटी गद्य-रचनाएँ प्रकाशित हैं वे भी महत्त्व की हैं; पर अभी तक उन्हें काव्य-क्षेत्र की तरह गद्य-क्षेत्र में अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखलाने का अवसर नहीं मिला है। वे जैसे प्रभावशाली वक्ता हैं वैसे ही गद्यकार भी। उनका गद्य विचारपूर्ण और संयत होता है। वर्तमान राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं पर वे जो सम्पादकीय मन्तव्य प्रकट करते रहे हैं, उन्हें देखते हुए ऐसा भान होता है कि आधुनिक युग के ज्वलन्त प्रश्नों पर उनकी गद्य-रचना विशेष शक्तिशालिनी होगी। हम उनके योग्य उनकी कोई गद्यात्मक पुस्तक देखना चाहते हैं।

कवि 'केसरी' अँगरेजी-साहित्य के सुयोग्य प्राध्यापक हैं। किन्तु, अँगरेजी-साहित्य से उन्होंने हिन्दी को कुछ नहीं दिया। उनकी कोई गद्य-रचना हमारे देखने में नहीं आई। उनसे हिन्दी की यह शिकायत रहेगी कि उन्होंने अपनी अध्ययनशीलता को आलस्य के

गोद में डाल दिया है। हमारे वयोवृद्ध कवि 'मनोरंजन' जी भी अँगरेजी-साहित्य के अनुभवी प्राध्यापक हैं। उन्होंने गद्य में काफी अच्छी चीजें लिखी हैं, जिनमें से कुछ तो पत्र-पत्रिकाओं तक ही पहुँच सकीं, शेष रचनाएँ पाण्डुलिपि के रूप में ही पड़ी हैं। महाकवि बिहारीलाल पर अनेक रोचक निबन्ध उन्होंने लिखे हैं और कई वर्णनात्मक लेख भी; पर अब वे हिन्दी-संसार से प्रायः उदासीन हो गये हैं। उनकी हिमालय-यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक 'उत्तराखण्ड के पथ पर' प्रकाशित और प्रसिद्ध हो चुकी है।

कवि केसरीकुमार सिंह की कविताएँ हमारे लिए भले ही दुरूह हों; पर उनका गद्य हमें मुग्ध कर देता है। उनकी कई सुन्दर गद्य-रचनाएँ प्रकाशित हैं। हमारी धारणा है कि उनके अन्दर जो कवि है वह पद्य की अपेक्षा गद्य में ही उतरना अधिक पसन्द करता है। वे प्रसिद्ध प्रयोगवादी कवि हैं, पर उनको कवित्व-शक्ति उनके लिखित निबन्धों और उनकी मार्मिक आलोचनाओं में ही प्रदर्शित हो पाती है। यह उचित भी है; क्योंकि लब्धप्रतिष्ठ प्राध्यापक का गद्य ही हृदयहारी होना चाहिए।

श्री राजेश्वरप्रसाद नारायण सिंह का गद्य और पद्य पर समान अधिकार है। वे जितने सुन्दर कवि हैं उतने सुन्दर लेखक भी। उनकी 'अम्बपाली' आदि प्रकाशित कविता-पुस्तकें उनकी कवि-प्रतिभा की परिचायिका हैं। भारतीय संसद् में वे हमारे प्रान्त के एक प्रतिनिधि-सदस्य हैं। उनकी कहानियों में उनकी कलाकुशलता और उनके निबन्धों में उनकी ज्ञानगरिमा देखकर बड़ा सन्तोष होता है। उनके शोधपूर्ण ऐतिहासिक लेख भी महत्त्वशाली होते हैं।

हमारे वयोवृद्ध कवियों में पं० श्री दुलारे मिश्र 'मधुकर' और पं० श्री जनार्दन मिश्र 'परमेश' अतीत युग में अपनी गद्य-रचनाओं से पत्र-पत्रिकाओं की शोभा बढ़ाया करते थे। पर, आज वे काव्य-क्षेत्र से भी अवकाश ग्रहण कर चुके हैं। श्री बुद्धिनाथ झा 'कैरव' ने तो अपने प्रसिद्ध गद्य-ग्रन्थ (साहित्य-साधना की पृष्ठभूमि) के लिए बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से एक सहस्र मुद्रा का पुरस्कार भी प्राप्त किया है।

श्री जयकिशोर नारायण सिंह, साहित्याचार्य अब 'छिपे रुस्तम' कवि हैं। भगवान् ने उन्हें 'छपास' का रोग नहीं दिया है। उनकी कविताएँ, कहानियाँ, निबन्ध और आलोचनाएँ प्रचुर मात्रा में लिखी पड़ी हैं। यदि वे प्रकाशित हो पातीं तो बिहार की साहित्य-सेवा का बहुत सम्मान होता। उन्होंने 'मेघदूत' का जो पद्यानुवाद किया है वह जब छपेगा तब आज तक के अनुवादों में आदरणीय स्थान का अधिकारी होगा। संस्कृत के विद्वान् होने के कारण वे बहुत सुन्दर गद्य लिखते हैं। अँगरेजी और बँगला में भी उनकी अच्छी गति है। पर, दुर्भाग्यवश अभी तक बिहार उनकी विदग्धता की विभूति से वंचित है।

श्री प्रफुल्लचन्द्र ओझा 'मुक्त' जैसे अच्छे कवि हैं वैसे कथाकार और पत्रकार भी। उनकी परिमार्जित गद्य-शैली से प्रकट होता है कि वे एक समर्थ गद्यकार हैं। वे संस्कृत और बँगला से जो अनुवाद करते हैं वह मौलिक गद्य की तरह प्रतीत होता है। 'पुलिना के पत्र'

और 'संन्यासी' नामक उनके दो उपन्यास हमने देखे हैं। श्री ललितकुमार सिंह 'नटवर' पत्रकार और नाटककार के रूप में परिचित हो चुके हैं। पर, आजकल वे चल-चित्र-जगत् में अपना नाट्य-कौशल दिखला रहे हैं। श्री रामेश्वर झा 'द्विजेन्द्र' पत्रकार और कथाकार के रूप में भी हिन्दी की सेवा कर रहे हैं। उनका कहानी-संग्रह 'किरात-कन्या' से उनका गद्य-रचना-कौशल प्रकट होता है। आजकल वे 'भागलपुर-समाचार' के सम्पादक हैं।

हमारे अन्य सुपरिचित कवियों में केवल श्री व्रजकिशोर नारायण ही नाटककार और उपन्यासकार के रूप में भी आगे आये हैं। वे पत्रकार भी हैं। उनका विदेश-यात्रा-वर्णन बड़ा मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है, जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित होनेवाला है। प्रोफेसर आनन्दनारायण शर्मा भी निबन्ध और आलोचनाएँ काफी लिखते हैं, पर अभी तक उनकी कोई गद्यात्मक पुस्तक हमारी नजर से नहीं गुजरी है। श्री उमेशचन्द्र 'मधुकर' के पास भी निबन्ध और कहानियाँ अप्रकाशित पड़ी हैं। श्री 'अरुण' और प्रोफेसर 'किशोर' अभी काव्योद्यान में ही रम रहे हैं। श्री 'मुकुर' की गद्य-रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं तक ही सीमित हैं। 'सुजन' जी और 'रुद्र' जी की प्रवृत्ति गद्य की ओर नहीं दीख पड़ती, पर वे चाहें तो सफल गद्यकार हो सकते हैं, क्योंकि सरकारी अनुवाद-विभाग में उन्हें भाषा-शैली पर विचार करते रहने का सुयोग मिला हुआ है। प्रोफेसर सिद्धनाथ कुमार ने रेडियो की टेकनीक पर एक अच्छी गद्य-पुस्तक लिखी है, जो हिन्दी में अपने विषय की नई चीज है। आकाशवाणी के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा ने प्रशंसनीय काम कर दिखाया है। उनकी गद्य-पद्य-रचनाओं में उनका उज्ज्वल भविष्य झलकता है। श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय' और श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव के निबन्ध पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं। पर, उनका कोई संग्रह कहीं से नहीं निकला है।

श्री हरेन्द्रदेव नारायण का भी कोई निबन्ध-संग्रह देखने में नहीं आया है। पर, उनकी पत्रकार-कला का परिचय मिल चुका है और उनकी कवयित्री पत्नी श्रीमती प्रकाशवती नारायण ने कहानियाँ लिखने में अच्छी कुशलता प्रदर्शित की है। श्री 'मुकुल' जी कुशल पत्रकार के साथ ही नाटककार और कथाकार भी हैं। उनके दो मौलिक नाटकों के साथ उनका एक कहानी-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। कवि नागार्जुन की गद्य-रचनाएँ हिन्दी-संसार में लोकप्रियता और प्रशंसा पा चुकी हैं। उनका 'गीतगोविन्द' का सरल गद्यानुवाद सुन्दर उतरा है। उनके उपन्यासों की गद्य-शैली विशेषतापूर्ण है। डाक्टर दिवाकरप्रसाद विद्यार्थी जब कवि और कथाकार तथा आलोचक के रूप में प्रकट हुए तब ऐसा प्रतीत हुआ कि उनकी प्रतिभा बिहार का नाम चमकावेगी, पर उन्होंने आतिशबाजी की तरह साहित्याकाश को उद्भासित करके हिन्दी को चित्त से उतार ही दिया। वे अँगरेजी-साहित्य के प्रौढ विद्वान् हैं, पर उनके गंभीर अध्ययन का प्रसाद हिन्दी को न मिल सका। यदि वे अँगरेजी में हिन्दी-साहित्य का इतिहास ही लिख देते तो कोई शिकायत न रहती।

कवि 'शेखर' ( प्रोफेसर मुरलीधर श्रीवास्तव ) अच्छे आलोचक और निबन्धकार हैं। 'साहित्य' के पाठक उनसे परिचित हैं। उन्होंने बिहार के प्रमुख कवियों और गद्यकारों पर

आलोचनात्मक पुस्तकें लिखी हैं। अँगरेजी की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों का गद्यानुवाद भी सफलतापूर्वक किया है। अनुवाद प्रायः गद्यकार के लिए कड़ी कसौटी हुआ करता है।

हमारे बहुत से होनहार नवयुवक कवियों की गद्य-रचनाएँ यदा-कदा दृष्टिगोचर होती हैं, जिनसे पता चलता है कि वे यदि प्रयत्नशील रहेंगे, तो भविष्य में अच्छे गद्यकार भी हो सकेंगे। उदाहरणार्थ, श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह, श्री रणधीर, श्री अवधेन्द्रदेव नारायण आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। संभव है कि कई नये कवियों की गद्य-रचनाएँ प्रकाशित हुई हों, पर उन्हें देखने का अवसर हमें नहीं मिला। खेद है कि बिहार के कवियों की बहुत-सी गद्य-पद्य-रचनाएँ अब तक अप्रकाशित रह जाने के कारण हिन्दी-साहित्य की शोभावृद्धि करने में समर्थ नहीं हुई हैं। अच्छे प्रकाशकों का अभाव बिहार की साहित्यिक प्रगति में बहुत बाधक है। यह बाधा कब और कैसे दूर होगी, चिन्तनीय और विचारणीय है। —शिव०

## 'हिन्दी-साहित्य-कोश'

हिन्दी में अनेक प्रकार के कोश हैं। नये-नये बनते भी जा रहे हैं। तब भी कई तरह के कोशों के अभाव का अनुभव किया जा रहा है। पर, जो बन रहे हैं वे जब निकलेंगे तब बहुत से अभाव दूर हो जायँगे। भौगोलिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, वैज्ञानिक, पौराणिक, वैदिक आदि कई प्रकार के कोशों की रचना की सूचना दीख पड़ी है; पर 'हिन्दी-साहित्य-कोश' का प्रणयन विशेष महत्त्वपूर्ण प्रयास है। 'साहित्य' में हमने बहुत पहले ही इसकी आवश्यकता की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया था।

यह कोश काशी के ज्ञान-मण्डल-कार्यालय से प्रकाशित होनेवाला है। इसके लिए जो सम्पादन-समिति बनी है उसके सदस्य हैं—डाक्टर धीरेन्द्र वर्मा (प्रधान), डा० व्रजेश्वर वर्मा, डा० धर्मवीर भारती, श्रीरामस्वरूप चतुर्वेदी, डा० रघुवंश (संयोजक)। अनुमानतः, यह रायल आकार के आठ सौ पृष्ठों का होगा। संभव है कि तैयार होते-होते पृष्ठ-संख्या एक हजार तक भी पहुँच जाय। इसके सम्पादकीय विभाग का प्रधान कार्यालय प्रयाग में रखा गया है, जिसका पता है—३४, चैथम लाइन्स। इसके तैयार होने की अवधि डेढ़ वर्ष रखी गई है, जो कार्य की गुरुता देखते हुए कम ही जान पड़ती है। इसमें दो-चार साल भी लग जायँ तो कोई बड़ी बात नहीं, कमाल ही होगा।

इसमें प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र-सम्बन्धी विषयों—रस, ध्वनि, अलंकार, छन्द आदि के अतिरिक्त पाश्चात्य साहित्यशास्त्र के तत्त्वों और सिद्धान्तों का भी विशद विवेचन रहेगा। साहित्य-संसार में प्रचलित विविध प्रकार के नये-पुराने 'वादों' एवं प्रवृत्तियों का विश्लेषण, उनका ऐतिहासिक और शास्त्रीय परिचय देते हुए, निष्पक्ष भाव से किया जायगा। हिन्दी भाषा और उसके विस्तृत क्षेत्र की जनपदीय बोलियों का मार्मिक विवेचन, भाषा-विज्ञान के आधार पर, तटस्थता के साथ होगा। साहित्यिक और पारिभाषिक शब्दों के प्रामाणिक अर्थ के साथ-साथ उनके प्रयोग की विशेषताएँ भी बतलाई जायँगी। इस प्रकार, यह ग्रन्थ हिन्दी-साहित्य के अध्ययन-अध्यापन में तो सहायक होगा ही, उसमें अनुसन्धान करने-वालों के लिए भी यह बड़ा हितकर सिद्ध होगा।

यथासंभव इसको साहित्यिक विश्वकोश बनाने का प्रयत्न होना चाहिए। प्रथम संस्करण के प्रकाशित और व्यवहृत होने के बाद ही इस बात का पता लग सकता है कि इसमें कहाँ क्या कमी रह गई है। ऐसे कोश का आकार-प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ता ही जायगा। प्रथम प्रयास में ही सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो सकती। तब भी साहित्यानुरागियों और साहित्य-सेवियों को अपनी कठिनाइयों और समस्याओं को सम्पादकों के पास अपनी सम्मति के साथ भेजना चाहिए। जो अहर्निश साहित्य का अनुशीलन करते हैं उन्हें नाना प्रकार की जानकारियों की जरूरत महसूस होती है। अगर वे अपनी जिज्ञासाओं से सम्पादकों को परिचित कराते चलें तो वे कोश को सर्वांगपूर्ण बनाने में काफी दूर तक सफल हो सकते हैं। सम्पादक-मण्डल को साहित्य-जगत् के विशेषज्ञ विद्वानों का भी सहयोग सुलभ है, यह सन्तोष का विषय है। इससे आशा होती है कि कोश का अभीष्ट रूप ही सामने आवेगा। ज्ञानमण्डल का यह अभिनन्दनीय सत्कार्य सांगोपांग सम्पन्न हो, यही ईश्वर से प्रार्थना है।

—शिव०

## संताली भाषा का एकमात्र पत्र 'होड़-सोम्बाद'

बिहार-सरकार के जनसम्पर्क-विभाग द्वारा वैद्यनाथ धाम, देवघर ( संताल परगना ) से, श्री 'समीर' जी के सम्पादकत्व में, गत नौ वर्षों से 'होड़-सोम्बाद' नामक संताली भाषा का समाचार-पत्र देवनागरी-अक्षरों में निकलता है। अब तक संताली भाषा रोमनलिपि में ही लिखी जाती रही है, किन्तु इस पत्र के प्रकाशन-काल से संतालीभाषियों में नागराक्षर का भी प्रचार हो रहा है।

यह पत्र न केवल बिहार के आदिवासियों में, बल्कि उड़ीसा, पश्चिम बंगाल और आसाम के आदिवासियों के बीच भी प्रचलित है। इसके द्वारा आदिवासियों में देवनागराक्षर का प्रचार दृढ़ता से हो रहा है। फलस्वरूप, हिन्दी-प्रचार का उर्वर क्षेत्र तैयार होता जाता है। इस पत्र में केवल देश-विदेश के समाचार ही नहीं छपते, बल्कि संताली भाषा के साहित्य से संबंध रखनेवाले लेख भी छपते हैं, जिनसे संतालीभाषियों की सामाजिक स्थिति, धार्मिक भावना और साहित्यिक तथा सांस्कृतिक चेतना का भी पता लगता है। इस पत्र के द्वारा संताली भाषा के बहुत से आदिवासी लेखक और कवि प्रकाश में आये हैं तथा यह भी प्रकट हुआ है कि अन्य जनपदीय भाषाओं की तरह संताली भाषा भी साहित्यिक सम्पत्ति से संपन्न है।

आदिवासी संताली हमारे देश के अत्यन्त प्राचीन निवासी हैं। पर, अधिकतर जंगली प्रदेशों में रहने के कारण उनका सम्बन्ध भारतवासी जनता से टूट-सा गया था। किन्तु, इस पत्र के द्वारा दोनों में निकटतम सम्बन्ध स्थापित होने की आशा है। इसका श्रेय इस पत्र के सम्पादक श्री 'समीर' जी को है, जो संताली के पंडित होते हुए भी हिन्दी के सुपरिचित लेखक हैं और जिनके लेखों से हिन्दी-संसार में आदिवासी क्षेत्र की भाषाओं के साहित्य की विशेषताएँ प्रकट हुई हैं।

हमारी समझ में, अच्छा होता, यदि इस पत्र के एक स्तम्भ में संताली और हिन्दी की गद्य-पद्य-रचनाओं के बिंब-प्रतिबिंब-भाव प्रकाशित हुआ करते, जिनसे दोनों भाषाओं के गद्य-पद्यात्मक साहित्य के तुलनात्मक अध्ययन में सहायता मिलती। यदि संताली भाषा के शब्दों, मुहावरों, कहावतों और पहेलियों का अर्थ और पर्याय भी हिन्दी में प्रत्येक अंक में दिया जाता, तो दोहरा लाभ होता। सम्पादक 'समीर' जो दोनों भाषाओं के विद्वान् हैं, इसलिए आशा है कि वे हमारे सुझाव पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे। —शिव०

## धुरिकीर्त्तनीय या धुरीहीन

हमारे कानों को घृणा का एक साहित्यिक मंत्रोच्चार वेध रहा है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, कविवर 'दिनकर' और श्रीमती महादेवी वर्मा के विरुद्ध, उनके व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन को लक्ष्य बनाकर, उनके साहित्यिक कृतित्व के सम्बन्ध में नहीं, एक उत्तरदायी साहित्यिक के द्वारा यह अभियोग आरोपित किया गया है कि वे धुरीहीन हैं।

'धुरी' शब्द का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। धुरी-राष्ट्रों की कहानी पुरानी नहीं पड़ी है। धुरी-राष्ट्रों में ऐसी एकता स्थापित हुई थी कि मानव-सभ्यता खतरे में पड़ गई थी। धुरीहीनता का प्रयोग हमें इसी निकट अतीत की घटना की याद दिलाता है। क्या धुरीहीनता से क्षुब्ध धुरी-प्रेमी चाहता है कि हिन्दी के साहित्यिक किसी अधिनायकवाद के समर्थक और अनुयायी बनें? इतना तो वह चाहता ही है कि कोई साहित्यिकार यदि दल-विशेष का समर्थन करता है तो उसी का समर्थन करता चले। यदि वह एक बार किसी आदर्श के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करता है तो दूसरा कोई भी आदर्श इसके लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। उसे बौद्धिक और व्यावहारिक भी, पूर्वाग्रहों से युक्त होना चाहिए, विभिन्न मूल्यों और प्रतिमानों में वह जो कुछ स्पृहणीय समझता है उसे ग्रहण करते चलने का उसे अधिकार नहीं।

धुरी-आदर्श के अनुसार आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का बहुत बड़ा अपराध यह है कि उन्होंने समाजवाद, साम्यवाद, किंबहुना राष्ट्रीय-स्वयंसेवक-संघ को भी, अवसर-विशेष पर, अपना समर्थन दिया। हम संकलित साक्ष्य के सत्यासत्य के सम्बन्ध में कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। किन्तु, हम सिद्धांतरूप में इससे भी अधिक धुरीहीनता का समर्थन करते। यदि धुरीहीनता यही है तो यह मात्र दृष्टि की उदारता है, जिससे रहित साहित्यकार को साहित्य के बदले किसी और क्षेत्र में ही किस्मत की आजमाइश करनी चाहिए। जिस साहित्यकार ने देव-विशेष को अपने हृदय के सिंहासन पर आसीन किया उसे इसका भी रोना रोना पड़ा कि देवता आसन से लुढ़क पड़ा। जिस मजबूत धुरी के चक्के सारी दुनिया को रौंदने चले थे, उसके टूटने में बहुत समय नहीं लगा था। साहित्यकार बहुदेवोपासक होता है और वह इस तरह चलता है कि वह दूसरों को रौंदे और कुचले नहीं। लेकिन, ऐसा लगता है कि बौद्धिक अधिनायकवाद के लिए हिंदी के कुछ साहित्यिकों में मोह बना हुआ है।

आचार्य द्विवेदी जी कवि-गुरु रवींद्रनाथ ठाकुर की परंपरा के मनीषी हैं। रवींद्रनाथ

गाँधी जी के अनेक सिद्धांतों के विरोधी थे और उनके निकट भी आते चले गये थे। उन्होंने हिंसात्मक क्या, अहिंसात्मक आंदोलन का भी समर्थन नहीं किया था, किंतु 'अग्नि-वीणा' के रचयिता काजी नजरुल इस्लाम जब इस कविता-पुस्तक के लिए जेल में सजा भुगत रहे थे उस समय इस किशोर-प्राय कवि को विश्व-विख्यात गुरुदेव ने अपनी एक पुस्तक समर्पित की और उसकी एक प्रति जेल में भिजवाई। यदि गुरुदेव के चिर-संपर्क में रहने के बाद भी द्विवेदी जी केवल समाजवादी या साम्यवादी रहते तो हमें उनसे निराशा होती। यदि वे इन दोनों के प्रति ही नहीं, अन्य वादों के प्रति भी, विशेष परिस्थितियों में, अभिरुचि प्रदर्शित करते हैं तो यह वैसा है जैसा होना उचित ही है।

इसके लिए आगबबूला होना कि कोई उदार क्यों है, संकीर्ण क्यों नहीं है, हिन्दी के विचारकों के कूप-प्रेम का परिचायक है। उन्हें स्मरण रखना चाहिए कि धुरी-राष्ट्रों के समर्थन के अभियोग में, युद्धोपरांत, महाकवि एजरा पाउंड को जेल में रखा गया था; वहीं उन्होंने 'पिजान कैंटोज' लिखा था; उसे अँगरेजी भाषा के विभिन्न राजनीतिक वादों के माननेवाले निर्णायक-साहित्यिकों ने अमरीका का सर्वोच्च काव्य-पुरस्कार, बालिंगन प्राइज, दिया था और स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की थी कि वे पाउंड की राजनीति से असहमत होते हुए भी उसकी कविता की श्रेष्ठता के विषय में एकमत थे!

हिन्दी में, इसके विपरीत, एक धुरिकीर्त्तनीय मनीषी के उदार दृष्टिकोण को स्वार्थ-भावना से प्रेरित तथा और भी जाने क्या-क्या कहा गया है और कहनेवाला एक ऐसा व्यक्ति है जो अभी यह प्रमाणित नहीं कर सका है कि अगर वह दूसरों पर पत्थर चलाता है तो खुद शीशे के मकान में नहीं रहता! हम तो यही जानते थे कि अभी उसके जीवन का वह समय है जब, अगर जमाना पुराना होता तो, उसे यह सीख मिलती कि 'आचार्य-देवो भव'!

'दिनकर' और महादेवी के प्रति भी इस लेखक ने ऐसे असम्मानजनक शब्दों का प्रयोग किया है जो उसके श्रद्धा-रहित हीन-भावनाग्रस्त व्यक्तित्व के द्योतक हैं और हम उसे मानसिक व्याधि से पीड़ित मानकर सहानुभूति का पात्र ही समझते हैं। जिस व्यक्ति ने यशलोलुपता के कारण, कुछ ही वर्षों पूर्व, साहित्यिक मर्यादा की अवहेलना कर, एक प्रकाशक के प्रतिपालन की प्राप्ति के लिए एक प्रतिष्ठित साहित्यकार को अपमानित और उसके अधिकार से उसे वंचित किया, वही आज सिद्धांत की दुहाई दे रहा है!

'दिनकर' जी को पोलैंड की कुछ बातें अच्छी लगती हैं तो इसके मानी यह नहीं कि कुछ दूसरी बातें बुरी न लगें। महादेवी जी यदि चाहती हैं कि साहित्यिक सरकार की कृपा-याचना न करें तो इसका यह अर्थ नहीं कि वे राष्ट्रपति-प्रदत्त उपाधि को अस्वीकृत कर राष्ट्रपति का अपमान करें, जैसा कि आलोचक महोदय की माँग है।

हम दो टूक कहना चाहते हैं कि हम धुरी-बद्ध होने से इनकार कर सकनेवाले साहित्यिकों को ही साहित्यिकों में धुरिकीर्त्तनीय मानते हैं।

—न० वि० श०

# वैदिक राजनीति-शास्त्र का दार्शनिक विवेचन

डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा, एम्० ए०, पटना-विश्वविद्यालय

प्राचीन भारतीय सभ्यता, संस्कृति और धर्म के अनुशीलन में वेदों को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साहित्यिक स्रोत का स्थान प्राप्त है। वेद शब्द से महर्षि दयानन्द केवल चार संहिताओं, अर्थात् ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद, को ग्रहण करते हैं, किन्तु शंकराचार्य वेद शब्द से उपनिषदों को भी ग्रहण करते हैं। अन्य धार्मिक पंडित भी उपनिषदों, आरण्यकों और ब्राह्मणों को वेद के अन्तर्गत मानते हैं। शाब्दिक स्पष्टता की दृष्टि से हम वेद से केवल संहिताओं को ही ग्रहण करेंगे।

वेदकालीन भारत में शासन की वास्तविक प्रक्रिया क्या थी, इस प्रश्न पर हम प्रस्तुत लेख में विचार नहीं करेंगे। हमें उन विराट् आदर्शों का विवेचन अभीष्ट है जिनसे वह शासन-प्रक्रिया अनुप्राणित थी। अतः पद्धति की दृष्टि से मेरा विवेचन ऐतिहासिक न होकर दार्शनिक और विश्लेषणात्मक है। किसी भी महान् ग्रन्थ के दो अंश होते हैं—एक है ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का चित्रण, और दूसरा है उस ऐतिहासिक वस्तुस्थिति का आश्रय लेकर एक चिरन्तन संदेश का अभिज्ञापन। महाभारत-युद्ध कब हुआ और कितनी सेनाएँ उसमें सम्मिलित थीं, यह इतिहास का प्रश्न है। किन्तु, महाभारतान्तर्गत गीता के निष्काम कर्मयोग का वर्तमान जगत् में क्या महत्त्व है, इसका विवेचन दार्शनिक का कर्त्तव्य है। वैदिक भारत की शासन-समितियाँ और विशः, जन, राष्ट्र आदि की निर्माण-प्रक्रियाएँ आज फिर से सप्राण नहीं की जा सकतीं, किन्तु वैदिक आदर्श पर्याप्त मात्रा में आज के प्रजातंत्रीय भारत को चेतना प्रदान कर सकते हैं।

वैदिक राष्ट्रीय आदर्शवाद की सबसे बड़ी विशेषता है व्रतों और नियमों के अनुसार राजकर्म की व्यवस्थापना। राजकीय शक्ति अनियंत्रित दण्डप्रवाह में आनन्द न लेने लगे, अपितु श्रेयों के अनुकूल बने, यह उस समय का विचार था और आज भी समीचीन है।

अथर्ववेद में कहा गया है —

> प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रो भवत् वशी। (११।१६)
> ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति। (११।१७)
> इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्। (११।१९)

इन मंत्रों में स्पष्ट रूप से बताया गया है कि राष्ट्र की रक्षा के लिए तपस्या और साधना की आवश्यकता है। साधनहीन वैयक्तिक जीवन भ्रमपूर्ण और असफल हो सकता है। अतः समस्त राष्ट्र को उन्नति-पथ का दर्शन कराने के लिए नियमों के अनुशीलन और अभ्यास की अत्यधिक आवश्यकता है। इस आदर्शवाद के अनुकूल ही वैदिक स्वराज्य की कल्पना थी। स्वराज्य का अर्थ निरंकुशता, स्वच्छन्दता और यथाकामचार नहीं है। स्वराज्य का अर्थ है, अपनी आत्मा का अपनी प्रवृत्तियों और एषणाओं पर साम्राज्य। जब मानव विराट्

श्रेयों से अनुप्राणित होकर अपनी आत्मा का महत्त्व अपनी इन्द्रियों और एषणाओं पर व्यक्त करता है, तब स्वराज्य का अभ्युदय होता है। जब इस प्रकार के चेतन नीतिमान् आध्यात्मिक मानव राजकीय कार्य का सम्यक् संचालन करते हैं, तब सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में स्वराज्य का दर्शन होता है। ऋग्वेद ( १।८४।१० ) में यह कथन है—

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः।
या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम्॥

अर्थात् स्वराज्य की अवस्था तभी व्यक्त हो सकती है जब शान्ति और सन्तोष तथा सार्वत्रिक श्रम का पालन हो। अन्यत्र कहा गया है—

इत्था हि सोम इन्मदे ब्रह्मा चकार वर्धनम्।
शविष्ठ वज्रिन्नोजसा पृथिव्या निःशशा अहिमर्चन्ननु स्वराज्यम्॥

( ऋग्वेद १।८०।१४ )

इस मन्त्र में बताया गया है कि स्वराज्य तभी प्राप्त हो सकता है जब ओज और शक्ति के सहारे आसुरी और राक्षसी प्रवृत्तियों का दमन किया जाय। यह संभव नहीं है कि वर्ण-विशेष या जाति-विशेष अपनी एषणाओं का भोग करे और देश में स्वराज्य टिका रहे। आज सर्वत्र स्वतंत्रता की धूम मची है। युरोपीय पुनरुत्थान के बाद यह संदेश सुनाई पड़ा था। अमरीका और फ्रांस की राज्यक्रान्ति ने इस संदेश को जोरों से प्रचारित किया। किन्तु, आज विश्व में सर्वत्र हाहाकार है। स्वतंत्रता भोगवाद, स्वार्थवाद और शोषणवाद में बदल गई है। वेद के अनुसार स्वराज्य के लिए परिग्रह और हिंसा-रूपी 'अहि' (सर्प) के वध की आवश्यकता है। मानव-सभ्यता और संस्कृति के इस भयङ्कर संक्रमणकाल में वैदिक स्वराज्य के मन्त्र का क्रियान्वयन अभिप्रेत है। आज दुनिया स्वच्छन्दता की खोज में पागल होकर उस निर्मल स्वराज्य के मन्त्र को भूल चुकी है, जिसमें आत्माभिमुख, परमार्थसाधक नियमों के अनुसार जीवन-यापन करना ही परम कर्त्तव्य माना गया था। नियमों का अभाव अराजकता और मात्स्यन्याय को उपस्थित करता है। केवल भय के कारण नियमों का अनुवर्तन करना दासों का काम है। सच्ची नैतिकता से युक्त कर्मयोग तभी व्यक्त होता है जब व्यापक आत्मकल्याण को सामने रखकर सत्कर्म का पालन होता है। इस प्रकार के कर्मयोग के पालन के लिए मनुष्य समस्त पृथ्वी के भोगों को छोड़ देता है। आधुनिक युग में इसी स्वराज्य का संदेश दयानन्द, तिलक, गाँधी और अरविन्द ने भारत को दिया है। यह स्वराज्य युरोपीय सभ्यता द्वारा उच्चरित स्वच्छन्दता और स्वतंत्रता से अधिक विशाल, उन्नयनकारी और तेजस्वी है। इस स्वराज्य का रूपक-पूर्वक वर्णन यजुर्वेद में वर्तमान है—

बाहू मे बलमिन्द्रियं हस्तौ मे कर्म वीर्यम्
आत्मा क्षत्रमुरो मम।
पृष्ठीर्मे राष्ट्रमुदरमंसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू : अरत्नी जानुनी विशो मेङ्गानि सर्वतः।

( यजु० २०।७-८ )

अर्थात्, "जो पूर्ण बल है वही मेरी भुजा, जो उत्तम कर्म और पराक्रम से युक्त इन्द्रिय और मन है वे मेरे हाथों के समान, जो राजधर्म, शौर्य, धैर्य और हृदय का ज्ञान है वे ही मेरी आत्मा के समान हैं। जो उत्तम राज्य है वह मेरी पीठ के समतुल्य, जो राज्य-सेना और कोश है, वह मेरे हस्त का मूल और उदर के समान तथा जो प्रजा को सुख से भूषित और पुरुषार्थ करना है वह मेरे कण्ठ और श्रोणी अर्थात् नाभि के अधोभागस्थान के समतुल्य, जो प्रजा को व्यापार और गणित-विद्या में निपुण करना है वह अरत्नी और उरू अंग के समान तथा जो प्रजा और राजसभा का मेल रखता है वह मेरी जानु के समान है। जो इस प्रकार से प्रजापालन में उत्तम कर्म हैं वे मेरे अंगों के समान हैं।" इस व्यापक आदर्श से प्रभावित होकर मनुष्य अपने क्षुद्र स्वार्थों को भूलकर समस्त जनता, अर्थात् विशः से एकात्मता अनुभव करता है। यही सच्चे स्वराज्य का मूल है। जब प्रत्येक मनुष्य न्याय और अन्याय, धर्म और अधर्म, सत् और असत् का भेद भूलकर, झूठे 'स्व' की उपासना में लिप्त हो जाता है, तब मानों सारी जनता, सारी जनता से युद्ध कर रही है। यह घोर अशान्ति, अन्धकार और निगूढ़ राक्षसता की अवस्था है। ऐसे अवसर पर कला, विज्ञान, धर्म, दर्शन आदि का तिरोभाव हो जाता है। अतः वैदिक स्वराज्य का निर्मल आदर्श परिपालनीय है। इस स्वराज्य के आदर्श की परिणति के लिए स्वधर्म, अर्थात् अपना गुणकर्मस्वभावानुमोदित कर्म, करना आवश्यक है। जब मनुष्य अपने कर्म में अनुरक्त होता है तब वह उसमें कौशल और प्रवीणता प्राप्त करता है। बार-बार एक कार्य करने से दक्षता का आगमन होता है। सभ्यता के विकास के लिए दक्षता परम आवश्यक है। दूसरी ओर स्वकर्म-पालन से व्यवस्था और शान्ति उत्पन्न होती है, और 'कर्मसंकर' की अवस्था उत्पन्न नहीं होने पाती। अतः इस आदर्श को व्यक्त करते हुए गीता में निर्देश है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्॥

यदि स्वराज्य का आदर्श वेदों का प्रथम महान् राजनीतिक सन्देश है तो उनका दूसरा महान् राजनीतिक आदर्श है जनमत को राज्य का आधार बनाना। वैदिक काल में सभा, समिति और विदथ का विकास हुआ था। वेदों के अनुसार नरपति को अपने मनोनुकूल कार्य न कर विशः की इच्छाओं, आकांक्षाओं, परम्पराओं और आदर्शों के अनुसार कार्य करना पड़ता था। इस प्रकार व्यावहारिक संप्रभुता का बीज उस समय सामान्य जनता के संकल्प में था, न कि शस्त्र-बल में। वेदों के अनुसार क्षात्रबल का ब्राह्मबल से समन्वय होना चाहिए। यजुर्वेद (२०।२५) में कहा है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

ब्राह्मबल और क्षात्रबल का समन्वित क्रियात्मक उदाहरण राम, भीष्म, कृष्ण आदि के चरित्र में प्राप्त होता है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इसी विचार का समर्थन

किया है। केवल ब्राह्मबल सांसारिक उन्नति से उदासीन हो जाता है और इस कारण राष्ट्रीय जीवन दुर्बल हो जाता है। केवल क्षात्रबल शक्तिवाद में परिणत हो जाता है। सीज़र, सिकन्दर, नेपोलियन और हिटलर का लज्जाजनक पराभव इसका उदाहरण है। अतः वेदों ने ब्राह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति के समन्वय का उपदेश दिया है। सम्यक् राजनीतिक व्यवस्था के लिए दोनों की आवश्यकता है। मुख्य विषय है कि किसी एक वर्ग या एक अधिनायक के हाथों में शक्ति का केन्द्रीकरण न हो। वैदिक संस्थात्मक जीवन का यह आदर्श था कि शक्ति का क्षेत्रीय और कर्मीय विकेन्द्रीकरण हो। अथर्ववेद में कहा गया है—

तं सभा च समितिश्च सेना च। (१५।९।२)

× ×

सभ्य सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः।

त्वयेद्गाः पुरुहूत विश्वमायुर्व्यश्नवम्॥ (१९।५५।६)

अर्थात्, राजसभा की रक्षा होनी चाहिए। सभा के सभासद् संस्कृत होकर सत्य और धर्म की रक्षा करें। राजकीय जीवन के उपयुक्त कर्मयोग का पालन करते हुए आयु-यापन ही निर्मल आदर्श है।

राजकार्य में 'विशः' का महत्त्व बताते हुए शतपथ ब्राह्मण में कहा है—"श्रीवैं राष्ट्रम्। श्रीवैं राष्ट्रस्य भारः। श्रीवैं राष्ट्रस्य मध्यम्। क्षेमो वै राष्ट्रस्य शीतम्। विड्वै गर्भो राष्ट्रं पसो राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्राष्ट्री विशं घातुकः। विशमेव राष्ट्राद्यां करोति तस्माद्राष्ट्री विशमत्ति न पुष्टं पशु मन्यत इति।" (शतपथ १३।२।९।२-६,८)

श्री का अर्थ कुछ भाष्यकारों ने विद्यादि उत्तम गुणों से युक्त नीति किया है। यदि शक्ति का केन्द्रीकरण होता है तो प्रजाओं का शोषण और उत्पीड़न होता है। जैसे मांसाहारी मनुष्य पशु को देखकर उसे मारने की इच्छा करता है, उसी प्रकार अधिनायक प्रजाओं के उत्कर्ष का हनन करता है और स्वेच्छाचारी होता है। अतः समष्टि के कल्याण के लिए आवश्यक है कि जनता की सहमति ही राज्य का आधार बने। इसीलिए वेद में कहा है—'विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु।' मेरे विचार में 'स्वराज्यवाद' और 'विशःवाद'—वैदिक शासन-कार्य के नियामक ये दो आदर्श आज भी उपयुक्त हैं। जब उनका सम्यक् पालन होता है तब हम ऐतरेय ब्राह्मण के शब्दों में कह सकते हैं कि 'तद्राष्ट्रं समृद्धम्।'

## बौद्ध-कला में हिन्दू-कल्पना

प्रो० वासुदेव उपाध्याय, पटना-विश्वविद्यालय

भारतीय कला को बुद्ध-मत की अनेक देन हैं। इसका एकमात्र कारण यही है कि भारत की कला धर्मप्रधान थी तथा कलाकार अपनी कृतियों में सदा ही धार्मिक विचार-धारा को

समावेश करते रहे। भारतीय कला की उत्पत्ति के विषय में विभिन्न मत होते हुए भी अधिकतर यह सिद्धान्त मान्य है कि बुद्ध-मत ने भारतीय कला को जन्म दिया। भारतीय पुरातत्त्व-सम्बन्धी जितनी खुदाइयाँ हुई हैं उनमें बौद्ध प्रतिमा ( अथवा उसके स्थान पर प्रतीक ) ही सबसे प्राचीन है। प्राचीन भारत में बौद्ध शासकों ने कला को प्रोत्साहित किया और राजाश्रय पाकर कला की उन्नति हुई। अशोक के बाद जो ब्राह्मणधर्मावलम्बी शासक हुए, वे भी सहिष्णुता के कारण, कला की उन्नति में बाधक नहीं हुए।

भारतीय इतिहास के जाननेवालों से यह बात छिपी नहीं है कि बौद्धों तथा ब्राह्मणों के संघर्ष के फलस्वरूप दोनों धर्मों के उत्थान-पतन कई बार हुए। बाद भारत में सर्वत्र ब्राह्मण-धर्म की लहर फैल गई और उत्तर से दक्षिण तक भारत में वैदिक यज्ञ होने लगे। दक्षिण के सातवाहन नरेशों ने अनेक वैदिक यज्ञ सम्पन्न किये; तो मगध में पुष्यमित्र ने दो अश्वमेध यज्ञ किये। ईसवी सन् के समीप कनिष्क ने बौद्धधर्म को पुनरुज्जीवित किया। कुषाण-वंश के साथ ही ब्राह्मण-धर्म का पुनः प्रचार हुआ और नाग-गुप्त युग में यह उन्नति के शिखर पर पहुँच गया। जब उत्तर भारत में पालवंशी नरेशों ने शासन आरम्भ किया तब बौद्धमत के तृतीय यान—वज्रयान—का ही बोलबाला था। पूर्वमध्ययुग में शंकर के कारण ब्राह्मणधर्म को पुनः वही स्थान मिल गया जो उसे गुप्त-युग में प्राप्त था। बौद्धधर्म को ब्राह्मण-मत ने इतना प्रभावित किया कि नास्तिक मतानुयायियों के पैरों तले से जमीन ही खिसक गई। यह प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। भारतीय कला में तो इसके कारण विचित्र परिवर्त्तन हुए और बुद्ध को हिन्दुओं ने विष्णु का अवतार मानकर बौद्धकला की इतिश्री कर डाली। भारतीय कला की धर्मप्रधानता इससे स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न धार्मिक विचारों के प्रवाह से प्राचीन कला में अपूर्व परिवर्त्तन दिखलाई पड़ते हैं।

यदि हिन्दू-प्रतिमाओं की निर्माण-तिथि पर विचार करें तो यह प्रकट होता है कि गुप्त-युग में (४००-६०० ई०) पौराणिक देवी-देवताओं की मूर्त्तियों को कला में प्रधान स्थान मिल चुका था। पंचायतन पूजा के साथ पंचदेव ( गणेश, विष्णु, शिव, शक्ति तथा सूर्य ) की प्रतिमाएँ कलाकारों को आकृष्ट कर चुकी थीं। यद्यपि तत्कालीन सारनाथ-शैली में बौद्धमूर्त्तियों की प्रधानता थी, तथापि खुदाई से ब्राह्मण-प्रतिमाएँ भी उपलब्ध हुई हैं। उत्तर गुप्त-युग में कलाकारों ने हिन्दू-कल्पना का बौद्धकला में समावेश आरम्भ किया। सम्भवतः यह धार्मिक आन्दोलन का समकालीन कार्य था, परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहना सम्भव नहीं है। आठवीं सदी के साधन-माला नामक बौद्ध ग्रंथ में ऐसे प्रसंग आये हैं, जिनसे प्रकट होता है कि हिन्दू-विचार-शैली का प्रभाव बौद्ध-कला पर पड़ता जा रहा था। पूर्वमध्य-युग के इस कलात्मक प्रभाव पर विचार करने के पूर्व बुद्ध के जन्म से सम्बद्ध एक प्रतीक पर ध्यान देना आवश्यक है। हीनयान में बुद्ध को एक महान् विचारक मानने के कारण बौद्ध कलाकारों ने उनके विभिन्न प्रतीकों से ही काम लिया था। बोधिवृक्ष, चक्र तथा स्तूप के अतिरिक्त जन्म के प्रतीक कई रूपों में दिखलाये गये हैं। भारहुत तथा साँची के तोरण पर हाथी से (माया का सपना) तथा कमल पर बैठी अथवा खड़ी देवी से भी जन्म की कथा

प्रदर्शित की गई है : एक स्थान पर कमल पर बैठी देवी पर दो हाथी घड़ों के द्वारा पानी डाल रहे हैं। इसे हिन्दू-कला में गज-लक्ष्मी की संज्ञा दी गई है। बौद्ध-कला में इसे बुद्ध के जन्म का प्रतीक मानते हैं। पश्चिमी पण्डितों का मत है कि हिन्दुओं को गज-लक्ष्मी की कल्पना इसी बौद्ध प्रतीक से ली गई है। भारहुत, बोधगया तथा सांची के कलात्मक उदाहरणों में इसके प्रमाण पाये जाते हैं। यद्यपि शुंगकालीन बौद्ध-कला में गज-लक्ष्मी को स्थान मिल गया था, पर यह कदापि नहीं माना जा सकता कि इस देवी की कल्पना हिन्दुओं ने बौद्धों से ली। ब्राह्मण-धर्म में जल तथा कमल का योग सृष्टि के आरम्भ से संबद्ध माना गया है। जल से सृष्टि तथा कमल का भी जन्म हुआ ब्रह्मा की सृष्टि के उत्पादन-क्रम में जल को ही अन्तिम स्थान दिया गया है (आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल तथा जल से पृथिवी और समस्त जन्तु)।

अतएव, उपनिषदों के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों द्वारा प्रतिपादित जगत् के कारणों को ध्यान में रखने पर यह मानना नितान्त भ्रमपूर्ण होगा कि गज-लक्ष्मी की कल्पना बौद्ध-मत से सम्बद्ध है। यद्यपि ईसा पूर्व सदियों में ब्राह्मण-प्रतिमाओं के नमूने नहीं मिले है, तथापि बुद्ध-जन्म के इस प्रतीक ( गज-लक्ष्मी अथवा कमल पर बैठी देवी ) को श्रौतदर्शन से ही प्रभावित मानना उचित प्रतीत होता है।

यद्यपि बौद्धधर्म के क्रमिक विकास का प्रश्न विवाद-ग्रस्त है, तथापि साधारण मान्यता यही है कि भागवत धर्म के प्रभाव के कारण ही महायान का जन्म हुआ। भक्ति की भावना ने कला में परिवर्त्तन ला दिया और बुद्ध की प्रतिमा ( मनुष्य के आकार के सदृश ) पूजा के लिए बनने लगी। महायान के प्रगति-काल में ब्राह्मणमत से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी, इस कारण बौद्ध कलाकारों ने अपनी पृथक् शैली चलाई। महायान के पश्चात् बौद्धधर्म में वज्रयान का विकास हुआ है। इस मत में पूर्ववर्त्ती बौद्ध यानों ( हीनयान तथा महायान ) की तुलना में नये विचार अपनाये गये थे। हीनयान में पुनर्जन्म की भावना का अभाव था, बुद्ध संसार के परे थे। परन्तु, महायान में जन्म तथा कर्म के विचार समाविष्ट हुए, बुद्ध के पूर्व बोधिसत्त्व की कल्पना आयी, जिनका प्रभाव कला पर भी पड़ा। गान्धार-कला में सर्वप्रथम बोधिसत्त्व की मूर्तियाँ मिली हैं। उसी समय उस मानुष बुद्ध का भी विचार महायान में आया जो इस संसार में निवास करते थे। उन्हीं के अवतार ध्यानी बुद्ध माने गये। इससे भी बढ़कर वज्रयान ( काल चक्रयान ) में आदि बुद्ध की कल्पना आई, जो सर्वथा ब्राह्मण-धर्म से सम्बद्ध मानी जाती है। बौद्धों ने ब्राह्मण-धर्म के जितने सिद्धान्त अपनाये उनमें आदि बुद्ध की कल्पना अद्वितीय है। वे ब्रह्म के सदृश माने गये हैं, और उनकी शक्ति, प्रज्ञापारमिता, की माया से तुलना कर सकते हैं। यद्यपि भारतीय कला में ब्रह्म का कोई आकार नहीं मिलता ( कलात्मक उदाहरण नहीं पाया जाता ), तथापि यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए कि बौद्धों ने जितने देवताओं की कल्पना की उसके पीछे वर्त्तमान सिद्धान्त ब्राह्मण-धर्म से प्रभावित थे। जैसे शक्ति के विना ब्रह्म उत्पादन नहीं करता, उसी प्रकार आदि बुद्ध को पृथक् नहीं दिखलाया गया, बल्कि शक्ति से युक्त रूप में प्रदर्शित किया गया। यह प्रदर्शन सर्वथ

सांख्यदर्शन के तत्त्व से प्रभावित है। क्रियाशीलता प्रकृति ( शक्ति ) का धर्म है, अतः पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्त्ता है। प्रकृति तथा पुरुष के संयोग से ही सृष्टि उत्पन्न होती है, यानी दोनों का संयोग सृष्टि ( विश्व ) का उत्पादक है। इसीलिए बौद्ध कलाकारों ने आदि बुद्ध की प्रतिमा तैयार की। इसी आदिबुद्ध से पंचध्यानी बुद्ध पैदा हुए, जिनसे ही वज्रयान के सारे देवी-देवता उद्भूत हुए। कहने का तात्पर्य यह है कि जिस हीनयान तथा महायान में ऐतिहासिक गौतम बुद्ध को छोड़कर किसी अन्य देव की कल्पना न थी, उसी मत के तीसरे यान ( वज्रयान ) में ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव से सृष्टिकर्त्ता आदिबुद्ध ( ब्रह्म ) की कल्पना अपनाई गई।

बौद्ध कला में कुछ प्रतिमाओं के सिरे पर ध्यानी बुद्ध की मूर्त्ति नहीं मिलती, अतः उन्हें स्वतंत्र प्रतिमाओं के रूप में देखते हैं। हिन्दू धर्म के प्रभाव से इस तरह की कई स्वतंत्र बौद्ध प्रतिमाएँ मध्ययुग में तैयार की गई थीं।

हिन्दू धर्म के पंचदेवों को धीरे-धीरे बौद्धों ने अपनाना आरम्भ किया। सर्वप्रथम गणेश को कला में स्थान दिया गया। साधन-माला के वर्णन में गणेश की कल्पना सर्वथा हिन्दुओं की ही प्रकट होती है। वह वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है—

"भगवन्तं गणपतिं रक्तवर्णं जटामुकुटकिरीटिनं
सर्वाभरणभूषितं द्वादशभुजं लम्बोदरैकवदनं अर्द्धपर्य्यङ्क-
ताण्डवं त्रिनेत्रमप्येकदन्तं सव्यभुजेषु कुठारशर-
अङ्कुश-वज्र-खड्ग-शूलं च वामभुजेषु मूसलचापखट्वाङ्ग-
असृक्पालशुष्कमांसकपालफट्कं च रक्तपद्मे
सूषिकोपरि स्थितमिति।" [ साधन० २०७ ]

इस उद्धरण से स्पष्ट हो जाता है कि साधन-माला में वर्णित गणपति तथा वैदिक धर्मानुमोदित गणेश की कल्पना में बहुत कम अन्तर था। गणपति को स्वतंत्र प्रतिमा मिली है, जो नृत्य के भाव में है, तथा जिसके बारह हाथ दिखलाई पड़ते हैं। यह वर्णन पौराणिक विवरण के समान है।

शक्ति-प्रतिमाओं में उग्रतारा, मारीचि तथा सरस्वती का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बौद्ध देवी उग्रतारा तथा काली की प्रतिमा में विशेष अन्तर नहीं है। साधन-माला के २०६ साधन में इस देवी का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस तारा की आठ भुजाएँ हैं जिनमें विभिन्न आयुध वर्तमान हैं। बायें हाथ में रुधिरपूरित कपाल विशेषतः उल्लेखनीय है। मारीची की तो अनेक सुन्दर प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिनका स्वरूप यह बतलाता है कि बौद्ध धर्म में सूर्य की स्त्री को ही मारीची का नाम दिया गया है। इस देवी की आठ भुजाओं में कई प्रकार के आयुध हैं। आसन के नीचे सूर्य-रथ के सात घोड़ों के स्थान पर सात शूकरों की आकृतियाँ हैं और सारथी अरुण के बदले राहु को प्रदर्शित किया गया है। मध्यकालीन मारीची की ऐसी अनेक प्रतिमाएँ कलकत्ता-संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इन प्रतिमाओं को देखने

से स्पष्ट प्रकट होता है कि मारीची का सम्बन्ध बौद्धधर्म से था, क्योंकि सिरे पर ध्यानी बुद्ध वैरोचन की आकृति मौजूद है। यदि इसकी कल्पना पर विचार किया जाय तो यह ज्ञात होता है कि हिन्दू देवता सूर्य के अनुकरण पर ही मारीची की मूर्त्ति तैयार की गई। डा० भट्टाचार्य ने भी इसी मत का समर्थन किया है। सरस्वती के सम्बन्ध में भी विद्वानों की यही धारणा है। बौद्ध तंत्रयान के विचारकों का यह मत था कि मंजुश्री की तरह सरस्वती भी ज्ञान दिया करती है। इस विद्यादेवी के सम्बन्ध में साधन-माला में कई साधनाएँ लिखी गई हैं। बौद्ध धर्म में यह कल्पना सर्वथा हिन्दू-कल्पना है, क्योंकि पूर्वमध्यकाल से पहले (यानी तंत्रयान से पूर्व) ऐसी कल्पना का अभाव था। साधन-माला में वर्णित महासरस्वती का वर्णन ब्राह्मण-धर्म की सरस्वती के समान है। उसका दूसरा नाम वज्रशारदा भी मिलता है। वे कमलासन पर बैठी हैं। एक हाथ में कमलपुष्प तथा दूसरे में पोथी वर्तमान है। नालन्दा में इस तरह की वज्रशारदा की प्रतिमा मिली है। वज्रयान-साहित्य में सरस्वती के लिए आर्य-सरस्वती, अथवा वज्रसरस्वती के नाम भी मिलते हैं। हिन्दू-विद्यादेवी सरस्वती के हाथों में कमल, वीणा या पुस्तक आदि का वर्णन मिलता है जिसकी समता वज्रशारदा से की जा सकती है। गणेश तथा सरस्वती के अतिरिक्त शिव की कल्पना भी बौद्धों ने हिन्दुओं से अपनायी। तंत्रयान में बुद्ध के समान शिव की कल्पना को स्थान नहीं मिल पाया, किन्तु उस तरह की प्रतिमा लोकेश्वर के रूप (बुद्ध का पूर्वरूप) में प्रदर्शित की गई। उत्तरी भारत के कई स्थानों से सिंहनाद लोकेश्वर की प्रतिमा प्राप्त हुई है जो शिव की प्रतिमा से मिलती-जुलती है। महाराज लीला-आसन में लोकेश्वर बैठे हैं, जिनके दाहिनी ओर त्रिशूल बना है। उनका वर्ण श्वेत हैं तथा वे त्रिनेत्रवाले कहे गये हैं। साधन-माला में इस प्रकार का वर्णन पाया जाता है—

"आत्मानं सिंहनादलोकेश्वररूपं भावयेत्। श्वेतवर्णं त्रिनेत्रं जटामुकुटिनं निर्भूषणं व्याघ्रचर्मप्रावृतं सिंहासनस्थं महाराजलीलं चन्द्रप्रभं भावयेत्।"

उपर्युक्त साधना में लोकेश्वर को सिंह की पीठ पर बैठा दिखलाया गया है, जो हिन्दू धर्म में भगवान् शिव का वाहन नहीं माना जाता। हिन्दूधर्म में शिव के वाहन नन्दी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त लोकेश्वर का पूर्ण विवरण शिव से मिलता है। सारनाथ के संग्रहालय में नीलकण्ठ लोकेश्वर की कई प्रतिमाएँ मिली हैं। इनमें लोकेश्वर हलाहल का प्याला लिये हुए दिखलाये गये हैं। यह शिवजी के विष-पान के कथानक की ओर संकेत करता है। प्रतिमा की जटा पर ध्यानी बुद्ध की आकृति है। इसी कारण इस मूर्ति को लोकेश्वर कहा गया है, अन्यथा वह शिव की प्रतिमा के सदृश है।

बौद्ध तंत्रयान पर वैष्णव मत का अत्यधिक प्रभाव दिखलाई पड़ता है और इस कारण वैष्णव प्रतिमाओं के अनुकरण पर बौद्ध मूर्तियाँ बनने लगी थीं। हिन्दू-कला में देवताओं के आयुध, वाहन तथा सर के अलंकरण में भिन्नता पाई जाती है। यदि शिव के सर पर जटा है, वाहन नन्दी है, त्रिशूल या सर्प आयुध के स्थान पर मौजूद हैं, तो विष्णु की प्रतिमा में किरीट-मुकुट दिखलाई पड़ता है। गरुड़ वाहन है और चक्र-शंख आदि आयुध दिखलाये गये हैं। बौद्धकला में विष्णु प्रतिमा के अनुकरण पर बुद्ध के सर पर किरीट-मुकुट बनाया

गया था। पहले बुद्ध की मूर्त्तियाँ उष्णीष के साथ बनती रहीं। किन्तु, आठवीं सदी के बाद की प्रतिमाओं में किरीट-मुकुट दिखलाई पड़ता है। यह कल्पना हिन्दू-कला से ली गई थी। पूर्व मध्ययुग से समस्त उत्तरी भारत के प्रान्तों में किरीट-मुकुट के साथ बुद्ध की प्रतिमाएँ मिली हैं।

यह स्थूल अनुकरण यहीं तक सीमित नहीं रहा, किन्तु वैष्णव मतानुयायियों ने बौद्ध मत की जड़ ही हिला दी। तंत्रयान के परिवर्त्तित रूप सहजयान को वैष्णव-सहजिया का नाम दिया गया और अन्त में बुद्ध को विष्णु का नवम अवतार मानकर कला में प्रतिष्ठित किया गया। उत्तरी भारत में दसवीं से बारहवीं शताब्दियों तक विष्णु के अवतारों का जहाँ-जहाँ प्रदर्शन मिलता है, वहाँ बुद्ध को नवम स्थान दिया गया है। जयदेव ने भी गीत-गोविन्द में ऐसी ही बात कही है। हिन्दू-कल्पना का इस प्रकार का समावेश तंत्रयान के युग (८ वीं से १२वीं सदी) में ही पाया जाता है। यों तो गुप्त-काल से ही हिन्दू धर्म में पंचायतन-पूजा का प्रचार हो रहा था, किन्तु उत्तर गुप्त-युग के बाद ही बौद्ध कलाकारों ने हिन्दू-कल्पनाओं को अपनाया था। भारतीय कलात्मक उदाहरणों में भी यही बात दिखलाई पड़ती है। सातवीं सदी से पूर्व की बौद्ध-कला में किसी प्रकार की हिन्दू-कल्पना को स्थान नहीं मिला था। किन्तु, सारनाथ, मथुरा, बिहार, नालन्दा, महोबा तथा खजुराहो आदि स्थानों से जो बौद्ध प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं उनमें हिन्दू-कल्पना का समावेश पाया जाता है।

भारतवर्ष में मूर्त्ति-पूजा का अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचार रहा है। इस तरह की पूजा की अपनी विशेषता है, किन्तु बौद्ध मत के आरम्भ में बौद्ध विचारकों ने इसे प्रश्रय नहीं दिया। हीनयान के युग में प्रतीकों को ही स्थान मिल सका था। बोधगया, भारहुत तथा साँची की कला में बुद्ध के प्रतीकों (हाथी, वृक्ष, चक्र, स्तूप आदि) को ही प्रधान स्थान मिल सका। शुंग-काल के पश्चात् भक्ति की भावना ने कुछ परिवर्त्तन ला दिया और महायान के विचारकों ने बुद्ध को देवता के रूप में माना। उस समय भी किसी प्रकार की पूजा-विधि की कल्पना नहीं हो पाई थी। वज्रयान के समय में कलाकारों ने हिन्दू-कल्पना को स्थान दिया और कुछ अंशों में हिन्दू-देवताओं के विशेष लक्षणों का अनुकरण किया तथा समाज में वैसी पूजा का भी प्रसार किया, जो सर्वथा हिन्दू-कल्पना के अनुरूप थी। डा० विनयतोष भट्टाचार्य ने इस प्रश्न पर गहराई में जाकर विचार किया है। उनके मतानुसार वज्रयान में, हिन्दू-धर्म की तरह, प्रतिमा में प्राण-प्रतिष्ठा की भावना नहीं मिलती। वज्रयानियों का पूजा-प्रकार जैन तथा हिन्दुओं से भिन्न था। तंत्रयान में पूजा के लिए साकार देव-मूर्त्तियों की नितान्त आवश्यकता थी, जिनके बिना देवी-देवताओं का ध्यान तथा मनन सम्भव नहीं था। प्रतिमा के अतिरिक्त चित्र का भी यही उपयोग था। नेपाल में इसी प्रकार, प्रतिमा तथा चित्र का ध्यान कर पूजा सम्पन्न की जाती है। यद्यपि वज्रयान-धर्म में मूर्त्ति-पूजा को विशेष स्थान नहीं मिल पाया था, तथापि इस मत के उपासकों में मूर्त्ति-पूजा का अभाव नहीं था।

साधन-माला की अनेक साधनाओं में देवी अथवा देवता को जल, पुष्प, धूप, दीप आदि समर्पित करने का वर्णन पाया जाता है। अतएव, डा० भट्टाचार्य का मत सर्वथा मान्य नहीं है। यह विचार कि उपासकों में मूर्ति-पूजा का प्रचार था, किन्तु संघ में ऐसी बात नहीं थी, तर्क-हीन प्रतीत होता है। पूर्व मध्ययुग में जिस रूप में हिन्दू-कल्पनाओं का बौद्ध-कला में समावेश हो रहा था, उस पर विचार करने से यह असम्भव नहीं प्रतीत होता कि हिन्दुओं का पूजा-प्रकार भी बौद्धों के द्वारा अपनाया गया। अतएव, साधन-माला का वर्णन इस मत को पुष्ट करता है कि वज्रयान में हिन्दू-शैली की मूर्ति-पूजा का प्रचार हो गया था। संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि वज्रयान-युग में बौद्ध विचारकों ने अनेक हिन्दू-कल्पनाओं को अपनाया और कुछ अंशों में कला में भी उनका अनुकरण किया गया, जिसके प्रमाण आज भी सुलभ हैं।

# गोरखनाथ का ज्ञानचौंतीसा

श्री अगरचन्द भँवरलाल नाहटा, नाहटों की गवार, बीकानेर

हिन्दी-साहित्य में नाथ-सम्प्रदाय के योगियों की वाणी का अपना महत्त्व है। पर, अभी तक उनकी वाणियों का पूरा संग्रह और उनका भाषा-वैज्ञानिक और सैद्धान्तिक अध्ययन नहीं हो पाया है। इन नाथों की वाणियों के महत्त्व की ओर सर्वप्रथम डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल का ध्यान गया और उन्होंने जोगेसुरी वाणी के दो भागों में उनका सम्पादन किया। जिसमें से पहला भाग गोरखवाणी के नाम से हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (प्रयाग) द्वारा सं० १९९९ में प्रकाशित हो गया, पर दूसरा भाग, जिसमें अन्य योगियों की वाणी थी, बड़थ्वालजी के असामयिक निधन के कारण आज तक प्रकाशित नहीं हुआ, जिसका प्रकाशित होना अत्यावश्यक है। नाथ-सम्प्रदाय की परम्परा का तभी कुछ ठीक से बोध हो सकेगा।

गोरखनाथ, नाथ-सम्प्रदाय में सर्वाधिक प्रभावशाली प्रसिद्ध योगी हुए। इनकी चालीस हिन्दी-रचनाओं की उपलब्धि डा० बड़थ्वालजी को प्राप्त ८ प्रतियों में हुई, जिनमें से २७ रचनाओं को उन्होंने गोरखवाणी में स्थान दिया है। उन्होंने जिन रचनाओं को विशेष प्रामाणिक माना है, उनमें ज्ञानचौंतीसा भी एक है, पर वे उसे गोरखवाणी में प्रकाशित न कर पाये। इसके सम्बन्ध में उन्होंने भूमिका में लिखा है कि—ज्ञानचौंतीसा (नं० ११ से १४ तक को मूल भाग में से लेने योग्य समझा इनमें से) 'च' प्रति में है (जो संवत् १७१५ की लिखी हुई उन्हें प्राप्त सबसे पुरानी प्रति थी) एवं 'छ' तथा 'अ' प्रति से उसका समर्थन होता है, परन्तु उसको मैं समय पर प्राप्त करने में समर्थ न रहा। फिर भी, आशा है कि शीघ्र ही वह भी अवश्य साहित्यिकों को उपलब्ध हो जायगा। नाथ-सम्प्रदाय का सबसे अच्छा अध्ययन डा० हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने किया, उन्होंने भी अपनी 'नाथ-

संप्रदाय' नामक पुस्तक के पृ० १०१ में लिखा है कि डा० बड़थ्वाल ने अनेक प्रतियों की जाँच करके इन (४०) में प्रथम १४ को निस्संदिग्ध रूप से प्राचीन माना, क्योंकि इनका उल्लेख प्रायः सब में मिला। ज्ञानचौतीसा समय पर न मिलने के कारण इस संग्रह में प्रकाशित न कराया जा सका, परन्तु बाकी तेरह गोरखनाथ की वाणी समझकर पुस्तक में संगृहीत हुए हैं। प्राचीन ग्रन्थों की खोज और उनके प्रकाशन की ओर हमारे विद्वानों का ध्यान बहुत कम होने से गोरखनाथ का ज्ञानचौतीसा प्रकाशित हुआ जानने में नहीं आया, इसलिए दिगम्बर जैन-बड़े-भंडार में संवत् १७७० का लिखा हुआ एक नाथ सम्प्रदायी साहित्य का गुटका है, उससे नकल करके यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है।

गोरखनाथ के अन्य ग्रन्थ जो अभी अप्रकाशित हैं, उनकी भी कई प्रतियाँ मेरे अवलोकन में आई हैं, अतः उन रचनाओं को जाँचकर उन्हें प्रकाशित करना आवश्यक है। इसी प्रकार लगभग ३५ अन्य नाथ-सम्प्रदायी योगियों की वाणी जयपुरवाले उक्त गुटके और स्वामी नरोत्तमदास जी के संग्रहस्थित बड़े गुटके में है। उनका सुसम्पादित संस्करण भी निकाला जाना परमावश्यक है। नाथ-सम्प्रदाय पर यद्यपि द्विवेदी जी ने अच्छी खोज की है, पर गोरखनाथ के बाद के जो योगी कवि हुए हैं, उनके सम्बन्ध में वे विशेष प्रकाश नहीं डाल सके और यह उनकी वाणियों के प्रकाशित होने पर ही सम्भव हो सकता है।

## अथ श्री गोरखनाथजी को ग्रन्थ ज्ञानचौतीसौ लिख्यते

"ॐकार आदि पार ब्रह्म शिव शक्ती, नाद बिंद ले काया उतपती।
नाद रूप बोलिए पार ब्रह्म, बिंद रूप बोलिए काया, प्रथमे आदि उतपनो माया ॥१॥
उदै भईला सूर अस्त भईला चंदा, दुहुँ बिचि कलपनां काल का फंदा।
उदै अस्त ग्रहि एक करि बासा, तब जानिबा जोगेन्द्र जीवन की आसा ॥२॥
बारह कला रवि बोलिए सोलह कला ससी।
चार कला गुरदेव निरन्तर खिसी ॥३॥
हंस का तेज ले थिर रहे काया, काल का भेद कहो गुरराया।
दोय पखि छेदि एक होइ रहणां, चंद सूर दोऊ सम करि ग्रहणा ॥४॥
ऊंच मैं ऊपरैं मध्य निरंतरैं, तातलि भाठी जलाई।
सोझि अमीरस कंचन हुवा, इंहि विधि पंजरै विनवैं सुवा ॥५॥
उपजंत दीसै निपजंत नांही, नास्ति अबरन संसार मांही।
बूझि लै सतगुर बुद्धि भेद सिद्ध संकेत, परचा जाणि लगावो हेत ॥६॥
ऊरम धूरम जोति ज्वाला, नव कोटि खिड़की पूरि लै ताला।
ताला न खूटै खिड़की न भाजै, प्यंड पडै तौ सतगुर लाजै ॥७॥
मेर सागर धुनि धूसर कूंची, तिहां सकल विधि है सोई।
इहं विधि जोगी अतीत होई, अमर पद ध्यावंत विरला कोई ॥८॥
सहजें मेर अष्टपद धरणां, ग्यांन खड़ग ले काल संग्रहणा।

अमर कोट काया एकं ब्रह्म मध्ये, जीति लै जमपुरी राखि लै कंधे ॥
आतमां झूझ श्री गोरखनाथ कीया, सर्वसंसार विणस्या आपण जिया ॥६॥
झूझंत सूरा वूझंत पूरा अमर पद ध्यावंत ते गुरु बंका ।
काल कूं मारि संसार कुं जीति ले, नृभै मेटिलै मनहुं संका ॥१०॥
अझूझ झूझिबा पैसि करि दरिया, मूल बिन वृषा अमीरस भरिया ।
तन मन लेकरि शिवपुरि मेला, ज्ञान गुरु जोगी संसार चेला ॥११॥
मन राइ चंचल थान चित्त नांहि, बंधि लै पंच भू आतमा मांही ।
अलख अकथ चछि बिन सूझिया, सिधां का मारग साधकां बूझिया ॥१२॥
परख बिन गुर करै जुगति बिन बहि मरै, विचार उपरांति कछु ज्ञान नांही ।
भ्रमि भूले ते बहि चले पंडिता, उतरे पार ते फिरि समांहीं ॥१३॥
शबद की पारिखा निहशबद हुवा, ज्ञान की पारिखा जीवता मुवा ।
रहति करणी मुखैं प्रकाश, नासिका जाणंति पुहप की वास ॥१४॥
उलटि जंत्र धरै सिखर आसण करै, कोटि सर छूटंति धाव नांही ।
सिलहट मध्ये कांवरू जीति लै, नृमली दीप धुनि गगन मांहीं ॥१५॥
मनकी भ्रमनां जब छूटति हो जोगेन्द्रा, जब विचारंत निहशबद की वाणी ।
मैंण का दांतां सार धरि पीसिबा, तब जोग पद दुलभ सत्य करि जांणी ॥१६॥
उलटंति गंगा चलै धरणि अंबर भरै, नीर में पैसि करि अग्नि जालै ।
घट में पैसि करि कूप पाणी भरै, तदि पर पुरिसा आप जालै ॥१७॥
ज्ञान के प्रगटें श्री स्यंभुनाथ पाया, अकल अकथ श्री गोरखनाथ ध्याया ।
संसार में भ्रम्यां सर्व भ्रम सोई, निजपद पीवतां विनस्या न कोई ॥१८॥
बजरंग कोटड़ी परदल पूरा, पचि मुवां सब जग पहुंता स सूरा ।
मन सों जूझणा खांडा न लागै, सुन्य गढ रमि रहै तौ दीप धुनि जागै ॥१६॥
धरणी न सोखै अगनी न खाई, वेलि का रस ले भौंरा न जाइ ।
कथणी कथी हो पंडिता रहणी न पाई, आचार के बंधे मनसा गमाई ॥२०॥
कथंत श्री स्यंभुनाथ सुणौ नर लोई, भ्रम में भूल्या स बाहुड्या न कोई ।
भूला स भूला फिरि चेतणां, संसा कै लोहैं आपा न रेतणा ॥२१॥
भेष तजि भ्रम तजि राखि सत्य सोई, तन विचारतां देवता होई ।
आपा सोधौ ब्रह्म निरोधौ, सहज पलटै जोती ।
काया कै भीतर मन माणिक निपजै, तहां धुंधल बरसै मोती ॥२२॥
अरध उरध दोइ संपुष्ट करीलै, संखणी नाली अमी रस पीयलै ।
अखंड मंडल तहां नाद भरीलै, हरि आसण तहां भगति करीलै ॥२३॥
अलेख मंदिर तहां शिव शक्ति का वासा, सहज शून्य भया प्रकाशा ।
तहां चंद बिनि चांदणां अगनि बिन उजाला, ए तत्त्व भेदंत वृधंत बाला ॥२४॥
करतार तजि हंसा कितहू न जाई, मन मृग राखि लै बाड़ी न खाई ।

आकाश वाड़ी पाताल कूवा, भरि भरि सींचतां सिद्धा हुवा ॥२५॥
अवधू अमरकोट काया अलेख दरवाजा, ग्यांन गढ़ कोटड़ी प्राण भयो राजा ।
अवधू फेरि लै तो तत्वसार बुधि नहीं तो लोहा, गढि लै तो कंचन नहीं तौ काच ॥२६॥
अवधू सिधां पाया साधिकां पाया, ते ऊतरिया पारं ।
कथंत स्यंभुनाथ जे न विचारंत, ते जलि भए अंगारं ॥२७॥
अवधू हरि प्राण पातिसाह विचारकाजी पंच तत्त्व ते हुजदारं ।
मन पवन ते हस्ती घोड़ा, गिनांन ते अखै भंडारं ॥२८॥
अवधू काया हमारे सहर बोलिए, मन बोलिए हुजदारं ।
चेतन पहरे कोटवाल बोलिए, चोर न झंकै द्वारं ॥२९॥
अवधू तीन सै साठि गढि चीरा रचि लै, सोलह खणिलै खाई ।
नव दुरवाजा प्रगट दीसै, दसवां लखी न जाई ॥३०॥
अवधू अग्यारह भारकोट कंठ जरा लाइलै, बहत्तरि कोटड़ी नीपाई ।
नव सूत्र ऊपरि जंत्र फिरै, तब काया गढ़ लिया न जाई ॥३१॥
अवधू अनहद घड़ी घड़ियाल बजाइलै, चंद सूरज दोई दीप जलाइलै ।
काम क्रोध दोउ गरदनि मारिलै, ऐसी अदलि पातिसाहि, बाबै आदमि चलाई ॥३२॥
तिहांसत बीबी संतोष साहिजादा, षिमा भगति दोइ दाई ।
आदिनाथ नाती मच्छिन्द्रनाथ पूता, काया नग्री श्री गोरखनाथ बसाई ॥३३॥

इति श्री ज्ञानचौतीसा पठंते गुणंते करंते पापे न लिप्यते । पुने न हारते । ॐ नमो शिवाय ॐ नमो शिवाय । गुरु मछिन्द्रनाथ पादुका नमोस्तुते ॥३४॥ इति श्री गोरखनाथ जी का ज्ञानचौतीसा सम्पूर्ण समाप्त ॥"

# योगभाष्य का अध्ययन

श्री रामशङ्कर भट्टाचार्य, टीकमणि-संस्कृत-कालेज, काशी

प्राचीन भारत का दार्शनिक गौरव जिन ग्रन्थों में प्रतिष्ठित है, उनमें पातंजल योगसूत्र पर व्यासरचित भाष्य ( व्यासभाष्य ) प्रधान है । इस निबन्ध में हम इस भाष्य का बहिरंग अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं । योग विद्या की दृष्टि से इस पर जो कुछ कहना चाहिए वह इस भाष्य की टीकाओं में तथा अधुना प्रकाशित कापिलाश्रमीय पातंजल योगदर्शन में स्पष्ट रूप से तथा विस्तार से कहा गया है । यहाँ केवल स्थूल रूप से भाष्यस्थ शब्द-प्रयोग का अवलम्बन कर एक सामान्य आलोचना की जा रही है, जिससे इस ग्रन्थरत्न को पढ़ने के लिए पाठकों को उत्साह हो । इस ग्रन्थ की भाषा सरल तथा हृदयावर्जक है । सभी वाक्य अति संक्षिप्त तथा स्पष्ट पदों से युक्त हैं ।

यह भाष्य व्यासप्रणीत है। ऐसा टीकाकारों का मत है। यह व्यास कृष्णद्वैपायन नहीं हैं, क्योंकि इसमें अनेक अर्वाचीन ग्रन्थों के वाक्य भी उद्धृत हैं जैसा यहाँ दिखाया जायगा। किंच, इसमें ऐसे मतों का भी उल्लेख है, जो प्रसिद्ध व्यास के समय प्रसारित नहीं थे, अतः सामान्यतः यही कहना न्याय्य होगा कि ये कोई अर्वाचीन व्यास हैं। यहाँ हम किसी विवादास्पद विषय पर विचार नहीं कर रहे हैं, केवल इस भाष्य का एक परिचयमात्र दे रहे हैं। अतः, इस भाष्य के काल आदि विषयों पर कुछ भी नहीं कहा जायगा। हाँ, इस निबन्ध में हमने जितनी सामग्री एकत्र कर दी है, उससे इस भाष्य के विषय में बहुतेरे विवादास्पद प्रश्नों का निर्णय विद्वान् कर सकेंगे, ऐसी आशा है।

(क) इस ग्रन्थ में निम्नोक्त आचार्यों का उल्लेख है :—

जैगीषव्य—इनका मत २।५५ भाष्य में उद्धृत है, यथा—'चित्तैकाग्र्यात् प्रतिपत्तिरेवेति जैगीषव्यः' अर्थात् चित्त की एकाग्रता ( ३।१२ यो० सू० ) से विषय में जो अप्रतिपत्ति ( विषय-संयोगहीनता ) होती है, वही प्रत्याहार कहलाता है। पुनः ३।१८ भाष्य में आवट्य-जैगीषव्य-संवाद मिलता है, जहाँ उनके विषय में यह कहा गया है कि वे विवेकजज्ञानवान् ( ३।१८ यो० सू० ) थे। यहाँ इनके दो रत्नभूत वाक्य मिलते हैं। प्रथम यह कि जो कुछ अनुभव हैं, वह सब दुःखमय हैं ( यत् किञ्चिदनुभूतं तत् सर्वं दुःखमेव ) और द्वितीय यह कि सन्तोषज सुख भी चरम नहीं है, विषय-सुख की अपेक्षा से वह सुख है, पर कैवल्य की अपेक्षा वह भी दुःख ही है।[1]

वार्षगण्य—इनका एक वचन ३।५३ में उद्धृत है ( मूर्त्तिव्यवधिजातिभेदाभावात् नास्ति मूलपृथक्त्वमिति वार्षगण्यः )। [ इस वाक्य की रचना में व्याकरण की दृष्टि से कुछ असंगति-सी मालूम पड़ती है, जिसका विचार यहाँ अप्रासंगिक है ]। पुनः ४।१३ भाष्य में 'तथा च शास्त्रानुशासनम्' कहकर एक श्लोक उद्धृत किया गया है। यह श्लोक षष्टितन्त्र का है, ऐसा कहा जाता है, ( द्र० तत्त्ववैशारदी ) और भामती में वाचस्पति ( जो तत्त्ववैशारदीकार भी हैं ) ने इस श्लोक को वार्षगण्य-प्रणीत कहा है ( २।१।३ ब्रह्मसूत्र )। आचार्य वार्षगण्य का मत न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका में भी मिलता है ( पृ० १०३ काशी

---

१. आचार्य जैगीषव्य अतिप्रसिद्ध थे। महाभारत में उनके योगसिद्धि-विषयक अनेक आख्यान मिलते हैं। योगशास्त्रीय विभिन्न ग्रन्थों में तथा कई पुराणों में उनके विषय में कुछ-न-कुछ सामग्री मिलती ही है। उनके मतों के उल्लेख अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं, यथा—हठयोगप्रदीपिका की ज्योत्स्ना टीका ( पृष्ठ १३५ ); शिवानन्द सरस्वती की योगचिन्तामणि (पृ० १७६,१८६); सुन्दरदेव की हठसंकेतचन्द्रिका तथा गोदावरमिश्र की योगचिन्तामणि। बुद्धचरित (१२।६७) में भी इनका उल्लेख है। लिङ्गपुराण (६२।५२-५३), वायुपुराण (२३।१३८;७२।१८), मत्स्यपुराण (१८०।५७-५८), काशीखण्ड (अ० ६३), कुमारिकाखण्ड (११।१५२) और प्रभासखण्ड (अ० १२) भी द्रष्टव्य हैं। —ले०

संस्करण)। युक्तिदीपिका में भी वार्षगण्य का मत उद्धृत है तथा महाभाष्य में भी 'कर्त्ताहर्त्ता वार्षगण्यः' कहा गया है (१।१।५०)।[1]

आवट्य—जैगीषव्य के साथ इनका उल्लेख पहले आ चुका है। अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता।

पतञ्जलि—३।४४ भाष्य में द्रव्यलक्षण में इस आचार्य का वचन उद्धृत है। (अयुतसिद्धावयवानुगतो द्रव्यमिति पतञ्जलिः)। अवश्य ही यह आचार्य योग-सम्प्रदाय के हैं, पर इस मत की झलक योगसूत्र में नहीं है। पतञ्जलि का नाम पुराण में आता है, और इस आचार्य का यह वचन हो सकता है। महाभाष्य में भी द्रव्य-विचार है, पर यह वाक्य महाभाष्य का अनुगत नहीं है।[2]

आचार्य—केवल 'आचार्य' शब्द से एक वाक्य ४।१० में कथित है (वृत्तिरेवास्य विभुनः संकोचविकाशिनी इत्याचार्यः) ये आचार्य कौन हैं, यह अज्ञात है। उसी प्रकार २।२४ में 'आचार्यदेशीय' के मत का उल्लेख है (अत्राचार्यदेशीयो वक्ति ननु बुद्धेर्निवृत्तिरेव मोक्षः) आचार्य शब्द 'स्वमत' का द्योतक है, यह व्याख्याकार कहते हैं। शायद योगभाष्यकार ने अपने आचार्य के लिए ही ऐसा कहा हो जैसा पाणिनि आदि के व्यवहार से स्पष्ट होता है (द्र० अष्टाध्यायी ७।३।४९ की पदमञ्जरी टीका)।

(ख) आचार्य नाम के अतिरिक्त अनेक सम्प्रदाय तथा मतों का उल्लेख (खण्डन इत्यादि के साथ) भी इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर मिलता है, यथा—

(१) जैनमत—४।१० में इस सम्प्रदाय का उल्लेख है। वाक्य है 'घट-प्रासाद-प्रदीपकल्पं संकोचविकाशि चित्तम् शरीर-परिमाणाकारमित्यपरे प्रतिपन्नाः'। यह निर्ग्रन्थ-जैन मत है, ऐसा भास्वती टीका में कहा गया है। यह भी सांख्यमत है, ऐसा विज्ञानभिक्षु ने कहा है, पर यह कथन अयुक्त है।

(२) वैनाशिक बौद्धमत—४।१४ में 'नास्त्यर्थो विज्ञान-सहचरः...' इत्यादि वाक्य में

---

१. पाणिनि के गणपाठ में भी 'वृषगण' शब्द है (द्र० नडादिगण)। चान्द्र-व्याकरणसूत्र की वृत्ति में भी 'अग्निशर्मन् वृषगणे' कहा गया है (२।४।३५)। युक्तिदीपिका ग्रन्थ में वार्षगण्य के साथ वृषगणवीर का नाम और मत उद्धृत है। जैमिनि मुनि के गृह्यसूत्र के तर्पण प्रकरण में भी वार्षगण्य का नाम मिलता है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी यह आचार्य स्मृत हुआ है (अ० ३१८)। पिङ्गल के ३।१२ छन्दःसूत्र की टीका में वार्षगण्यदृष्ट मन्त्र का उल्लेख है (ययोरिदं विश्वमेजति...)। ये सब तथ्य केवल विमशार्थ यहाँ उद्धृत किये गये हैं। इनके आधार पर ऐतिहासिक निर्णय विद्वानों को करना चाहिए।

२. महाभाष्य में 'गुणसमुदायो द्रव्यम्' (४।१।३) कहा गया है। यह कहा जाता है कि प्राचीनयुग नामक एक मुनि का 'पतञ्जलि' नामक पुत्र था और उन्होंने एकसंहिता का प्रणयन भी किया था। —ले०

इस मत का उल्लेख है। पुनः ४।१९ में 'स्यादाशङ्का चित्तमेव...' इत्यादि वाक्य में इसी मत का विवरण है। ४।२३ में भी बाह्यार्थवादी वैनाशिक का मत मिलता है। ४।२१ में भी वैनाशिक मत है।

(३) शुद्धसन्तानवादिमत—यह भी एक बौद्ध सम्प्रदाय है, जिसका उल्लेख 'केचित् सत्त्वमात्रमपि परिकल्प्य...' (४।२१) वाक्य में किया गया है।

(४) विज्ञानवादिमत का उल्लेख—४।१६ में 'केचिदाहुः' कहकर जो मत कहा गया है, वह इसी सम्प्रदाय का है। ४।२३ में भी 'अपरे' कहकर जिस मत का उपन्यास है, वह विज्ञानवाद है।

(५) क्षणिकवाद—४।२० भाष्य में नामोल्लेखपूर्वक इस वाद का उल्लेख है (क्षणिकवादिनो यद् भवनम्...)। पुनः 'तत् प्रतिषेधार्थम्—' (१।३२) सूत्रभाष्य में भी इस मत का उत्थापनपूर्वक खण्डन है।

(६) ३।१३ भाष्य में 'अपर आह' कहकर परिणाम-सम्बन्धी एक मत दिखाया गया है। यह एकान्तवादी बौद्ध का मत है, ऐसा वाचस्पतिमिश्र ने कहा है।

(७) ३।१३ में 'अवस्थापरिणामे कौटस्थ्यदोषप्रसंगः कैश्चिदुक्तः' कहा गया है। यहां जो दूषण दिया गया है, वह बौद्ध सम्प्रदाय का है, यह विज्ञानभिक्षु ने कहा है।

(८) वैशेषिकमत—३।५३ भाष्य में 'अपरे तु वर्णयन्ति' कहकर जो मत दिखाया गया है, वह वैशेषिक मत है, यह वाचस्पति ने कहा है (वैशेषिका हि—तत्त्ववैशारदी)।

(९) उच्छेदवाद एवं शाश्वतवाद—इन दोनों का एकत्र उल्लेख २।१५ में है। ब्रह्मजाल-सूत्र में भी इन दोनों मतों का उल्लेख मिलता है, पर इन दोनों में कोई साम्य नहीं है (जैसा आधुनिक विद्वान् समझते हैं)। प्रसंगतः यह कह देना चाहता हूँ कि इस प्रकार का भ्रम आज-कल प्रचलित है। कोई कहता है कि वात्स्यायनभाष्य में लङ्कावतार सूत्र और माध्यमिक सूत्र की झलक है। यह सर्वथा मिथ्या है।[1]

(ग) अब हम योगभाष्य में उद्धृत वचनों के आकर-स्थल के निर्देश के लिए चेष्टा करेंगे। आकर-निर्देश के पहले जितने वचनों के आकर-स्थल मुझे नहीं मिले, उनका निर्देश यहाँ किया जा रहा है—

'प्रधानस्यात्मख्यापनार्था प्रवृत्तिः' यह श्रुति २।२३ में उद्धृत है, जो अनुपलब्धमूल है। उसी प्रकार 'न पातालं न च विवरं गिरीणाम्—' वचन ४।२२ भाष्य में उद्धृत है, जिसका आकर अज्ञात है। २।१३ में 'द्वे द्वे ह्वे'—रूप श्रुति उद्धृत है, वह भी अविज्ञातमूल है। २।३२ में 'शय्यासनस्थोऽथ—' इत्यादि एक गाथा है, उसका भी आकर नहीं ज्ञात हो सका। पुनः २।५२ में 'महामोहमयेन—' रूप एक वचन है, जो पूर्वाचार्य (या आगमी) का है, पर वह किसका है, यह अज्ञात है। भाष्य में दो संग्रह-कारिकाएँ उद्धृत हैं (२।२८; ३।२६) जिनके

१ इस पर विशेष विचार 'न्यायभाष्य का अध्ययन' शीर्षक लेख में किया जायगा। —ले०

आकर-स्थल अज्ञात हैं। इस प्रकार पूर्वाचार्य या आगमियों के अन्य कुछ वचन ४।२५, ४।१०, ३।४४, ३।१५, २।५२ में उद्धृत हैं, जिनके आकर-स्थान अनुसन्धान करने पर भी मैं नहीं जान सका।

(घ) इस ग्रन्थ में जितने वचन उद्धृत हैं, उनके आकर-स्थल यहाँ निर्दिष्ट हो रहे हैं। इस भाष्य में सर्वाधिक वचन आचार्य पञ्चशिख के ग्रन्थ से लिये गये हैं, यद्यपि कहीं इनका नाम नहीं लिया गया है। १।४ भाष्य में 'तथा च सूत्रम्' कहकर जो वाक्य उद्धृत किया गया है (एकमेव दर्शनं ख्यातिरेव दर्शनम्), वह पञ्चशिख का वचन है, ऐसा टीकाकारों का मत है। और भी, कुछ उद्धृत वचनों को विज्ञानभिक्षु तथा वाचस्पति मिश्र ने आचार्य पञ्चशिख के कहे हैं (देखो भाष्य १।२५; १।३६; २।५; २।६; २।१३; २।१५; २।१७; २।१८; २।२०; २।२२; ३।१३; ३।४१)। महाभारत में पञ्चशिख का विस्तृत उल्लेख है (शान्ति-पर्व, अ० २१८ तथा अन्यत्र भी)। इनका ग्रन्थ अनुपलब्ध है।

विष्णुपुराण का एक श्लोक (६।६।२) यहाँ उद्धृत है। श्लोक है—'स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्। स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते' (१।२८)। २।५ भाष्य में जो 'स्थानाद्...' श्लोक है, वह ब्रह्माण्डपुराणान्तर्गत उत्तर-गीता (१।५७) में मिलता है।

महाभारत के एकाधिक श्लोक यहाँ उद्धृत हैं। १।४७ भाष्य में 'प्रज्ञाप्रासादमारुह्य...' श्लोक[1] मिलता है, जो शान्तिपर्व में भी मिलता है (१७।२०)। उसी प्रकार २।४२ भाष्य में 'यच्च कामसुखं लोके...' श्लोक मूलतः शान्तिपर्व में मिलता है (१७४।४६,१७७।५१;७७।७)। यह श्लोक वायु और विष्णु-पुराण में भी मिलता है।

४।३१ भाष्य में 'अन्धो मणिमविध्यत्...' रूप जो श्लोक उद्धृत है, वह तैत्तिरीयारण्यक में है (१।११।५)। २।३५ भाष्य में जो 'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' वाक्य उद्धृत है, वह बृहदारण्यक में है (२।४।१४)।

३।१४ भाष्य में 'तथा चोक्तं जलभूम्योः रसादिवैश्वरूप्यं......' कहा गया है। यह स्पष्ट है कि यह वचन कहीं से लिया गया है। पहले इस वचन का पता नहीं था, पर अब इसका पता लग गया है—सांख्यकारिका की माठरवृत्ति में यह वाक्य है—'यथा जलभूम्योरेतद् ...सर्वं सर्वात्मकमिति' (१५ कारिका)। यहाँ दोनों के पाठ में अतिस्वल्प भेद है। माठरवृत्ति का मुद्रण रुचिर नहीं है, अतः यह माना जा सकता है कि भाष्यकार ने यह पाठ वस्तुतः माठरवृत्ति से ही लिया है। यदि यह बात सत्य हो तो योगभाष्य का काल-निर्णय सरल हो जायगा।[2]

माठरवृत्ति से योगभाष्य के वचन का अन्यत्र भी असाधारण सादृश्य मिलता है।

---

१. यह श्लोक अतिस्वल्प पाठान्तर से पाली धम्मपद में भी मिलता है, यथा—'पञ्ञापासादमारुय्ह असोको सोकिनिं पजं, पब्बतट्ठो व भूम्मट्ठे धीरो बाले अवेक्खति।' (अप्रमादवर्ग, श्लोक ८)। इस उदाहरण पर भारतीय विद्वानों को विचार करना चाहिए।—ले०

२. यदि यह वाक्य क्षेपक न हो, तो योगभाष्य का काल अर्वाचीन हो

२३ कारिका की व्याख्या में कहा गया है—'नातपस्विनो योगः सिध्यति......तत्फलसंन्यासो वा।' २।१ सूत्र के योगभाष्य में ये वाक्य हू-बहू मिल जाते हैं, यद्यपि भाष्यकार ने यह नहीं कहा कि ये वाक्य कहीं से उद्धृत किये जा रहे हैं। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि योगभाष्य में कभी-कभी बिना उद्धरण का संवाद दिये ही वाक्य उद्धृत किये गये हैं, जैसे ४।२२ सूत्रभाष्य में 'अपरिणामी···' आदि वाक्य कथित है, जो वस्तुतः भाष्यकार का नहीं है, बल्कि यह पञ्चशिख का वाक्य है, क्योंकि यही वाक्य २।२० सूत्र-भाष्य में 'तथा चोक्तम्' कहकर ही उद्धृत है, ऐसा व्याख्याकार कहते हैं, अतः पूर्ण संभव है कि भाष्यकार ने माठरवृत्ति का ही वाक्य न कहकर लिया है, यद्यपि यह निर्णय संशयास्पद है।

(ङ) बौद्धादि के ग्रन्थों में भी योगभाष्य के कुछ वचनों का अल्पाधिक सादृश्य दीख पड़ता है। हम संक्षिप्तता के लिए केवल कतिपय उदाहरण उपन्यस्त कर रहे हैं—

भाष्य में कहा गया है—'धर्मस्य धर्मिणि वर्त्तमानस्य एव अध्वसु अतीतानागत वर्त्तमानेषु भावान्यथात्वं भवति न द्रव्यान्यथात्वम्' (३।१३); भदन्त धर्मत्रात ने कहा था—'धर्मस्याध्वसु वर्त्तमानस्य भावान्यथात्वमेव केवलं, न द्रव्यान्यथात्वम्'।

भाष्य में कहा गया है—'यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तो भवतीति' (३।१३) और भदन्तघोषक का वचन है—'यथा पुरुष एकस्यां स्त्रियां रक्तो न शेषासु विरक्तः।'

भाष्य में कहा गया है—'यथा एका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दश एका च एकस्थाने' (३।१३); भदन्त वसुमित्र कहते हैं—'यथा मृद्गुडिका एकाङ्के प्रक्षिप्ता एकमुच्यते, शताङ्के शतं, सहस्राङ्के सहस्रम्'।

भाष्यकार ने कहा है—'यथा चैकत्वेऽपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च' (३।१३); बुद्धदेव नामक बौद्धग्रन्थकार कहते हैं—'यथैका स्त्री माता चोच्यते दुहिता चेति'।

---

जायगा, क्योंकि माठरवृत्ति में हस्तामलकस्तोत्र से वचन उद्धृत है (३६ कारिका-व्याख्या में 'यथादर्पणाभाव—' आदि श्लोक इसी स्तोत्र का है)। माठर का उल्लेख हरिभद्र की षड्दर्शन-समुच्चय टीका में भी है (३।४३)। किंच, माठरवृत्ति में ब्रह्मवैवर्त्त प्रकृति-खण्ड (२६।७०) का वचन (पृ० ८१), देवीभागवत (३।८) का वचन (पृ० २२) तथा षड्दर्शन-समुच्चय (८१) के वचन भी मिलते हैं (पृ० २६)। साथ ही गुणरत्नसूरि ने षड्दर्शन-समुच्चय टीका में माठर का उल्लेख किया है (३।३३)। केवल उद्धृत वचनों पर निर्भर कर ग्रन्थों का पौर्वापर्य निर्णय करना असंगत हो सकता है, क्योंकि यह भी पूर्ण सम्भव है कि बाद में कोई वाक्य किसी ने प्रक्षिप्त कर दिया हो। यहाँ हमने केवल निर्देशमात्र कर दिया है, निर्णयार्थ विचार का यहाँ कोई प्रयोजन नहीं है। —ले०

भाष्य में कहा गया है—'भूमौ उन्मज्जति निमज्जति यथोदके अङ्गुल्यग्रेण स्पृशति चन्द्रमसम्' (३।४५); और पाली श्रामण्य फलसूत्र में कहा गया है—'पथवियापि उन्मुज्ज निमुज्जं करोति सेय्यथापि उदके······पाणिना परामसति परिमज्जति'।

जैनसिद्धसेन गणि ने उमास्वातिप्रणीत तत्त्वार्थाधिगम सूत्रभाष्य टीका में प्रासंगिक 'सोपक्रम—'इस योगसूत्र की व्याख्या में कहा है—'यथार्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत् तथा सोपक्रमम्, यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येत् एवं निरुपक्रमम्'। यह वाक्य योगसूत्र ३।२२ के भाष्य से पूर्णतः मिलता है। सिद्धसेन गणि ५-६ ईस्वी के माने जाते हैं।

सांख्यकारिका की जयमङ्गला टीका से भी इस भाष्य के वाक्यों का आसाधारण सादृश्य दीख पड़ता है। शायद इन उदाहरणों से भी काल-निर्णय में कुछ सहायता मिल सकती है, ऐसा समझ कर उनका भी यहाँ पूर्ण निर्देश किया जा रहा है।

आगमप्रमाण की व्याख्या में योगभाष्य में कहा गया है —'आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देन उपदिश्यते, शब्दात् तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुः आगमः .........' (१।७)। जयमङ्गला में आप्तवचन की व्याख्या में कहा गया है—'तैर्दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसदृशबोधान्तरोत्पत्तये शब्देन उपदिश्यते। यदन्यवचनं स न प्लवते (५ कारिका)। यहाँ जयमङ्गला का पाठ भ्रष्ट है, यह ग्रन्थसम्पादक ने माना है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि किसी ने भी अपने वाक्य को 'उद्धृत' नहीं कहा, पर इतना सादृश्य अवश्य ही कुछ कारण रखता होगा।

पुनः ३३ कारिका की व्याख्या में जयमङ्गलाकार ने व्रत, तपः तथा स्वाध्याय के जो लक्षण दिये हैं, वे सब योगभाष्यानुसारी हैं (२।१ योगभाष्य तथा अन्यत्र)।

योगभाष्य में 'तथा चोक्तम्' कह कर 'नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवति' कहा गया है (२।१५)। अवश्य ही यह वाक्य कहीं से लिया गया है। हमें यह वाक्य जयमङ्गला में मिला 'सर्वं शक्यं, किन्तु अनुपहत्य भूतानि न भोगः सम्भवति' (५० कारिका)। यहाँ भाष्य के टीकाकारों ने क्लेशों को विच्छिन्नावस्था की व्याख्या में, यह अर्थ 'तथा चोक्तम्' का किया है, पर यह वाक्य योगभाष्य में टीकाकारदर्शित स्थान में नहीं मिलता और जयमङ्गला में मिलता है, अतः सामान्यतः यही कहना पड़ेगा कि यह वाक्य यहीं से लिया गया है।

महाभाष्य का एक वचन योगभाष्य के एक वचन से हू-बहू मिलता है। वह है—'न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति'। यह महाभाष्य (५।२।९४) तथा योगभाष्य (३।१७) में है। वस्तुतः यहाँ किसी ने किसी से वाक्य उद्धृत नहीं किया है, प्रत्युत यह एक प्रचलित आभाणक है, क्योंकि अन्य अनेक ग्रन्थों में भी यह वाक्य मिलता है, जहाँ किसी के वाक्य के रूप में यह नहीं कहा गया है।

शास्त्रों में समान वाक्य का प्रयोग कहीं-कहीं मिलता है। अनर्थक वाक्य के उदाहरण में एक वाक्य महाभाष्य में आया है—'दशदाडिमानि···' (१।२।४५)। यही वाक्य

न्यायभाष्य ( ५।२।१० ) तथा शाबरभाष्य ( पृ० ४९७ बिबलिओथिका इण्डिका संस्क० ) में अनर्थक वाक्य के उदाहरण में प्रयुक्त हुआ है।

(च) अब इस भाष्य के वचन जहाँ-जहाँ उद्धृत हैं, उन स्थानों का निर्देश किया जा रहा है। यहाँ केवल निर्देश किया जायगा, अन्यान्य आनुषङ्गिक विचार निबन्धान्तर-साध्य है। १।४८ भाष्य में 'आगमेनानुमानेन…' रूप एक श्लोक उद्धृत है, वह उदयन का न्यायकुसुमाञ्जलि ( कारिका ३ ) में मिलता है। दोनों ग्रन्थों में यह वचन उद्धृत ही है, और इस वचन का आकर-स्थल अज्ञात है। संभवतः उदयन ने यहीं से यह वचन लिया होगा।

वात्स्यायन के न्यायभाष्य में भी योगभाष्य का एक वचन उद्धृत ( या लक्षित ) हैं, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। ३।१३ भाष्य में कहा गया है—'तदेतत् त्रैलोक्यं व्यक्तेरपैति…'। न्यायभाष्य १।२।६ में भी कहा गया है—'सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति…' इत्यादि। यहाँ यद्यपि योगभाष्य का वाक्य हू-बहू न्यायभाष्य में नहीं मिलता, परन्तु भाव सर्वथा समान है, और पाठान्तर भी नगण्य-सा है, अतः यह कहा जा सकता है कि न्यायभाष्यकार ने विपक्षी योगभाष्यकार का मत ही यहाँ खण्डित किया है। न्यायवार्त्तिक में यहाँ योगभाष्य का यह वाक्य उद्धृत भी किया गया है और न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका से भी पता चलता है कि यहाँ योगभाष्य का वाक्य ही लक्षित है। अन्यत्र भी न्यायभाष्य में योगभाष्य-सदृश वाक्य मिला है, जैसे परिणाम के लक्षण में योगभाष्य में कहा गया है—'अथ कोऽयं परिणामः, अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः परिणामः' ( ३।१३ )। यह वाक्य न्यायभाष्य में भी है—'परिणामश्च अवस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः' ( ३।२।१५ )।

जयन्तभट्टकृत न्यायमञ्जरी में भी इस भाष्य का एक वचन उद्धृत है। भाष्य में भोग के विषय में कहा गया है–'भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम्' (२।१५)। यह वाक्य न्यायमञ्जरी में स्पष्टतः उद्धृत है, यथा—'अन्यत्राप्युक्तम्—मोक्षाभ्यासमनुविवर्धन्ते कौशलानि चेन्द्रियाणामिति' (पृ० ८७, काशी-संस्करण)। [ यहाँ न्यायमञ्जरी का मुद्रित पाठ भ्रष्ट है और ठीक पाठ योगभाष्य में है, जहाँ से जयन्तभट्ट ने यहाँ वाक्य 'अन्यत्राप्युक्तम्' कहकर लिया है। ]

लिङ्ग पुराण के कुछ ऐसे श्लोक हैं, जो हू-बहू योगसूत्र तथा भाष्य के पद्यबद्ध रूप हैं, ऐसा स्पष्टतः प्रतीत होता है। हम यद्यपि यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि किसने किससे लिया है, तथापि विज्ञानभिक्षु के कथनानुसार यह मानते हैं कि भाष्य से ही पुराण में ये श्लोक लिये गये हैं, अतः इस प्रघट्टक में उनका उपन्यास कर रहे हैं। यथा—

| सूत्र तथा भाष्य | लिङ्गपुराण उत्तरार्ध ९ अ० |
|---|---|
| १।२३<br>( ईश्वरप्रणिधानाद्वा ) | अध्याय के प्रारम्भिक अंश से २८ श्लोक तक अंश में कहीं-कहीं सूत्रभाष्य का स्पष्ट अनुवाद मिलता है। |

| | |
|---|---|
| १।२४ (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः) | २९ श्लोक से ४४ श्लोक तक; ४६ श्लोक। |
| १।२५ (तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्) | ४५ श्लोक; ४८ श्लोक। |
| १।२६ (पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्) | ४६ श्लोक। |
| १।२७ (तस्य वाचकः प्रणवः) | ५० श्लोक। |
| १।२८ (तज्जपस्तदर्थभावनम्) | ५१ श्लोक। |

यहाँ श्लोकों के शब्द, भाव आदि सब सूत्रभाष्य से हू-बहू मिलते हैं। इस स्थल का विशेष अध्ययन अपेक्षित है।

(८) इस ग्रन्थ में अनेक प्राचीन संवादों (पौराणिक आदि) के विवरण भी मिलते हैं। उन विवरणों का पूर्ण संकलन यहाँ किया जा रहा है।

(१) अगस्त्यकर्तृक समुद्रपान—४।१० के भाष्य में कहा गया है—'ज्ञानवैराग्ये केनातिशय्येते ··· समुद्रमपि अगस्त्यवद्वा पिबेत्।' यहाँ अगस्त्यकर्तृक समुद्रपान का स्पष्ट उल्लेख है। न्यायवार्त्तिकतात्पर्य टीका में इस घटना को सत्य घटना कहा गया है।[1]

(२) नन्दीश्वर का देवशरीरलाभ—२।१२ भाष्य में कहा गया है—'नन्दीश्वरः कुमारो मनुष्यपरिणामं हित्वा देवत्वेन परिणतः'। २।१३ भाष्य में भी इसका संकेत है।

(३) नहुष की अजगरत्वप्राप्ति—२।१२ भाष्य में इसका उल्लेख है (नहुषोऽपि देवानामिन्द्रः स्वकं परिणामं हित्वा तिर्यक्त्वेन परिणतः)। २।१३ भाष्य में भी इसका संकेत है।

(४) शुक्राचार्य के द्वारा दण्डकारण्य का शून्यीकरण—४।१० भाष्य में कहा गया है 'दण्डकारण्यं चित्तबलव्यतिरेकेण कः शून्यं कर्तुमुत्सहेत'। महाभारत में भी इस घटना का उल्लेख है। (आरण्यक पर्व)

(ज) इस भाष्य में स्थान-स्थान पर मनोहारी लौकिक उदाहरण भी मिलते हैं। इन उदाहरणों से तत्कालीन अनेक लौकिक विषयों का ज्ञान भी हो जाता है। कुछ विशिष्ट उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

(१) प्रकृति का आपूरण कैसे होता है, इस विषय में क्षेत्रिक (=कृषक) के एक कर्म का उदाहरण दिया है—'जैसे क्षेत्रिक जलपूरण के लिए एक क्षेत्र से अन्य एक सम, निम्न

---

१. स्कन्द पुराण के अन्तर्गत नागर खण्ड में यह कहा गया है कि अगस्त्य की यह 'विशेषिणी विद्या' है, जिसके बल पर वे यह असाधारण कार्य कर चुके थे (३५।३६; ३५। २९; ६०।२)। द्रव्याकृति को लघुतम करने का उपाय योगशास्त्र में है, जिससे यह सम्भव होता है। मत्स्य पुराण (६१।१७) में भी यह घटना स्मृत है। —ले०

या निम्नतर क्षेत्र में जल-प्लावन की इच्छा से हाथ के बल पर जल का सेचन नहीं करता, बल्कि उस क्षेत्र के आवरण या आलि का भेद कर देता है और ऐसा होने से जल स्वतः अन्य क्षेत्र को प्लावित करता है, उसी प्रकार धर्म भी प्रकृति का आवरणभूत अधर्म का भेद करता है।' (४।३)

(२) स्वभावतः मोक्षविद्या में रुचि रखनेवालों का लक्षण क्या होता है, इसके लिए एक बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया गया है—'जैसे वर्षाकाल में तृणांकुर के उद्भेदन से उसके बीज की सत्ता का अनुमान होता है, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग के श्रवण से जिस व्यक्ति में रोमहर्ष और अश्रु-पात होता है, उसमें मोक्षभागीय विशेष दर्शन का बीज है, ऐसा अनुमान होता है।' (४।२५)

(३) इन्द्रियों की मनोभिमुखी गति कैसी होती है, इसके लिए मधुमक्षिका का रोचक उदाहरण दिया गया है,—'जैसे मधुकरराज के उड्डीयमान होने से मक्षिकागण उड्डीन होता है, और उसके बैठने से मक्षिकागण भी उसके पीछे बैठ जाता है, उसी प्रकार चित्त जब अन्य शरीर में आविष्ट होता है, तब इन्द्रियाँ उसका अनुगमन करती है।' (२।३८)

(४) योगियों के चित्त में क्लेश संस्काररूप में रहकर भी कैसे कार्य की उत्पत्ति नहीं करता, इस विषय में दग्धबीज का उदाहरण दिया गया है (२।४), अर्थात् दग्ध बीज जैसे आकृति में अविकल रहता है पर उससे प्ररोह नहीं होता, उसी प्रकार योगिचित्त में निहित रागादिसंस्कार प्रत्ययों का उत्पादन न कर विद्यमान मात्र रहते हैं।

भाष्य में कहीं-कहीं ऐतिहासिक महत्त्व के उदाहरण भी दिये गये हैं, जैसे ४।१ भाष्य में ओषधिसिद्धि के उदाहरण में 'असुरभवनेषु रसायनेन' कहा गया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि रसायनप्रयोग-जनित सिद्धि असुरों में थी। यहाँ 'असुर' शब्द का विवक्षित अर्थ स्पष्ट करना चाहिए।

इसी प्रकार, ३।१३ में 'यथैका रेखा शतस्थाने शतं दशस्थाने दश, एका च एकस्थाने' उदाहरण दिया गया है। भारतीय गणितविद्या की आलोचना में यह वाक्य अवश्य आलोचनीय है। भाष्यकार का लक्ष्य दशमिक संख्या (डेसिमल न्युमेरिकल) है, न कि दशमिक भग्नांश (डेसिमल फ्रैक्सन)। यदि भाष्यकार का अभिप्राय दशमिक भग्नांश होता, तो वे 'यथैका रेखा शतस्थाने शततमांशो (·०१), दशस्थाने दशतमांश (·१), एका च एकस्थाने (१)'—ऐसा अवश्य कहते।

(ङ) इस भाष्य में कुछ स्थलों पर उपहास-वाक्य भी मिलते हैं, जिनसे विपक्षी के मतों की अन्याय्यता दिखाई गई है। इसका एक प्रसिद्ध उदाहरण गोमयपायसीय न्याय है, जो क्षणिकवादी के प्रति व्यंग्य केलिए प्रयुक्त हुआ है (१।३२)। दूसरा उदाहरण २।२४ भाष्य में मिलता है, जहाँ किसी बौद्ध ने सांख्यपक्ष में दोष दिखाने के लिए 'क्लीब-पत्नी-संवाद' का उपन्यास किया था। सांख्य कहता है कि लौकिक चित्तवृत्ति नष्ट होने से पुरुष की मुक्ति होती है। इसपर बौद्धों का कहना है कि यह तो ठीक वैसा ही है जैसे क्लीब अपनी पत्नी को यह कहे कि यद्यपि जीवित में पुत्रोत्पादन में असमर्थ हूँ, तथापि मृत होकर मैं गर्भोत्पादन

करूँगा, अर्थात् यदि वर्तमान लौकिक ज्ञान किसी को मुक्ति नहीं दे सकता, तो नष्ट होकर वह मुक्ति देगा, इसमें कौन विश्वास करेगा (जैसे जीवित क्लीव जिस कार्य में अशक्त है, मृत होकर भी वह उसमें असमर्थ रहेगा, उसी प्रकार प्रकृत स्थल में भी जानना चाहिए)। चतुर्थ पाद में बौद्धमतों के प्रति कई बार भाष्यकार ने व्यंग्य किया है, जिसका ज्ञान मूल ग्रन्थ को देखकर करना चाहिए।

ग्रन्थ-परिचय में ग्रन्थ के पाठ के विषय में भी कुछ कहना चाहिए, अतः इस विषय में कुछ निदर्शन उपस्थित किये जा रहे हैं—

(ञ) हमारा सौभाग्य है कि हमें यह ग्रन्थ प्रायः पाठान्तर तथा प्रक्षेप से रहित ही मिला है। कहीं-कहीं पाठान्तर तो मिलते हैं (व्याख्यान-ग्रन्थों में जैसा दीख पड़ता है), पर उनसे अर्थ में कोई विपर्यास नहीं होता। यहाँ कुछ पाठान्तरों का निदर्शन प्रस्तुत किया जा रहा है—

३।४१ भाष्य में आकाश के विषय में 'तथा मूर्त्तस्य' यह पाठ आया है। विज्ञानभिक्षु ने 'मूर्त्तस्य' ऐसा छेद किया है और वाचस्पति ने 'अमूर्त्त' ऐसा पाठ माना है। हम यहाँ 'मूर्त्त' पाठ ही ठीक समझते हैं, क्योंकि सांख्ययोगीय दृष्टि में आकाशभूत मूर्त्त है, वह वैशेषिक की तरह 'अमूर्त्त' नहीं है।

भाष्य में यही एक ऐसा पाठभेद है, जिसमें मत-विरोध हो जाता है, अन्य जो पाठान्तर हैं, उनमें विरोध नहीं होता, जैसा निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा—

३।६ में 'ईश्वरप्रसादात्' के स्थान पर 'ईश्वरप्रणिधानात्' पाठ भी मिलता है। दोनों में कोई विरोध नहीं है। कहीं-कहीं सूत्र और भाष्य में कुछ सम्मिश्रण भी हो गया है। वाचस्पति मिश्र 'न च तत् स्वावलम्बनम्—' वाक्य को सूत्र मानते हैं (३।२०), पर विज्ञान-भिक्षु इसको भाष्य का अंग मानते हैं। इसी प्रकार 'न चैकचित्ततन्त्रम्—' (४।१६) आदि को सभी टीकाकार सूत्र मानते हैं, पर वृत्तिकार भोजदेव इसे भाष्य मानते हैं, सूत्र नहीं। अन्यान्य कुछ स्थलों में भाष्य के पाठों में थोड़े पाठ-भेद मिलते हैं, जो महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

(ट) अब हम इस भाष्य के शब्द-प्रयोग पर भी कुछ कहना चाहते हैं। शब्द-प्रयोग के विश्लेषण से भी अनेक तथ्यों का ज्ञान होता है, और पूर्वाचार्यों के कालनिर्णय में भी यह सहायक होता है। यहाँ कुछ विशिष्ट उदाहरण दिये जा रहे हैं—

परिकर्म—चित्तसंस्कार के अर्थ में यह शब्द १।३३ भाष्य में आया है। कदाचित् ही इस शब्द का व्यवहार संस्कृत-साहित्य में मिलता है। शिशुपालवध में (४।५५) यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है। कुमारसंभव में भी 'परिकर्मणि स्मृतः' शब्द आया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र में भी 'परिकर्मि' शब्द है।

नाश-विनाश—२।२१ भाष्य में कहा गया है—'स्वरूपहानादस्य नाशः प्राप्तो न तु विनश्यति', जिससे पता चलता है कि नाश और विनाश में कुछ भेद किया गया था। नाश=संस्कार रूप में रहना; विनाश=अत्यन्त नाश=अभाव।

उपाध्याय—'योग एव योगस्य उपाध्यायः' (३।६) कहा गया है, जिसका अर्थ है

योग से ही ्योग का ज्ञान होता है। ऐसे स्थलों पर उपाध्याय शब्द का प्रयोग अन्यत्र देखने में नहीं आया।

प्रवाद—लोकोक्ति के लिए यह शब्द सर्वत्र आता है। भाष्य में 'न्यायवाद' इस अर्थ में यह शब्द ४।२१ में आया है—लोकोक्ति अर्थ में नहीं। यह शब्द इसी अर्थ में वाक्यपदीय में भी आता है (प्रवादा बहुधा मताः—प्रथमकाण्ड)।

जाति—४।२३ भाष्य में 'जातितः' शब्द आया है, जिसका अर्थ वाचस्पति ने 'स्वभावतः' किया है।

चर्च—प्रचलित शब्द चर्चा है। भाष्य (४।८) में यह शब्द अकारान्त ही पठित है।

अन्तराभव—यह शब्द ४।१० में आया है। जहाँ इसका अर्थ है—'आतिवाहिक भाव' अर्थात् पूर्व तथा उत्तर शरीर-ग्रहण के मध्य में जो शरीर उत्पन्न होता है, वह। किसी सांख्याचार्य के मत से यह नहीं भी हो सकता ( 'अन्तराभवदेहस्तु नेष्यते विन्ध्यवासिना'—श्लोकवार्त्तिक )।

(ठ) भाष्य में कहीं-कहीं सूक्तियों के प्रयोग भी मिलते हैं। ये सूक्तियाँ विशुद्ध लौकिक होने के साथ-साथ योगिजनसंवेद्य भी हैं और इसी दृष्टि से इनका प्रयोग भी यहां किया गया है, केवल चमत्कार के लिए नहीं, जैसा निम्नोक्त उदाहरणों से स्पष्ट विज्ञात होगा —

(१) विद्वान् के स्वभाव के विषय में कहा गया है—'अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्' ( २।१५ )। इसका तात्पर्य यह है कि योगी का चित्त अक्षिगोलक की तरह कोमल है, जैसे ऊर्णातन्तु नेत्र में जाकर स्पर्श से कष्ट देता है, पर शरीर के अन्य स्थानों में लगने से कष्ट नहीं देता, वैसे परिणामादि दुःख योगी को ही दुःख देता है, अयोगी को नहीं।

(२) श्रद्धा की महत्ता में एक महनीय वाक्य कहा गया है—'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः, साहि जननीव कल्याणी योगिनं पाति' ( १।२० )। योग के पारदेश में जाने के लिए आचार्य-वाक्य में कितनी श्रद्धा (अन्धविश्वास नहीं) रखनी चाहिए, इसका निर्देश भी इससे मिलता है।

(३) भाष्य में प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में एक महत्त्वपूर्ण वाक्य है—'न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेण अभिभूयते' (२३२), अर्थात् कोई प्रमाण प्रत्यक्ष प्रमाण को काट नहीं सकता और अन्य प्रमाण प्रत्यक्ष के बल पर ही चलते हैं। जो व्यक्ति योगशास्त्रीय बातों को केवल कल्पनाप्रसूत समझते हैं, उन्हें इस स्थल को देखना चाहिए। भाष्यकार ने अन्यत्र स्पष्ट ही कहा है कि शास्त्र, अनुमान और आचार्य से प्राप्त उपदेश में संशय-निराकरण के लिए किसी विशेष विषय का प्रत्यक्ष अवश्य करना चाहिए (१।३५)। भाष्यकार ने यह भी कहा है कि अनुमान प्रमाण से सामान्य ज्ञान होता है (अनुमानेन च सामान्योपसंहारः—१।४९)। इसके अतिरिक्त भी अनेक सूक्ति-वाक्यों के प्रयोग स्थान-स्थान पर हैं, जिसके लिए मूलग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिए।

(ङ) इस भाष्य की एक विशिष्टता यह भी है कि इसमें अनेक दार्शनिक पदार्थों के सुन्दर लक्षण दिये गये हैं, जो अपनी व्यापकता के कारण अवश्य- मननीय हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

दुःख का लक्षण—१।३१ भाष्य में इसका लक्षण दिया गया है, यथा—'येन अभिहताः प्राणिनः तदुपघाताय प्रयतन्ते तद् दुःखम्' (१।३७), अर्थात् जिससे उद्वेजित होकर प्राणी उसकी निवृत्ति की चेष्टा करता है वह 'दुःख' है। कितना मार्मिक लक्षण है! २।१५ में भी दुःख का लक्षण दिया गया है।

सर्वज्ञत्व का लक्षण—'सर्वज्ञातृत्वं सर्वात्मनां गुणानां शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन व्यवस्थितानां अक्रमोपारूढं विवेकजं ज्ञानम्' (३।४९)। अज्ञ लोग सर्वज्ञता का अर्थ 'प्रत्येक पदार्थ का निःशेष ज्ञान' समझते हैं। यह अयथार्थ है और ऐसा सांख्ययोगीय दृष्टि से हो ही नहीं सकता। वस्तुतः सर्वज्ञ पुरुष का चित्त रुद्ध-प्राय ही रहेगा।

सुख का लक्षण—२।१५ भाष्य में कहा गया है—'या भोगेषु इन्द्रियाणां तृप्ते रुपशान्तिः तत् सुखं', अर्थात् तृष्णा के क्षय से भोग्य-विषय में इन्द्रियों की जो उपशान्ति या अप्रवर्तन है, वही सुख है। प्रत्येक मनोविज्ञानी को यह स्थल देखना चाहिए।

स्वाध्याय का लक्षण—२।१ भाष्य में कहा गया है—'स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपः मोक्षशास्त्राध्ययनं वा।'

ईश्वरप्रणिधान लक्षण—२।१ भाष्य में इसका भी लक्षण है, यथा—'ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत् फलसंन्यासो वा।'

क्षण का लक्षण—३।५२ सूत्रभाष्य में इस विषय में तीन मननीय बातें कही गई हैं, यथा (क) "परमापकर्षपर्यन्तः कालः क्षणः, (ख) यावता वा समयेन चलितः परमाणुः पूर्वदेशं जह्याद् उत्तरदेशं उपसंपद्येत स कालः क्षणः, (ग) क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी।" यहाँ काल का दार्शनिक विचार भी किया गया है, जिसे दर्शन के जिज्ञासुओं को देखना चाहिए।

ऋतम्भरा प्रज्ञा—१।४८ भाष्य में इसका मनोहारी लक्षण है—'या प्रज्ञा जायते तस्या ऋतम्भरेति संज्ञा भवति अन्वर्था च सा—सत्यमेव बिभर्ति न तत्र विपर्यासगन्धोऽप्यस्ति,' अर्थात् 'ऋतम्भरा' यह नाम अर्थ के अनुसार रखा गया है। यह प्रज्ञा केवल सत्य को ही धारण करती है, इसमें विपर्यास की गन्ध भी नहीं है।

(द) लक्षणों की उदात्तता की तरह कहीं-कहीं किसी पदार्थ का रमणीय परिचयात्मक विवरण भी भाष्यकार ने दिया है। इन विवरणों को पढ़ने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार का अन्तर्दर्शन अत्यन्त गंभीर तथा तलस्पर्शी था। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

मृत्यु-समय का वर्णन—मरण के समय व्यक्ति की अवस्था कैसी होती है, उसका यथावत् वर्णन इस भाष्य में मिलता है, यथा—'तस्माज्जन्म-प्रायणान्तरे कृतः पुण्यापुण्य-कर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रायणाभिव्यक्त एकप्रघट्टकेन मिलित्वा

मरणं प्रसाध्य संमूर्च्छित एकमेव जन्म करोति' (२ १३), अर्थात् जन्म और मरण के व्यवधान-काल में कृत, विचित्र, प्रधान तथा अप्रधान रूप में स्थित पुराय और अपुराय कर्माशय-समूह मृत्यु से अभिव्यक्त होता है और युगपत् एक प्रयत्न से मिलित होकर मरण-साधन पूर्वक संमूर्च्छित (लोलभावापन्न होकर) एक ही जन्म को निष्पन्न करता है।[1]

**संसारचक्र का वर्णन**—४।११ भाष्य में 'षडरं संसार-चक्र' का उल्लेख है, जिसका तात्पर्य यह है कि राग-द्वेष से यथाक्रम धर्म-अधर्म होते हैं, तथा उनसे यथाक्रम सुख-दुःख की उत्पत्ति होती है और उनसे पुनः यथाक्रम राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है और संसार-चक्र सदैव चलता है।

**अरिष्टवर्णन**—अरिष्ट वह लक्षण है जिससे जीवन के अन्त का ज्ञान होता है। ३।२२ भाष्य में इन अरिष्टों के तीन प्रकारों और प्रत्येक के उदाहरण विशद रूप से दिये गये हैं।

**भुवन-कोश-वर्णन**—प्रचलित षड्दर्शनों में केवल योगसूत्र के इस भाष्य में ही भुवन-कोश का अतिविस्तृत वर्णन मिलता है (३।२६)। इस विवरण में ७ लोक, ७ द्वीप (जम्बू आदि), ७ पाताल, ७ नरकभूमि, सुमेरु, नील आदि पर्वत, इलावृत्त आदि वर्ष, लवण आदि ७ समुद्र, भूत प्रेत आदि के निवास-स्थान आदि वर्णित हैं। पुराण तथा बौद्ध ग्रन्थों में ऐसे विवरण प्रायः मिलते हैं।

**चित्त-स्वभाव का वर्णन**—१।१२ भाष्य में कहा गया है—'चित्त-नदी नाम उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च' और इसके बाद नदी के उन्नत और अवनत प्रवाहस्थल के साथ कैवल्य एवं विवेक तथा संसार और अविवेक की सुन्दर तुलना की गई है।

अन्त में हम योगभाष्य पर रचित प्रचलित व्याख्यान-ग्रन्थों की एक सूची दे रहे हैं, जिससे इस ग्रन्थ के अध्ययन में सौकर्य हो:—(१) वाचस्पति की तत्त्ववैशारदी, (२) विज्ञान-भिक्षु का योगवार्त्तिक, (३) हरिहरानन्द आरण्य की भास्वती, (४) राघवानन्द का पातंजल-रहस्य, (५) नागेशभट्ट की वृत्ति-व्याख्या, (६) रामानन्द की योगमणिप्रभा, (७) भोजराज की राजमार्तण्डवृत्ति, तथा (८) अधुना प्रकाशित शंकराचार्य की योगभाष्य टीका (यह कदाचित् प्रसिद्ध शंकर की नहीं है)।

---

१. इस विवरण में भाष्यकार ने जो कहा है, उसके लिए जिसे घटना-प्रमाण देखना हो, उसे Mrs. Crowe का Night side of Nature ग्रन्थ (अध्याय १०), De Quincey का Confessions of an English Opium Eater ग्रन्थ, तथा १८९४ ईस्वी का British Medical Journal, Myers का Human Personality (जिल्द २, पृ० ३१५) आदि ग्रन्थ देखना चाहिए। —ले०

# कवि दयाराम की हिन्दी-कविता

श्री अम्बाशङ्कर नागर, एम्० ए०, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

अहिन्दीभाषी कवियों के हाथों हिन्दी की विपुल सेवा हुई है। अभी इस ओर हमारा ध्यान नहीं गया है, और न इस संबंध में अधिक छानबीन ही हुई है, पर हिन्दी के राष्ट्रभाषा बन जाने पर अब इस प्रकार की खोज अत्यंत आवश्यक है। विविध भाषाओं और प्रांतों के अंचल में छिपे हुए राष्ट्रभाषा के साहित्य की जब खोज की जायगी, तब अनेक आश्चर्यजनक तथ्य प्रकाश में आयेंगे।

गुजराती भाषा के सुप्रसिद्ध कवि दयाराम ने हिन्दी (व्रजभाषा) में ४१ ग्रंथों और १२००० पदों की रचना की है। यह आश्चर्य की बात है कि हिन्दी-सेवी-संसार अभी तक ऐसे कवि से अपरिचित है। हिन्दी-साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकारों ने भी दयाराम का उल्लेख नहीं किया है। पं० रामचंद्र शुक्ल के 'हिन्दी-साहित्य का इतिहास' और श्री रामकुमार वर्मा के 'हिन्दी-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इस कवि का उल्लेख नहीं है। श्री व्रजरत्न दास ने अवश्य अपने 'खड़ीबोली हिन्दी-साहित्य का इतिहास' में दयाराम का उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

"यह गुजराती कवि थे, पर भारत-भ्रमण से इनकी दृष्टि सार्वदेशिक हो गई और इनके उद्‌गार राष्ट्रभाषा हिन्दी में काफी निकले, जो इन्हें भारतव्यापी भाषा ज्ञात हुई। इन्होंने दोहों-छंदों के सिवा गेय पद भी लिखे, चित्रकाव्य रचे तथा रसशास्त्र पर भी कविता की। ये अत्यंत भावुक भक्त कवि थे और गुजराती के कवियों में तो इनका स्थान बहुत ऊँचा है। हिन्दी की मुख्य रचनाएँ सतसैया, वस्तुवृंद-दीपिका तथा श्रीमद्‌भागवत की अनुक्रमणिका है।"[1]

दयाराम का उल्लेख हिन्दी-प्रेमी फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा द तासी ने भी अपने इतिहास में किया है। उनके 'इस्तवार दल लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदुस्तानी' नामक, मूल फ्रांसीसी भाषा में लिखित, इतिहास का श्री लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने 'हिन्दुई साहित्य का इतिहास' नाम से अनुवाद किया है। इसमें दयाराम के बारे में लिखा है—

"दया संभवतः वही लेखक हैं, जिनके हिन्दुस्तानी, गुजराती और मराठी में प्रसिद्ध गीत और भजन मिलते हैं, जो अपने प्रसिद्ध गवैया, रामचन्द्रभाई, के पास छोड़े गये १३५

---

१. श्री व्रजरत्न दास ने कवि का जन्म-संवत् १८३३ और मृत्यु-संवत् १५०५ माना है, जो गुजराती साहित्य के इतिहास के अनुसार ठीक नहीं। 'माइलस्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर' के लेखक श्री के० एम्० झवेरी ने दयाराम का जन्म-काल सन् १७६७ ई० और मृत्यु-काल १८५२ ई० माना है। यह मत प्रामाणिक है।—ले०

हस्तलिखित ग्रंथों में संगृहीत हैं, और जिनका संबंध देश की रुचि के अनुकूल सभी विषयों से है। वस्तुतः इन कविताओं में धार्मिक, शोकपूर्ण, शृङ्गारपूर्ण गीत हैं। ××× कहा जाता है कि धार्मिक भजनों में भावों की उच्चता, भाषा की सरलता और काव्य-रूपकों की प्रचुरता है।"

नरसिंह, प्रेमानन्द और दयाराम, गुजराती कविता के त्रिदेव हैं। नरसिंह आदि-कवि हैं। अगर यह कहें कि वे गुजराती कविता के जनक एवं विधाता हैं तो अधिक उपयुक्त होगा। प्रेमानन्द के हाथों गुजराती कविता का पालन-पोषण हुआ है। दयाराम द्वारा गुर्जर-गिरा सज-सँवर कर यौवन और वैभव को प्राप्त हुई है।

दयाराम का मूल नाम दयाशंकर था। शैव मत छोड़ कर जब इन्होंने वैष्णव धर्म अपनाया तब अपना नाम दयाशंकर से बदल कर दयाराम रख लिया। इनका जन्म नर्मदा-तट स्थित 'चाँदोद' गाँव के एक साधारण साठोदरा-नागर परिवार में, सन् १७६७ ई० में, हुआ। इनके पिता का नाम प्रभुराम और माता का नाम महालक्ष्मी था।

बाल्यकाल में ही माता-पिता का स्वर्गवास हो जाने के कारण इनका बचपन संकट में बीता और शिक्षा भी विधिवत् न हो सकी। इन्होंने अपने ज्ञान को देशाटन और सत्संग से विकसित किया। बीस से चालीस वर्ष की अवस्था तक ये निरन्तर घूमते रहे। इन्होंने अनेक लम्बी यात्राएँ कीं। बदरिकाश्रम, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम् और द्वारका—चारों धाम की यात्रा पर भी ये गये। इसके अतिरिक्त इन्होंने नाथद्वारा के श्रीनाथजी के सात बार दर्शन किये और चार बार यमुना के पवित्र जल का पान किया।

इनके समान सुन्दर और शौकीन कवि गुजरात में दूसरा नहीं हुआ। इनकी वेश-भूषा भी इनकी सुन्दरता के ही अनुरूप चित्ताकर्षक रहती थी। इनकी रुचि अत्यन्त परिष्कृत और तबीयत बड़ी रँगीली थी। संगीतज्ञ तो ये ही। इन गुणों के कारण इनके व्यक्तित्व में एक अनोखा आकर्षण उत्पन्न हो गया था। कहा जाता है, चाँदोद की स्त्रियाँ इनके पीछे दीवानी बनी फिरती थीं। ये आजीवन कुँआरे रहे। चालीस वर्ष की उम्र के बाद इन्होंने रतन बाई नाम की एक सुनार जाति की बाल-विधवा को अपनी जीवन-संगिनी के रूप में चुन लिया और उसके साथ रह कर शेष दिन शांति से व्यतीत किये।

इनकी ख्याति इनके जीवन-काल में ही काफी फैल चुकी थी। बड़े-बड़े राजा-महाराजा इनसे मिलने के लिए आतुर रहते थे, पर ये इतने स्वाभिमानी और निर्भीक थे कि आवभगत में यदि कहीं जरा-सी भी खामी रह जाती, तो बड़े-बड़े राजा-महाराजों तक को उनके मुँह पर ही फटकार देते थे। अपने इस व्यवहार में ये संस्कृत के कवि बाणभट्ट से भी बढ़कर थे।

इनका बुढ़ापा बीमारी में बीता, पर इनकी सहनशक्ति ऐसी थी कि भयंकर पीड़ा सह कर भी अपनी दिनचर्या विधिवत् चालू रखते थे। लोगों से ये कहा करते थे—"कष्ट सहना तो मानव का धर्म है। मेरी आत्मा मुक्त और आनन्दमय है, इसलिए मुझे इसकी परवा नहीं।" इस प्रकार अपने जीवन के ८५ वर्षों को पार कर प्राचीन गुजराती कविता का यह प्रखर सूर्य सन् १८५२ ई० की ९ फरवरी को अस्त हो गया।

दयाराम गुजराती कवि हैं, अतः इनकी वास्तविक महत्ता को समझने के लिए इनकी गुजराती कविता को समझना आवश्यक है। गुजराती में इन्होंने लगभग ४८ ग्रंथों और ७००० स्फुट पदों की रचना की है। गुजराती के अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत, मराठी, उर्दू और पंजाबी आदि भाषाओं में भी स्फुट रचनाएँ की हैं। संस्कृत में १५, मराठी में २००, उर्दू में ७५ और पंजाबी में ४० के लगभग पदों की रचना इन्होंने की है। व्रजभाषा के प्रति तो इनके हृदय में अनन्य अनुराग था। इनके अतिरिक्त कच्छी, मारवाड़ी, तेलुगु और फारसी में भी इनकी कुछ स्फुट कविताएँ मिलती हैं।

इनके हिन्दी-ग्रंथों के नाम निम्नांकित हैं[1]—

१. सतसैया
२. रसिक-रञ्जन
३. वस्तुवृन्द-दीपिका
४. व्रज-विलासामृत
५. पुष्टि-भक्त-रूप-मालिका
६. हरिदास मणिमाला
७. क्लेश-कुठार
८. विज्ञप्ति-विलास
९. श्रीकृष्ण-नाम-चंद्रकला
१०. पुष्टि-पथ-रहस्य
११. प्रस्ताविक-पीयूष
१२. स्वभ्यापार प्रभाव ( ? )
१३. श्रीकृष्ण-नाम-माहात्म्य-मार्तण्ड
१४. श्रीकृष्ण-नाम-चंद्रिका
१५. विश्वासामृत
१६. वृन्दावन-विलास
१७. कौतुक-रत्नावली
१८. दशम अनुक्रमणिका
१९. श्रीभागवत अनुक्रमणिका
२०. श्रीभागवत माहात्म्य
२१. अकल-चरित्र-चंद्रिका
२२. श्रीकृष्ण-नाम-रत्न-मालिका
२३. अनन्य चंद्रिका
२४. मंगलानन्दमाला
२५. प्रस्ताव-चंद्रिका
२६. चिंतामणि
२७. पिंगल सार
२८. श्रीकृष्ण-नामामृत
२९. श्रीकृष्ण-स्तवनामृत लघु ( ? )
३०. स्तवन-पीयूष
३१. चतुर-चित्त-विलास
३२. श्रीहरि-स्वप्न-सत्यता
३३. अनुभव-मंजरी
३४. गुरु पूर्वार्ध बहु शिष्य उत्तरार्ध
३५. माया-मत-खंडन
३६. भगवद्भक्तोत्कर्षता
३७. ईश्वरता-प्रतिपादिक
३८. भगवद् इच्छोत्कर्षता
३९. मूर्ख-लक्षणावलि
४०. श्रीकृष्ण-नाम-माहात्म्य
४१. शुद्धाद्वैत-प्रतिपादन

१—इनमें से १७, ३१ और ३६ संख्या के काव्य मेरे देखने में अभी तक नहीं आये हैं। संभवतः ये गुजराती काव्य हैं। इन ४१ काव्यों के अतिरिक्त तीन अन्य काव्य मेरे देखने में आये हैं—१. संप्रदाय-सार, २. सिद्धांत-सार, और ३. भक्ति-विधान।—ले०

विषय की दृष्टि से दयाराम की हिन्दी रचनाएँ तीन भागों में बाँटी जा सकती हैं— (१) धार्मिक (२) उपदेशात्मक (नीति, ज्ञान, वैराग्य आदि), (३) और श्रृङ्गारिक।

१. धार्मिक रचनाएँ

दयाराम की आधी से अधिक रचनाएँ धार्मिक हैं। ये वल्लभीय विचार-धारा के अनुयायी थे। शुद्धाद्वैतवाद की काव्यमयी अभिव्यक्ति ही इनके धार्मिक काव्यों की सबसे प्रमुख विशेषता है। ये कृष्ण के अनन्य भक्त थे। अन्य पुष्टिमार्गीय भक्तों की भाँति इन्होंने भी अपने आपको भगवान् के भरोसे छोड़ दिया था—

"चित तू शिदने चिंता करे।
कृष्ण ने करवं, होय ते करे॥'

हे मन तू क्यों चिंता करता है। कृष्ण जो करना चाहें, करें, तुझे क्या?

यही भाव हिन्दी में इस रूप में प्रकट हुआ हैः—

"तू चित चिंता क्यों करे, विश्वंभर ब्रजपाल।
सक्कर सक्करखोर को, दधि मधि देत दयाल॥"

[छंद १०६, क्लेश-कुठार]

आराध्यदेव के चरणों में अनन्य अनुराग होने के साथ ही साथ वल्लभाचार्य जी और उनकी परम्परा के प्रति भी इनके हृदय में अगाध श्रद्धा थी। इन्होंने कहा भी है—

'वल्लभ के परिवार में सब ही वल्लभ रूप।'

[छंद १४, भक्ति-विधान]

वल्लभाचार्य जी और उनके संप्रदाय के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते हुए भी ये अंध-श्रद्धालु नहीं थे। वल्लभ संप्रदाय के अनेक आचार्यों के दुर्गुणों और पापाचारों से वे परिचित थे। कितनी ही बार क्रुद्ध होकर इन्होंने अपनी कंठी-माला तोड़ कर फेंक दी थी। ये व्यक्ति-विशेष पर श्रद्धा न रख कर वल्लभ संप्रदाय के प्रति श्रद्धा रखते थे। संभवतः, इसीलिए इन्होंने कहीं अपने सांप्रदायिक आचार्य, या दीक्षा-गुरु का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। इन्होंने प्रायः वल्लभाचार्य जी और विट्ठलनाथ जी का नाम ही गुरु के रूप में लिया है, जैसा कि 'सतसैया' के मंगलाचरण में—

"श्री गुरु वल्लभ देव अरु, श्री विट्ठल श्री कृष्ण।
पद पंकज बंदन करूँ, दुखहर पूरण तृष्ण॥"

[दोहा १, सतसैया]

पर, कहीं-कहीं इन्होंने अपने काव्यों में गिरधर लाल का नाम भी, गुरु के रूप में, आदर और सम्मान के साथ लिया है—

'श्री गुरु गिरधरलाल पद पंकज करूँ प्रणाम।'

[छंद २, कालज्ञानसार]

इससे अनुमान होता है कि गिरधर लाल नाम के किसी वल्लभ-संप्रदायी आचार्य से इन्होंने दीक्षा ली थी।

इनकी धार्मिक कविता में काव्य का अंश कम है, संप्रदाय के सिद्धांतों की चर्चा अधिक है। बहुत-से काव्यों को तो काव्य कहने में भी संकोच होता है। पर इन काव्यों में जहां कहीं इन्होंने सांप्रदायिक वादों को और महाप्रभुओं के गुण-गान को छोड़ कर अपने आराध्य श्रीकृष्ण के गुणों का गान किया है, वहाँ निस्संदेह इनकी धार्मिक कविता में भी जान आ गई है। अकल-चरित्र-चंद्रिका, सिद्धांत-सार, श्रीकृष्ण-स्तवनामृत, संप्रदाय-सार, भक्ति-विधान, पुष्टि-पथ-सार आदि धार्मिक काव्यों में भी कहीं-कहीं बहुत ही सरस और सुन्दर रचनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं—

प्रीत वहाँ परदा कहाँ, परदा जहँ कहँ प्रीत।
प्रीत वहाँ परदा भया, (तो) प्रीत नहीं विपरीत ॥१०६॥
[ भक्ति-विधान ]

जहँ लगि आसादास तू, वहँ लगि जग का दास।
तू आसा दासी करे, जग बस बिना प्रयास ॥११६॥
[ संप्रदाय-सार ]

कबको हरि-हरि रटत हों, कटत न क्यों संताप।
किधौं बिसार्‌यो बिरद कें, डरपे लखि मो पाप ॥१२॥
[ विज्ञप्ति-विलास ]

२. उपदेशात्मक रचनाएँ

दयाराम अपने प्रारंभिक जीवन में बड़े रसिक थे, पर ज्यों-ज्यों आयु बढ़ती गई और ज्ञान का प्रकाश फैलता गया, इनके मन में भी वैराग्य के भाव उदित होने लगे। अपने जीवन के अनुभवों को इन्होंने उपदेशात्मक कविता के रूप में व्यक्त किया। सबसे बड़े भोगी ही प्रायः सबसे बड़े योगी बनते हैं। सूर और तुलसी भी आसक्ति से ही अनासक्ति की ओर गये थे। इनके समान विलासी कवि ने भी अंत में वैराग्य की ओर उन्मुख होकर संसार को यह संदेश दिया—

जो कोई जन कल्याण चाहो।
तो स्त्री नी संगत तज्जो रे॥

इनकी उपदेशात्मक कविताएँ बहुत ही सरल और शिक्षाप्रद हैं। इनमें दीनता, भक्ति नीति, ज्ञान और वैराग्यविषयक उपदेश ऐसी सुन्दरता से दृष्टांतों, उपमाओं और रूपकों के सहारे व्यक्त किये गये हैं कि उनका असर सीधे हमारे हृदय पर होता है। कुछ उद्धरण—

जो पतित पावन तो मोसो ना पतित कोई
अधम उधार हो तो मो अधम उधारिये।
जो गरीब के निवाज नाथ हूँ गरीब सांचो
रंक के रक्षक हो तो मो सों दीन और कौन।
असरन सरन हो तो पर्‌यो सरन तिहारी
कोई भाँति कृष्ण काम दया को तो सारिये॥
[ प्रकरण ७, छंद १६, रसिक-रंजन ]

पन्हैया बनावे तातें रईदास राख्यो पास
नामा वस्त्र व्योंतें सीवे केसे बने त्यागनो ।
सेनो नाई क्षोर करे सिदामा बनावे दाम
धोबी धोय दे पुशाग लने नहीं भागनो ॥
नरहरी सोनी घेहेनो जनी दासी टहल करे
पिंगला तो नाचे गावे चाहिये अनुरागनो ।
दयाराम ब्राह्मण लहि डरपो हो दीनानाथ
श्रीमुख देखैयो नित्य कछु नहिं मांगनो ॥

[ छंद ७, प्रकरण ९, रसिक-रंजन ]

बैरी सोहू मीत होत माहुर अमृत होत
अनीति सो नीति होत सुलटी बिगारे की ।
कायर की जीत होत बिप्रित सुप्रीत होत
दाहक सो सीत होत सेत कृति कारे की ॥
किंकर सो भूप होत मुग्ध बुद्ध रूप होत
तुच्छ सो अनूप होत बड़ी गति बारे की ।
पाहन सो बने पोत फूट द्रग होत जोत
दयाराम जबे होत कृपा कृष्ण प्यारे की ॥१५॥

[क्लेश-कुठार]

## ३. श्रृङ्गारिक रचनाएँ

दयाराम की श्रृङ्गारिक कविता को देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मुख्यतया श्रृङ्गार रस के ही कवि थे। यद्यपि इन्होंने भक्ति और वैराग्य के भी काव्य लिखे हैं, तथापि उनमें इनका मन रमा नहीं है, इनका व्यक्तित्व उभरा नहीं है। इनके हृदय के आनन्दोल्लास की वास्तविक अभिव्यक्ति इनके श्रृङ्गारिक पदों में हुई है। ऐसा लगता है, जैसे इन्होंने श्रृङ्गार का कोना-कोना झाँक लिया है। वैराग्य और धर्मविषयक कविताओं में इनकी वाणी कुण्ठित-सी जान पड़ती है। श्रृङ्गारिक कविताओं में वह खुल खेलती है, अद्भुत करिश्मे दिखलाती है और दूर की कौड़ी लाती है।

ये संयोग श्रृङ्गार के कवि हैं, वियोग श्रृङ्गार में इनका मन कम रमा है। संयोग श्रृङ्गार के प्रति अत्यधिक आसक्ति के कारण कहीं-कहीं इन्होंने औचित्य की सीमा का भी उल्लंघन कर दिया है। इसीलिए गुजराती साहित्य के विवेचक इनके श्रृङ्गार को, मग्न श्रृङ्गार कह कर, आलोचना करते हैं। हिन्दी-काव्यों में भी कितने ही अंश ऐसे हैं जिनमें वासना की गंध आती है, पर गुजराती कविता में यह प्रभाव अधिक तीव्र है। एकदो उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जायगा—

"रमीशुं रातडीरे, आवजो अलबेलाजी घेर,
कहेजो मातने रे, गाय एक खोवाणी छे आज,
जाऊं छुं शोधवारे, बांधजो पाणी पहेली पाज,
सासरीआं थकीरे, मारो आवास छे एकांत,
राखीश दीवडो रे, माणीशुं मनमानी मौज।"

अर्थात्, हम रात को रति-क्रीड़ा करेंगे, प्रियतम, तुम अवश्य मेरे घर आना। माँ से कहना, एक गाय खो गई है, मैं उसे खोजने जाता हूँ। इस तरह घर से बाहर रहने के लिए पहले से ही बहाना बना देना। मेरे ससुरालवालों से मेरा कमरा दूर और एकांत में है। मैं दीपक जलता रखूँगी (जिससे तुम पहचान सको)। हम मनमानी मौज करेंगे।

अब हिन्दी-कविता के भी कुछ उदाहरण—

"खरक सँवारो कर भरे गोबर छुट उर छोर।
ऐहे बड़ को बाल तुम, ढाँकिय नंदकिसोर॥"

[सतसैया, दोहा सं० १७१]

अर्थात्, श्रीकृष्ण का स्पर्श पाने के लिए गोपिका कहती है—हे नन्दकिशोर, मेरे हाथ तो गोबर में हो रहे हैं। मेरे उर पर का वस्त्र हट गया है। अभी कोई बड़ा आदमी इधर से आ निकलेगा, तुम तो बालक हो, जरा इसे ढँक दो।

"बँधि गुन भुज इत्सन हती, दिठु दुज सनसि लगाय।
कैं उर सुघड़ चढ़ाय मो, धिज हर सिर करि ल्याय॥"

[सतसैया, दोहा सं० १७७]

अर्थात्, नायिका का कोप शांत करने के लिए नायक कहता है—तुम जो चाहो मुझे दंड दे सकती हो। बाँधना हो तो भुजाओं की डोरी में मुझे जकड़ लो। मारना हो तो नयनों के तीक्ष्ण वाणों से मुझे मारो। इससे भी क्रोध शांत न हो तो दाँतरूपी सँड़सी से मेर अधर को जकड़ लो। केद करना चाहो तो हृदय-रूपी गढ़ में कैद कर लो। अगर विश्वास न हो और शिव-पिंड पर हाथ धरा कर सत्य बात पूछने की तुम्हारी इच्छा हो, तो कुचों पर धर दो। नायक की ऐसी बात सुन कर नायिका का कोप शांत हो गया।

"कटि की कसर सो तो आइ उरोज मानु
उदर की पीनता नितम्ब जाइ बसी है।
चरन की चंचलता नैन में निकेत कीनो
बैनन की फूटता सो लाज ही में लसी है॥
हास्य की मोहनता सो जाय मिली मान मानु
बाल केली आतुरता लाल केली कसी है।
जोबन के आये राधे बस्त अस्त-व्यस्त भई
तोहू दया प्रभु नेनहीं ते हीये बसी है॥"

[रसिक-रंजन, प्रकरण १३, छंद १

दयाराम की कविता के भावपक्ष पर विचार कर चुकने पर अब हम संक्षेप में इनके कलापक्ष पर भी विचार करेंगे। इनकी भाषा और शैली पर विचार करते समय यह बात सदा याद रखनी होगी कि ये अहिन्दीभाषा कवि थे। हिन्दी इनकी मातृभाषा नहीं थी। अहिन्दीभाषी होते हुए भी इन्होंने हिन्दी में इतनी सुन्दर और सरस कविता की, यह निस्संदेह प्रशंसनीय है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, इन्होंने अपने जीवन का अधिक भाग देशाटन और तीर्थयात्रा में बिताया था। यात्रा करने के निमित्त ये देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचे थे। जिज्ञासु और भाषाओं के प्रेमी होने के कारण इन्होंने प्रत्येक स्थल की भाषा को सीखा और उसमें कविता की। ये लगभग एक दर्जन भाषा जानते थे। व्रजभाषा के प्रति तो इनके हृदय में असीम श्रद्धा थी। इस श्रद्धा का एक कारण तो यह था कि व्रजभाषा भगवान् श्रीकृष्ण के क्रीड़ा-स्थल व्रजमंडल की भाषा थी और व्रजमंडल इनको इतना अधिक प्रिय था कि इन्हें व्रजमंडल का शूद्र भी दूसरे स्थानों के राजाओं से श्रेष्ठ प्रतीत होता था—

"वृन्दावन को चूहड़ो और देश को भूप।
तिनकी सरभर ना करे, (जो) बेच खात है सूप॥"

[ भक्ति-विधान, छंद २१०,]

ये जानते थे कि भगवान् श्रीकृष्ण को व्रजभाषा अत्यधिक प्रिय है। श्रुतियों की स्तुति उन्हें उतनी प्यारी नहीं लगती, जितनी प्यारी इन्हें ( व्रजभाषा में दी गई ) गोपियों की 'गारी' लगती है—

"स्तुति श्रुतिन की तुम्हें लागत नहिं वैसी प्यारी।
जैसी माधुरि लगत प्रीति की गोपिन गारी॥"

[ श्रीकृष्ण-स्तवनामृत, छंद ४२ ]

व्रजभाषा को इन्होंने गीर्वाणभाषा ( देवताओं की भाषा ) और वेदवाणी से भी उच्च माना है। इनका कहना है कि वेदवाणी, गीर्वाणभाषा से उत्तम है, क्योंकि वह स्वयं नारायण के मुख से प्रकट हुई है। पर, व्रजभाषा तो वेदवाणी से भी श्रेष्ठ है, क्योंकि वेद तो भगवान् की निद्रितावस्था में उच्चरित हुए हैं, जबकि व्रजभाषा को भगवान् ने जागरित अवस्था में नित्य ही व्यवहृत किया है—

"वेद बड़े गिरबान ते, नारायन की बानि।
व्रजभाषा भल ताहितें, व्रजपति भखि मुख जानि॥"

[ सतसैया, दो० ७०८ ]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्होंने व्रजभाषा में रचनाएँ क्यों कीं! इनके हृदय में अपने आराध्यदेव, उनकी क्रीड़ा-स्थली और उनकी प्रिय भाषा के प्रति श्रद्धा स्वाभाविक ही है। इनके अतिरिक्त और भी बहुत-से गुजराती कवियों ने व्रजभाषा

में रचनाएँ की हैं। इस प्रवृत्ति का मुख्य कारण गुजरात में वल्लभ-संप्रदाय का प्रभाव ही है।

गुजरात के कवियों के ब्रजभाषा की ओर आकृष्ट होने का एक कारण यह भी था कि ब्रजभाषा साहित्य-भाषा के रूप में शिष्ट-समुदाय और राज-दरबारों में समादृत हो चुकी थी। उसका साहित्य दूसरी भाषाओं के साहित्यों की तुलना में बहुत ही उन्नत और आकर्षक था। सूरदास और आगे चलकर रीतिकाल में केशवदास और बिहारी जैसे कवि इस भाषा में हो चुके थे। इन ग्रंथों से कुछ सीखकर स्वभाषा के साहित्य-भांडार को समृद्ध करने के लिए भी अहिन्दी भाषी कवि ब्रजभाषा की ओर आकृष्ट होते थे।

यदि हिन्दी-साहित्य के इतिहास की दृष्टि से देखा जाय तो दयाराम रीतिकाल के कवि हैं। कोई भी कवि अपने समय की परिस्थितियों से प्रभावित हुए विना नहीं रह सकता। इनकी कविता पर भी रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है। सतसैया में इनके नायिका-भेद, अलंकार-योजना और चित्रकाव्यादि को देखकर तो इन्हें भक्त कवि कहना भी अनुचित प्रतीत होता है।

जैसा ऊपर कहा गया है, इनको लगभग एक दर्जन भाषाओं का ज्ञान था। देखिए, इन्होंने यहाँ एक ही छप्पय में उन भाषाओं का समावेश कर दिया है—

"गिरधर मुंजो प्राण,[१] तुही शामलडा प्यारा।[२]
मादर पिदर बिरादर,[३] दुश्मन खऊक बिसारा॥[४]
माता मन्त्री बनीपु,[५] स्वामी इक डारा॥[६]
जानी जियकी पीर,[७] मनोरथ पूर्या मारा।[८]
हरि न को कोणा चा प्रेम,[९] वै त्वमेव स्वामी निरन्तर।[१०]
नंद महर को पुतवा दया प्रभु,[११] थांकी दासी मांके कां डर॥"[१२]

दयाराम की कविता का सिंहावलोकन कर चुकने पर, अन्त में, मैं इतना कहूँगा कि इनकी हिन्दी-कविता को गुजराती साहित्य के अंचल से उठाकर शीघ्र ही हिन्दी-सेवियों के सम्मुख रखना चाहिए। इनकी कविता ऊँचे दर्जे की है। भाषा की जो भूलें हमें खटकती हैं, उनके सम्बन्ध में निवेदन है कि वे भूलें इनकी न होकर गुजराती लहियाओं (प्रतिलिपिकारों) और संपादकों की हैं, जो ब्रजभाषा के अज्ञान के कारण हुई हैं। इनके काव्यों का ठीक ढंग से संपादन किया जाना चाहिए। राष्ट्रभाषा के विकास के लिए ऐसे प्रयत्नों की अत्यन्त आवश्यकता है।

---

१. कच्छी, २. पंजाबी, ३. फारसी, ४. उर्दू, ५. तेलुगु, ६. द्रविड, ७. हिन्दी, ८. गुजराती, ९. मराठी, १०. संस्कृत, ११. पूर्वी, १२. मारवाड़ी।

# उमापति उपाध्याय

श्री बजरंग वर्मा, एम्० ए०, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना

प्राचीन-भारतीय-वाङ्मय में 'उमापति' नामक एकाधिक कवि हैं। दुर्भाग्यवश इनमें अधिकांश का उल्लेखमात्र मिलता है, पूर्ण परिचय नहीं। अब इनका परिचय प्राप्त करने की जिज्ञासा प्रबल होती जा रही है, और इनके सम्बन्ध में कुछ विवरण सुलभ भी हुए हैं।

'कैटेलोगस कैटेगोरम' में 'उमापति' नाम के चौदह कवियों की चर्चा है, किन्तु इनमें केवल दो 'उपाध्याय' की उपाधि धारण करनेवाले हैं। एक ने 'शुद्धिनिर्णय', 'सार-संग्रह', 'स्मृतिदीपिका' आदि ग्रंथों की रचना की थी और दूसरे ने 'पारिजातहरण' की। एक मँगरौनी (दरभंगा) के रहनेवाले थे और दूसरे कोइलख (दरभंगा) के। पं० कुलानन्द दास 'नन्दन' ने भ्रमवश 'पारिजातहरण' के कर्ता उमापति उपाध्याय का जन्म-स्थान मँगरौनी बताया है।[1] मँगरौनी के उमापति उपाध्याय 'पारिजातहरण' के कर्त्ता उमापति उपाध्याय से भिन्न व्यक्ति रहे होंगे। 'पारिजातहरण'-वाले उमापति उपाध्याय कोइलख (दरभंगा) के थे, इस बात का समर्थन डा० ग्रियर्सन,[2] पं० चेतनाथ झा,[3] डा० उमेश मिश्र,[4] पं० जनार्दन झा 'जनसीदन'[5] तथा अन्य कई अधिकारी विद्वानों ने किया है। यह कोइलख ग्राम दरभंगा जिले के 'भौर' परगना में है।

'पारिजातहरण' के कर्त्ता उमापति उपाध्याय 'पदार्थीदिव्यचक्षु' नामक न्यायग्रंथ के प्रणेता रत्नपति उपाध्याय के पुत्र थे। इनकी माता का नाम था रत्नावती। उमापति अपने समय के अद्वितीय धर्म-शास्त्री विद्वान् थे, जिसके कारण इन्हें 'महामहोपाध्याय कवि-पंडित-मुख्य' की उपाधि प्रदान की गई थी। उत्तर-भारत के तत्कालीन दार्शनिकों एवं पंडितों में इनकी बड़ी धाक थी। उमेश मिश्र का कहना है कि ये त्रिदेवोपासक थे।[6] उमापति

---

१. 'पुस्तक-भंडार-जयन्ती-स्मारक-ग्रंथ', पृ० ४०३।

२. Jouarnal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol III, part I, p. 25.

३. 'पारिजातहरण' (पं०चेतनाथ झा द्वारा सम्पादित) की भूमिका, पृ० ११।

४. 'हिन्दुस्तानी' (त्रैमासिक), अप्रैल १९३५ ई०, पृ० ११३।

५. 'पुस्तक-भंडार-जयन्ती-स्मारक-ग्रंथ', पृ०-१०।

६. "उमापति शक्ति के उपासक थे, यह तो उनके मैथिल होने से ही सिद्ध है, द्वितीय उनके ग्रंथ में शक्ति की आराधना देखकर भी मालूम होता है। वे अन्य मैथिलों के समान वैष्णव तथा शैव भी थे। वैष्णव थे, इसके प्रमाण में तो उनके 'पारिजातहरण' में विष्णु की चरित्र-गाथा ही पर्याप्त कही जा सकती है। उनके शैव होने का भी एक प्रमाण स्पष्ट है। इस ग्रंथ में एक स्थान पर इन्होंने लिखा है 'मोर शंभुक मीत'। यहाँ 'मोर' शब्द से उनका शैव होना भी स्पष्ट है।" 'हिन्दुस्तानी' (त्रैमासिक) अप्रैल १९३५ ई०, पृ० १३०।

वस्तुतः किस देवता के उपासक थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ न कह कर अनुमान से ही काम लिया जा सकता है, कारण कि उन्होंने अपनी कृति में अपनी उपासना के सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त नहीं किया है। मिश्र ने अनुमान से ही काम लिया है। कहा नहीं जा सकता, उनका यह अनुमान किस अंश तक ठीक है।

प्रसिद्ध है कि उमापति उपाध्याय ने 'पारिजातहरण' को रचना कर लोक-भाषा-निबद्ध नाटकों का प्रवर्त्तन किया। उनका यह नाटक मैथिली का सबसे प्राचीन नाटक माना जाता है। इसे हिन्दी-भाषा के प्रथम नाटक होने का भी श्रेय किसी-किसी ने दिया है। इसके अतिरिक्त उमापति की कोई दूसरी कृति देखने को नहीं मिलती।

उमापति उपाध्याय के आश्रयदाता कौन थे, इस बात को लेकर विद्वानों के बीच बड़ा मतभेद रहा है। 'पारिजातहरण' की प्रस्तावना में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि उनके आश्रयदाता 'विष्णु के दशम अवतारस्वरूप' हरिहरदेव नाम के कोई राजा थे, जिनका विरुद 'हिन्दुपति' था और जिन्होंने अपनी 'तलवार से यवनरूपी वन' का नाश किया था।[१] उमापति ने इनके सम्बन्ध में कहा है कि ये कई छोटे-छोटे राजाओं के अधिपति 'नृपति-पति' थे।[२] अपने आश्रयदाता को उन्होंने 'मिथिलेश' कह कर यह स्पष्ट ही सूचित किया है कि जिस राजा के आश्रय में वे अपना जीवन-यापन करते थे वह मिथिला पर ही शासन करनेवाला एक ऐसा राजा था जिसके शासन-काल में मिथिला में अनेक प्रकार की सामाजिक उन्नतियाँ हुईं। उन्होंने अपने आश्रयदाता 'मिथिलेश' का विशेष वर्णन करते हुए कहा है—

"यस्यास्यं पूर्णचन्द्रः स्ववचनममृतं दिग्जयश्रीश्च लक्ष्मी—
दोःस्तम्भः पारिजातो भ्रुकुटिकुटिलता सङ्गरे कालकूटः।
तीव्रं तेजोऽग्निरौर्वः पदभजनपरा राजराज्यस्तटिन्यः
पारावारो गुणानामयमतुलगुणः पातु वो मैथिलेशः॥"[३]

---

१. "आदिष्टोऽस्मि यवनवनच्छेदनकरालकरवालेन विच्छेदगतचतुर्वेदपथ-प्रकाशकप्रतापेन भगवतः श्रीविष्णोर्दशमावतारेण हिन्दुपति-श्रीहरिहरदेवेन यथा उमापत्युपाध्यायविरचितं नवपारिजातमंगलाभिनीयवीररसावेशं शमयन्तु भवतो भूपालमण्डलस्य"—'Parijat Harana' (Edited by Dr. Grierson, Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, part I, p. 28.

२. "सुगुरु उमापति सकल नृपति-पति हिन्दू प्रतिपालथु धरा।" वही, पृ० २६।

"सकल नृपति-पति हिन्दूपति जिउ महारानि बिरमाने। वही पृ० ४२।
"सकल नृपति-पति हिंदू-पति जिउ महेसरि देई बिरसाने।" वही' पृ० ४३।
"सकल नृपति-पति हिंदू-पति जिउगति सब रस जाननिहारा।" वही, पृ० ५३।

३. वही, पृ० २८।

जिनका मुख पूर्णचन्द्र है, वचन अमृत है, दिग्विजयश्री ही जिनकी राज्यलक्ष्मी है, जिनकी बाँहें पारिजात हैं, युद्धक्षेत्र में जिनकी टेढ़ी भौंहें कालकूटस्वरूप हैं, जिनका तीव्र तेज वडवानल ही हैं, जिनकी सेवा में निरत राजा नदी-तुल्य हैं, जो गुणों के समुद्र हैं, ऐसे अतुलनीय गुणों से युक्त मिथिलेश आपकी रक्षा करें !

यह बड़े आश्चर्य का विषय है कि उमापति उपाध्याय अपने आश्रयदाता के रूप में जिस राजा का नाम लेते हैं, उसका पता मिथिला की किसी भी प्रामाणिक वंशावली में नहीं मिलता। उस नाम से मिलते-जुलते एक दूसरे नाम हरिसिंहदेव का उसमें उल्लेख मिलता है, जिसे कहीं-कहीं हरदेव भी कहा गया है। अतः वस्तुस्थिति के अनुसार इसके अतिरिक्त और क्या अनुमान किया जा सकता है कि ये हरिसिंहदेव ही 'पारिजातहरण' के कर्त्ता उमापति उपाध्याय के आश्रयदाता रहे होंगे और इनका वास्तविक नाम 'हरिहरदेव' ही रहा होगा ? प्रयत्न-लाघव के नियमानुसार किसी ने इन्हें हरिदेव तो किसी ने हरदेव कहा है।

नेपाल-स्थित सप्तरी परगना के अन्तर्गत मखमानी (वर्त्तमान एन्० ई० रेलवे के भपटाही स्टेशन के निकट) में स्वतंत्र रूप से राज्य करनेवाले इस नाम के एक राजा का पता निश्चय ही चलता है, किन्तु उसे 'पारिजातहरण' के कर्त्ता उमापति उपाध्याय का आश्रयदाता मानना सर्वथा अनुचित होगा, कारण कि उमापति के जो आश्रयदाता थे वे 'मिथिलेश' अर्थात् मिथिला पर शासन करनेवाले थे और ये हैं मिथिला के बाहर के शासक। दूसरी बात यह कि इतिहासकारों ने इनका विरुद 'हिन्दुपति' न कहकर 'भूपसिंह' कहा है।[1]

चेतनाथ झा ने विद्यापति-कृत 'लिखनावली' के आधार पर इसी भ्रामक मत का समर्थन किया है और पूर्ण विश्वास के साथ कहा है कि उमापति उपाध्याय इन्हीं के राजपण्डित थे।[2] ग्रियर्सन ने बड़े अच्छे ढंग से इस मत का खंडन किया है।[3]

---

१. बक्शी, पृष्ठ १७२।

२. यवननाशक ई हरिहरदेव के छलाह। नेपाल मध्य जे भपटियाही स्टेशन सं उत्तर सप्तरी प्रगन्ना अछि जाहि मध्य नेपाल राजक हनुमाननगर कचहरी अछि ताहि समीप मकमानी स्थान मध्य ई स्वाधीन राजा छलाह। कवि विद्यापति 'लिखनावली' ग्रन्थ मध्य सप्तरी वर्णन केने छथि ई राजा स्वाधीन छलाह। मुसलमानी अमलदारो नेपाल में कहियो नहि भेल तैं ओ कवि (उमापति) हिनके आश्रित छलाह तैं ई सब विशेषण (हिन्दुपति आदि) देल गेलैन्हि।—पारिजातहरण (चेतनाथ झा द्वारा सम्पादित) की भूमिका, —पृ० १५-१६।

३. This Hari Haradev must have been a contemporary of the great rulers of Mithila, Narpati Thakur and Raghava Simha. How could a poet of Mithila, a subject of these powerful princes, have called the pretty princeling a lord paramount of other kings and 'king of Mithila' if that is the mean-

जयकान्त मिश्र ने इस सम्बन्ध में एक विचित्र सम्भावना प्रकट की है। ग्रियर्सन के उपर्युक्त खंडन की चर्चा करने और स्वयं उसकी आलोचना करने के पश्चात् उन्होंने एक नये मत की स्थापना करने का प्रयास किया है। उन्होंने बताया है कि उमापति उपाध्याय छत्रसाल के पुत्र हृदयशाह के पोते, मध्यप्रदेश के बुन्देलखण्डस्थित गढ़मण्डला के राजा, जो 'हिन्दुपति' कहलाते थे, के राजगुरु थे।[१] मिश्र ने अपने कथन के समर्थन में जो भी तर्क दिये हैं वे उद्धृत हैं; वे युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होते।

---

ing of Mithilesa ? If he had made a claim to any such title, Narpati and Raghava would soon have made a short work of his pretentions. Again, how could he have been a conqueror of Musalman armies ? If, at that time, there had been an opponent of the Musalmans it would have been Narpati or Raghava, not a little local Chief of Nepal. Yet, of Raghava Simha, we know that he accepted a 'Mukarri Patta' of the Tirhut Sarkar, at a rent of a lakh of rupees yearly, from Alavirdi Khan who was then Faujdar of Rajmahal...The week point of Pandit Chetnath Jha's tradition is the fact that his Hari Haradeva connot be made square with the paramount, victorious king described by the poet··· (Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol III, Part IV, pp. 453–557)

१. The solution is found when we find a king called Hindupati, patron of poets and scholars (including Mithila poets) who could be very rightly be described by the epithets "यवनवनच्छेदनकरालकरवालेन विच्छेदगतचतुर्वेदपथप्रकाशकप्रतापेन भगवतः श्रीविष्णोर्दशमावतारेण ।" It is Hindupati king of Garha Mandala ( Bundel Khanda ), in Central India, who was a very near contemporary of Narpati Thakur and Raghava Simha, Hindupati was grand-son of Hridaya Shah, the famous son of Chatrasal. Mithila Scholars and poets have been known to frequent the courts of Bundel Khanda for a number of years in the Medieval Times. The title 'Guru' attached to Umapati's name in the Bhanitas of the songs in Parijat Harana becomes significant as he must have been the Rajguru of 'Hindupati'. Besides we have a Ms. copied

हरिहरदेव नाम के किसी भी प्रभावशाली राजा की चर्चा मिथिला की किसी प्रामाणिक वंशावली में न पाकर ग्रियर्सन ने सर्वप्रथम यह सम्भावना प्रकट की कि 'हरिहरदेव' कर्णाट-कुल के अन्तिम, अर्थात् छठे, राजा 'हरिसिंहदेव' ( १३०५-१३२४) का ही नामान्तरमात्र है और उमापति इन्हीं हरिसिंह देव के आश्रय में रहते थे। डी० राइट-लिखित नेपाल के इतिहास[1] और नेपाल के इम्पीरियल गेजेटियर[2] में हरिसिंहदेव को अयोध्या का सूर्यवंशी राजा कहा गया है। इन ग्रन्थों में लिखा है कि अयोध्या के ये हरिसिंहदेव मुसलमानों के भय से अयोध्या से भाग कर सिमराऊँमें रहने लगे थे। किन्तु, ये बातें निन्तान्त भ्रामक हैं। जगन्मोहन वर्मा ने अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि वस्तुतः 'हरिसिंहदेव' को अयोध्या का सूर्यवंशी राजा मानना नितान्त भ्रममूलक जान पड़ता है। उस समय अयोध्या में कोई राजवंश या राजा न था, जिसका मुसलमानों के भय से सिमराऊँ जाना माना जा सके।[3] नामदेव के वंशज कर्णाट-कुल के जिस हरिसिंहदेव की चर्चा अभी की गई है वे अलाउद्दीन खिलजी ( १२६५-१३१६ ) तथा गयासुद्दीन तुगलक ( १३२१-१३२५ ) के समसामयिक थे।[4]

अबतक जितनी सम्भावनाएँ इस सम्बन्ध में प्रस्तुत की गई हैं उनमें सबसे अधिक युक्तिसंगत एवं विश्वसनीय ग्रियर्सन की ही ज्ञात होती है। कई अधिकारी विद्वानों ने इसी मत का समर्थन किया है। ऐसे विद्वानों में उल्लेखनीय हैं, उमेश मिश्र,[5]

---

by one Umapati for Hemangada in 1696 A. D. which is important in as much as it makes it possible for Umapati to have gone to Bundel Khanda along with Mahesha Thakur, Hemangada Thakur and others. This identification of the patron of Umapati is likely to explain the absence of any quotation of Umapati's poems in Lochana's 'Rajtarangini' either, because he wrote his drama in his early days in the foreign land. —History of Maithili Literature pp. 306–307.

१. नेपाल का इतिहास, पृ० १७४-७५।

२. Imperial Gazetteer, p. 98.

३. 'सरस्वती' ( मासिक ) जनवरी १६१८, ई०, पृ० ३१।

४. He was a Contemporary of Alauddin Khilji (1295-1316) and Ghyasuddin Tuglak (1321-1325). —Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol III, Part I, p. 25.

५. 'हिन्दुस्तानी' ( त्रैमासिक ), अप्रैल १६३५ ई०, पृ० ११५–११६

के० बी० चटर्जी[१] तथा बलदेव उपाध्याय[२]। हम नहीं कह सकते, ग्रियर्सन ने अपनी सम्भावना प्रकट करते समय पूर्ण आत्मविश्वास से क्यों नहीं काम लिया है। उनमें आत्मविश्वास का अभाव 'बिहार-उड़ीसा-रिसर्च-सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित उनके 'द डेट आफ उमापति' शीर्षक लेख की अंतिम पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें उन्होंने चेतनाथ झा के मत से अपने मत की तुलना की है।[३] मेरा अपना विश्वास है कि उनकी सम्भावना बिलकुल ठीक है। इसका सबसे पहला कारण तो यह है कि 'हरिहरदेव' के जिन गुणों की चर्चा उमापति ने अपनी कृति में की है, वे एक-एक करके सभी हरिसिंहदेव के गुणों से मेल खाते है। हरिसिंहदेव मिथिला पर शासन करनेवाले थे तथा इनके राज्य-प्रबन्ध से मिथिला में अनेक प्रकार की सामाजिक उन्नतियाँ हुई जिनके कारण ये 'मिथिलेश' कहे गये। इनकी रानी का नाम महेश्वरी देवी था। ये एक ऐसे प्रभावशाली राजा थे जिसके शासन में कई अन्य छोटे-छोटे राज्य थे। गुणी होने के साथ-साथ ये बड़े वीर थे। इन्होंने मुसलमानों के छक्के छुड़ाये थे और हिन्दुत्व की लाज रखी थी, जिसके परिणामस्वरूप ये 'हिन्दुपति' कहलाये। हरिसिंहदेव की मुठभेड़ कभी मुसलमानों से भी हुई थी, इस बात का कोई पुष्ट प्रमाण ग्रियर्सन को नहीं मिला, और मुख्यतया इसी कारण उन्हें स्वयं अपना तर्क दुर्बल-सा लगा।[४]

इतिहासों से इस बात का पता लगता है कि गयासुद्दीन तुगलक (१३२१-१३२५ के बीच) जब दिल्ली से लखनौटी पर आक्रमण करने जा रहा था तो वह तिरहुत होते हुए ही

---

१. Journal of the Dept. of Letters of Calcutta University, 1927, p. 44.

२. 'माधुरी' (मासिक), वर्ष २, खण्ड २, पृ० ७४६-७५०।

३. To sum up, in both cases, the suggested chronology rests upon tradition. Each tradition has something to say for itself, and each has its weak points. The weak point of my tradition is the want of any definite proof that my Hari or Haradeva conquered the Musalmans. The weak point of Pandit Chetnath Jha's tradition is the fact that his Hari Haradeva cannot be made to square with the paramount, victorious king described by the poet. Here we can leave the matter for future enquirers. —(Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, Part IV, p. 554.)

४. We have, it is sure, no account of his alleged wars with the Musalmans but we know from independent sources quoted in my original article that Gayasuddin Tuglak

गया था। मुस्लिम ऐतिहासिकों ने लखनौटी की विजय का विशद वर्णन किया है, किन्तु तिरहुत के सम्बन्ध में वे मौन रहे हैं। उनके इस मौन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस यात्रा में तिरहुत के तत्कालीन राजा के साथ जो लड़ाई हुई उसमें गयासुद्दीन को सफलता नहीं मिली। कुछ संस्कृत-ग्रंथों में हमें इस बात के भी प्रमाण मिलते हैं कि तिरहुत के तत्कालीन राजा हरिसिंहदेव ने यवन-सेना को बुरी तरह पराजित किया था।[१] संस्कृत के प्राचीन ग्रंथों तथा इतिहासों में हरिसिंहदेव के, गयासुद्दीन तुगलक द्वारा १३२४ ई० की २५ वीं दिसम्बर को पराजित करके नेपाल भगा दिये जाने का जो संकेत है वह भी ठीक है। वस्तुतः, गयासुद्दीन तुगलक ने हरिसिंहदेव को लखनौटी से लौटने के बाद पराजित कर नेपाल भगाया था।[२] किसी दूसरे इतिहासकार का कहना है कि हरिसिंहदेव एक बड़ा यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में अन्य राजाओं द्वारा कुछ विघ्न डाले गये। अन्त में कोई चारा न देखकर वे विरक्त होकर राज्य छोड़कर वन चले गये। उनके चले जाने पर वहां अराजकता-सी फैल गई, जिसे देखकर गयासुद्दीन तुगलक ने आकर अपना अधिकार जमा लिया। अधिक प्रमाण इस बात के मिलते हैं कि गयासुद्दीन तुगलक ने उन्हें पराजित करके भगाया। और, ऐसा उसने लखनौटी पर चढ़ाई करने के पश्चात् लौटती बार ही किया

---

marched through Tirhut on his way to Lakhnauti. Musalman historians are silent as to what happened in Tirhut, although they enlarge upon the conquest of the latter place, and we may, therefore, assume that their hero had no very striking success in Mithila. The poet may well have magnified the march into a victory of his patron but I admit that this is a weak point in my argument. —(Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. III, Part IV, p. 553.)

१. (क) मग्ना म्लेच्छमहार्णवे वसुमतिर्येनोद्धृता लीलया।
विध्वस्ता वनवैरिणः क्षितिभुजां लक्ष्मीः समासदिता॥
—दान-रत्नाकर

(ख) नानायोधविरुद्धनिर्जितसुरत्राणस्य सद्वाहिनी
नृत्यद्भीमकबन्धमेलकदलद्भूमिभ्रमद्भूधरः।
अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिः कर्णाटचूडामणिः
दृप्यत्पार्थिवसार्थमौलिमुकुटन्यस्तांघ्रिपंकेरुहः॥
—धूर्त्तसमागम नाटक

(ग) "अस्ति श्रीहरिसिंहदेवनृपतिर्निःशेषविद्वेषिणां...निर्माथी॥"
—कृत्य-रत्नाकर

२. कृत्यरत्नाकर (विब्लोथिका-संस्करण) की भूमिका, पृ० ६।

होगा। कहीं-कहीं ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि हरिसिंहदेव गयासुद्दीन तुगलक के द्वारा पराजित न किये जाकर उसीके समसामयिक किसी मुकुन्दसेन नामक राजा के द्वारा पराजित किये गये थे। इतिहासकार कहते हैं कि उसीके द्वारा पराजित किये जाकर हरिसिंहदेव जंगल भाग गये। किन्तु, प्रामाणिकता की दृष्टि से अधिक विश्वास प्रथम उल्लेख को ही दिया जाना चाहिए। कारण यह है कि इस बात का प्रमाण 'तारीखे फिरोज़शाही'[१] में मिलता है कि गयासुद्दीन तुगलक ने लखनौटी पर चढ़ाई करने के लिए तिरहुत होकर ही प्रयाण किया था। उपर्युक्त ग्रंथ के लेखक ने उस चढ़ाई का बड़ा ही विस्तृत एवं मार्मिक वर्णन प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त हरिसिंहदेव के सम्बन्ध में 'मिथिलामोद' नामक ग्रंथ में एक प्रामाणिक श्लोक भी मिलता है जो निम्नलिखित है—

"बाणाब्धिबाहुशशिसम्मितशाकवर्षे
पौषस्य शुक्लदशमीक्षितिसूनुवारे।
त्यक्त्वा सुपट्टनपुरीं हरिसिंहदेवो
दुर्दैवदर्शितपथो गिरिमाविवेश॥"

अर्थात्, मुसलमान सूबेदार द्वारा पराजित होकर हरिसिंहदेव १२४८ शाके (सन् १३२६ ई०) पौष सुदी दशमी मंगल को अपनी राजधानी सुपट्टनपुर को छोड़कर पर्वतवासी हुए। 'मिथिला-दर्पण' में लिखा है कि हरिसिंहदेव 'शाके १२४५ (सन् १३२४ई०) की वैशाख सुदी दशमी, शनिवार को पर्वतवासी हुए थे।[२] कहना न होगा कि 'मिथिला-दर्पण' का यह उल्लेख भ्रामक है तथा मूल श्लोक के अनुसार हरिसिंहदेव का शाके १२४८ (सन् १३२६ ई०) की पौष शुक्ल दशमी, भौमवार के दिन ही पट्टन से नेपाल के पर्वतों में पलायन ठीक है।

विद्वानों की राय है कि 'मिथिलामोद' का यह श्लोक प्रामाणिक है। यदि सचमुच ऐसी बात है तो 'पारिजातहरण' के कर्त्ता उमापति उपाध्याय का स्थिति-काल १४वीं शती का एकदम आदि-भाग होना चाहिए। हरिसिंहदेव को उमापति का आश्रयदाता माननेवाले प्रायः सभी विद्वान् उमापति का स्थिति-काल यही मानते हैं। चेतनाथ झा ने, जो हरिसिंहदेव को उमापति उपाध्याय के आश्रयदाता नहीं मानते, इन्हें १७वीं शती में रखना उचित समझा है। वे इन्हें महाराज नरपतिठाकुर (१६९२-३—१७०३-४)[३] और महाराज राघव सिंह (१७०४-१७४०)[४] का समसामयिक मानते हैं।[५] चेतनाथ झा ने ऐसा मानने का कोई

१. Elliot iii, 234.

२. "चौथेपन में संसार-विरक्त हो, राजपाट त्याग करके शाके १२४५ (सन् १३२४ ई०) के वैशाख सुदी दशमी शनिवार को, भगवद्भजन की इच्छा से उत्तराखण्ड की गिरिगुहा में जा विराजे......।"—'मिथिला-दर्पण', पृ० ६४।

३. 'मिथिला-दर्पण' के अनुसार १६७८ से १६९८।

४. 'मिथिला-दर्पण' के अनुसार १६९८ से १७२४।

५. कविक समय मध्य मिथिलेश महाराज नरपति ठाकुर को महाराज

विशेष कारण नहीं बताया है। किन्तु, अनुमान से ऐसा ज्ञात होता है कि उनके इस निर्णय का आधार मिथिला में प्रचलित एक प्रसिद्ध किंवदन्ती है जो इस प्रकार है : मिथिलावासी कहते हैं कि एक बार महाराजा राघव सिंह ( १७०४–१७४० ) के दरबार में धर्मशास्त्र के किसी अंग पर विचार-विमर्श के निमित्त उमापति उपाध्याय अपने परमप्रिय शिष्य गोकुलनाथ उपाध्याय (१६८५—१७१६) के साथ आमंत्रित हुए। गुरु होने के कारण स्वभावतः उमापति उम्र में गोकुलनाथ से बहुत अधिक थे, अर्थात् वृद्ध थे। जिस समय महाराज राघव सिंह का निमंत्रण इन लोगों के पास आया उस समय वर्षा के कारण गाँव की नदी में, जिसे पारकर दरबार में जाया जाता था, भीषण जलप्रवाह था। नदी के भयावह प्रवाह को देखकर गोकुलनाथ उपाध्याय ने पहले ही कहला भेजा कि वे दरबार में उपस्थित न हो सकेंगे। उमापति उपाध्याय ने भी महाराज के पास अपनी असमर्थता एक पत्र द्वारा सूचित कर दी। कहते हैं, उनका पत्र पद्यबद्ध था जिसका एक अंश इस प्रकार है—

> "हम अति वृद्ध नदी मरखाहि।
> एकठा नाओ चढ़ब नहि ताहि॥
> गोकुलनाथ कहइ छथि जएह।
> हमरो सम्मति जानब सएह॥"

बस, इसी किंवदन्ती के आधार पर चेतनाथ झा जैसे कुछ विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उमापति उपाध्याय गोकुलनाथ के समय ( १६८५ से १७१६ तक) 'अतिवृद्ध' थे, अर्थात् उनका स्थिति-काल १७ वीं शती था। किन्तु, थोड़ी सूक्ष्मता के साथ सोचने से यह निष्कर्ष नितांत भ्रामक सिद्ध होता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहली बात तो यह है कि इसका कहीं भी प्रामाणिक उल्लेख नहीं मिलता कि महाराज राघव सिंह के यहाँ जो उमापति उपाध्याय आमंत्रित थे वे 'पारिजात-हरण' के रचयिता उमापति उपाध्याय ही थे। कुछ विद्वान् उपर्युक्त किंवदन्ती की चर्चा करते हुए स्पष्ट कहते भी हैं कि जिस उमापति के पास महाराज राघव सिंह का निमंत्रण आया था वे मंगलवनी, अर्थात् मँगरौनी (दरभंगा) के रहनेवाले थे। गोकुलनाथ उपाध्याय तो मँगरौनी ( दरभंगा ) के थे ही। इस प्रकार, वे उमापति भी मँगरौनी (दरभंगा) के ही रहे होंगे, ऐसा अनुमान करना गलत नहीं होगा। और यदि ये मँगरौनी (दरभंगा) के न मानेजाकर किसी प्रकार कोइलख (दरभंगा) के ही सिद्ध किये जायँ तो इस बात का क्या प्रमाण प्रस्तुत किया जायगा कि उन्होंने ही इन पंक्तियों की रचना करके महाराज राघव सिंह के पास प्रेषित किया था ? उपर्युक्त छंदोबद्ध पंक्तियों में यदि उमापति का नाम कहीं होता तो कुछ अंशों में इस प्रमाण में विश्वास किया जा सकता था। किन्तु

---

राघव सिंह छलाह। कवि हुनके प्रजा छलाह। ओ मुसलमानक अमलदारी रहलो सन्ता ई इन् महाराजमिथिला मध्य तेहन प्रबन्ध कैने छलाह जे कोनहु तरहक अधर्म मिथिला मध्य ताहि काल नहि छल।

—'पारिजात-हरण' (चेतनाथ झा द्वारा सम्पादित) की भूमिका पृ० १५

ऐसा भी नहीं है। मिथिला में ही कई स्थलों पर यह उक्ति महामहोपाध्याय पं० रामदास झा के नाम प्रसिद्ध है।

इस प्रकार, उपर्युक्त किंवदन्ती के आधार पर यह कहना कि उमापति १७ वीं शती में हुए थे, युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। अतएव, यह सिद्ध होता है कि उमापति उपाध्याय का स्थिति-काल १४ वीं शताब्दी ही ठीक है। हमें इस मत के समर्थन में और भी कई प्रमाण मिलते हैं। ऐसे प्रमाणों में सबसे पहला भाषा-सम्बन्धी है। उमापति उपाध्याय ने अपने 'पारिजात-हरण' में कई ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनसे उनका बहुत ही प्राचीन, १४ वीं शताब्दी के लगभग का होना सिद्ध होता है। 'करके' के अर्थ में 'करु', 'रखना' के अर्थ में 'थापल', 'प्रिय' के अर्थ में 'विरमान', 'आम' के अर्थ में 'चूअ', 'समीप' के अर्थ में 'समाज', 'यदि' के अर्थ में 'जेउँ', 'किस' के अर्थ में 'किअ' आदि शब्दों के प्रयोग इसी प्रकार के उदाहरण हैं।

उमापति उपाध्याय का स्थिति-काल १४ वीं शताब्दी है, इस मत के समर्थन में हमें जो दूसरा प्रमाण मिलता है, वह है भाव-सम्बन्धी। मैथिल-कोकिल महाकवि विद्यापति के स्थिति-काल का निश्चय अभी ठीक-ठीक नहीं हो सका है। किन्तु, विमानविहारी मजुमदार के प्रयासों के फलस्वरूप इतना निश्चित रूप से ज्ञात हुआ है कि वे सन् १३८० ई० से सन् १४६० ई० तक जीवित थे।[१] विद्यापति के बहुत-से पदों पर उमापति का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कई स्थलों पर तो दोनों कवियों की भणिताओं की शैली में इतना अधिक साम्य है कि आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है। उपमानों के प्रयोग का भी वही हाल है। उमापति द्वारा रचित एक पद तो करीब-करीब ज्यों-का-त्यों विद्यापति के नाम से मिलता है। वह पद है—

"अरुन पुरुष दिसि बहलि सगरि निसि
गगन मगन भेल चन्दा।
मुनि गेलि कुमुदिनी तइअओ ताहर धनि
मूनल मुख अरबिन्दा ॥२२॥
कमल बदन कुबलय दुहु लोचन
अधर मधुरि निरमाने।
सगर सरीर कुसुम तुझ सिरिजल
किए तुझ हृदय परवाने ॥२४॥
असकति कर कंकन नहि परिहसि
हृदय हार भेल भारे।
गिरिसम गरुअ मान नहिँ मुंचसि
अपरुष तुझ बेबहारे ॥२६॥

१. 'विद्यापति' ( मित्र-मजुमदार-संस्करण ) की भूमिका, पृ० ४०-४६

मानिनि, अबगुन परिहरि हरखि हेरु धनि
मानक अवधि बिहाने ।
हिमगिरि कुमरी चरन हृदय धरि
सुमति उमापति भाने ॥२८॥[1]

विद्यापति के नाम से जहाँ यह पद मिलता है वहाँ कतिपय शब्दों के पाठान्तर के अतिरिक्त उपर्युक्त पद की अंतिम पंक्ति 'हिमगिरि कुमरि चरण हृदय धरि सुमति उमापति भान' के स्थान में 'राजा सिवसिंह रूपनरायन, कवि विद्यापति भाने' है। कुछ विद्वान् इसी पंक्ति के आधार पर इसे विद्यापति की रचना मानते हैं।[2] किन्तु, वस्तुतः ऐसा मानना ठीक नहीं। यह पद निश्चित रूप से उमापति का है, और किसी प्रकार का सन्देह करने की गुंजायश नहीं। इस पक्ष में सबसे बड़ा प्रमाण उमापति के 'पारिजातहरण' में ही मिलता है जिसमें यह पद आया है।[3] 'परिजातहरण' में जिस स्थल पर यह पद आया है वहाँ उमापति ने प्रत्येक चार पंक्तियों के बाद इसी भाव के संस्कृत में भी पद्य प्रस्तुत किये हैं। संस्कृत के इन पद्यों के आरम्भ में 'एतस्मिन्नर्थे श्लोकः' अथवा गीतार्थे श्लोकः।' लिखकर उन्होंने यह स्पष्टतया सूचित किया है कि मैथिली और संस्कृत दोनों ही भाषाओं के पद किसी दूसरे कवि के न रचे होकर उन्हीं के रचे हुए हैं। यदि ऐसी बात न होती तो ऐसा वे लिखते ही क्यों? जिन संस्कृत श्लोकों में उपर्युक्त पद के भाव आये हैं, वे इस प्रकार हैं—

''रुचिर्गलति कौमुदी शशिनि कौमुदी हीयते
वदन्ति कलमन्ततः शृणु समन्ततः कुक्कुटाः।
पुरो दिगतिरोहिताः परितिरोहितास्तारकाः
कथं नववरोरुहे! मुखसरोरुहे मुद्रणम् ॥१॥
आस्यंते सरसीरुहेण रचितं नीलोत्पलाभ्यां दृशौ
बन्धूकेन रदच्छदौ तिलतरोः पुष्पेण नासापुटम्।
इत्येवंविधिना विधाय कुसुमैः सर्वं वपुः कोमलम्
क्रूरं मानसमश्मना पुनरिदं कस्मादकस्मात्कृतम् ॥२॥
कान्ते किं तव कन्चुकं न कुचयोर्नो हस्तयोः कङ्कणम्
दोर्वल्ली वलयावलीमपि न दौर्बल्येन विन्यस्यसि ॥

१. वही, पृ० ४४-४६
२. विद्यापति की पदावली (श्री नगेन्द्र नाथ गुप्त द्वारा संकलित और संपादित, पृ० १८६-१८७, पद-सं० ३६६।
३. 'Parijata Harana' ( Edited by Dr. Grierson, published in Journal of Bihar and Orissa Research Society, pp. 44–46.

हारं भारमिवावधारयसि चेदेवं गुरुं मेरुवत्
मानं मानिनि किं न मुञ्चसि मनाक् तं भावमावेदय ॥३॥"[१]

उपर्युक्त कारणों से भी उमापति उपाध्याय का स्थिति-काल विद्यापति से बहुत पहले, अर्थात् १४ वीं शताब्दी का आदि-भाग ज्ञात होता है। कुछ विद्वान् इनका स्थिति-काल १३ वीं शती का आदिभाग, कुछ १३ वीं शती का अन्तिम भाग और कुछ १४ वीं शती का मध्य-भाग मानते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये सारे अनुमान भी गलत हैं।

# कहावतों का तुलनात्मक अध्ययन

डा० कन्हैयालाल सहल, बिड़ला आर्ट्स-कालेज, पिलानी (राजस्थान)

लार्ड बेकन की इस प्रसिद्ध उक्ति से सभी परिचित हैं कि किसी भी राष्ट्र की प्रतिभा, विदग्धता और आत्मा के दर्शन उसकी कहावतों में होते हैं।[२] इतना ही नहीं, तत्सम्बन्धी इतिहास, रीति-रिवाज, धारणाएँ, विश्वास, जीवन-पद्धति आदि का ज्ञान भी हमें उस देश-विशेष की कहावतों द्वारा हो जाता है। ग्रीस की कहावतों के अध्ययन से इस बात पर प्रकाश पड़ता है कि उस देश का कितना अधिक संबंध दंतकथा, इतिहास और काव्य से है। देवी-देवताओं की पौराणिक गाथाओं के असंख्य प्रसंग ग्रीस की कहावतों में भरे पड़े हैं तथा उनके प्राचीन इतिहास की अनेक घटनाओं के निर्देश उनकी लोकोक्तियों में सहज ही उपलब्ध हो जाते हैं। इतना ही नहीं, उनकी कहावतें होमर के काव्यों के बहुविध प्रसंगों से भी भरपूर हैं, जिससे स्पष्ट है कि उन लोकोक्तियों के प्रयोक्ताओं का होमर के काव्य से परिचय था, क्योंकि बिना उन प्रसंगों की जानकारी के उन कहावतों का मर्म नहीं समझा जा सकता।

रोम की कहावतें ग्रीस की कहावतों की अपेक्षा संख्या में अत्यधिक कम हैं। प्रतिभा और बुद्धि की दृष्टि से रोम के लोगों की ग्रीस के निवासियों से तुलना नहीं की जा सकती। रोम की कहावतों में ऐसी बहुत कम हैं जिनमें पौराणिक किंवा दन्तकथात्मक प्रसंगों का उल्लेख हो। यह भी सत्य है कि रोम के देवताओं की संख्या ग्रीस के देवताओं की अपेक्षा बहुत कम थी। रोम की कहावतों में ऐसी भी बहुत कम हैं जिनमें काव्यगत सौन्दर्य अथवा असामान्य भाव-सुकुमारता के दर्शन होते हों। किन्तु, फिर भी रोम को कहावतों की अपनी स्वतंत्र विशेषताएँ हैं, जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

---

१. 'Parijata Harana' (Edited by Dr. Grierson, Published in Journal of Bihar and Orissa Research Society), pp. 44–46.

२. The genius, wit and spirit of a nation are discovered in its proverbs.—Lord Bacon.

रोम की बहुत-सी कहावतों में नैतिक भावनाओं का प्राबल्य दृष्टिगोचर होता है। रोमनिवासियों की व्यापार-वृद्धि, व्यावहारिकता, मितव्ययिता तथा कठोरता का अच्छा दिग्दर्शन रोम की कहावतों में मिल जाता है। रोम की कृषि-सम्बन्धी कहावतें इस बात की परिचायक हैं कि वहाँ के निवासी कृषि-विषयक कार्यों में कितनी सजीव और प्रबल अभिरुचि रखते थे।[1]

इटली में राजनैतिक कहावतों की संख्या अत्यधिक है। इसका मुख्य कारण यह है कि यह देश शताब्दियों तक अंशतः या पूर्णतः राजनैतिक दासत्व का शिकार रहा, जिसके कारण इस प्रकार की कहावतों में शासन के विरुद्ध आलोचना प्रायः सुनाई पड़ती है। इन लोकोक्तियों में बहुधा पशुओं के रूपक के लिए प्रयोग हुआ है, जिसका मुख्य कारण यह है कि इटली-निवासियों की पशुओं के प्रति बड़ी सहानुभूति है और उनकी पर्यवेक्षण-शक्ति भी बड़ी सूक्ष्म है।[2]

"इटली की कहावतें वहाँ के निवासियों की गंभीर एवं गूढ़ राजनैतिक वृत्ति के रंग में रँगी हुई हैं और उनका ज्ञान उनकी स्वार्थपरता में केन्द्रित हो गया जान पड़ता है। इटली के किसी भी कहावत-संग्रह को उठाकर देखिए तो पता चलेगा कि प्रत्येक दस कहावतों में से एक कहावत स्वार्थपरक है अथवा संकुचित मनोवृत्ति की परिचायक है; ऐसा लगता है, मानो क्षुद्रबुद्धि के सांसारिक जनों के लिए एक सांसारिक पुस्तक हो।"[3]

ट्रेंच के मतानुसार इटली की कहावतें सन्देह के वातावरण से भरपूर हैं; समस्त संसार को वे सन्देह की दृष्टि से देखने की शिक्षा देती हैं; उन्हें सारे जगत् में शत्रु ही शत्रु दिखलाई पड़ते हैं। धूर्त्तता का उनमें जयजयकार मिलता है; जीवन के जंजाल को काटने के लिए धूर्त्तता ही उनकी दृष्टि में सच्चे पथ-प्रदर्शक का काम दे सकती है। मेकियावेली की आत्मा ही मानो इन कहावतों में मुखरित हो उठी हो। इतना ही नहीं, बहुत-सी कहावतों में प्रतिशोध की भावना को अत्यन्त प्रशस्य ठहराया गया है। उदाहरण के लिए इटली की दो कहावतें लीजिए, जिनमें कहा गया है—

(१) प्रतिशोध ईश्वर के लिए ग्रास है (२) प्रतिशोध के लिए समय और स्थान की ताक में रहना चाहिए, क्योंकि जल्दी में भली-भाँति प्रतिशोध नहीं लिया जा सकता।

किन्तु, इसका अर्थ यह न समझा जाय कि इटली की सभी कहावतें इसी प्रकार की हैं। वहाँ अच्छी कहावतें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ—'For an honest man half his wits is enough, the whole is too little for a knave.'[4]

१. French (p. 46-50)
२. Racial Proverbs (Introduction to the Proverbs of Italy— Emilo Bodrero).
३. Curiosities of Literature; London 1838, p. 391.
४. French (p. 54-55 & 57).

ट्रेंच ने कहावतों की दृष्टि से स्पेन की भाषा को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान किया है। इस भाषा की कहावतें गुण तथा संख्या, दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध हैं। जान प्रिआर्ट ने स्पेन की कहावतों का एक हस्तलिखित संग्रह तैयार किया था, जिसमें कहावतों की संख्या २५ से ३० हजार तक पहुँच गई थी। पहले यह संग्रह रिचार्ड हरबर के पुस्तकालय में था (कट० ६.१६६७)। कहावतों का यह संग्रह बड़ी तत्परता और तन्मयता से तैयार किया गया था। इसके संकलयिता के अनुचरों में से जो कोई भी कहावत लाकर उसे देता; उसे वह पारिश्रमिक के रूप में अवश्य कुछ दिया करता था और जिस श्रेणी के व्यक्ति से उसे यह कहावत प्राप्त होती उसका भी पूरा ब्यौरा वह अपने संग्रह में दर्ज कर लेता था।

क्या युवक और क्या वृद्ध, स्पेन के सभी लोग अपनी दैनिक बातीचत में कहावतों का प्रचुर प्रयोग करते हैं। उनकी दृष्टि में कहावतें जीवन की समस्याओं पर प्रामाणिक और अधिकृत रूप से प्रकाश भी डालती हैं। स्पेन की कहावतों में अभिव्यक्ति की अत्यन्त सुन्दर पद्धति देखी जाती है, जिसके परिणाम-स्वरूप स्पेन के साहित्य में भी उनका भरपूर समावेश हुआ है।

स्पेन की कहावतों में सामान्यतः एक प्रकार की गम्भीरता, विचारशीलता, कुछ विनोद और एक प्रकार की वक्रोक्ति के दर्शन होते हैं। स्त्री-दाक्षिण्य, स्वाभिमान, स्वातन्त्र्य आदि वृत्तियों का दिग्दर्शन भी उनसे हो जाता है। स्पेन की एक कहावत में कहा गया है कि स्त्रियों के हाथ चोट नहीं पहुँचाते—White hands cannot hurt। इसमें स्त्रियों के प्रति कितने सम्मान का भाव प्रदर्शित किया गया है! शेक्सपियर की तरह स्पेन के नाट्यकार Calderon ने भी अपने नाटकों के कुछ शीर्षक लोकोक्तियों के रूप में रखे हैं।

स्पेन की कुछ कहावतों में अपने पड़ोसी पुर्तगाल के लोगों के प्रति हीन-भाव दिखलाई पड़ा है। एक कहावत में कहा गया है कि स्पेन-निवासी में जितने गुण हैं उन्हें निकाल दिया जाय तो एक पुर्तगाली बच रहेगा।[१]

रूस की कहावतों में वहाँ के निवासियों के व्यक्तित्व की आश्चर्यजनक अभिव्यक्ति हुई है। कहा जाता है कि रूस में ६० हजार से भी ज्यादा कहावतें हैं। इस विशाल देश ने शताब्दियों से कहावतों के निर्माण में योग दिया है। प्रायः हर एक कहावत एक दूसरे से भिन्न है और मूलतः रूसी है। कहावतों के इस प्राचुर्य और मौलिकता का कारण रूसवासियों का कहावतों के प्रति सहज प्रेम है।

रूस की कहावतों की एक विशेषता ध्यान देने योग्य है। दुनिया के अन्य देशों में प्रेस, पुस्तकों, शोध-पत्रिकाओं आदि ने कहावतों को उसके पुरातन महत्त्वपूर्ण आसन से अपदस्थ कर दिया है, किन्तु रूस के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। आज भी रूस-वासियों का अपनी कहावतों के प्रति प्रेम अक्षुण्ण है। केवल वे कहावतें, जिनका सम्बन्ध ज़ारशाही से अथवा देवी-देवताओं से है, अब प्रचलित नहीं रह गई हैं। अधिकांश कहावतें

१. "Abstract from a Spaniard all his good qualities, and there remains a Portugese." (Trench p. 53)

आज भी लोगों की जिह्वा पर नृत्य कर रही हैं और संभवतः आगे आनेवाली शताब्दियों में भी करती रहेंगी। रूस के लोग कहावतों के इतने प्रेमी क्यों हैं, इसका प्रमुख कारण यह है कि कहावतों को वे अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति समझते हैं। गत शताब्दियों में दर्शन और उपदेश-सम्बन्धी प्रायः सभी कुछ रूस में विदेशों से लाया गया, लेकिन लोक-विज्ञान का सम्बन्ध पूर्णतः अपने देश के साथ ही रहा। इसमें भी गीतों का सम्बन्ध स्त्रियों से तथा परियों की कथाओं का सम्बन्ध बच्चों से रहा, लेकिन जहाँ तक कहावतों की बात है, कहावतें और केवल कहावतें ही समूचे देश की निधि हैं।

रूस की कहावतों का दृष्टिकोण अत्यन्त स्वस्थ है—रुग्णता उनमें नहीं है, छींटाकशी उनमें नहीं पाई जाती। आकार-प्रकार में वे संक्षिप्त हैं और सहज ही ग्राह्य हैं। कहावतों के अतिरिक्त और कोई साधन ऐसा नहीं है, जिसमें रूस के सामान्य स्त्री-पुरुष का चित्रण इतनी खूबी के साथ हुआ हो।[1]

अरबी भाषा अपनी लोकोक्तियों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। अरब के लोगों में संभाषण अथवा पारस्परिक चर्चा में उत्तमोत्तम कहावतों के प्रयोग की एक परिपाटी-सी पाई जाती है। किन्तु, आजकल के युवकों में लोकोक्तियों का प्रचार घट रहा है।

अरब की सबसे प्राचीन लोकोक्तियों में रेगिस्तानी जीवन की सामाजिक दशा की अभिव्यक्ति हुई है, किन्तु पुरानी सभी कहावतें इसी प्रकार की नहीं हैं, ऐसी भी कहावतें हैं जो सामान्यतः दुनिया के सभी देशों में पाई जाती हैं, किन्तु इस्लाम के उदय के साथ अरब के लोकोक्ति-साहित्य में नूतन विचारों की एक लहर-सी दौड़ गई। मुहम्मद की बहुत-सी शिक्षाएँ अरब में प्रचलित प्राचीन सूक्तियों के विरुद्ध पड़ती थीं, इसलिए मुहम्मद की उन बहुतेरी उक्तियों द्वारा, जिन्होंने लोकोक्तियों का रूप धारण कर लिया, अरब में एक नवीन नीति-पद्धति का आविर्भाव हुआ। मुहम्मद के अनुयायियों ने भी इस प्रकार की कहावतों की संख्या बढ़ाई।

अरब के लोगों ने जब दूसरे देशों में अपनी विजय-पताका फहराई और जब वे मिस्र, सीरिया, मेसोपोटामिया और फारस की जनता के सम्पर्क में आये तो यह स्वाभाविक था कि अरब के लोकोक्ति-साहित्य पर उन देशों के लोकोक्ति-साहित्य की प्रतिक्रिया होती। किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं है कि अरब की सभी पुरानी कहावतें विलुप्त हो गई और नई कहावतों ने उनका स्थान ग्रहण कर लिया। किसी अंश में तो यह अवश्य हुआ, किन्तु अरब-निवासियों की रूढ़िप्रियता के कारण उनकी कहावतों में परस्पर-विरोधी तत्त्वों का समन्वय ही हुआ, समुन्मूलन नहीं। आज भी हजारों पुरानी कहावतें अरब में प्रचलित हैं।

अरब की कहावतों में परस्पर-विरोधी तत्त्व इतने हैं कि उनको अरब-निवासियों के मानस का प्रतिबिम्ब नहीं कहा जा सकता। सामान्यतः यह आशा की जा सकती है कि इन

---

१. Introduction to the Proverbs of Russia by Andrew Ivanovich Guershoon, LL. B. ( p. xcv-xcvi—xcvii)

लोकोक्तियों में से अधिकांश भाग्यवाद से संबद्ध होंगीं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। व्यक्तिगत स्वाधीनता और दायित्व पर बल देनेवाली कहावतों की संख्या उनसे कहीं अधिक है जिनमें भाग्यवाद का समर्थन हुआ है। खेती से सम्बन्ध रखनेवाली कहावतों की संख्या बहुत कम है; हाँ, सीरिया और मिस्र के कृषकों में अवश्य कृषि-विषयक कहावतें प्रचलित हैं। अरब में ऐसी कहावतों की प्रमुखता है, जिनमें व्यापारिक शब्दावली का आलंकारिक प्रयोग हुआ है। आतिथ्य की महिमा बहुत-सी कहावतों में सुरक्षित रह सकी है। शब्द-लाघव और अभिव्यक्ति की समीचीनता अरब की कहावतों में मिलती है, किन्तु वाग्विदग्धता का अपेक्षाकृत अभाव है। सच्चा हास्य संभवतः मिस्र की कहावतों में ही मिलता है।[१]

फारसी भाषा बोलनेवाले बातचीत में बड़े चतुर होते हैं और जहाँ भी सम्भव हो, वे सूक्तियों के प्रयोग करते देखे गये हैं। इस भाषा में भी लोकोक्तियों का स्वभावतः ही महत्त्वपूर्ण स्थान है, लेकिन फारस की बहुत-सी प्रचलित कहावतें अरबी लोकोक्तियों के अनुवादमात्र हैं। फारसी में शेखसादी की बहुत-सी उक्तियाँ कहावतों की भाँति व्यवहृत होती हैं।

अरबों के पड़ोसी जो यहूदी लोग हैं उनकी भाषा में भी सुन्दर लोकोक्तियाँ हैं। अन्य भाषाओं में भी इन यहूदियों के सम्बन्ध में बहुत-सी कहावतें निर्मित हैं। इन लोगों में स्त्रियों के प्रति जो तुच्छ भावना है वह इनकी कहावतों में भी भली-भाँति प्रतिबिंबित है।

टर्की की कहावतें सामान्यतः बहुत छोटी होती हैं, क्योंकि टर्की भाषा में सम्बन्ध-सूचक सर्वनाम हैं ही नहीं। कुछ आधुनिक कहावतों को छोड़ कर टर्की की प्रायः सभी कहावतें प्राचीन हैं—बहुत-सी कहावतों का सम्बन्ध उस युग से है जब टर्की के लोग मध्य एशिया में खानाबदोश और कृषक-जीवन व्यतीत करते थे। इन कहावतों में जानवरों के रूपकगत प्रयोग बहुत हैं। टर्की की कहावतों में जटिल से जटिल विचारधारा को भी सरलतम पद्धति द्वारा व्यक्त करने की क्षमता है। टर्की के लोगों में बातचीत करते समय प्रायः एक-आध कहावत का प्रयोग होता है। इन कहावतों को पढ़ कर ईसामसीह की उक्तियों का स्मरण हो आता है, जिनमें गड़ेरियों, मेमनों और फूल-पौधों से उपमाएँ गृहीत हुई हैं।

फ्रांस की भाषा में जो विशेष गुण हैं वे ही इस देश की कहावतों में भी मिलते हैं। सौंदर्य, टीपटाप, तीक्ष्णता और सफाई जो इन लोकोक्तियों में मिलती हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। फ्रांस की कहावतों में जीवन के सार्वदेशिक पक्ष से सम्बन्ध रखनेवाली उक्तियाँ ही विशेषतः उपलब्ध होती हैं।

किन्तु, जर्मनी की लोकोक्तियों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। वहाँ की कहावतों में राष्ट्रीय चारित्र्य की अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। जर्मनी में अनेक कहावतें ऐसी हैं,

---

१. Introduction to the Proverbs of Arabia, by H. A. R. Gib.

जिनमें उत्कृष्ट लोकोक्तियों के सभी गुण मिलते हैं। इस देश के लोगों में जो एक प्रकार की पूर्णता की वृत्ति पाई जाती है, उसका अच्छा निदर्शन यहाँ की कहावतों में भी मिल जाता है।[1]

आकार-प्रकार की दृष्टि से चीनी भाषा कहावतों के निर्माण के लिए अत्यन्त उपयुक्त है। चीन के पुराने दार्शनिक कन्फ्यूशियस और Lao Tzu की बहुत-सी उक्तियाँ भी कहावतों के रूप में प्रचलित हैं। चीन की कहावतों में अतिशयोक्ति की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक मिलती है जिससे इन कहावतों के आकर्षण में वृद्धि हुई है। इनमें अनुप्रास की अपेक्षा तुक की प्रधानता देखी जाती है जो चीनी जैसी एकाक्षर भाषाओं के लिए स्वाभाविक है।

जब बुद्ध और कन्फ्यूशियस के धर्म का प्रचार जापान में हुआ तो इनके उपदेशों के सार का अशिक्षित जनता में, कहावतों के रूप में प्रचार हुआ। किन्तु, जापान की अधिकांश कहावतों का निर्माण वहाँ की सामान्य जनता द्वारा हुआ है।

आयरलैंड की कहावतों में विदग्धता और हास्य की अपेक्षा गांभीर्य अधिक है। इसका कारण संभवतः यह है कि इस देश को लगातार सात शताब्दियों तक युद्ध में लगे रहना पड़ा है। आयरलैंड की बहुत-सी कहावतें छन्द में हैं। जिस प्रकार पोप, टेनीसन और दूसरे अँगरेज कवियों की अनेक उक्तियाँ लोकोक्तियाँ बन गई हैं, उसी प्रकार, संभव है, इस भाषा की अनेक कहावती पंक्तियाँ उन प्राचीन कविताओं की पंक्तियाँ हों जिनका अस्तित्व आज नहीं रह गया है। इसके अतिरिक्त आयरलैंड की सैकड़ों कहावतों में आन्तरिक तुक-साम्य के दर्शन होते हैं। केवल वार्तालाप के आकर्षण के लिए इन कहावतों की उपयोगिता उतनी नहीं है, जितनी उस जीवन-दर्शन के कारण, जो इनके द्वारा अभिव्यक्त होता है।

वेल्स की कहावतों में भी अनुप्रास और आन्तरिक तुक का प्राचुर्य दृष्टिगत होता है। इनमें तीन वस्तुओं का एक साथ उल्लेख अनेक बार देखा जाता है। यहाँ की कहावतों का नैतिक स्तर ऊँचा है। हास्य की भी अच्छी अभिव्यक्ति इनमें हुई है। धार्मिक कहावतों का भी यहाँ अभाव नहीं है।[2]

ब्रिटिश द्वीप-समूह में स्काटलैंड अपनी कहावतों के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध है। सामान्यतः अँगरेजी भाषा की प्रायः सभी कहावतें किसी शब्द अथवा उच्चारण-मात्र के भेद से स्काटलैंड में प्रचलित हैं।

किन्तु, स्काटलैंड में ऐसी बहुत-सी कहावतें हैं जिनका प्रचार केवल स्काटलैण्ड में ही है। अन्य देशों में संख्या की दृष्टि से अधिक कहावतें मिल जायँगी, ऐसी कहावतें भी मिल जायँगी जिनमें चातुर्य, तीक्ष्णता अथवा कुशाग्रता के दर्शन होंगे, किन्तु बालोचित और अकृत्रिम कहावतों के लिए स्काटलैण्ड की कहावतें अपना सानी नहीं रखतीं। स्काटलैण्ड की कहावतें

१. महाराष्ट्र-वाक्-सम्प्रदाय-कोश, विभाग-२।
२. Racial Proverbs.

का एक दोष यह है कि उनका क्षेत्र अत्यन्त मर्यादित है। उनमें वहाँ के लोगों के रीति-रिवाज, उनकी कल्पना, उनकी आकांक्षा, उनके सुख-दुःख और उनकी मनोवृत्ति की अच्छी झाँकी देखने को मिलती है, किन्तु ऐसी कहावतों का अभाव है जिन्हें सार्वत्रिक अथवा सार्वदेशिक कहा जा सके।[1]

स्विट्ज़रलैण्ड में जो कहावतें प्रचलित हैं उनमें से अधिकांश ऐसी हैं जिनका जर्मनी में भी प्रचार है। स्वीडन की कहावतों में पुरातत्त्ववेत्ता, सभ्यता के इतिहास-लेखक, सामाजिक राजनीतिज्ञ तथा कला-मर्मज्ञ के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है।

पोलैण्ड-निवासी का कहावतों के प्रति उतना ही आकर्षण रहता है जितना शिशु का बाल-कविताओं (Nursery rhymes) के प्रति।

मलाया में वार्त्तालाप में कहावतों का प्राचुर्य देखने को मिलता है। वहाँ के परिवार में यदि कोई अजनबी आ जाय और उसे वहाँ की कहावतों का ज्ञान न हो तो वह वार्त्तालाप के मर्म को नहीं समझ सकेगा। E. S. Hose ने यथार्थ ही कहा है—

"So deeply embedded are proverbs in Malay thought and speech that it is only by a careful study of local sayings, and their judicions use in conversation that a foreigner can hope to break down the barriers of reserve, and win the confidence and friendship of this lovable and warm-hearted people."[2]

●

## भोजपुरी के पावस-गीत

श्री गणेश चौबे, बँगरी (चम्पारण)

भारतीय मनीषियों ने षड्ऋतुओं में वसन्त को सर्वश्रेष्ठ माना है। यहाँ तक कि गीता में भगवान् कृष्ण ने भी अपने को ऋतुओं में वसन्त ही बतलाया है। किन्तु, कृषिप्रधान भारत के किसानों की धारणा है कि वर्षा हो सर्वोत्तम ऋतु है। भारतीय कृषक नीले आकाश में उमड़ती हुई काली घटा की ओर सदा उत्सुकतापूर्वक आशाभरी दृष्टि से निहारते रहते हैं।

संस्कृत एवं हिन्दी के साहित्य में तो वर्षा-वर्णन का बाहुल्य है ही, लोकभाषाओं के साहित्य में भी वर्षा-ऋतु के दृश्य-वर्णन, विरह-वर्णन आदि बड़े स्वाभाविक और मार्मिक ढंग से किये गये हैं।

---

१. महाराष्ट्र-वाक्-संप्रदाय-कोश।
२. Introduction to the Proverbs of Malay.

लोक-साहित्य के अन्तर्गत वर्षा से सम्बद्ध दो प्रकार के गीत पाये जाते हैं। एक तो वे, जो विभिन्न अवसरों पर गाये जाते हैं और प्रकारान्तर से उनमें वर्षा की चर्चा रहती है। दूसरे वे, जो ऋतु-गीत हैं। इन ऋतु-गीतों में बहुत से ऐसे भी होते हैं, जिनमें वर्षा की चर्चा नहीं होती है।

## वर्षा-ऋतु के लोक-गीतों का विभाजन

वर्षा-ऋतु में गाये जानेवाले भोजपुरी लोक-गीतों को हम निम्नांकित भागों में विभाजित कर सकते हैं—

१. उधवा—यह एक प्रकार का विरह-गीत है, जो जेठ के अन्त में, वर्षा-ऋतु के आगमन के ठीक पूर्व गाया जाता है।

२. रोपनी—यह धान रोपते समय गाया जाता है। इसके अन्तर्गत बीआ[1] के गीत, गावा[2] के गीत तथा रोपनेवाली श्रमिक स्त्रियों के गीत भी सम्मिलित हैं।

३. बरसाती—यह वर्षा-ऋतु में धान रोपते एवं निराते समय गाया जाता है। हिंडोले पर, चक्की पर, या फुर्सत का समय बिताने के लिए इसे स्त्रियाँ प्रायः गाती हैं।

४. बारहमासा—इसमें वर्ष के बारह महीनों का वर्णन रहता है।

५. चतुर्मास—इसमें वर्षा-ऋतु के चारों महीनों का वर्णन रहता है। कहीं-कहीं इसे 'चौमासा' भी कहते हैं।

६. कजरी—यह लोक-संगीत है, जिसे देहाती गवैये मुख्यतः सावन में गाते हैं।

७. मलार—यह एक राग है, जिसे गवैये वर्षा में ही गाते हैं।

इनके अतिरिक्त सोहर, झूमर, जाँतसारी और निरगुन गीत भी हैं, जो वर्षा-ऋतु में भी गाये जाते हैं।

## उधवा-गीत

उधवा 'उद्धव' का अपभ्रंश प्रतीत होता है। जब उद्धव विरहिणी गोपियों के पास कृष्ण का संदेश लेकर गये थे, तब गोपियों ने अपनी विरह-व्यथा उद्धव के सम्मुख निवेदित की थी। संभवतः, उद्धव के प्रति विरह-निवेदन का प्रसंग होने के कारण ऐसे बरसाती विरह-गीतों का नाम 'उधवा' पड़ गया।

शाहजहाँ के राजत्व में सारन जिले में धरनीदास नाम के एक संत हुए थे, जिन्होंने 'उधवा-प्रसंग' नामक ग्रंथ की रचना उधवा-गीतों में की है।

जेठ के अन्त में जब आकाश में काले-काले बादल मँड़राने लगते हैं, तब उधवा गाया जाता है। उदाहरणस्वरूप एक लोकप्रिय उधवा नीचे दिया जाता है—

---

१. बीज से उगे छोटे-छोटे पौधे। २. वे उखाड़े हुए पौधे जो एक बार में कीचड़ में रोपे जाते हैं।

छनिले कन्हइआ[1] हमरो जोगी भइले, हमहुँ जोगिन होई जाँव। टेक।
जनि केहु बोअहुँ रे कुसुमिआ,[2] जनि केहू बोअहुँ कपास।
हम ना रङ्इवो लाली चुनरिआ, पिआ बिनु सगरे[3] अन्हार॥

सासु जी से कहिह गोड़ हम लागिले,[4] ननदो के भरि अँकवार।[5]
सामी जी से कहिह हम ना जीअब, करि लिहें दोसरो बिआह॥[6]

पीपर के पतवा जइसे डोलेले, ओइसे डोले जल के सेंवार।[7]
हम धनी डोललों रे बलमू[8] बिना, मोहि छाड़ि गइले बिदेस॥

आङन मोरा लेखे कुंजबन, घरवा में फेंकरे[9] सिआर।
सेजिआ पर लोटे काली नगिनिआ,[10] जाहि देखि जिअरा डेराय॥[11]

---

१. कृष्ण—कन्हैया लोकगीतों में प्रेमी के प्रतीक माने गये हैं।
२. बर्रे (तेलहन) के पौधे का फूल, जिसके रंग में साड़ियाँ रँगी जाती हैं।
३. सर्वत्र।

तुलना कीजिए—

४. सासू जी ने कहियौ, कूँजाँ, पगे अे लागणा।—श्री पारीक-लिखित 'राजस्थान के लोकगीत' (कलकत्ता, १९३८) पृ० ३४३।
५. छोटी-सी नणदूली ने म्हारी याद कहीज्यौ, ऐ उड़ती कूँजरियाँ।
—वही, पृ० ३४३।
६. परण्योड़े ने कहीज्यौ, कूँजाँ, जाभा जाभा ओलभा।
साथ आवै तो लेती आज्यो, अे उड़ती कूँजरियाँ॥
—वही, पृ० ३४४।
७. जइसे डगमग नलिनिक नीर।
तइसे डगमग धनि क सरीर॥—विद्यापति
८. बालम, वल्लभ, पति
९. रोना;

तुलना कीजिए—

१०. मंदिर सून पिउ अनतै बसा।
सेज नागिनि फिरि-फिरि डँसा॥—जायसी (पदमावत)
११. नव तरु किसलय मनहु कृसानू।
काल निसा सम निसि ससि भानू॥—मानस (तुलसी)

लामि लामि केसिआ रे भुँइआँ लोटे,[1] सूरत चन्द्र प्रकास।[2]
छतिआ भइली नवरङिआ,[3] सेहु तेजि गइले नंदलाल॥
—पूर्व चम्पारन ( बिहार की उत्तरी सीमा का एक जिला )

भावार्थ—छनती हूँ, मेरे कन्हैया जोगी हो गये। मैं भी जोगिन हो जाऊँगी।

कोई कुसुम मत बोवे, कोई कपास मत बोवे। मैं लाल चूनरी नहीं रँगाऊँगी। पिया के विना चतुर्दिक् अँधेरा (लगता) है।

मेरी सास से कहना, मैं पैरों पड़ती हूँ और ननद का आलिङ्गन करती हूँ। स्वामीजी से कहना, मैं नहीं जीऊँगी। वे दूसरा विवाह कर लेंगे।

पीपल का पत्ता जिस प्रकार डोलता है, उसी प्रकार जल का सेंवार।

मैं बालम के विना डोलती हूँ। वे मुझे छोड़कर विदेश चले गये।

मेरे लिए आँगन कुंजवन के समान है, घर में सियार रोता है। सेज पर काली नागिन लोटती है, जिसे देखकर हृदय त्रस्त हो उठता है।

लम्बे-लम्बे केश भूमि पर लोट रहे हैं, मेरी सूरत चाँद-सी है। उरोज नारंगी हो गये। उन्हें भी छोड़कर नंदलाल चले गये।

इतना निस्संकोच कहा जा सकता है कि यह मर्मस्पर्शी विरह-गीत किसी भी संवेदनशील हृदय को प्रभावित किये विना नहीं रह सकता है।

इस गीत में कन्हैया, पिया, स्वामी, बालम और नंदलाल प्रियतम के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अन्य लोक-गीतों में भी गोपाल, हरि, साँवलिया, मोहना, राजा, रसिया, छैला, बनिजारा, नायक, कुँअर, कंत, राजल मोरवा, प्रभु, प्यारे, परदेसिया, प्रान, बिदेसिया, वेदरदा, सैंया, गोसैंया आदि प्रेमबोधक शब्द पाये जाते हैं। ये अपने शाब्दिक अर्थों की अपेक्षा लाक्षणिक अर्थों में ही लोकगीतों में व्यवहृत होते हैं, जिनका ठीक ठीक मर्म तो उन्हें ही बोधगम्य है, जो लोक-भाषाओं की गहराई तक पहुँच सके हैं।

## रोपनी-गीत

भोजपुरीभाषी क्षेत्र के अधिकांश जिलों में धान की खेती होती है। चम्पारन के उत्तरी और पश्चिमी भाग में प्रधानतः धान की ही खेती होती है। अतः यहाँ रोपनी को

---

तुलना कीजिए—

१. सिरहुँत विसहर परे भुइ बारा।—जायसी (पदमावत)

२. एक तरफ है शमा रौशन, सानी तरफ है माहरू।
इस दोतरफी आग में, कैसे बचेगी आबरू॥—कोई उर्दू शायर

३. दारिउँ दाख फरे अनचाखे।
अस नारंग दहुँ का कहँ राखे॥—जायसी ( पदमावत )
पहिल बदरि सम पुन नवरंग।
दिन दिन अनंग अगोरल अंग॥—विद्यापति

बहुत महत्त्व दिया जाता है। यह एक मंगल-कार्य है, अतः इसके साथ गीत अनिवार्य है। इस समय स्त्री और पुरुष मनोरम स्वर में सरस गीत गाते रहते हैं, जिनकी स्वर-लहरी से दिशाएँ गूँज उठती हैं। आषाढ़ के महीने में जब वृष्टि होती है, कृषक अपने परिवार के लोगों और मजदूरों के साथ 'बिअराड़'[1] में 'बीआ' उखाड़ने में जुट जाता है। स्त्रियाँ गीत के साथ बीज के पौधे उखाड़ना आरंभ करती हैं।

गावा के गीत

वर्ष में प्रथम-प्रथम धान के पौधे को रोपते (गावा लगाते) समय भी गीत गाया जाता है, जो इस प्रकार है—

कथी[2] के महादेव हरवा[3] बनाइले, कथी के परिहथ[4] होय।
चनन[5] छेइ[6] महादेव हरवा बनाइले, धूपवन[7] परिहथ होय॥
गावा लेवे चलले ईसर महादेव, बरम्हा बिसुन सङ लाई।
गावा पूजे चलली सुभवा गउरी देई, सखी सब गहन लगाई॥[8]
जेतने पूजली गावा, ओतने असीस देली।
जुगे-जुगे जिअहुँ[9] भइआ हरवहवा,[10] जिन कादों[11] दिहले बनाय।
सोने फूल फूले[12] इहे चारो कोनवा, मोती झालर लटकेला बाल॥

—पश्चिम चंपारन

भावार्थ—महादेव किस वस्तु का हल बनाते हैं, किसका परिहथ (मुठवार) बनता है?
चंदन को काट-छील कर महादेव हल बनाते हैं, धूपकाठ का परिहथ बनता है।
ब्रह्मा-विष्णु को साथ लेकर गावा लेने ईश्वर महादेव चले।
सखियों को साथ लेकर गावा पूजने सोहागिन गौरी चलीं।
वह जितना ही गावा पूजती हैं, उतना ही आशीर्वाद देती हैं।
भैया हलवाहा जुग-जुग जिए, जिसने काँदों बनाया है।
यहाँ चारो कोने पर सोने का फूल खिले, मोती की झालर-से बाल लटकें।

---

१. वह खेत, जिसमें बीज उगाया जाता है।

२. किस चीज के; ३. हल; ४. हल का वह भाग, जिसको पकड़ कर जोतनेवाला हल को जमीन में दबाता है। ५. चन्दन; ६. काटकर; ७. धूपकाठ;

तुलना कीजिए—

८. एक जो भाँवरि भई बियाही।
अब दूसरे होइ गोहन जाही।—जायसी (पदमावत)

९. पुत्र कलत्र कुटुंब सब, जीयहिं कोटि बरीस।—जायसी (पदमावत)

१०. हलवाहा; ११. कर्दम, पंक, (धान रोपने योग्य पंकिल खेत)

तुलना कीजिए—

१२. पलुही नागमती कै बारी। सोने फूल फूलि फुलिवारी॥

—जायसी (पदमावत)

भारतीय किसान ब्रह्मा, विष्णु और महेश को भी किसान के ही रूप में देखता है। वे भी साधारण किसानों की भाँति रोपनी करते हैं। गीत में हलवाहे के प्रति आभार प्रकट किया है और खेतों में सोने के फूल खिलने और मोतियों के बाल लटकने की मनोहर कल्पना की है। इस भाव की एक कहावत भी है : 'जो खेती में मोती फरै। तबहुँ ना बनिया खेती करै।' लक्ष्मी तो वाणिज्य में बसती है, भले ही लोकमानस खेती को उत्तम और बनिज को मध्यम दर्जा दे।

## चढ़ंती के गीत

स्वर और लय की दृष्टि से रोपनी के गीत दो भागों में विभाजित हो सकते हैं। जो गीत उच्च एवं सुरीले स्वर में गाये जाते हैं, वे चढंती (आरोह) के और जो मंद एवं मधुर स्वर में गाये जाते हैं वे ओल्हानी (अवरोह) के गीत कहे जाते हैं। चढ़ंती के गीत अपराह्ण के पूर्वार्द्ध में और ओल्हानी के गीत परार्द्ध में गाये जाते हैं। पश्चिम चम्पारन में अनेक ऐसे चढ़ंती के गीत प्रचलित हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते। चढ़ंती के गीत प्रधानतः शृङ्गारिक हैं। ओल्हानी के गीतों में बहुत से करुण-गीत भी हैं। चढ़ंती के गीत इतने ऊँचे स्वर में गाये जाते हैं कि दूर तक सुनाई पड़ते हैं और इतने सरस होते हैं कि बटोही रास्ता चलना भूल जाता है। चढ़ंती के गीतों की तुलना रस से लबालब भरे प्याले से की जा सकती है। ये परिश्रम-जनित थकावट को दूर करने में सर्वथा समर्थ हैं। एक उदाहरण—

गोरी का एड़िअन सोभेला रे महावर, नएना रे सोभेला कजरा।<br>
रिमिए-झिमिए हो बरसि गइले देव,[1] उनव[2] के अइले कारी बदरा॥<br>
गोरी का छूटि गइले पाँव के महावर, नएना के दहेला कजरा।[3]<br>
चलवे चलवे रे भउजिआ ओही बगिआ, जहाँ रे फूले लाल केवला॥<br>
देवरू[4] तूरऽ नाहीं केवला के पात, बिछावऽ ना लाल पलङा।<br>
देवरू हम रउरा सोईं ना पलङिआ, ढारऽ ना देवर लाल पसवा॥[5]<br>
देवरू तूँहुँ हार जाङ्ह के जवनिआ, त हम हारी बाला जिअरा।<br>
देवरू हारि गइले जाङ्ह के जवनिआ, त हम हारिले बाला जिअरा॥

---

१. संस्कृत एवं पाली में भी वर्षा के अधिष्ठाता देवता के लिए 'देव' संज्ञा प्रयुक्त है।

तुलना कीजिए—

२. (क) ओनई घटा आई चहुँ फेरी।—जायसी (पद्मावत)

(ख) ऊँनमि विआई बादली, बरसन लगे अँगार।—कबीर

३. चुई-चुई काजर आँचर भींजा। —जायसी (पद्मावत)

४. 'देवरू' देवर के लिए प्रयुक्त होनेवाला आदर और प्रेम का बोधक शब्द है।

५. पासा (जुआ या चौपड़ खेलने की गोटी)

भावार्थ—गोरी की एँड़ियों में महावर सोह रही है, नयनों में काजल सोह रहा है।
रिमझिम-रिमझिम देव बरस गये, काली घटा उमड़ पड़ी।
गोरी के पाँव की महावर धुल गयी, नयनों के काजल भी धुल गये।
हे भावज ! चलोगी, उस बाग में चलोगी,जहाँ लाल कमल खिले हैं ?
हे देवर ! कमल का पत्ता तोड़ो और लाल पलंग बिछाओ।
हे देवर ! मैं और तुम पलंग पर सोयें। हे देवर ! लाल पासे को फेंको।
हे देवर ! तुम जाँघ की जवानी हार जाओ, तो मैं कोमल हृदय हार जाऊँ।
देवर अपनी जाँघ की जवानी हार गया और मैं अपना कोमल हृदय हार गई।

रोपनी का एक गीत जिसमें हास्य और शृङ्गार का अद्भुत मिश्रण है, नीचे दिया जाता है—

गोरी के मनवाँ हो भइले मतवाल, बलमुआ विनु रूप हरी।
खोजत रहनी बारी[१] भोरी[२], मिल गइली लरकोर[३]।
बसिआ[४] भात पर बेना[५] डोलवली, मनवा हरली मोर॥ गोरी०॥
सूतल रहलों लाली पलङिया, गइल बड़ेरी[६] डीठ[७]।
पिअवा के मन जुड़ाए[८] ना पावल, पीठि में कटलस उड़ीस[९]॥ गोरी०॥

इस गीत की विशेषता यह है कि गजल की भाँति इसका प्रत्येक पद और टेक स्वतंत्र है। इस पद्धति के गीत बहुत कम मिलते हैं। इस तरह के गीत राजस्थान में भी प्रचलित हैं।[१०] ऐसे गीतों में स्वतंत्र भावों का एक अजीब जमघट रहता है।

लोक-गीतों की दुनिया में साम्प्रदायिक भेद-भाव नहीं है। हिन्दू और मुसलमान—दोनों एक ही प्रकार के गीत मनोविनोद के लिए गाते हैं। निम्नाङ्कित गीत पर मुस्लिम संस्कृति की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

वाले बगिआ[११] हो लगवले बड़ी दूर, खबरिआ भेजे घड़ी के घड़ी।
वाले तड़िआ हो छेववले[१२] मजबूत, लबनिआ[१३] से गगरिआ[१४] हो भरी॥
वाले सोने के कचरवा[१५] तड़िआ ढरले, रुमलिआ से कचरवा हो ढापि।
वाले खँसिआ[१६] मुरुगवा के कबाब,[१७] न रोहुआ[१८] के चिखनवा[१९] हो बनी॥

---

१. किशोरी; २. भोली; ३. प्रसूति; ऐसी स्त्री जिसकी गोद में बच्चा हो, संतानवती; ४. बासी; ५. बाँस का पंखा (व्यजन); ६. घर के छप्पर के मध्य का ऊँचा भाग; ७. दृष्टि; ८. तृप्त करना; ९. खटमल; १०. श्री पारीककृत 'राजस्थान के लोकगीत' पृ० ३६४-६८। ११. ताड़ के पेड़ों का समूह; १२. ताड़ी को पेड़ से उतारना; १३. मिट्टी का लम्बा-सा छोटा बर्त्तन, जिसमें पेड़ से ताड़ी उतार कर रखा जाता है १४. घड़ा; १५. कटोरा; १६. बधिया किया हुआ बकरा; १७. लोहे की छड़ में पिरोकर आग पर पकाया गया मसालेदार मांस; । १८. रोहू सं० रोहित, एक प्रकार की मछली; १९. ताड़ी पीने के पूर्व खाई जानेवाली चरपरी चीजें।

## बरसाती

बरसाती के स्वर और लय में गाये जानेवाले गीतों में कुछ तो मूलतः बरसाती हैं और कुछ जाँतसारी के परिवर्तित रूप हैं। बहुत-सी ऐसी जाँतसारी (चक्की के गीत) हैं, जिनमें लयबोधक शब्दों को जोड़ देने से वे सफलतापूर्वक बरसाती की लय में गाई जा सकती हैं। गौर करने से जान पड़ता है कि रोपनी और सोहनी के गीत भी जाँतसारी की बिरादरी में बैठ सकते हैं, क्योंकि इन तीनों प्रकार के गीतों का एक ही उद्देश्य हो सकता है— श्रमजनित थकावट को दूर करना। श्रम को दूर करने की सामर्थ्य तो उद्दीपक गीतों में ही है, परन्तु बरसाती एवं जाँतसारी में ऐसे गीत प्रचुर मात्रा में हैं जो करुण हैं। ऐसे गीतों में सास द्वारा भोली-भाली पुत्रवधू की हत्या, पति द्वारा निर्दोष पत्नी पर अमानुषिक अत्याचार एवं उसकी हत्या, बहनोई द्वारा अपनी बहन की विदा माँगनेवाले साले की हत्या, जेठानी द्वारा देवरानी के भाई को ईर्ष्यावश विषपान कराना आदि अनेक अभिप्राय (मोटिव) मिलेंगे जो गायिकाओं एवं श्रोताओं को मर्माहत कर देते हैं, रुला देते हैं। राम और शिव के विवाह के भी दो-एक गीत ऐसे मिले हैं जो वर्षाऋतु में बरसाती के रूप में परिणत करके गाये जाते हैं।

कतिपय बरसाती ऐसी हैं, जिनमें ललनाओं के द्वारा परपुरुष के प्रलोभनपूर्ण अनुचित प्रस्ताव ठुकरा दिये गये हैं। यथा—

कँहँवा से अइले वेपारी हो,[1] कहाँ चलि गइले रे,
आरे केकरा ओसरवा[2] डेरवा गिरावेला रे की।
पुरुब से अइले वेपारी हो, पछिम चलि गइले रे,
सँवरो[3] ओसरवा डेरवा गिरावेला रे की।
निहुरि-निहुरि[4] सँवरो, अङना बहरली रे,
आरे बइठल वेपरिया नजरि देखि लावेला[5] रे की।
तोहरा के देबरू रे सँवरो, भरल बरधिआ[6] रे,
आरे आजु के सेजिअवा हमें सोए देहुँ रे की।
हमरो सेजिअवा वेपारी, बिखि[7] के घरिअवा[8] रे,
आरे जिनरे छुअइते तिनु मरिजाएब र की।
तोहरो सेजिअवा रे सँवरो, बिखि के घरिअवा रे,

---

१. व्यापारी; २. ओसारा; बरामदा; ३. साँवरी का आदरसूचक रूप, सं० श्यामा। शास्त्रकारों ने ऐसी स्त्री को श्यामा कहा है जिसका शरीर ग्रीष्म में शीतल एवं शीतकाल में गर्म रहता हो और रंग तपाये हुए सोने-सा हो। ४. कमर झुकाकर; ५. (नजर) लगाता है; ६. लदुआ बैल; ७. विष; ८. घड़ा सं० घटिका;

आरे ताहरो बलमुआ कइसे सोएला रे की।
हमरो बलमुआ बेपारी हो, गेडुला[1] इअरवा[2],
आरे सिरवाँ[3] बइठि बिखिआ हरेला रे की।

—पूर्व चम्पारन

भावार्थ—कहाँ से व्यापारी आया, कहाँ चला गया ?
किसके ओसारे में उसने डेरा डाला है ?
पूरब से व्यापारी आया, पश्चिम चला गया।
साँवरी के ओसारे में उसने डेरा डाला है।
झुक-झुक कर साँवरी आँगन बुहार रही है।
बैठा हुआ व्यापारी उस पर नजर गड़ा रहा है।
तुम्हें लदा हुआ बैल दूँगा, ऐ साँवरी !
आज की (रात अपनी) सेज पर, मुझे सोने दो।
मेरी सेज, ओ व्यापारी, विष की गागर है।
उसे जो छूता है, वह मर जाता है।
तुम्हारी सेज, ओ साँवरी, विष की गागर है।
तुम्हारा बालम उस पर कैसे सोता है ?
मेरे बालम का, ओ साँवरी, गारुड़ी मित्र है।
वह सिर के निकट बैठकर विष को हर लेता है।

वर्षा-ऋतु में धान के खेतों में 'साहनी' (निकौनी या निरौनी) करती हुई स्त्रियाँ गीत गाती हैं। 'सोहनी' का एक करुण गीत नीचे दिया जाता है। गीत का टेक है : 'ए राम हिअरा में देखो', जो प्रत्येक पंक्ति के साथ दोहराया जाता है।

खेलइत रहलों में सुपुली[4] मउनिआ।[5] ए राम हियरा में देखो
आइ गइले अवचक[6] निआर[7]।
बाबा दिन फेरले[8] राम भइआ दिन फेरले राम,

---

१. गारुड़ी, साँप का विष हरनेवाला;
तुलना कीजिए—
(क) यही विष गारुड़ि एक पए कान।—(विद्यापति)
(ख) तुम गारड़ू मैं विष का माता।—(कबीर)

२. यार; मित्र, ३. सिरहाना, सिर के निकट (सं० शिरःस्थान); ४. बाँस का बना छोटा सूप; ५. बाँस की बनी छोटी डाली; ६. अचानक; ७. ससुराल की बुलाहट; ८. दिन फेरना—ससुराल के निमंत्रण की निश्चित तिथि को अस्वीकृत करना;

भउजी निदरदी[१] धरले हो निआर।
केसिआ बढ़वलो जोगी धुँइआ[२] रमवले,
अपने चलले पर हो देस[३]।
अपने त जाले प्राभु[४] पुरुबि बनिजिआ[५],
हमें कुछुओ कहिओ ना जास।
तोहरा त बाड़े धनी नइहर के लोगवा
हमरा कोइअ सङे ना साथ।
तोहरा त बाड़े धनी भाई रे भतिजवा,
हमरा कोइअ सङे ना साथ।
गँवना के धोतिआ मलीनो नाहीं भइले,
भेजले मुअनिआ[६] के समाद[७]।

भावार्थ—मैं छपली-मौनी से खेल रही थी।
अचानक गौने ( द्विरागमन ) का दिन आ गया।
पिता ने दिन फेर दिया, भैया ने दिन फेर दिया।
निर्दय भावज ने दिन स्वीकार कर लिया।
जोगी (विरक्त पति) ने केश बढ़ाया, धूनी रमाई।
वह स्वयं परदेश चला।
मेरे प्रभु स्वयं तो पूर्व देश में व्यापार के लिए जा रहे हैं।
वे मुझ से कुछ भी नहीं कहे जाते हैं।
तुमको तो, हे धन्ये, नैहर के लोग हैं।
मेरे न तो कोई संग है, न साथ है।
तुम को तो, हे धन्ये, भाई-भतीजा है।
मेरे न तो कोई संग है, न साथ है।
गौने की साड़ी मलिन भी नहीं हुई।
(किसी ने परदेशी पति की) मृत्यु का संवाद भेजा।

उपर्युक्त गीत में बालवैधव्य का हृदयद्रावक कारुणिक चित्र है।

विद्यापति ने भी बरसाती-गीतों की रचना की है। उनकी एक बरसाती की निम्नलिखित प्रथम चार पंक्तियाँ लोक-गीतों से अनुप्राणित प्रतीत होती हैं—

मोरा रे अँगनमा चनन केरि गछिआ
ताहि चढ़ि कुररए काग रे।

१. हृदयहीन; २. धूनी; ३. पर हो देस=परदेस, 'हो' लयका टेक है; ४. प्रभु, स्वामी; ५. पूर्वी देश में व्यापार करने के लिए; ६. मरण; ७. संवाद;

सोने चोंच मढ़ाए देब बायस
जओं पिया आओत आज रे।[1]

हिंडोला-गीत

"प्राचीन भारत वर्षा का उपभोग नाना भावों से करता था। सबसे सुन्दर और मोहक विनोद झूला झूलना था। मेघ-निःस्वन और धारा की रिमझिम के साथ झूले का अद्भुत तुक मिलता है।"[2]

वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है कि वाटिका की सघन छाया में प्रेंखादोला या झूला लगाया जाता था। भोजपुरी के अनेक लोकगीतों में झूले या हिंडोले की चर्चा है। कुछ ऐसे गीत मिले हैं जिनसे व्यक्त होता है कि पिता विदेश जाते समय पुत्री के लिए चन्दन के वृक्ष में हिंडोला लगा देता है, देवर हिंडोला तैयार करके भावज से उस पर झूलने के लिए आग्रह करता है, सागर (तालाब) में दो खम्भे गाड़कर रेशम की डोरी से हिंडोला लगता है, जिस पर दो युवतियाँ, एक साँवरी और दूसरी गोरी[3] झूलती हैं।

एक 'सोहनी' के गीत में माता अपनी विषादमग्न बेटी से पूछती है, तुम्हें अन्न-धन की कमी है या तुम्हें हिंडोला नहीं है। ऐसे ही एक अन्य गीत में एक दुःखद घटना की भी चर्चा है, जहाँ झूले पर झूलने के अपराध में राणा का कुँअर अपनी पत्नी को जीवित ही खाई में गड़वा देता है। एक बारहमासा की प्रारम्भिक पंक्तियों में झूला निम्नलिखित रूप में चित्रित है—

असाढ़ मास बरसे बरसाती। घरे घरे सखी सब हिंडोला लगाती।
झूलि गावे मंगलबानी। सावन हे सखी मस्त दिवानी।

कबीर, तुलसी, धरनीदास आदि सन्तों ने हिंडोला राग में भी अपने पद रचे हैं।

---

१. श्री बेनीपुरी-संपादित 'विद्यापति की पदावली', (पटना, द्वितीय संस्करण पृ० २९१)

निम्नाङ्कित लोकगीतों से तुलना कीजिए—

(क) बाबा का दुअरा चननवा के गछिया।
ताहि चढ़ि कागा बोले रे, ए सावनवा भादो निअरइले ॥
—(जिला चम्पारन)

(ख) जाहु हमरा बचवा जनमिहे, महल उठे सोहर हो।
मोरे कागा! सोनवे मढ़इबो दुनो ठोर, रुपहिं दुनो डायन हो ॥
—(जिला बलिया)

२. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'प्राचीन भारत का कला-विलास', (पृ० १४६)

तुलना कीजिए—

३. जायसी की 'पदमावत' का नागमती साँवली एवं पदमावती गोरी थी; 'दुनौ सवति साम औ गोरी।'

इससे तो यही प्रतीत होता है कि हिंडोला के अपने स्वतन्त्र गीत रहे होंगे। पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'ग्राम-गीत' में हिंडोला के गीतों को पृथक् स्थान दिया है। उसमें अनेक प्रकार के बरसाती-गीत हैं। प्रायः सभी प्रान्तीय भाषाओं के लोकगीतों में हिंडोले की चर्चा मिलती है। किन्तु, अभी तक कोई ऐसा स्पष्ट प्रमाण नहीं मिला है जिससे यह पता चले कि भोजपुरी में हिंडोला के अलग गीत हैं। अब हिंडोला की प्रथा उठती जा रही है और स्त्रियाँ भादो की कृष्णाष्टमी और तीज के दिन ही हिंडोला पर झूलती हैं। परन्तु, ऐसे अवसर पर तो व्रत-सम्बन्धी गीत ही गाये जाते हैं।

## बारहमासा

बारहमासा में प्रायः वर्ष के बारह महीनों की प्रकृति की विरह-व्यथा तथा मिलन-सुख का वर्णन मिलता है। पर, ऐसे भी बारहमासा-गीत हैं, जिनमें रामकथा वर्णित है, यद्यपि वहाँ भी उपर्युक्त लक्षण घटित हैं। यद्यपि बारहमासा में बारह महीनों के चित्र रहते हैं, तथापि बारहमासा केवल चतुर्मासा में ही गाये जाते हैं। कुछ ऐसे सोहर और होली के गीत भी मिले हैं, जिनमें वर्ष के बारह महीनों का वर्णन है, परन्तु वे बारहमासा के नाम से अभिहित नहीं हैं।

प्रान्तीय भाषाओं[1] में बारहमासा-गीत कब से प्रचलित हुआ, कहना कठिन है। तेरहवीं शती के किसी अपभ्रंश कवि नेमिनाथ का बनाया हुआ बारहमासा हमें प्राप्त है। पन्द्रहवीं शती में विद्यापति ने लोक-छन्दों में बारहमासा-गीत रचे हैं।[2] सोलहवीं शती में रचित जायसी के 'पदमावत' में हम नागमती के विरह-वर्णन के प्रकरण में दोहे-चौपाई में बारह महीनों के वर्णन पाते हैं जो लोकभावनाओं के अत्यन्त निकट हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दी के अनेक परवर्ती कवियों ने बारहमासा-गीत रचे हैं।

कोई बारहमासा चैत मास से आरंभ होता है तो कोई जेठ, असाढ़ या कातिक से। भाव की दृष्टि से तो बारहमासा-गीतों में विशेष अंतर नहीं है, परन्तु लय की दृष्टि से उनमें बड़ी भिन्नता है। किसी-किसी बारहमासा के पद छोटे होते हैं, फलतः वे मंद स्वर में गाये जाते हैं। इसी प्रकार बड़े-बड़े पदवाले बारहमासा उदात्त स्वर में गाये जाते हैं। बारहमासा लम्बा होता है, अतः हम नीचे केवल एक ही उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—

---

१. अपरप्रान्तीय बारहमासा-गीतों को हम हारामणि (बँगला), पंजाबी गीत (संत राम) मैथिली लोकगीत (राकेश), रढियाली रात, तृतीय भाग (मेघाणी), राजस्थान के लोकगीत, उत्तरार्द्ध (पारीक) आदि में बड़ी आसानी से देख सकते हैं।

२. श्री बेनीपुरी-संपादित 'विद्यापति की पदावली' (पटना, द्वितीय संस्करण, पृ० २७१)

चइत हे सखी कुँअर बिदेस गइले, चंचल जिअरा उदास हे।[१]
रउरा त जाइले प्राभु देसे बिदेसे, हम धनी बारी बएस हे॥
बइसाख हे सखी बाँस कटाइले, रचि रचि बङला छवाइ हे।
अइसन बङला छवइह मोरे बालम, भँवरा गुँजरे सारी रात हे॥
जेठ हे सखी धूप धुपावन, आठो अङ चनन चढ़ाइ हे।
रउरा त सोई प्राभु लाली पलङिआ, हम धनी बेनिआ डोलाइ हे॥[२]
आसाढ़ हे सखी आस लगाइले,[३] आसो ना पूरले हमार हे।
इहो आस पूरवे राम कुबजी जोगिनिआ के, जिन कंथ रोके बिलमाइ हे॥[४]
सावन हे सखी बदरा सोहावन, रिमझिम बरसले मेघ हे।
हमहुँ त भींजिले राम टूटही मड़इआ, पिअवा भींजले परदेस हे॥[५]

---

तुलना कीजिए—

१. (क) चैतर महिने चित्त करे छे चाला रे वाला जी।
आ घेर पधारो मोहन मोरलीवाला मारा वाला जी॥
—श्री मेघाणीकृत 'रढ़ियाली रात', भाग त्रीजो (पृ० ८६)

(ख) चैत महीने चंपा मोरी, चंचल मोरया साह।
बिना बूठा हरिया हुसी, वाह रे साँझी वाह॥
—श्री पारीककृत 'राजस्थान के लोकगीत' (पृ० ५११)

२. (क) जेठ महिनाना ताप घणा ने घरमां नव रे' वाय।
हाथनो गूथेल बींझणो हुँ कोने ढोलुँ वाय॥
—वही (पृ० ६१)

(ख) जेठ महीने धूप पड़ैली, तावड़िये री ताह।
—श्री पारीककृत वही ( पृ० ५११)

३. असोजां में आसा लागी।—श्री पारीककृत वही (पृ० ५१०)

४. बिलमाना, रोकना;

तुलना कीजिए—

५. (क) सावन गनियर बह रिहा, मैं नूँ मिन्हीं मिन्हीं पवे कुआर।
ईशर पैर न डोबदी, मेरी नेबरड़ी भिज जा॥
—श्री संतराम, पंजाबी गीत (पृ० १७०-७१)

(ख) भादरवो भले गाजियो ने गाज्या बरसे मेह।
हुँ रे भींजाउँ घर आंगणे मारा पियु भींजाय परदेश॥
—श्री मेघाणी, वही (पृ० ६२)

भादों हे सखी अगर भेआवन, रिमि झिमि बरसले मेघ हे।
पिअवा घरे रहिते हे राम सेजिआ डँसइतो,[१] सोअती में अङिआ लगाइ हे॥

कुआर हे सखी कुँअरु बिदेसे गइले, देइ गइले जिउआ के जंजाल हे।
सिर भर सेनुर नएन काजल, देइ गइले जिउआ के जंजाल हे॥

कातिक हे सखी लागे पुरनमासी, सब सखी चले असनान हे।
सब सखी पेन्हे राम पाट[२] पीतम्मर, हम धनी लुगरी[३] पुरान हे॥

अगहन हे सखी सगरो[४] सोहावन, सब रँग फूटेला धान हे।
हँस चकेउआ[५] राम खेल करत होइहें, नदी सरजुग महाधार हे॥[६]

पूस हे सखी कुँअरु बिदेस गइले, चंचल जिअरा उदास हे।
पिअवा घरे रहिते राम धुँइआ रमइतों में, कटतीं में जड़वा के रात हे॥

माघ हे सखी बड़ जड़कलवा[७] हे, पिअउ चलले परदेस हे।
पिआ घरे रहिते राम चदरी ओढ़इते, कटतीं में जड़वा के रात हे॥

फागुन हे सखी आम मोजरि गइले, पिअउ भगल परदेस हे।
पिआ घरे रहिते राम केसिआ सँवरितों में, खेलतीं में रँगवा अबीर हे॥

भावार्थ—हे सखी, चैत में, कुँअर विदेश गये। मेरा चंचल चित्त उदास है। हे प्रभु! आप तो देश-विदेश जा रहे हैं, पर मैं धन्या अल्पवयस्का हूँ।

हे सखी, वैसाख में, बाँस कटवाती हूँ और बँगला छवाती हूँ। ऐसा बँगला छवाना, ऐ मेरे बालम, कि सारी रात भँवरा गूँजता रहे।

हे सखी, जेठ में, धूप ही धूप है। मैं आठो अङ्ग में चन्दन लगाती हूँ। हे प्रभु! आप लाल पलंग पर सोयें। मैं पंखा झलूँगी।

हे सखी, असाढ़ में, मैंने आशा लगाई थी, पर मेरी आशा पूरी नहीं हुई। आशाएँ तो कुब्जा जोगिन की ही पूरी हुईं, जिसने मेरे कान्त (पति) को रोक रखा है।

---

१. डँसाती, बिछाती; २. रेशम; ३. चिथड़ी साड़ी; ४. सर्वत्र; ५. चकवा, चक्रवाक;

तुलना कीजिए—

६. (क) सा चक्रवाकाऽङ्कितसैकतायास्त्रिस्रोतसः कान्तिमतीत्य तस्थौ।
—कालिदास (कुमारसंभवम्)

(ख) सर-बर खेलवए चकवा हास।
—श्री बेनीपुरी-संपादित 'विद्यापति-पदावली' (पृ० २७१)

७. शीत-काल;

हे सखी, सावन, का बादल सुहावना लगता है। मेघ रिमझिम-रिमझिम बरसता है। मैं तो अपनी टूटी हुई झोपड़ी में भींगती हूँ और पिया परदेश में भींगते हैं।

हे सखी, भादो, अति भयावन है। रिमझिम-रिमझिम मेघ बरस रहा है। यदि मेरे प्रियतम घर रहते तो मैं सेज सजाती और उन्हें आलिङ्गित करके सोती।

हे सखी, आश्विन में, कुँअर विदेश गये, मुझे जी का जंजाल दे गये। सिर का सिन्दूर और नयनों का काजल भार मालूम होता है, नहीं सुहाता है। वे जी का जंजाल दे गये।

हे सखी, कार्त्तिक में, पूर्णिमा के गंगास्नान का मेला लगता है। सभी सखियाँ स्नान के लिए जाती हैं। सभी सखियाँ पाट-पीताम्बर पहनती हैं और मैं धन्या पुरानी लुगरी पहनती हूँ।

हे सखी, अगहन में, सर्वत्र सुहावना लगता है। सभी रंगों के धान फूटते हैं। हंस-चकवे के जोड़े सरयू नदी की मध्य धारा में क्रीड़ा करते होंगे।

हे सखी, पूस में, कुँअर विदेश गये। मेरा चंचल चित्त उदास है। यदि पिया घर रहते, तो मैं अलाव लगाती। मैं (आग ताप कर) जाड़े की रात काट लेती।

हे सखी, माघ, बहुत जाड़े का समय है। मेरे पिया परदेश चले। यदि पिया घर पर रहते तो चादर ओढ़ाते। मैं जाड़े की रात काट लेती॥

हे सखी, फागुन में, आम में मंजरी लग गई है। यदि मेरे पिया घर पर रहते, तो मैं बालों को सँवारती, रंग और अबीर खेलती।

### चतुर्मासा (चौमासा)

चतुर्मासा गीत बारहमासा के ही समान होता है। अन्तर इतना ही है कि चतुर्मासा में वर्षा-ऋतु के चार महीनों का वर्णन रहता है, बारह महीनों का नहीं। चतुर्मासा का इतिहास भी उतना ही पुराना हो सकता है, जितना बारहमासा का। इसके प्रमाण में विद्यापति-रचित चतुर्मासा उपस्थित किया जा सकता है।[1]

### कजरी

कजरी या कजली एक प्रकार का लोकसंगीत है, जिसे मुख्यतः सावन में गवैये ही गाते हैं। अनेक गीतों में कन्याओं द्वारा 'कजरी खेलने' की चर्चा है। ठीक-ठीक कहा नहीं जा सकता कि कजरी किस प्रकार खेली जाती थी। संभवतः, इसका तात्पर्य हिंडोले पर झूलते हुए कजरी गाना है। भोजपुरीभाषी जिलों में मिर्जापुर ( उत्तर-प्रदेश ) ही एक ऐसा जिला है, जहाँ कजरियों का प्रचार पूर्ववत् है। अन्यत्र कजरियों का प्रचार कम हो गया है। एक कजरी नीचे दी जाती है—

---

१. श्री बेनीपुरी-संपादित 'विद्यापति-पदावली' (पुस्तक भंडार, पटना, द्वि० सं० पृ० २६३)

चलते चलवे रे सँवलिया, देखे कजरी के बहार।
मिरजापुर कजली के नइहर,[1] कासी में ससुरार।
सब सखिआ मिलि कजरी गावे, गावे सुधाकार॥

मलार

यह एक प्रकार का शास्त्रीय संगीत है जो पावस में गाया जाता है। देहातों में 'बरसाती' ही मलार के नाम से प्रचलित है। मलार लोक-संगीत के रूप में हमें अभी तक नहीं मिला है, फलतः इसका उदाहरण नहीं दिया जा रहा है।

## नवीन...और...उल्लेख्य

समीक्षक—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

मादिनी[2] कवि श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह, जो अब नया हस्ताक्षर नहीं है, की दूसरी काव्य-कृति है। इसमें कुल चालीस कविताएँ संगृहीत हैं। सर्वप्रथम 'मर्म' शीर्षक से कवि ने एक भूमिका प्रस्तुत की है। उसके बाद 'मधुसूक्त' शीर्षक के अन्तर्गत 'जीवन-दर्शन' उपशीर्षक एक सुन्दर कविता है, जिसमें कवि ने जीवन में 'प्रीति' को प्रतिष्ठा दी है। इस सम्बन्ध में कवि की मान्यता है कि प्रीति एक भावमयी चिरन्तन चेतना है, जो जड़-जंगम में, व्यष्टि-समष्टि में और जीवन-मरण में अभिव्यंजित है। तदनन्तर 'व्यक्ति और व्यक्तित्व' तथा 'व्यक्तित्व और व्याप्ति' दो शीर्षक हैं। प्रथम में उनतीस और द्वितीय में दस विभिन्न उपशीर्षकों की कविताएँ निबद्ध हैं। प्रथम शीर्षक की प्रथम कविता 'मादिनी' इस संग्रह का नाम है।

प्रस्तुत संग्रह की कविताएँ बहुवर्णी हैं। आशा और निराशा, वेदना और आनन्द, मरु और शाद्वल के बीच कवि का अभियान अप्रतिहत है। क्योंकि, प्रीति उसका व्यक्तित्व है और प्रीति ही उसकी व्याप्ति। मादिनी में उस प्रेरणा की सक्रियता स्वरित है, जो जीवन की सापेक्षता में प्रीति को प्रतिष्ठा देती है। मादिनी का कवि वस्तुतः प्रीति का कवि है, क्योंकि प्रीति मर्म-शक्ति बनकर उसके जीवन में प्रतिष्ठित है। कवि उस मधुर आनन्द के चिरन्तन प्लावन में प्रफुल्ल है, जिसको अनुभूति हरघड़ी मयस्सर नहीं होती—

"यह मधुर आनन्द का प्लावन चिरन्तन है,
किन्तु यह अनुभूति में आता किसी क्षण है;

१. मायका, पीहर;

२. रचयिता—श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह; प्रकाशक—मधुरिमा-साहित्य-प्रकाशन, मुजफ्फरपुर; मूल्य—दो रुपये मात्र।

रूप धर कर जब स्वयं मधु सामने आता,
और दिव्य प्रतीक भी कहता उसे मन है;
आ गई वह छवि, सदा जो विश्व ने हेरी।
आ गई जीवन-विपिन में मादिनी मेरी।"

श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह का यह संग्रह लोकप्रिय काव्य-कृतियों में पांक्तेय है। इसकी आभ्यंतर योजना नाटकीय तथा बाह्य-सज्जा रहस्यावेष्टित है।

दिग्वधू[1] श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह की तीसरी काव्य-कृति है। यह पाँच अंशों—उन्मेष, परिदर्शन, विमर्श, प्रसार और अनुगमन—में विभक्त, पन्द्रह कविताओं का संग्रह है। अन्तिम कविता 'दिग्वधू' प्रस्तुत संग्रह का शीर्षक है। कवि की 'दिग्वधू' छाया और रहस्यलोक की सुपरिचित निवासिनी है। यत्र-तत्र प्रगति और प्रयोग के संधिस्थल पर, भटक कर आ जाने के कारण कवि का स्वर अपरिचित हो गया है। 'परिदर्शन' अंश के 'एकांगी' तथा 'आत्मबंदो और सर्वोदय' शीर्षक कविताएँ इसके उदाहरण हैं। कवि की यह कदाचित् नव्य एषणा प्रमाणित होगी।

संग्रह के प्रत्येक अंश के प्रारंभ में, तत्तत् अंश में संगृहीत कविताओं के परिचय के लिए, कवि ने अपने 'दृष्टिकोण' उपस्थित किये हैं। कवि ने कविताओं के मंच-प्रोत्साहन के लिए, सफल सूत्रधार की भूमिका बड़ी निपुणता से निभाई है।

कवि, यद्यपि अँगरेजी और बँगला, और वैदिक कवियों की भी प्रभावातिशयता से अपने को बचाने में असमर्थ रहा है, तथापि स्वर उसका अपना है, मौलिक है। संगृहीत कविताओं में एक चमत्कार और है, जो बरबस पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर लेता है। यह चमत्कार है, शब्दों की साडम्बर नवीनता। अर्थ, भाव और विचार में भी यदि परम्परा की वीप्सा न रहती, तो यह काव्य-कृति सर्वथा नवीन होती। कहीं-कहीं कुछ शब्द कवि के सम्यग्ज्ञात नहीं हैं। अतः वे सुप्रयुक्त नहीं हो पाये हैं, 'पुष्पित वाक्' मात्र होकर रह गये हैं।

यदि प्रूफ-संशोधन में सावधानी बरती गई होती, तो पुस्तक के प्रकाशन में सुरुचि-शीलता का अभाव नहीं रहता। बहिरावरण, साधारण होते हुए भी, अनाकर्षक नहीं।

निशात[2] एक मुगलकालीन ऐतिहासिक नाटक है, जैसा कि नाटककार का संकेत है। इसमें तीन अंक हैं। 'निशात' कश्मीर के उस सुविख्यात उद्यान की संज्ञा है जिसे इतिहास ने 'पृथ्वी का स्वर्ग' के नाम से प्रतिष्ठित किया है। जाफर और मनव्वर एक ही प्रणय-वृन्त के दो पुष्प हैं। जाफर एक राजद्रोही कलाकार का पुत्र है और मनव्वर एक

---

१. रचयिता—श्री राजेन्द्रप्रसाद सिंह; प्रकाशक—मधुरिमा-साहित्य-प्रकाशन, मुजफ्फरपुर; मूल्य—सवा दो रुपये मात्र।

२. लेखक—श्री आशुतोष झा; प्रकाशक—भारती-प्रकाशन, पटना-३; मूल्य—दो रुपये मात्र।

नर्त्तकी। दोनों मिलकर अपने प्रणय और परिश्रम के रस से निशात को सजीव, सुसज्जित और सुरक्षित करने में सदा संलग्न हैं। कश्मीर के द्वितीय पार्थिव स्वर्ग 'शालीमार' उद्यान का स्वामी सम्राट् शाहजहाँ 'निशात' को भी अधिकृत करना चाहता है। विफल होने पर वह डल झील के जल स्रोत को, जो निशात का जीवन-स्रोत था, दूसरी दिशा में मोड़ देने की राजकीय आज्ञा देता है। निशात श्री-विहीन हो जाता है। यह देख जाफर और मनव्वर पीड़ा से पागल हो उठते हैं और एक रात चुपके से बाँध काट देते हैं। निशात पुनः रससिक्त हो उठता है, पर बांध काटने के अभियोग में दोनों को बन्दी बना लिया जाता है और उन्हें मृत्यु-दण्ड की राजाज्ञा दी जाती है। सम्राट् द्वारा उनकी अन्तिम इच्छा की पूर्त्ति के लिए आदेश दिये जाने पर, दोनों माँग करते हैं कि निशात को डल झील से जल मिलता रहे। सम्राट् अपने वचन की रक्षा करते हुए मृत्यु-दंड की आज्ञा भी रद्द करते हैं। इस प्रकार, सम्राट् और निशात की जय के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

वस्तु-विन्यास जैसा भी हो, शिल्प-विधि में जितनी भी त्रुटियाँ हों, लेकिन नाटक में रोचकता अवश्य है। पात्र गतिशील न होते हुए भी प्राणवन्त हैं। मुस्लिम पात्रों से संस्कृत-निष्ठ हिन्दी में संभाषण कराना नाटककार की एक सगर्व एषणा है, यद्यपि इसकी युक्ति-युक्तता विवादास्पद सिद्ध होगी। नाटककार ने प्रत्येक दृश्य के प्रारंभ में रंग-निर्देश दिये हैं; जिनसे नाटक के अभिनय में सहूलियत हो सकती है—अगर नाटक खेला जाय।

नाटक के कुछ शब्द-प्रयोग—जैसे, 'सरदारगण विदा होते हैं', 'यह कृपा मुझे आजन्म नहीं भूलेगी', 'हम सबों', 'उन सबों', 'अभी भी', 'अभी ही', 'दुरावस्था', 'राज्याज्ञा', 'राज्यद्रोह' आदि मुस्लिम पात्रों के द्वारा प्रयुक्त होने के कारण क्षम्य माने जा सकते हैं। प्रूफ की अक्षम्य अशुद्धियों के लिए नाटककार जिम्मेवार है या प्रेस ?

**मैंने ठीक ही तो कहा था**[१] श्री तिवारी जी की दस नातिदीर्घ कहानियों की संग्रह-पुस्तिका है। इनमें 'आवारा', 'परिचय' और 'मैंने ठीक ही तो कहा था'—सरसता, रोचकता, भावाभिव्यञ्जकता और तीव्रता की दृष्टि से संतोषजनक कही जायँगी। 'आवारा' एक आवारा औरत का शब्द-चित्र है। इसमें कथाकार ने बड़ी मार्मिकता से यह दरसाने का सफल प्रयास किया है कि एक शिक्षित, पर आवारा औरत किस प्रकार पुरुषों की दुर्बल सजनता से अनुचित लाभ उठाकर उनकी जेबें कतर लेती है। इस कहानी में करुण-हास्य का बड़ा ही कटु-मधु योग है। 'परिचय' तो साकार व्यथा की विकलता का ही प्रतिरूप है। इसमें एक पुत्र का भिखारिन की हालत में अपनी उस माँ से परिचय होता है जो उसे चार वर्ष की उम्र में अनाथालय के द्वार पर छोड़ आयी थी। अन्तिम कहानी 'मैंने ठीक ही तो कहा था' में, जो इस कहानी-संग्रह का नाम भी है, एक युवती की हस्तरेखा देखकर उसके 'प्रेम-विवाह' की भविष्यवाणी करनेवाला युवक ही अन्त में उस युवती से विवाहित होता है; वह अपनी संतानवती पत्नी को यदा-कदा 'मैंने ठीक ही तो कहा था' कहकर चिढ़ाया

१. लेखक—श्री साधुशरण तिवारी, बी० ए०; प्रकाशक—विजय-प्रकाशन, पटना-१; मूल्य—सवा रुपये मात्र।

करता है, जिससे पत्नी की तनी भौंहों के नीचे नाचती आँखों में अमर प्रेम का संगीत गूँज उठता है। आलोचित तीनों कथाओं में, भाषा-प्रवाह की दृष्टि से, लेखक प्रशंसार्ह है। संग्रह की कतिपय कहानियों की अतिशय भावुकता और कवित्वपूर्ण शैली पर बँगला का स्पष्ट प्रभाव है।

ईश्वर-दर्शन[1] 'गाड : कैन वी फाइण्ड हिम ?' नामक अँगरेजी-पुस्तक का भावानुवाद है। पुस्तक के मूल लेखक हैं रेवरेण्ड जान ए० ओ' ब्रेन। पुस्तक का विषय है धर्म, दर्शन, तर्क और विज्ञान की दृष्टि से ईश्वर के अस्तित्व का प्रतिष्ठापन। 'ईश्वर-दर्शन' जैसे विषय के विश्लेषण में सांख्य-योग की नीरसता नहीं आने पाई है, क्योंकि व्याख्या की शैली नयी रीति की उदाहरण-पद्धति पर आधृत है। अथच, इससे व्याख्या में सरलता और रोचकता आ गई है। ईश्वर के विषय में जिज्ञासा रखनेवाले आधुनिक व्यस्तमानसों के लिए यह पुस्तक लाभप्रद सिद्ध हो सकती है। पुस्तक का हिन्दी-रूपान्तरण सरल भाषा में हुआ है।

सेवा-कुंज[2] पुस्तिका, भारतीय राष्ट्र में एकता की भावना के प्रचार के उद्देश्य से प्रकाशित की गई है। इसमें स्वावलम्बन, सहयोग, परोपकार, मानवता, सेवा और त्याग की महिमा के प्रयास सोदाहरण उपस्थित किये गये हैं। इसमें यह भी दिग्दर्शित है कि धर्मान्धता और जाति-वैषम्य मानवता के उन्मूलक तत्त्व हैं।

पुस्तक मनोरंजक तथा शिक्षाप्रद है, पर उसका दृष्टिकोण आक्षेपात्मक प्रतीत होता है।

नन्दकथा[3] ग्रन्थ का आधार कवि अश्वघोष का 'सौन्दरनन्द काव्य' है। इसमें एक से बहत्तर पृष्ठ तक लेखक की अपनी भूमिका है, जो उसकी परिपक्व विद्वत्ता का पुष्ट प्रमाण है। उसके बाद पुनः एक से एक सौ बीस पृष्ठ, यानी ग्रन्थ-समाप्ति तक नन्दकथा वर्णित है, जो सौन्दरनन्द काव्य का भावानुवाद है। भूमिका-भाग में लेखक ने कवि अश्वघोष के संबंध में अनुसंधानपूर्ण विस्तृत अध्ययन उपस्थित किया है। कतिपय विवेचन जैसे, 'अश्वघोष : विस्मृत और उपेक्षित', 'अश्वघोष : जन्म और जीवन, जन्मस्थान, पितृपरिचय, समय, नाम, अध्ययन, बौद्ध धर्म में दीक्षा', 'अश्वघोष : राजाश्रय और कृतियाँ, कवि और लेखक, ग्रंथ-परिचय, अश्वघोष के समकालीन', 'अश्वघोष : कवि और काव्य, व्यक्तित्व और वर्णन-शैली', 'अश्वघोष : शारीरिक प्रकर्ष, श्रद्धा और शील', 'अश्वघोष और कालिदास', 'अश्वघोष के समय की राजनीतिक अवस्था' आदि स्तुत्य शोध और श्रम के फल हैं। विद्वान् लेखक की यह साधना-संभूत संपत्ति अश्वघोष के अनुसंधित्सुओं के लिए पथ-संबल का काम करेगी।

---

१. रूपान्तरकार—श्री कृष्णकुमार सिंह; प्रकाशक—विश्व-साहित्य-प्रचारक (सामाजिक तथा सांस्कृतिक शिक्षा-केन्द्र), शान्ति-कुटीर, वसन्त (सारन); मूल्य—ढाई रुपये मात्र।

२. लेखक—श्री सन्तराम, बी० ए०; प्रकाशक—विश्वेश्वरानन्द-प्रकाशन, होशियारपुर (पंजाब); मूल्य—डेढ़ रुपये मात्र।

३. लेखक और प्रकाशक—श्री रामबहादुर शर्मा; कदमकुआँ, पटना-३; मूल्य—पाँच रुपये मात्र।

अनुवाद में मौलिकता का आनंद मिलता है, किंतु मूलग्रंथ के भाव, वस्तु और वर्णन-शैली को क्षति नहीं पहुँची है, अश्वघोष के आशय की मर्यादा सर्वत्र अविकल है। नन्दकथा मनोरंजक और शिक्षाप्रद पुस्तक है। वर्णन के क्रम में धार्मिक उपदेश बड़े ही नैपुण्य के साथ समाविष्ट किये गये हैं, फलतः रोचकता सर्वत्र एकरूप है। नन्दकथा का सारांश इस प्रकार उपस्थित किया गया है—

"शुद्धोदन के सिद्धार्थ और नन्द दो पुत्र थे। दोनों कृतविद्य हुए। पर, उनके स्वभाव और जीवन के मार्ग भिन्न रहे। सिद्धार्थ विषय-भोग से दूर होकर बुद्ध हुए। पर नन्द भोग-विलास में लिप्त रहा। एक दिन बुद्ध भिक्षा के लिए नन्द के घर गये। उस समय नन्द की भार्या, सुन्दरी, शृङ्गार कर रही थी और नन्द दर्पण दिखला रहा था। बुद्ध की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। बुद्ध लौट चले। किसी रमणी ने बुद्ध को लौटते देखा। उसने नन्द से कहा। नन्द घबराया हुआ बुद्ध से मिलने गया। मार्ग में उसकी बुद्ध से भेंट हुई। बुद्ध ने उसे प्रव्रज्या दी। पर, नन्द का चित्त सुन्दरी में लगा रहा। उपदेश का उस पर कोई प्रभाव न पड़ा। बुद्ध नन्द को नन्दन-कानन में ले गये। नन्द अप्सराओं की ओर आकृष्ट हुआ। अप्सराएँ तपःप्राप्य हैं, ऐसा जान उसने तपस्या की! तपस्या से उसके दोष क्षीण हुए। उसे विराग हुआ। वह सुन्दरी और अप्सराओं को भूल गया। उसने योग-साधन किया। उसे सिद्धि मिली।" ग्रन्थ में यही कथा विस्तारित है। अनुवाद की भाषा बड़ी सरल है। शब्द मृदुल हैं और वाक्य छोटे। पुस्तक का मुद्रण निर्दोष और आवरण अभिराम है।

समीक्षक—श्री बजरंग वर्मा, एम्० ए०

उद्भ्रान्त[1] एक मनोविज्ञान-प्रधान सामाजिक उपन्यास है। इसकी सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसमें कौतूहल बनाये रखने की शक्ति है। हम इसे समय अतिवाहित करने का अच्छा साधन कह सकते हैं।

तिवारी के चरित्र में परिवर्त्तन लाकर लेखक ने संदेश देने का जो प्रयास किया है, वह महत्त्वपूर्ण है। चोरी, डकैती, ठगी आदि करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर आता है कि मेरे कामों से गरीबी दूर नहीं हो सकती। लोग भूखे, नंगे बराबर बने रहेंगे। इसे दूर करने के उपाय कुछ दूसरे ही होंगे। पीछे चलकर निरंजन पर उसका प्रभाव पड़ता है और वह भी सोचने लगता है कि सबकी भूख मिटाने का उपाय कुछ दूसरा ही होगा।

इस उपन्यास के पात्र जिस समाज से लिये गये हैं वह पाकिटमारों का दल है। लेखक ने प्रसंगवश इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर दिया है कि इस पेशे में परिस्थिति का शिकार होकर लोग आते हैं। तिवारी और निरंजन विभिन्न इसी प्रकार के पात्र हैं। दोनों संभ्रान्त कुल के युवक हैं, एक एम्० ए० तो दूसरा बी० ए० (आनर्स)। एक नारी की प्रवंचना से आहत होकर इस पेशे में आया है, तो दूसरा बेकारी का शिकार होकर। नारी

१, लेखक—श्री जैनकुमार; प्रकाशक—आनन्द प्रेस, भागलपुर—२; मूल्य—तीन रुपये मात्र।

की प्रवंचना से कोई पागल अथवा विरक्त हो सकता है, आत्महत्या भी कर सकता है, पाकिटमार कैसे हो जायगा ? यह बात पाठक को उलझन में डाल सकती है।

चरित्र-चित्रण और कथानक की दृष्टि से यह उपन्यास अति सफल नहीं है। तिवारी और निरंजन जैसे पात्रों को लेकर एक महान् उपन्यास की रचना हो सकती थी, किन्तु लेखक इन दो पात्रों का समुचित उपयोग नहीं कर पाया है। उपन्यास का सब से आकर्षक पात्र है लच्छो। एक करुण रागिनी की तरह आकर वह निरंजन के जीवन में उथल-पुथल मचा देती है। रूपसिंह, घसीटे और रग्घू भी कुछ स्थलों पर सजीव हैं। कथा का अन्त एक विचित्र अप्रत्याशित ढंग से कर दिया गया है। आवरण-चित्र, जिसे अमल सेन ने बनाया है, पर्याप्त आकर्षक है। प्रूफ की कुछ-एक भूलें रह गई हैं।

धरती और इंसान[1] पुस्तक श्री आयदे जी ने नृ-विज्ञान पर लिखी है। साहित्येतर विषयों पर हिन्दी-पाठकों को प्रामाणिक पठनीय पुस्तकें उपलब्ध नहीं होतीं। विभिन्न विषयों के महारथी जैसे इसकी आवश्यकता का अनुभव ही नहीं करते। सुयोग्य अनुवादकों का सरलतापूर्वक उपयोग कर सकनेवाले प्रकाशकों की बात न पूछिए ! हिन्दी में इस ढंग की जो पुस्तकें इधर धड़ाधड़ निकली हैं, उनमें नब्बे प्रतिशत का प्रतिमान अत्यन्त निम्न है। कारण, इनमें अधिकांश छात्रों को ध्यान में रखकर अर्थोपलब्धि की दृष्टि से लिखी गई प्रतीत होती हैं।

परन्तु, यह पुस्तक उस उद्देश्य से नहीं लिखी गई है। कदाचित् इसी कारण साहित्येतर विषयों पर लिखी गई सामान्य पुस्तकों से यह कुछ भिन्न है। विषय उन्होंने ऐसा चुना है जो हिन्दी में उपेक्षितप्राय है। हिंदी में नृ-विज्ञान पर कुछ ही पुस्तकें उँगली पर गिनी जाने योग्य हैं। उनमें भी कोई प्रामाणिक एवं पठनीय है, ऐसा मुझे नहीं मालूम ! आयदे जी विषय-चयन तथा उसके रोचक निर्वाह के लिए साधुवादार्ह हैं।

विषय के अनुरूप आयदे जी ने अपनी पुस्तक का जो नाम चुना है वह आकर्षक तो है ही, सार्थक भी है। पुस्तक में, जैसा उसके नाम से ही स्पष्ट है, धरती और इंसान दोनों के जन्म और विकास का वैज्ञानिक परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसमें शुष्कता की काफी गुंजाइश थी, किन्तु कुशल लेखक इतने सरल, सरस एवं सुन्दर ढंग से सारी बातें कह गया है कि पाठक कहीं भी विरसता का अनुभव नहीं करता।

धरती और इंसान दोनों के अतीत के इतिहास का उद्घाटन करने के लिए लेखक ने जिस चलती गद्य-शैली का आधार लिया है उसके लिए वह विशेष श्रेय का अधिकारी है। ऐसी पुस्तक, और 'गेटअप' तथा मुद्रण अतिसाधारण ! प्रूफ और 'सेटिंग' की भी अनेक भूलें हैं। किन्तु, बिना इन दोषों के हिन्दी में कितनी पुस्तकें छपती हैं जो यह छपती ?

---

१. लेखक—श्री शिवाजीराव आयदे; प्रकाशक—लोक-संस्कृति-मंडल, छपरा; मूल्य—डेढ़ रुपये मात्र।

समीक्षक—प्रो० श्री नलिनविलोचन शर्मा

आकलन[1] श्री रणधीर सिनहा के ऐसे आलोचनात्मक निबंधों का संग्रह है जो कदाचित् पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं हुए होंगे : इन्हें स्वीकार करने की उदारता हिंदी के कितने संपादक दिखायेंगे, इसका अनुमान करना कठिन नहीं है। रणधीर की निर्भीकता और दृढ़ता बहुधा नाटकीयता की सीमा तक पहुँच गई हैं, किंतु अपरिणत रूप में ही सही, ये विशेषताएँ उनमें हैं अवश्य।

हिंदी के लेखकों का शब्द-दारिद्र्य हिंदी के विद्वानों से छिपा नहीं है। 'हिंदी सरल हो' इसकी जो सीख बराबर दी जा रही है, उससे वे चाहें तो संतोष का अनुभव कर सकते हैं, पर उन्हें यह स्मरण रखना उचित है कि नाटककार शा और राजनीतिज्ञ चर्चिल तक की प्रसिद्धि इसलिए है कि अँगरेजी के लेखकों में वे बहुत अधिक शब्दों के प्रयोगकर्त्ता हैं, तुलसीदास की महत्ता का भी अंदाज उनके द्वारा प्रयुक्त शब्दों की संख्या से किया जा सकता है। रणधीर जी इस रहस्य से स्पष्टतः परिचित हैं। उन्होंने हिंदी के इस अभाव को दूर करने का मानों बीड़ा ही उठा लिया है।

रणधीर जी का शब्द-प्रयोगविषयक साहस ध्यान आकृष्ट करता है, यद्यपि यह साहस अधिकतर 'खोजीय', 'क्रिक्सोटीय' ही है—इन शब्दों के लिए रणधीर जी से क्षमा माँगने की जरूरत मैं नहीं समझता! विषय का दुर्दांत शत्रु सामने हो तो शब्द-करवाल लेकर उस पर टूट पड़िए, लेकिन पनचक्की को शत्रु मान कर शौर्य-प्रदर्शन करनेवाला हास्य का आलंबन ही सिद्ध होता है; यही रणधीर-शैली में, रणधीर जी की 'क्विक्सोटीयता' है, 'खोजीयता' है। लेकिन, अंडे के शाहजादे से वह 'कुँअर' ही अच्छा जिसकी तलवार जब उठ गई तो वार न सही उस्ताद की गर्दन पर, बकरे का झटका तो हो कर ही रहा, और आगे उसने क्या-क्या जौहर न दिखाये। रणधीर जी ने खूब पैंतरे दिखाये हैं, हम उनके करतब देखने के लिए इंतजार करते हैं।

रणधीर जी ने कितनों के बारे में क्या-क्या कहा है, आप देखें, मुझे तो उन्होंने जो कहा है उसे कैसे कहा है, इसीसे दिलचस्पी थी। हाँ, रणधीर जी, शिष्योचित पक्षपात के कारण मेरी प्रशंसा में, अत्युक्तियों के दोष के भागी भी बने हैं। इनके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ। उन्होंने साफगोई के साथ मेरे दोषों का भी उल्लेख किया है, जिनमें मुख्य यह है कि मैं शुक्ल जी की तरह सूर-तुलसी पर लिखने के बदले ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे पर भी लिख मारता हूँ—शब्द मेरे हैं, आशय, जैसा कि मैंने समझा, रणधीर जी का है। मैं उनकी इस सलाह की उपेक्षा कर उनपर इतनी पंक्तियाँ लिख गया; उनकी सलाह का इतना तो आदर करूँ कि अब ज्यादा न लिखूँ। यों, अपनी सफाई में मैं कह दूँ कि मैं, अपने समय और शक्ति की क्षति उठा कर भी, उनकी उपेक्षा करना अपने लिए अशक्य पाता हूँ जिन्हें दूसरे अक्सर ऐरे-गैरे-नत्थूखैरे कह कर पूछते तक नहीं, गोकि उनकी पूछ होनी चाहिए। मेरा यह सिद्धान्त न होता तो 'आकलन' पर ये पंक्तियाँ न लिखी जातीं।

---

१. लेखक—श्रीरणधीर सिनहा; प्रकाशक—श्रेष्ठ साहित्यागार, पटना; मूल्य—तीन रुपये मात्र।

विविधा[1], श्री राजेन्द्र किशोर और श्री रणधीर सिनहा द्वारा संपादित कविता-संकलन है इस प्रकार के संकलन-ग्रन्थों में वह महत्त्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है। संपादकद्वय किसी पूर्वाग्रह से ग्रस्त नहीं है। उन्होंने अपनी कुछ विवशताओं का उल्लेख किया है। हम नहीं जानते वे क्या हैं। शायद उनके कारण ही कुछेक ऐसी कविताएँ संकलन में स्थान पा गई हैं जिन्हें छायावाद-युग में भी साधारण कोटि की पत्रिकाओं में ही शरण मिलती।

विविधा की वास्तविक विशेषता वस्तुतः उसके संपादकों की उदार दृष्टि ही है, जिसे धुरी-प्रेमी आलोचक धुरीहीनता भी कह सकते हैं, क्योंकि इस संकलन में अवकाशप्राप्त कवियों से लेकर नाना वादों से संबद्ध नए कवि एक दूसरे से कंधे रगड़ने के लिए मुक्त छोड़ दिये गये हैं। और, मैं मानता हूँ कि हिंदी-साहित्य को धुरी—अधिनायकवाद, सैद्धांतिक सैन्यकरण—की आवश्यकता नहीं है; उसे राजेन्द्र और रणधीर जैसे अधिकाधिक धुरीहीन विविधता-प्रेमियों की अपेक्षा है। हमने 'साहित्य' के प्रस्तुत अंक में इस विषय पर संपादकीय के रूप में अपने विचार व्यक्त किये हैं, यहाँ उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। विविधा के संपादकों तथा प्रकाशकों के साहित्य-प्रेम का यह भी प्रमाण है कि उन्होंने दो रुपयों में दस रुपयों की सामग्री सुलभ बनाई है। संकलन की कीमत बहुत कम है, पर वह बहुमूल्य है।

धारा[2] श्री विनोदानंद ठाकुर की कविताओं का संग्रह है। उसका आवरण-पृष्ठ और उसमें संगृहीत गीत हटा दिये जायँ तो वह पीछे की ओर देखते हुए आगे चलने का, खतरे से खाली नहीं, किन्तु असफल भी नहीं, दृष्टांत माना जा सकता है। गीतों की कोटि वही है जो आवरण-चित्र की—असंगतियाँ ऐसी और इतनी हैं जिन्हें ढूँढ़ना नहीं पड़ता। किंतु ठाकुर जी ने गीतों के अतिरिक्त, उनसे भिन्न जो कविताएँ लिखी हैं उनमें अनियंत्रित भावुकता और अनावश्यक वाग्मिता हैं भी तो वे समंजस चित्रात्मकता, अप्रत्याशित नाटकीयता और शैली के वैदग्ध्य से स्तिमित और संतुलित हो जाती हैं।

'हम तो यहीं रहेंगे लहरों की ऊँची दीवार खड़ी कर
हमें सिंधु की छाती पर करना है—एक प्रयोग।'

में सिंधु का चित्र तनिक पुराना भले हो, किंतु दो शब्दों में कविता के भाव को संपुटित कर देनेवाला उपसंहार कविता को आकस्मिक नाटकीयता प्रदान कर देता है और उसे वस्तुतः कविता कहलाने की अधिकारिणी बनाता है। इन पंक्तियों की एक दूसरे के लिए अनिवार्य अन्विति कवि के पद्य-कौशल की परिचायिका है, जिसका प्रमाण हमें उसके गीतों में एकदम ही नहीं मिलता। संग्रह में 'एक प्रयोग' शीर्षक इस कविता से तुलनीय अनेक कविताएँ हैं, जिनके कारण मैं उसे उल्लेख-योग्य मानता हूँ। कवि ठाकुर के विकास पर आलोचक दृष्टि रखेंगे, ऐसा मेरा विश्वास है।

---

१. प्रकाशक—अशोक प्रेस, पटना-६; मूल्य—दो रुपये मात्र।
२. प्रकाशक—श्री अजन्ता प्रेस (निजी) लिमिटेड, पटना-४; मूल्य १।)

## 'भारतीय पञ्चाङ्ग'-सम्बन्धी एक पत्र ❀

प्रियवर,

साहित्य का अक्टूबर-अंक देखने का सौभाग्य मिला। अनुसंधान की यह पत्रिका उच्च शिक्षा के लिए बड़ी उपयोगी है। जैसी प्रशंसा सुनी थी वैसी ही पत्रिका है। इसके 'भारतीय पञ्चाङ्ग'-वाले लेख में जो परिश्रम प्रकट है उसकी बड़ी प्रशंसा करते ही बनता है। विद्वान् लेखक ने हिन्दी के साथ मलयलम और तमिल शब्द भी दिये हैं। मलयलम के कुछ शब्दों में अक्षर की अशुद्धि आ गयी है। तमिल-शब्दावली में एक शब्द छूटने से कुछ भ्रम हो गया है। हिन्दी के विद्वान् ने द्रविड़ भाषाओं के शब्द पञ्चाङ्गों से नकल करते हुए एक-आध भूल की हो; यह स्वाभाविक है। फिर भी, 'साहित्य' जैसी शोध-पत्रिका को सही मानकर उसका अंधानुकरण करनेवाले गलती कर बैठेंगे, इसी आशंका से शुद्ध शब्द लिख रहा हूँ। धृष्टता क्षमा हो। यदि स्वीकृत हुए तो अगले अंक में शुद्ध शब्दों की सूची निकालें।

| संस्कृत | हिन्दी | तमिल | मलयलम |
|---|---|---|---|
| मेष | चैत्र | चित्तिरै | मेटम् |
| वृष | वैशाख | वैकशी | (ए) इडवम् |
| मिथुन | ज्येष्ठ | आनी | मिथुनम् |
| कर्क | आषाढ़ | आटी | कर्कटकम् |
| सिंह | श्रावण | आवणी | चिङ्ङम् |
| कन्या | भाद्र | पुरट्टाशी | कन्नी |
| तुला | आश्विन | ऐप्पशी | तुलाम् |
| वृश्चिक | कार्त्तिक | कार्तिगै | वृश्चिकम् |
| धनु | अग्रहायण | मारगली | धनु |
| मकर | पौष | तै | मकरम् |
| कुंभ | माघ | माशी | कुंभम् |
| मीन | फाल्गुन | पंगुनी | मीनम् |

इनमें हिन्दी-शब्दों में मैंने, शायद, गलती की होगी, पर मलयलम-तमिल के शब्द सही हैं।

हिन्दी-विभाग
युनिवर्सिटी-कालेज, त्रिवेन्द्रम्
२१-२-'५६ ई०

आपका
एन्० ई० विश्वनाथ अय्यर
एम्० ए० (संस्कृत-हिन्दी)

❀ 'साहित्य' वर्ष ६, अंक ७, अक्टूबर, सन् १९५५ ई० (आश्विन, संवत् २०१२) में प्रकाशित डा० देवसहाय त्रिवेद का 'भारतीय पञ्चाङ्ग' शीर्षक लेख, जिसमें कुछ शब्दों के विषय में दक्षिण-भारत के एक हिन्दी-प्रेमी विद्वान् ने पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है। —सम्पादक

## संकलन

### हिन्दी का उत्तराधिकार

हिन्दी का एक उत्तराधिकार है जिसे हमें नहीं भूलना चाहिए। यह उत्तराधिकार है अँगरेजी का और यह अब भी बहुत जीवन्त है। हमारे शासक अँगरेजों की भाषा अँगरेजी हमारे साथ थी या रही है और अब जब कि अँगरेज हमें छोड़कर चले गये हैं, बहुत से लोग यह सोचते हुए दिखाई देते हैं कि अँगरेजी का भी हमें छोड़कर चले जाने का समय अब आ गया है। पर, अँगरेजी केवल अँगरेजों की बपौती नहीं थी। यह अब सच्चे अर्थों में विश्व-संस्कृति की अनूठी परिवाहिका बन गई है। हिन्दी या किसी अन्य भारतीय भाषा का भी सुधार-सँवार करते हुए अपनी बुद्धि के क्षितिज को विस्तृत करने के हेतु अँगरेजी आवश्यक है, क्योंकि अँगरेजी का अर्थ केवल अँगरेजों का साहित्य ही नहीं, सारे विश्व का साहित्य है। संसार के सभी राष्ट्रों के उच्चकोटि के ग्रन्थों का अनुवाद जितना अँगरेजी में हुआ है उतना अन्य किसी भी भाषा में नहीं और अँगरेजी की कुञ्जी अपने हाथ में रखकर हम सारे संसार के साहित्य तक पहुँच सकते हैं। फिर, अँगरेजी आज विश्व-कोषात्मक स्थिति पर पहुँच गई है। संस्कृत भी एक महान् भाषा है, यह सच है, यद्यपि बहुत से लोग यह सोचने के आदी हैं कि वह संसार की सबसे बड़ी भाषा है। यह केवल प्राचीन काल और मध्ययुग की ग्रीक, चीनी, लैटिन और अरबी-जैसी चार-पाँच बड़ी भाषाओं में से एक है। अँगरेजी एक आधुनिक भाषा है और अनेक शताब्दियों से उसका एक गतिशील और जीवन्त अस्तित्व रहा है, जबकि संस्कृत कम-से-कम पिछली कुछ शताब्दियों से बहुत-कुछ अगतिपूर्ण या स्थिर-सी रही है। संस्कृत की अपेक्षा अँगरेजी को एक बड़ी भारी सुविधा यह है कि वह आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत के शब्दों को अपने में मिला सकती है, किसी ऐसे दार्शनिक विचार को व्यक्त करने के लिए, जिसके लिए संस्कृत में कोई बहुत उपयुक्त शब्द है, पर अँगरेजी में जिसका कोई पर्यायवाची नहीं है, संस्कृत के उस शब्द को वह आत्मसात् कर सकती है। यह सुविधा अँगरेजी को वह स्वरूप प्रदान करती है जिसे हम विश्व-कोषात्मक स्वरूप कह सकते हैं। अँगरेजी के इस बड़े भारी महत्त्व का पूरा-पूरा ध्यान हिन्दी को रखना ही पड़ेगा। यह हिन्दी को किसी भी मात्रा में हानि नहीं पहुँचायगा, उसे 'जातिच्युत' नहीं करेगा। बँगला भाषा का आश्चर्यजनक विकास और बंगाली आत्मा का वह आधुनिकीकरण, जो उसके साहित्य में अभिव्यक्त है, उसके पिछले सौ वर्षों के अँगरेजी से निकट सम्पर्क का परिणाम है। हमारे सर्वश्रेष्ठ लेखक अँगरेजी के माध्यम से सारे संसार से भावों और विचारों का अनुदान लेने के लिए उत्सुक रहे हैं। किसी भाषा को आधुनिक रूप देने के लिए अपनी आत्मा या प्रवृत्ति को आधुनिक बनाना बहुत आवश्यक है, और अँगरेजी भाषा संसार के सभी स्थानों के लिए, मनुष्य की आत्मिक प्रवृत्ति को आधुनिक बनाने का बहुत शक्तिपूर्ण साधन है। आज की सभ्यता अँगरेजी द्वारा अपने को बहुत उपयुक्त रूप से व्यक्त कर सकती है। यह भाषा सुव्यवस्थित है और सभी जटिल विचारों को बड़ी स्पष्टता से व्यक्त कर सकती है। (इसमें अति

धार्मिक साहित्य भी है, पर उसे छोड़ देने पर) साधारणतया उसका वातावरण विचारयुक्त चिन्तन का है।

एक आधुनिक भारतीय भाषा को संस्कृत और अँगरेजी दोनों की ओर झुकना चाहिए। एक की ओर शब्दों के लिए, उनकी सामान्य अभिव्यक्ति शैली के लिए और अपनी संस्कृति की चिरन्तन महत्त्ववाली चीजों की सम्यक् सुरक्षा के लिए और दूसरी (अँगरेजी) की ओर वैज्ञानिक मनःस्थिति के लिए, जीवन के प्रति वस्तुवादी दृष्टिकोण के लिए तथा प्रकृति और मनुष्य के जीवन की स्थिति को उस रूप में, जिसमें कि वह आज वर्त्तमान है, जानने के लिए।

उपर्युक्त उत्तराधिकार हिन्दी के पास है। जो हिन्दी को प्रयोग में लाते हैं और जो उसे आधुनिक भारतीय संस्कृति की महत्त्वपूर्ण संवाहिका बनाना चाहते हैं, उन्हें इस स्थिति को अच्छी तरह समझना चाहिए। तभी वे इसके इतिहास को, उस रूप में जिसमें कि वह वास्तव में था, समझ सकते हैं और तभी वे इसे किसी अच्छे उपयोग में लगा सकते हैं।

—डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या

[ 'भारतीय साहित्य' (आगरा); जनवरी, १९५६ ई० ]

## उर्दू में लिखनेवालों की खामोशी

उर्दू की साहित्यिक दुनियाँ में जितना सन्नाटा इस समय पाया जाता है, उतना शायद ही कभी पाया गया हो। बड़े-बड़े उपन्यास और कहानी लिखनेवालों में कोई ऐसा नहीं जो नियमित रूप से लिख रहा हो और उनके बारे में भी यह बात किसी से छिपी हुई नहीं कि उन्होंने इधर जो कुछ लिखा है वह उस कोटि का नहीं जैसा वह पहले लिखते थे और खुद वह भी इधर कई महीनों से कुछ नहीं लिख रहे हैं। आलोचना की भी लगभग यही दशा है। कोई अपनी पिछली लिखी हुई चीजों में कुछ बढ़ा नहीं पा रहा है। कुछ चीजें कभी-कभी पत्रिकाओं में छपती हैं, किन्तु इनमें से अधिकतर रेडियो के लिए लिखी जाती हैं, जिनको बाद में थोड़े बहुत परिवर्त्तन के साथ छपा दिया जाता है। ये चीजें रेडियो-प्रोग्राम चलते रहने और पैसा कमाने का अवसर हाथ से न जाने देने के लिए लिखी जाती हैं और इनको साहित्यिक आलोचना में नहीं सम्मिलित किया जा सकता। कवियों की दशा और बुरी है और बड़े-बड़े कवियों में से दो एक कवियों का नाम लिया जा सकता है जो ठिकाने की कविताएँ लिख रहे हों। किसी की नई कविता महीनों तक कहीं नहीं प्रकाशित होती। मुशायरे अब भी होते हैं और शायद पहले से अधिक और बड़े पैमाने पर होते हैं, किन्तु इनमें बुलाये जानेवाले प्रसिद्ध कवि अपनी पुरानी कविताएँ पढ़ते हैं। दिल्ली में २६ जनवरी को गणतन्त्र-दिवस के अवसर पर हिन्दी और उर्दू के प्रसिद्ध कवियों का जो समारोह हुआ था, उसमें उर्दूवालों को यह देखकर अधिक दुःख हुआ कि उर्दू के अधिकतर कवियों ने अपनी पुरानी कविताएँ पढ़ीं। इनमें से कुछ कविताएँ तो चार-पाँच साल से भी अधिक पुरानी थीं।

नये लिखनेवालों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि उनमें से कुछ लोगों ने अच्छी चीजें लिखीं हैं, परन्तु इनकी लिखी हुई चीजों में उतनी परिपक्वता नहीं है कि साहित्य की उन्नति की बात करते समय उनका नाम लिया जा सके।

इस सम्बन्ध में यह बात विशेषकर कहने योग्य है कि यह सन्नाटा उस समय देखने में आ रहा है, जब दशा पहले से अच्छी हो चुकी है और लिखनेवालों को पहले से अधिक सुविधाएँ प्राप्त हो सकती हैं। यह हालत अगर आजादी के बाद के दिनों में पैदा हुई होती तो इसका कारण समझ में आ सकता था। देश के बँटवारे और विशेषकर पंजाब के बँटवारे से उर्दू पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। उर्दू के कई लिखनेवालों को, जो उर्दू के बहुत बड़े साहित्यिक केन्द्र लाहौर और पंजाब और सरहद के दूसरे शहरों में रहते थे, भारत आना पड़ा। यहाँ उन्हें नये सिरे से जीवन आरम्भ करने, रोजगार और ऐसी सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए संघर्ष करना पड़ा जिनमें रहकर वह लिखने-पढ़ने का काम जारी रख सकें। उनके आने से भारत में एक ओर लिखनेवालों की संख्या बढ़ गई; परन्तु दूसरी ओर अच्छे और बड़े प्रकाशकों की संख्या न होने के बराबर होकर रह गई। हैदराबाद, दिल्ली और बम्बई आदि से कई बड़े-बड़े प्रकाशक पाकिस्तान चले गये, फिर इसके साथ ही पाकिस्तान के प्रकाशकों ने एक तरह से भारत के उर्दू-लेखकों की पुस्तकें न छापने का एका-सा कर लिया और आजादी के कई वर्ष बाद तक किसी भी प्रसिद्ध भारतीय लेखक को कोई पुस्तक पाकिस्तान में नहीं छपी।

ये बड़े कठिन दिन थे और छोटे-बड़े लेखकों को आर्थिक चिन्ताएँ घेरे हुए थीं और अगर इस कठिन हालत में उर्दू के लेखक खामोश हो जाते तो कोई आश्चर्य की बात न होती, परन्तु ऐसा नहीं हुआ। उर्दू-लेखकों ने लिखा और बहुत-कुछ लिखा, अच्छे पाये की कहानियाँ, उपन्यास, कविताएँ सभी लिखी गईं; हिन्दू-मुस्लिम झगड़े, आजादी और फिर गाँधी जी की मृत्यु, ये वह मुख्य बातें थीं जिन पर छोटे-बड़े सभी लेखकों ने कुछ न कुछ अवश्य लिखा, छोटे-बड़े सब ही लेखकों की कलम में एक अजीब प्रकार का जोर पैदा हो गया था। यह दिन जितने कठिन थे, साहित्य के लिए उतने ही अनुकूल साबित हुए।

परन्तु, धीरे-धीरे यह जोश कम होता गया। धीरे-धीरे लोग खामोश होने लगे। शांति के बारे में लिखने पर जोर दिया तो कुछ उत्साह दिखाई दिया, किन्तु शीघ्र ही यह उत्साह समाप्त हो गया। फिर, कुछ समय बाद यह बहस छिड़ी कि साहित्य में ठहराव आ गया है। इस विषय में बहुत गर्मागर्म बातें हुईं, परन्तु इस बहस के समाप्त होते ही इधर दो-तीन वर्षों से साहित्य की दुनियाँ में सन्नाटे की-सी दशा होकर रह गई है।

—श्री मंजर सलीम

[ 'युगचेतना' (लखनऊ); मई, १९५६ ई० ]

## साहित्य, प्रोत्साहन और पुरस्कार

सत्ता हस्तान्तरित होते-होते, देश के स्वाधीन होते-होते साहित्य-क्षेत्र भी अप्रभावित न रह सका। लगा, मानो उस पर से भी एक आवरण-सा हटने लगा; साहित्य की परिमिति अब उन्मुक्त सी; आश्वस्त-सी ही नहीं हुई, उसे शासकीय रूप में भी महत्त्व प्राप्त हुआ, विभिन्न

रूपों में। न केवल हिन्दी-साहित्य को, अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य को भी केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों द्वारा विभिन्न रूपों में प्रोत्साहन प्रदान किये गये। स्वयं शासकीय प्रकाशन-विभागों द्वारा साहित्य के प्रकाशन-कार्य बड़े परिमाण में अपने हाथों लिया गया। केन्द्रीय और राज्यीय शासनों द्वारा साहित्य-क्षेत्र को प्रोत्साहन देने के विभिन्न प्रयास किये गये, किये जा रहे हैं—अकादमियों पुरस्कार-वितरणों, अनुदानों, समारोहों, प्रदर्शनों आदि रूपों में। हमें पुरस्कार-वितरणों, तथा आर्थिक अनुदानों के सम्बन्ध में विशेषतः निवेदन करना है—जहाँ तक अकादमी, समारोह अथवा प्रदर्शनी आदि का सम्बन्ध है इनका कार्य तो एक प्रेरणा, एक पृष्ठभूमि पर प्रस्तुत कर देना है, इनका सर्जनात्मक साहित्य से कुछ विशेष सम्बन्ध अपरोक्ष रूप में नहीं है। साहित्य-संस्थाओं के लिए दिये जानेवाले आर्थिक अनुदानों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही कुछ कहा जा सकता है। परन्तु, ग्रन्थों पर पुरस्कार-वितरण का विषय तो साहित्य की सर्जनात्मक प्रवृत्तियों से सीधा सम्बन्ध रखता है और पुरस्कारों का आधार भी प्रायः प्रतियोगिता जैसा है। फिर, जो ग्रन्थ केन्द्रीय और राज्यीय सरकारों के पास पुरस्कार-वृत्ति पर भेजे जाते हैं; उनमें से किन्हीं को पुरस्कार मिल जाता है—अन्य-अन्य ग्रन्थों का कोई प्रश्न कहीं भी नहीं उठता। साहित्य के मूल प्रयोजन कुछ और ही होते हैं। उनकी परिणति अथवा श्रेय पुरस्कार अथवा प्रतियोगिता पर मानना आधारतः अनौचित्यपूर्ण है। यह तो प्रत्यक्ष भी है कि पुरस्कार किन्हीं अंशों में प्रोत्साहन अथवा प्रेरणा की प्रतीति तो कराते हैं; मगर जहाँ तक साहित्य की शुद्ध सर्जनात्मक प्रवृत्ति का प्रश्न है, पुरस्कार न तो उसके प्रयोजन ही हैं और न श्रेय ही। उस पर भी पुरस्कार प्रदान करने की सारी पद्धति अपरिपक्व और विभिन्न प्रकार से त्रुटिपूर्ण भी है—यह कितने ही प्रत्यक्ष तथ्यों से स्पष्ट हो चुका है—यों पुरस्कारों के अभिप्रेत में किन्हीं अंशों तक अभिनन्दन की भावना भी सन्निहित होती है, किन्तु साहित्य पर पुरस्कार साहित्य की गरिमा, परिधि और उसके व्यापक लोकश्रेयस् को हीन और अशक्त बनानेवाला होने के साथ ही, साहित्य और साहित्यकार की प्रतिष्ठा के लिए भी आपत्तिजनक है। पुरस्कार द्वारा साहित्य के प्रचार और प्रोत्साहन की सारी परिकल्पना ही भ्रान्तिपूर्ण है। पुरस्कारों के सम्बन्ध में अब तक की वास्तविकता यह है कि विचित्र-विचित्र तथ्य हमारे सामने आ चुके हैं—जो पुस्तकें पुरस्कार-प्रतियोगिता में भेजी जाती हैं, उन्हीं में से कुछ को पुरस्कृत किया जाता है और ये 'पुरस्कृत-कुछ' भी क्या पक्ष और अस्वच्छता से मुक्त हो सका है?—इस सम्बन्ध में तो लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकारों ने अपने बड़े कटु अनुभव प्रकट किये हैं। जो पुस्तकें पुरस्कारों के लिए भेजी जाती हैं; उन्हीं पर शासन क्यों संतुष्ट हो लेता है? जब शासन ऐसी-कुछ भावना रखता है; उसके पास साधन है, क्षमता है; वह इतना भी अवश्य कर सकता है कि प्राप्त पुस्तकों तक ही सीमित न रहे और जो पुस्तकें प्राप्त नहीं होतीं; उनके लिए स्वयं भी सचेष्ट हो—व्यापकता और उदार दृष्टि पर। पहले तो पुरस्कारों द्वारा साहित्य के प्रोत्साहन, प्रचार, प्रसार की बात ही कहीं से भी नहीं जँचती। ऐसी मनःकल्पना बन कहाँ से गई? हमारे देश के साहित्यकारों की आर्थिक दरिद्रता पर?

हो सकता है कि पुरस्कारों से किन्हीं साहित्यकार को कुछ सहायता, कुछ आश्वस्तता प्राप्त हो, पर साहित्य-क्षेत्र के प्रचार और प्रसार की आधारभूत स्थिति में शायद ही कोई सुधार हो; अपितु लगता तो यह है कि कहीं ये पुरस्कार-राशियाँ साहित्य-क्षेत्र के प्रसार में अवरोध की-सी स्थिति उत्पन्न न करने लगें—यह स्थिति तो दिनानुदिन वैसे ही बढ़ती जा रही है। साहित्य के मूल चरण तो युग और लोक हैं और उनकी संसिद्धि ही साहित्य और साहित्यकार का वास्तविक श्रेयस् या पुरस्कार है।

—सम्पादकीय

[ 'अजन्ता' (हैदराबाद); जून, १९५६ ई० ]

## तत्-वाद्य : वीणा

वे तंतुयुक्त वाद्य, जिनके तंतुओं ( तार अथवा ताँत की तंत्रियों ) को नख, जवा, मिजराब अथवा घोड़े की कमान से रगड़कर बजाते हैं तथा जिनसे सात स्वर, बाईस श्रुति, इक्कीस मूर्च्छना, तान और अलंकार आदि सभी प्रकट होते हैं, 'तत् वाद्य' कहलाते हैं। श्री सी० विरुमलय शास्त्री ने अपनी पुस्तक 'दी म्यूजिक आफ एन्सियेंट इण्डिया' में लिखा है कि तंत्रियों से युक्त समस्त वाद्य ही 'वीणा' कहलाते हैं।

व्रज में वीणा या बीन शब्द का और भी व्यापक अर्थों में प्रयोग होता है। भैरव के नाम पर भीख माँगनेवाले भोपा जिस 'मसक' वाद्य को लेकर भैरों के नाम पर भिक्षा मांगते हैं, वह बीन कहलाती है। सँपेरों की महुवरि भी बीन कहलाती है, जिसका उल्लेख व्रज के लोकगीतों में आता है—'सँपेरा बनि बीन बजइयो, चलूँगी तेरे साथ।' यहाँ सँपेरा के संग बीन का संयोग होने से निश्चय ही बीन महुवरि के लिए प्रयुक्त हुई है।

वीणा का आविष्कार कब हुआ, यह कहना असम्भव है। किन्नरी वीणा को देखने से प्रतीत होता है कि यह वीणा उस काल में निर्मित हुई होगी, जब मनुष्यों को धातु के प्रयोग का पता भी न होगा, क्योंकि इसमें कहीं भी धातु का प्रयोग नहीं है। बाँस के दंड और तीन तूँबाओं से युक्त यह एक ताँत की वीणा अपने सरल रूप में उपलब्ध है। ऐसा प्रतीत होता है कि धातु के आविष्कार और प्रयोग ने एवं मनुष्य की कलाप्रियता ने इसमें समय-समय पर अनेक परिवर्त्तन कर नये-नये नामों तथा रूपों का निर्माण किया, जिनका वर्णन संगीत-ग्रन्थों में विभिन्न रूपों में मिलता है। वीणा का वर्णन लिखित रूप में वैदिक काल से मिलता है। तैत्तिरीय संहिता (६,१,४,१), काठक संहिता (३४,४) और मैत्रायिणी संहिता (३, ६, ८) में वीणा नाम का उल्लेख पाया जाता है। शतपथ ब्राह्मण (३, २, ४६; १३, १, ५, १) में शततंत्री वीणा का वर्णन आया है ( इसीको वाण भी कहा है)। सांख्यायन श्रौतसूत्र (१७, ३; १) जैमिनीय ब्राह्मण (१, ४२) में लिखा है कि महाव्रत के समय पर वीणा बजाई जाती थी। वाजसनेयी संहिता (३०, २०) तैत्तिरीय ब्राह्मण (३, ४, १५, १) और बृहदारण्यकोपनिषद् (२, ४, ८; ४, ५, ६) में लिखा है कि वीणावाद (वादक) की पुरुषमेध यज्ञ के समय बलि दी जाती थी। ऐतरेय आरण्यक (८, ६) में लिखा है कि वीणा कभी बालदार खाल से मढ़ी जाती थी तथा उसके भाग सिरा (सिर), उदर और अम्याण (साउण्डिङ्ग बोर्ड) तंत्री तथा वादन (जवा) होते थे।

उपर्युक्त विवरण को देखने से पता चलता है कि प्राचीन लंका में वीणा के कई रूप प्रचलित थे, जो पृथक्-पृथक् नामों से विख्यात थे। वे कितने थे, इसका ठीक पता नहीं चलता। 'संगीत-रत्नाकर' में वीणा के दस भेद माने गये हैं—(१) एकतंत्री, (२) नकुल, (३) त्रितंत्री, (४) चित्रा, (५) विपंची, (६) मत्तकोकिला, (७) आलापिनी, (८) किन्नरी, (९) पिनाकी और (१०) निसंक वीणा। यतिमान पादखंड में जहाँ वाद्यों का उल्लेख है, वीणा के निम्नांकित भेद माने जाते हैं—(१) अलावणी, (२) ब्रह्मवीणा, (३) किन्नरी, (४) लघुकिन्नरी, (५) विपंची (६) वल्लभी, (७) ज्येष्ठा, (८) चित्रा, (९) ज्योतिष्मती, (१०) जया, (११) हस्तिका, (१२) कुब्जिका, (१३) कुर्म्मी, (१४) शारंगी; (१५) परिवादिनी, (१६) त्रिशती, (१७) शतचंद्री, (१८) नकुल, (१९) ढँपरी या ढँसरी, (२०) औडम्बरी, (२१) पिनाकी, (२२) शुष्कल, (२३) वारणहस्त, (२४) रुद्र (२५) शरमंडल, (२६) कपिला, (२७) मधुमंदी, (२८) घोण, (२९) गदा इत्यादि।

हेमचन्द्र ने अपने कोश 'अभिधान-चिन्तामणि' में लिखा है कि पृथक्-पृथक् देवताओं की पृथक्-पृथक् वीणाएँ हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) शिव की वीणा का नाम मालवी, (२) सरस्वती वीणा का नाम कच्छपी, (२) नारद की महती, (४) गणों की प्रभावती, (५) विश्वावसु की बृहती, (६) तुम्बरु की कलावती और (७) चांडालों की कटोल वीणा का नाम चांडालिका। अन्य वीणाओं के नाम, घोषवती, विपंची, कंठकुणिका, वल्लकी, परिवादिनी आदि मिलते हैं। किसी-किसी ने तारों की संख्या के अनुसार वीणा के सात भेद माने है—(१) एक तार की एकतंत्री, (२) दो तार की नकुल, (३) तीन की अनवर्त्य, (४) चार की राजधानी, (५) पाँच की विपंची (६) छह की शार्वरी और (७) सात की परिवादिनी। 'संगीत-पारिजात' में वीणा के आठ भेद लिखे हैं—(१) रुद्रवीणा, (२) ब्रह्मवीणा, (३) तुंबरु, (४) स्वर-मंडल, (५) पिनाकी, (६) किन्नरी, (७) दंडी तथा (८) रावणहस्त वीणा।

इस प्रकार विविध आचार्यों ने वीणा के विविध भेदों का वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समय के साथ इन वीणाओं के नामों में भी परिवर्त्तन हुआ है। संभवतः, उनका रूप बदलने से नया नाम आ गया। विपंची आदि वीणाओं का उल्लेख महाकवि कालिदास आदि ने भी किया है। कच्छपी, तुंबरु (तानपूरा) सारंगी (रावणहस्तवीणा का संशोधित रूप) आदि का प्रचार आज भी अच्छा है। रुद्रवीणा का नाम तो वीणा के नाम से ही जान लिया जाता है। स्वरमंडल, किन्नरी तथा महती वीणा के दर्शन भारतीय संग्रहालय (कलकत्ता) में किये जा सकते हैं।

—श्री चुन्नीलाल 'शेष'

[ 'व्रजभारती' (मथुरा); वर्ष १२ अंक ४; फाल्गुन, सं० २०१२ ]

## साहित्य और सुरा

बहुतों का कहना है कि साहित्य के साथ सुरा और सुन्दरी का अभिन्न सम्बन्ध है। किन्तु, जो लोग विवेकशील हैं, वे अच्छी तरह जानते हैं कि यह एक थोथी दलील है। सिगरेट पीनेवाले भी तो यही तर्क देते हैं कि इससे उन्हें ध्यानावस्थित होने में सहायता मिलती

है। किन्तु, इस तर्क में कितना सार है यह किसी से छिपा नहीं है। 'गम गलत' करने के लिए मदिरा-सेवन और धूम-पान की जो दुहाई दी जाती है, उसे हम पराजयवादी साहित्यकार की पलायन-प्रवृत्ति मात्र मानते हैं।

मदिरा-पान से मनुष्य का कितना नैतिक पतन होता है। इस पर कोई उपदेशात्मक निबन्ध लिखना हमें अभीष्ट नहीं। यहाँ हम केवल उन दृश्यों की चर्चा करना चाहते हैं, जो नई दिल्ली के दूतावासों के समारोह में हमारे अनेक साहित्यकार सिर्फ एकमात्र सुरा-पान के उद्देश्य से जाते हैं। दो-चार बार तो कुछ महानुभाव नशे में बुत सड़कों और झाड़ियों में लोटते पाये गये हैं। विदेशियों के सामने अपना यह रूप रख कर हम अपने राष्ट्र की कितनी बदनामी कराते हैं, क्या यह बताने की आवश्यकता है? हमें सूचना मिली है कि एक-दो दूतालयों में तो साहित्यकारों की इस दयनीय दशा को देखकर मदिरा परोसने पर थोड़ा-बहुत प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। निस्संदेह, हमारे साहित्यिक बन्धुओं के लिए यह लज्जा की बात है। नैतिक पतन की बात छोड़ दीजिए। सबसे चिन्तनीय बात यह है कि मदिरा पान की लत के कारण साहित्यकारों को, जो ९९ प्रतिशत निर्धन होते हैं, विकट आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हमने देखा है कि जो मित्र कभी ५५५ की सिगरेट पिया करते थे, वे आज 'चार मीनार' पीते हैं—निश्चय ही इसलिए नहीं कि 'चार मीनार' अच्छी और कड़ी होती है, बल्कि मुख्यतः इसलिए कि वह सस्ती होती है।

यही बात मदिरा के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। कहाँ है साहित्यकारों के पास इतना धन कि वे श्रेष्ठ कोटि की सुरा का पान करें? वे सस्ती हानिप्रद मदिरा का सेवन करते हैं, और इस प्रकार उसके स्वास्थ्यघातक परिणामों को झेलते हैं। दिन-रात श्रम करके थोड़े-से पैसे वे कठिनाई से कमा पाते हैं और उन्हें ही क्षणिक उत्तेजना प्रदान करनेवाली वस्तु पर पानी की तरह बहा देने में कौन-सी बुद्धिमानी है? यों तो नैतिक दृष्टि से भारत-जैसे उष्ण देश में मदिरा-पान का किसी प्रकार भी समर्थन नहीं किया जा सकता, फिर भी धनवानों के लिए यह व्यसन कुछ सीमा तक क्षम्य माना जा सकता है। किन्तु, हमारे जो साहित्यकार पग-पग पर धनाभाव की चुभन का अनुभव करते हैं, वे मदिरा-पान में पैसे बहायें, यह न केवल अवांछनीय, अपितु एक अक्षम्य अपराध है। हमारा अपने साहित्यिक मित्रों से नम्र निवेदन है कि वे इस व्यसन का परित्याग करके अपने स्वास्थ्य और साहित्य दोनों की रक्षा करें।

—सम्पादकीय

[ साप्ताहिक 'हिन्दुस्तान' (दिल्ली); ३ जून, १९५६ ई० ]

## नई हिन्दी-कविता का उत्तरदायित्व

कविता के क्षेत्र में गतिरोध की बात अंशतः ही सत्य है। इससे पुष्ट केवल यही होता है कि आज का कवि जीवन के रस-कोषों तक नहीं पहुँच पाया है और युग की नई भौतिक चेतना को उच्च सूक्ष्म अध्यात्म-भूमि नहीं दे सका है। वह युग के अनुरूप सौंदर्यमय प्रतीकों की खोज में असफल रहा है और उसने जीवन की असंगतियों को ही अपनी भावगत सीमा मान

लिया है। इस चक्रव्यूह को उसे भेदना होगा। तभी वह स्वस्थ और प्रभावशाली काव्य की सृष्टि कर सकेगा। काव्य को जीवन की बहिर्मुखी प्रवृत्तियों से नहीं उसकी अंतरंगी अनुभूतियों और निष्ठाओं से संयुक्त करके ही हम कविता का गौरव लौटा सकेंगे। आवश्यकता है नई सौन्दर्य-दृष्टि के निर्माण की, जो युग की असंगतियों और विरोधाभासों को पार कर भाव और भाषा के नए संतुलन और जीवन के निर्माणात्मक रूप-रंग पर बल दे। पश्चिम में विज्ञान का आतंक है और भौतिक एवं राजनीतिक संस्कारों ने कविता का रस-शोषण किया है। पूर्वकाल में चक्र की गति ऊर्ध्वमुखी है और उसका आत्मविश्वास अभी तक सुरक्षित है। उसकी आध्यात्मिक तथा सौन्दर्यमुखी चेतना हतप्राण नहीं हुई है। युग करवटें बदल रहा है। हमारा मुख उगते हुए सूर्य की ओर है, अस्तंगत रवि की ओर नहीं। फिर, समझ में नहीं आता कि हम पश्चिम की विश्रृंखल, आत्मकुंठित और प्रयोगविजड़ित काव्य-प्रेरणाओं का अनुकरण एवं अनुसरण क्यों करें, अपने रसबोध के अनुरूप अपनी काव्य-परम्परा को ध्यान में रखते हुए स्वस्थ नवनिर्माण की ओर क्यों नहीं बढ़ें ? नया युग कवि के लिए एक बड़ी चुनौती है। उसे स्वीकार करके ही कवि को आगे बढ़ना होगा। वह जब विज्ञानमयी संस्कृति के आंतक से ऊपर उठकर नए जीवन की आस्था के सहारे प्रयोग की दलदल से बाहर निकल कर सबके हृदयस्पन्दन से अपना स्पन्द मिलायेगा, तभी नई भावना के कमल काव्य-सरोवर में खिलेंगे, तभी कवि और उसका काव्य मूर्धाभिषिक्त हो सकेगा। जब तक ऐसा सुयोग नहीं आता, तब तक प्रयोग प्रयोग ही रहेंगे, और उनकी रसात्मक भूमि उद्घाटित नहीं हो सकेगी। नए जीवन के प्रति आस्थावान् और कविता के भविष्य के सम्बन्ध से सुनिश्चित होकर ही हम नई भाव-भूमियों को प्राप्त कर सकेंगे। और, हमारी अभिव्यंजना शैलीमात्र न रहकर अनुभूतियों का पुंजीभूत-प्रकाश-काव्य बनकर सार्थक हो सकेगी। कविता यदि व्यक्तिगत सौन्दर्यानुभूति की सार्वभौमिक अभिव्यंजना है तो हमें उसकी पुनःप्रतिष्ठा के लिए इसी मार्ग से लौटना होगा। काव्य संपूर्ण दृष्टि है। वह युग की जागतिक अनुभूतियों और उपलब्धियों का समुच्चय है। विज्ञान काव्य का अंगी बनकर ही अपनी जड़ता से विमुक्त हो सकेगा। अध्यात्मनिष्ठ होने में ही उसकी सार्थकता है। मध्य-युग में काव्य जिस प्रकार धर्म और दर्शन को कर्मकाण्ड और तर्कवाद की भूमियों से ऊपर उठाकर सार्थक हुआ था, उसी प्रकार अर्वाचीन युग में वह विज्ञान को स्वप्नगर्भित करके ही सफल हो सकेगा। पश्चिम में विज्ञान और कविता का द्वन्द्व है। पूर्व की कविता इस द्वन्द्व से ऊपर उठकर तात्कालिक मानव को सार्वत्रिक, संपूर्ण और असंवृत अनुभूति को वाणी देने में प्रयत्नशील रही है। नई हिन्दी-कविता अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करके ही सफल हो सकती है।

—श्री रामरतन भटनागर

[ 'युगचेतना' (लखनऊ); मई, १९५६ ई० ]

## साहित्यकार और आजीविका

यह सर्वविदित है कि आधुनिक युग में साहित्यकार अपने साहित्य-सर्जन से जीविका प्राप्त नहीं कर सकता। इसके लिए उसे समाज में ऐसा कोई अतिरिक्त कार्य करना ही पड़ता है

जो आर्थिक दृष्टि से अधिक उपयोगी हो और तुरन्त फल दे सके। कवियों की बात तो जाने दीजिए; क्योंकि कविता तो इस युग में आकर एक अत्यन्त सीमित वर्ग की वस्तु रह गई है; उपन्यास-लेखक भी केवल उपन्यास लिखकर अपने परिवार का पोषण नहीं कर सकता। इस विषय में आज की आर्थिक परिस्थितियाँ उनसे भी अधिक शोचनीय हैं, जिनमें रह कर हमने मुक्ति-संग्राम चलाया था। हिन्दी में पुस्तकों का प्रकाशन बिक्री की दृष्टि से होता है। इसलिए, ललित-साहित्यों को सबसे अन्त में स्थान मिलता है। फिर, वर्ष भर में यदि एक उपन्यास की पाँच सौ प्रतियाँ भी बिक जाती हैं, तो उसे अप्रत्याशित रूप से अच्छी बिक्री माना जाता है। इन पाँच सौ प्रतियों से उपन्यासकार वर्ष में अधिक-से-अधिक पाँच सौ रुपये पा सकता है जो इसके और उसके परिवार के भरण-पोषण के लिए किसी भी प्रकार यथेष्ट नहीं है। फिर, यह सौभाग्य भी चोटी के कुछ ही लेखक पा सकते हैं, बाकी लेखकों की रचनाएँ तो केवल शोभा की ही वस्तु होती हैं। पत्र-पत्रिकाओं से जो पारिश्रमिक मिलता है, वह भी नगण्य ही माना जा सकता है। ऐसी परिस्थिति में साहित्यकार अपने को जीवित रखने के लिए विवश होकर दूसरा धंधा स्वीकार करता है। भारत के स्वतन्त्र होने के पहले वह अध्यापकी करता था, अनुवाद करता था, पत्रकारी करता था, क्लर्की करता था या फिर बाप-दादा की कमाई खाता था या चाटुकारी करता था। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर इन धंधों की सूची में सरकारी नौकरी भी जुड़ गई है। पर, सरकारी नौकरी के लिए ही इतना कुहराम क्यों मचा और अन्य व्यवसायों को लेकर क्यों नहीं, यह समझ में नहीं आता। यदि बंधन है तो दोनों में, यदि असाहित्यिकता है तो दोनों में, और यदि मन को धक्का पहुँचता है तो दोनों से। फिर, अध्यापकी तथा अन्य व्यापार करनेवाला साहित्यकार सरकारी नौकरी करनेवाले साहित्यकार को हीन भाव से क्यों देखे?

कहा जाता है कि सरकारी नौकरी में व्यक्ति अपना स्वामी नहीं रहता, वह दूसरों के बनाये नियमों पर चलने को बाध्य होता है और उसकी सक्रियता में कमी आती है, जिससे निराशा और व्यर्थता के भावों को बल मिलता है, पर यह बात तो ऐसे सभी कार्यों के साथ लागू होती है, जिनमें तत्काल आर्थिक उपलब्धि होती है। एक प्रकाशक के इशारों पर चलना, या एक सम्पादक अथवा फिल्म-प्रोड्यूसर के इशारे पर चलना भी उतना ही, बल्कि उससे भी अधिक, गर्हित कार्य हो सकता है। आज हमारे यहाँ की पुरस्कार-वितरण-समितियों में, टेक्स्ट-बुक-समितियों में, प्रकाशकों के दफ्तरों में, विश्वविद्यालय तथा अन्य शिक्षा-संस्थाओं में, जो धाँधलियाँ और अनाचार हो रहे हैं, वह क्या सब किसी सरकारी बंधन के कारण? क्या उनके कारण सच्चे साहित्यकार के मन में निराशा और व्यर्थता के भावों का जन्म नहीं होता? ये विषमताएँ तो हमारे सामाजिक जीवन की देन हैं और उनके बदलने या सुधारने का अधिकार और स्वत्व भी हमारे पास है। यदि हम उसका उपयोग न करें तो यह हमारा ही दोष है, जिसके लिए केवल सरकार की निन्दा करने से काम न चलेगा।

इसलिए, प्रश्न यह नहीं है कि सरकारी नौकरी बुरी है। बस, प्रश्न यह है कि हमारे

स्वतन्त्र देश में साहित्य-सर्जन को गुरु कर्त्तव्य माना जा सकेगा या नहीं ? यदि साहित्यकार के जीवन-यापन के लिए अन्य व्यापार अनिवार्य रहेंगे, तो साहित्य-सर्जन स्वयं गौण स्थान ग्रहण कर लेगा। हम किसी समस्या का समाधान खोजने से अधिक व्यक्तिगत राग-द्वेष को ही विस्तार और प्रसार देते हैं। इस कार्य से हम न साहित्य का स्तर ऊँचा उठा सकते हैं, न अपने साहित्यकार-बन्धु को उत्साह या प्रेरणा दे सकते हैं। अर्थ के लिए साहित्यकार की विवशता अच्छी है या बुरी, इस प्रश्न पर राग-द्वेषात्मक विवाद छेड़ने के स्थान पर यदि हम उसके प्रत्यक्ष फल और उनके कारणों की समीक्षा करें तो हमारे प्रयत्न सही दिशा पा सकते हैं।

—सम्पादकीय

[ 'साहित्यकार' (प्रयाग); जुलाई, १९५६ ई० ]

## आधुनिक मराठी-उपन्यास

मराठी-साहित्य में उपन्यास का जन्म सौ वर्ष पूर्व हुआ। यह कला उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में श्रीहरिनारायण आपटे की रचनाओं में सर्वोत्कृष्ट रीति से पल्लवित हुई। बीसवीं शती के चौथे दशक में मराठी-उपन्यासों की कला-धारा और भी विस्तृत हुई तथा उसकी कई शाखा-प्रशाखाएँ भी निकलीं। एन्० एस्० फड़के की कृतियों में यदि उपन्यास-कला में परिष्कार के साथ उसे बाह्य गरिमा या ऊपरी चमक-दमक मिली है तो खाण्डेकर और माडखोलकर की रचनाओं में आदर्शवादिता ही अधिक दिखलाई पड़ती है।

हृदय की गहराइयों में छिपी तीव्र अनुभूति पी० वाई देशपाण्डे के उपन्यासों में मुखरित हुई है। उपन्यास-कला की इस धारा को, सन् १९४० ई० के बाद के कुछ वर्षों में, विभावरी शिरुरकर ने मनःसामाजिक उपन्यास लिखकर, बोकिल ने हलकी-फुलकी व्यंग्य-विनोद की चीजें लिखकर, दीघे ने अपने उपन्यासों में ग्राम-जीवन का चित्रांकन करके, तथा अन्य उपन्यासकारों ने भी तरह-तरह से योगदान देकर विस्तृत किया। सन् १९४७ ई० में उपन्यासप्रेमियों के हृदय में ऐसी आशंका उत्पन्न होने लगी कि कहीं उपन्यास की शक्ति साहित्य के माध्यम के रूप में समाप्त तो नहीं हो गई है ? उदीयमान लेखकों की पीढ़ी लघु-कथा की ओर झुक पड़ी थी। वयोवृद्ध लेखकों ने या तो लेखन-कार्य बन्द कर अवकाश ग्रहण कर लिया था या फिर वे कथा-लेखन की अपनी पुरानी पद्धति का ही पिष्टपेषण कर रहे थे। इसके साथ ही उनकी मनोवृत्तियों में भी कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता था। लेकिन, कुछ ही दिनों बाद उपन्यास-कला का नये ढंग के साथ शृंगार किया गया। विभावरी शिरुरकर ने अपराधी जातियों के जीवन को आधार बनाकर 'बलि' नाम का उपन्यास लिखा। एस्० एन्० पेंडसे, जी० एन्० दाण्डेकर, वेंकटेश माडगूलकर आदि मराठी के प्रमुख उपन्यासकार हैं। माडगूलकर का 'बनगरवाडी' उपन्यास तो बहुत ही प्रसिद्ध है। ये सब कलाकार अत्यन्त सरल और सजीव शैली में सामाजिक और आर्थिक जीवन के जटिल ताने-बाने के बारे में लिखते हैं। प्रत्येक लेखक ने चरित्र-चित्रांकन करने के लिए विशिष्ट क्षेत्र चुन लिया है। तरह-तरह के चरित्र हों और लेखक क्षेत्रवाद की अति कर दे, तो वह फिर चाहे कोई भी

भाषा हो, रचना की 'अपील' सीमित हो जाती है। लेकिन, मराठी के उपन्यासकारों की यह विशेषता है कि सफलता के क्षणों में इनकी शैली की यथार्थवादिता तथा सजीवता और भी उभर आती है। दृश्य-वर्णन और चरित्रांकन में गहरी कवित्व शक्ति झलक उठती है।

वसन्त कानेटकर या मुक्तिबोध जैसे उपन्यासकारों ने अपनी रचनाओं में भिन्न प्रकार के प्रयोग किये हैं। मुक्तिबोध का उपन्यास 'वर' ग्राम जीवन के चित्रण से आरम्भ होता है। ग्राम-जीवन का वर्णन अत्यन्त आकर्षक और कोमल शैली में किया गया है। उनका दूसरा उपन्यास 'पंख' ऐसे अध्यापक की कथा है, जिसे अभिनय का बड़ा शौक है। मुक्तिबोध तीन भागों में 'शिप्रा' नामक उपन्यास लिख रहे हैं। अभी इसका एक ही भाग प्रकाशित हुआ है। लेकिन, पहले ही भाग में लेखक की नूतन दिशा की ओर बढ़ने की झलक दिखाई पड़ गई है और यह भी ज्ञात हो गया है कि उनमें अपने आपको भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करने और चरित्र-चित्रण करने की कितनी अधिक क्षमता है।

इन नई प्रवृत्तियों के अलावा पुराने उपन्यासों की शैली-परम्परा तो है ही। इनकी अपील का क्षेत्र बना-बनाया है, किन्तु कथा की रूप-रेखा पुरानी ही रहती है। इस प्रकार के सबसे अधिक उपन्यास एन्० एस्० फड़के ही लिखते हैं। वे हर उपन्यास में स्थान और पृष्ठभूमि तो बदल देते हैं, लेकिन उपन्यास की कथा मूलतः रोमांटिक प्रेम पर ही आधारित रहती है। माडखोलकर तक ने अपने नये उपन्यास 'स्वप्नान्तरिता' में इसी प्रकार की कथा लिखी है, जिसमें पलायनवाद और गुरुडम दोनों का चित्रण है।

—सुश्री कुसुमावती देशपाण्डे

[ 'आजकल' (दिल्ली); जुलाई, १९५६ ई॰ ]

## कुमारन् आशान : केरल का कीट्स

महाकवि श्री कुमारन् आशान का जन्म सन् १९१७ ई० में केरल के अंपलपुपा नामक गाँव में निर्धन 'तिय्य' परिवार में हुआ था। वह समय भारत की सांस्कृतिक तथा राजनीतिक जागृति का प्रारंभिक काल था। केरल में इस नवजागृति की शंखध्वनि की थी, श्री नारायण गुरुदेव ने। 'एक जाति, एक धर्म, एक देव', संक्षेप में यही उनका सिद्धान्त था। महाकवि कुमारन् आशान इनके आश्रम के अंतेवासी एवं अनुयायी थे।

आशान सवर्ण जाति के नहीं थे। जाति के नाम पर सवर्ण लोग जो-जो अत्याचार करते थे, उनके प्रति आशान के कुसुम-कोमल और नवनीत-मृदुल हृदय में विद्रोह की भावना जाग उठी। विष भरे विकृत समाज को एकदम भस्मीभूत कर चिरकाल से किये जानेवाले अत्याचारों का बदला लेने के लिए वे अपनी नुकीली कलम चलाने ही वाले थे कि अहिंसा के पुजारी, प्रेम के पुरोहित श्री नारायण गुरु देव ने उनको अपनी ओर आकृष्ट किया। गुरुदेव के उपदेश ने उनके विक्षुब्ध हृदय में शान्ति का शंख बजाया। 'समाज में समानता, 'वार' से नहीं, 'प्यार' से, स्थापित करना चाहिए'। इसी सिद्धांत को आशान ने अपनी कला का लक्ष्य माना। वे स्नेहगायक बन गये। वे एक ऐसे मानव-समाज की स्थापना की कल्पना करते थे, जहाँ मनुष्य-मनुष्य में कोई जातिगत ऊँच-नीच भाव न हो। आर्थिक असमानता की ओर उनका

ध्यान कभी नहीं जाता था। इसलिए, उन्हें धार्मिक सुधारक कह सकते हैं। अतएव, उनके साम्यवाद का भौतिकवाद की नास्तिक एवं हिंसात्मक वृत्तियों से कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका साम्यवाद तो अध्यात्मवाद के सार्वजनिक-समदर्शिता-सिद्धांत पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि आशान का साम्यवाद भारतीय दार्शनिक सिद्धांतों पर आधृत जीवों के एकात्मवाद पर अधिष्ठित है। 'वीणा पूवु' (गिरा फूल) में, जो उनका एक सुन्दरकाव्य है, इसका थोड़ा परिचय मिलता है।

संस्कृत तथा द्रविड़-वृत्तों में छोटे-छोटे खण्डकाव्य लिखने की परिपाटी पहले-पहल मलयलम में आशान ने ही शुरू कर दी थी। 'वीणा पूवु' ऐसे खण्डकाव्यों में एक है, जिसमें कवि ने मानव-जीवन की नश्वरता का वर्णन दार्शनिक दृष्टिकोण से किया है। 'प्ररोदनम्' उनका सर्वांगसुन्दर विलाप-काव्य है। यह काव्य आशान ने अपने इष्ट-मित्र के अकाल-वियोग पर लिखा था। वास्तव में उनकी कविता की अंतःस्थ चेतना स्नेह या प्रेम है जो संसार का सार है। 'दुरवस्था', 'चाण्डालभिक्षुकी', 'नलिनी', 'लीला' और 'करुणा' में इस प्रेम-भावना का क्रमिक विकास हम देख सकते हैं। 'दुरवस्था' और 'चाण्डालभिक्षुकी' में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर एवं रचनात्मक विश्लेषण हुआ है।

कवि की दो और रचनाएँ हैं—'चिन्ताविष्टयाय सीता' और 'करुणा'। 'चिन्ताविष्टयाय सीता' तो रामायण की परित्यक्ता सीता के विचारों का चित्रण है। इस काव्य में पौराणिक पात्रों के सम्बन्ध में आशान का दृष्टिकोण पूर्णतः व्यक्त हुआ है। 'करुणा' तो बौद्ध संसार में प्रसिद्ध उपगुप्त और वासवदत्ता के मिलन की करुण कहानी है। 'कुयिल', 'बुद्धचरितम्' आदि और छोटे-मोटे काव्यों की रचना भी आशान ने की है, लेकिन वे उतने प्रसिद्ध नहीं हैं, जितनी उनकी उपर्युक्त कृतियाँ हैं।

आशान केरल के प्रेमगायक थे। प्रेम ही उनकी रचनाओं की अन्तरात्मा है। इसीलिए ही उन्होंने कहा था—'विश्व के सभी चिरतन तत्त्वों का सार प्रेम है!' प्रेम ही उनके लिए सत्य था और सत्य में उन्होंने प्रपंच (जगत्सृष्टि) का सौन्दर्य देखा था। इस सौन्दर्य के दर्शन सहृदय पाठकों को उनकी रचनाओं से मिलते ही हैं। अधुना आशान 'केरल का कीट्स' कहे जाते हैं।

—श्री तो० प० वेरु

[ 'दक्षिण-भारती' (मद्रास); जुलाई, १९५६ ई० ]

भ्रम-संशोधन—गतांक में प्रकाशित संस्मरणात्मक लेख 'एकलिपि-विस्तार-परिषद्' (ले०—श्री नरेन्द्रनारायण सिंह) में कृपया निम्नलिखित भूलों को सुधार लेने का कष्ट करें—

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ७३ | ७ | कार्यो | आर्यों |
| ७७ | ८ | विविध | द्विविध |
| ५७ | २६ | भावशास्त्र | भाषाशास्त्र |

## सम्मेलन का इतिहास

ले०—स्व० श्री रामधारी प्रसाद जी

इस पुस्तक में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का इतिहास लिखा गया है। इसके लेखक साहित्य-सम्मेलन के अन्यतम संस्थापक भी थे। उन्होंने सम्मेलन के जन्म-काल से लेकर अपने जीवन के अन्त काल तक का सम्मेलन का इतिहास प्रामाणिक ढंग से लिख दिया है। उसके बाद से रजत-जयन्ती-महाधिवेशन तक का इतिहास प्राप्त और प्रकाशित विवरणों के के आधार पर लिख दिया गया है। इसके अतिरिक्त मूल लेखक ने बिहार की उस साहित्यिक परिस्थिति और प्रगति का भी विश्वसनीय विवरण दे दिया है जो सम्मेलन के जन्म से पहले बिहार की थी। इस प्रकार, इस पुस्तक से बीसवी सदी के गत पचास वर्षों के बिहार की साहित्यिक गतिविधि का दिग्दर्शन सुलभ हो जाता है। इसके आवरण-पृष्ठ पर सम्मेलन-भवन का भव्य चित्र मुद्रित है। पृष्ठ-सं० चौसठ। मूल्य एक रुपया। वी० पी० भेजने का नियम नहीं है। कृपया रजिस्ट्री डाकखर्च-सहित एक रुपया बारह आना भेजकर शीघ्र मँगा लीजिए; क्योंकि, गत महोत्सव के समय वितरित होने के कारण बहुत थोड़ी प्रतियाँ बच गई हैं।

प्राप्तिस्थान—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३

---

## बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के आगामी प्रकाशन

१. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड (सचित्र)—श्री राहुल जी
२. दोहा-कोश (बौद्ध-सिद्ध-सरहपा) सं०—श्री राहुलजी
३. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
४. प्राकृत भाषाओंका व्याकरण (पिशल-कृत, मूल जर्मन से अनूदित) डा० हेमचन्द्र जोशी
५. शिवपूजन-रचनावली—द्वितीय और तृतीय खण्ड—श्री शिवपूजन सहाय
६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा (नागपुर-वि० वि०)

---

## बिहार का साहित्यिक इतिहास

बिहार-राज्य के हिन्दी-प्रेमियों और साहित्यानुरागियों से नम्र निवेदन है कि 'बिहार का साहित्यिक इतिहास' नामक ग्रन्थ तैयार हो रहा है। उक्त ग्रन्थ में बिहार-राज्य के लेखकों, कवियों, सम्पादकों, पत्रकारों, प्रकाशकों, साहित्यिक संस्थाओं, पत्र-पत्रिकाओं आदि का विवरणात्मक परिचय रहेगा। जिन सज्जनों ने अपनी जीवनी न भेजी हो, वे कृपया शीघ्र भेज दें। साथ ही, विस्मृत और स्वर्गीय साहित्यिकों के विषय में जो कुछ जानते हों, स्पष्ट लिख भेजें। प्रेषित विवरण में निम्नलिखित बातें अवश्य हों—(१) उपनाम : उपाधि-सहित नाम, (२) पिता का नाम, (३) जन्म-स्थान का पूरा पता, (४) जन्मकाल, (५) शिक्षा (समय और संस्था), (६) प्रकाशित और अप्रकाशित रचनाओं का पूरा ब्योरा, (७) रचनाकाल, (८) गद्य-पद्य-रचनाओं के उत्कृष्ट उदाहरण, (९) विशेष उल्लेखनीय विषय, (१०) स्थायी और वर्त्तमान पता, (११) अपना नया चित्र।

—मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के चौबीस अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। अजिल्द २॥)
२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। सजिल्द,सवा तीन रुपये।
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मूल्य ६)
४. विश्वधर्म-दर्शन—श्रीसाँवलियाविहारीलाल वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
५. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। सौ चित्र, दो दुरंगे मानचित्र।
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा-डा० सत्यप्रकाश। मूल्य साढ़े आठ रुपये।
७. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री। मूल्य १४)
८. काव्यमीमांसा (राजशेखर-कृत) अनुवादक, पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत। मू० ६॥)
९. श्री रामावतार शर्मा-निबन्धावली—स्व० म० म० रामावतार शर्मा। मूल्य ८॥)
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद। मूल्य सवा सात रुपये।
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अलतेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये।
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी। मूल्य १३॥)
१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्री गोरखनाथ सिंह। मूल्य डेढ़ रुपया।
१४. रबर—श्री फूलदेव सहाय वर्मा। मूल्य साढ़े सात रुपये।
१५. ग्रह-नक्षत्र—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। मूल्य सवा चार रुपये।
१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरख प्रसाद। चित्र २१। मूल्य सवा चार रुपये।
१७. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, मूल्य तीन रुपये।
१८. ईख और चीनी—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
१९. शैवमत—अनुवादक, डा० यदुवंशी। मूल्य आठ रुपये।
२०. मध्यप्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन-डा० धीरेन्द्र वर्मा मू० ७)
२१. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (खण्ड २)डा० धर्मेन्द्र शास्त्री; मू० २॥)
२२. शिवपूजन-रचनावली—(भाग १) श्री शिवपूजनसहाय, मूल्य पौने नौ रुपये।
२३. राजनीति और दर्शन—डाक्टर विश्वनाथप्रसाद वर्मा। मूल्य चौदह रुपये।
२४. बौद्धधर्म-दर्शन—स्व० आचार्य नरेन्द्र देव। मूल्य सत्रह रुपये।

सभी पुस्तकों की मजबूत जिल्द पर कलापूर्ण रंगीन सचित्र आवरण है। हिन्दी-संसार के प्रमुख विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३ : मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-१

: अंक ३ } आश्विन, संवत् २०१३ :: अक्टूबर, १९५६ ई० { वार्षिक ७) : एक प्रति २)

सम्पादक

शिवपूजन सहाय :: नलिनविलोचन शर्मा

सहकारी

श्रीरञ्जन सूरिदेव

सम्पादकीय


| | | |
|---|---|---|
| श्री जीतेन्द्रचन्द्र चौधुरी | ९ | असमीया भाषा और उसका साहित्य |
| श्री व्रजविहारी शरण | २८ | भारतीय इतिहास में मगध का स्थान |
| श्री हरिहरानन्द आरण्य | ३४ | 'काल और दिक् या अवकाश' |
| डा० ईश्वर दत्त | ५३ | 'छात्री' शब्द की असाधुता |
| श्री सत्यदेव | ५७ | यूनान का जीवन |
| परिषद्-अनुसंधायक | ६६ | प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण |
| प्रो० दिनेश्वर प्रसाद | ७४ | फाउष्ट-कथा की परम्परा |
| समीक्षा | :: | संकलन |

## सम्मेलन के वर्त्तमान पदाधिकारी और कार्यकारिणी के सदस्य

सभापति—श्री मथुराप्रसाद दीक्षित; उपसभापति—श्री शिवपूजन सहाय, श्री देवव्रत शास्त्री; प्रधानमन्त्री—श्री व्रजशंकर वर्मा ('योगी'-सम्पादक); अर्थ-मन्त्री—श्री उमानाथ, एम्० ए० (उपनिर्देशक, जनसम्पर्क-विभाग); साहित्य-मन्त्री—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा, एम्० ए०; कला-मन्त्री—श्री व्रजनन्दन आजाद (संयुक्त संपादक, इण्डियन नेशन); प्रबन्ध-मन्त्री—श्री बालेश्वरप्रसाद अग्रवाल (प्रबन्धक, हिन्दुस्थान-समाचार-एजेंसी); पुस्तकालय-मन्त्री—कवि श्री रामदयाल पाण्डेय; प्रचार-मन्त्री—श्री रामनारायण शास्त्री; सदस्य—सर्वश्री पं० छविनाथ पाण्डेय; प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र, एम्० एल० सी०; रामवृक्ष बेनीपुरी ('नईधारा'-संपादक); मोहनलाल महतो 'वियोगी', एम्० एल० सी०; श्रीकान्त ठाकुर, विद्यालंकार ('आर्यावर्त्त'-संपादक); लक्ष्मीनारायण सुधांशु, एम्० एल० ए० ('अवन्तिका'-सम्पादक); गंगाशरण सिंह (संसद्-सदस्य); कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' (संसद्-सदस्य); मुकुटधारी सिंह ('युगान्तर'-संपादक, झरिया); राजेन्द्र शर्मा ('योगी'-प्रबन्ध-सम्पादक); बैजनाथ राय, एम्० ए० (जमशेदपुर); प्रो० केसरीकुमार सिंह, एम्० ए० (राँची-कालेज); उमाशंकर; प्रो० श्रीमती यमुना वर्मा (पटना-वीमेन्स-कालेज); प्रो० श्रीमती शारदा वेदालंकार (प्राचार्या, महिला-महाविद्यालय, भागलपुर)।

## 'साहित्य' के नवीन संस्करण की पूरी फाइल

'साहित्य' के विगत छह वर्षों के दुर्लभ अंकों की फाइलें प्राप्य हैं। विद्वानों ने शोध और साहित्यालोचन के क्षेत्रों में इन अंकों को प्रतिष्ठा का अधिकारी माना है। विद्यानुरागी सज्जन तथा स्थायी साहित्य के संग्रहालय एवं पुस्तकालय इन फाइलों को 'साहित्य'-व्यवस्थापक से पत्र-व्यवहार कर मँगा सकते हैं।

एक वर्ष के चार अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ७) रुपये। डाकखर्च अलग।
छह वर्ष के छब्बीस अंकों की पूरी फाइल का मूल्य ४२) रुपये। डाकखर्च अलग।

'साहित्य' के पुराने संस्करण की भी कुछ प्रतियाँ बच गई हैं, जिनमें से प्रत्येक प्रति का मूल्य आठ आना है। यद्यपि वे प्रतियाँ दुर्लभ हैं, तथापि साहित्य-प्रचार की दृष्टि से उनका वही मूल्य लिया जायगा, जो उस समय था। सम्मेलन ने पुराने या नये संस्करण के अंक का मूल्य इसलिए नहीं बढ़ाया है कि उसका उद्देश्य केवल साहित्य का अधिकाधिक प्रचार ही है। पुराने और नये संस्करण के अंक विश्वविद्यालयों के स्नातकोत्तरवर्ग के विद्यार्थियों और साहित्यिक शोध करनेवाले अनुसंधायकों के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण और लाभदायक हैं।

—'साहित्य'-व्यवस्थापक, सम्मेलन-भवन, पटना-३

वर्ष ७ : अंक ३ { आश्विन, संवत् २०१३ :: अक्टूबर, सन् १९५६ ई० { वार्षिक ७) : एक प्रति २)
सम्पादक—शिवपूजन सहाय : नलिनविलोचन शर्मा

## सम्पादकीय

### बिहार के दो वयोवृद्ध साहित्यसेवियों का देहावसान

गत भाद्र मास के अन्दर ही बिहार के दो पुराने और प्रतिष्ठित साहित्यसेवियों का स्वर्गारोहण बड़ा दुःखद हुआ है। पण्डित देवदत्त त्रिपाठी और बाबू व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' के निधन से प्राचीन साहित्यिक परम्परा के दो विशाल प्रतीक-स्तम्भ धराशायी हो गये।

त्रिपाठी जी श्रीकृष्णजन्माष्टमी के दूसरे दिन और व्रजवल्लभ जी भाद्रपूर्णिमा को स्वर्गवासी हुए। अन्तकाल में दोनों की आयु क्रमशः बयासी और चौरासी वर्ष की थी। दोनों शाहाबाद जिले के निवासी थे। साहित्य-सेवा में यावज्जीवन दोनों का मनोयोग रहा।

त्रिपाठीजी संस्कृत के तो लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् और कवि थे ही, हिन्दी के भी अनुरागी और लेखक थे। उनके स्वर्गीय पिता महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी भी हिन्दी के हितैषी और समर्थक थे। सौभाग्यवश हम दोनों से परिचित थे। संस्कृत के अनन्य उपासक होते हुए भी दोनों ने हिन्दी को सहर्ष राष्ट्रभाषा माना तथा हिन्दी बोलने और लिखने में भी सदा गर्व-गौरव का ही अनुभव किया। दोनों ही संस्कृतज्ञ पण्डित-समाज का ध्यान सदा हिन्दी के महत्त्व की ओर आकृष्ट करते रहे। हिन्दी-हित-साधन में दोनों कभी पश्चात्पद न हुए। दोनों की जीवनी हिन्दी में पुस्तकाकार प्रकाशित है। पण्डित देवदत्तजी ने अपने दीर्घ जीवन के अन्तिम दिनों तक जो डायरी लिखी है वह भी यदि छप सकती तो पिछले चालीस-पचास वर्षों की संचित साहित्यिक स्मृतियाँ सुरक्षित रह जातीं और इस प्रकार साहित्य की एक अमूल्य निधि का उद्धार भी हो जाता।

व्रजवल्लभजी का पेशा तो वकालत का था, पर साहित्य-सेवा उनकी पैतृक सम्पत्ति थी। उनके स्वर्गीय पिता स्वनामधन्य बाबू शिवनन्दन सहाय भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग पर्यन्त अनवरत साहित्य-समाराधन में संलग्न रहे। पिता की तरह पुत्र ने भी लगातार

पचीस वर्षों तक हिन्दी-साहित्य की स्तुत्य सेवा की। दोनों की सेवाएँ चिरस्मरणीय हैं। जीवनी-लेखन के क्षेत्र में पिता कीर्त्तिशाली हुए और पुत्र उपन्यासकार के रूप में। ऐसे आदर्श उदाहरण हिन्दी-जगत् में विरल हैं।

व्रजवल्लभ जी यशस्वी कथाकार के अतिरिक्त व्रजभाषा और खड़ी बोली के सुन्दर कवि भी थे। उनके सर्वप्रथम मौलिक उपन्यास 'सौन्दर्योपासक' ने बीसवीं सदी की दूसरी दशाब्दी के आरम्भ में ही बड़ी प्रसिद्धि पाई थी। उस समय उसकी गणना गद्य-काव्य में होने लगी थी। द्विवेदी-युग की 'सरस्वती' में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने उसकी आलोचना करते हुए उसे बँगला-भाषा के उस समय के उत्तम उपन्यासों का समकक्ष बतलाया था। उसके आरम्भ में जो 'प्रेम' शीर्षकवाली कविता है, वह भी 'सरस्वती' में छपी थी। फिर काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की मनोरंजन-पुस्तकमाला में प्रकाशित उनका 'लालचीन' नामक दूसरा उपन्यास भी हिन्दी के तत्कालीन ऐतिहासिक उपन्यासों में उच्च स्थान का अधिकारी माना गया था। उनका दूसरा ऐतिहासिक उपन्यास 'विस्मृत सम्राट्' और अन्तिम दार्शनिक उपन्यास 'विश्व-दर्शन' हिन्दी के कथा-साहित्य की शोभा बढ़ानेवाला है। उनके उपन्यासों की भाषा बड़ी ललित और सरस है। उनकी शैली हृदयग्राहिणी है। अपने युग के उपन्यासकारों में उन्होंने स्पृहणीय कीर्त्ति अर्जित की थी। हिन्दी-साहित्य के कथाकारों में उनका नाम निस्सन्देह अमर रहेगा।

व्रजवल्लभ जी ने ही सब से पहले 'मैथिल-कोकिल विद्यापति' नामक गवेषणापूर्ण पुस्तक लिखकर विद्यापति को पुष्ट प्रमाणों के आधार पर बिहार-निवासी महाकवि सिद्ध किया। उस समय वे आरा नगर की नागरी-प्रचारिणी सभा के मंत्री थे। उन्हीं के समय में 'सभा' ने भारत के देशी राज्यों, विश्व-विद्यालयों और सरकारी कचहरियों में देवनागरी लिपि और हिन्दी-भाषा के प्रचार का व्यापक आन्दोलन किया था। उन्होंने अपने जीवन-काल में ही अपना और अपने पिता का बृहत् ग्रन्थ-संग्रहालय आरा के बाल-हिन्दी-पुस्तकालय को समर्पित कर दिया था, जो उनकी इच्छा के अनुसार उनके पिता के स्मारक-रूप में वहाँ सुरक्षित है और साहित्यिक शोध-कार्य के लिए विशेष उपयोगी होने के कारण दर्शनीय है।

अँगरेजी और बँगला के कथा-साहित्य की कुछ पुस्तकों का हिन्दी-अनुवाद भी उन्होंने किया था। बँगला उनकी घरेलू भाषा के समान थी। उनका विवाह एक बंगीय परिवार में हुआ था। वे दीर्घजीवी पूर्वजों के वंशधर थे। उनके पितामह को हमने भी लगभग एक सौ दस वर्ष की आयु में देखा था और उनके वृद्ध पिता से तो अपने साहित्यिक जीवन के आरम्भ में प्रेरणा भी प्राप्त की थी। उनके ज्येष्ठ सुपुत्र श्री रमेशनन्दन सहाय, एम्० ए०, बी० एल्० ने भी वंश-परम्परागत साहित्य-सेवा का क्रम अच्छा चलाया था। 'माधुरी' आदि उच्चकोटि की पत्रिकाओं में उनकी अनेक रचनाएँ प्रकाशित होती रहीं। हम उन्हें सुयोग्य उत्तराधिकारी के रूप में देखना चाहते हैं।

—शिव०

## हिन्दी-साहित्यसेवियों के साहित्यिक पत्रों का संग्रह

गत वर्ष हमने 'साहित्य' द्वारा हिन्दी में पत्र-साहित्य की कमी की ओर हिन्दी-पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया था। प्रसंगवश यह भी लिखा था कि उर्दू में पत्र-साहित्य हिन्दी से बहुत अधिक है। यह देखकर किञ्चित् सन्तोष हुआ कि पूज्य आचार्य द्विवेदीजी के पत्रों का संग्रह श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद' ने इण्डियन प्रेस (प्रयाग) से प्रकाशित कराया था और अब श्रद्धेय पण्डित पद्मसिंह शर्मा के पत्रों का संग्रह पण्डित बनारसीदासजी चतुर्वेदी ने आत्माराम ऐण्ड सन्स (दिल्ली) से प्रकाशित कराया है। ऐसे पत्र-संग्रहों के प्रकाशन का क्रम यदि बराबर चलता रहा, तो आशा है कि हिन्दी का पत्र-साहित्य आगे आनेवाले कुछ ही वर्षों में बहुत सम्पन्न हो जायगा। हिन्दी-पाठकों में भी पत्र-साहित्य पढ़ने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ रही है। धीरे-धीरे प्रकाशक भी इसकी उपयोगिता समझने लगे हैं। लेखकों को भी साहित्यिक पत्रों के संग्रह में दत्तचित्त होना चाहिए।

सबसे पहले पुराने और स्वर्गीय साहित्य-महारथियों के पत्रों का संग्रह प्रकाशित होना आवश्यक है। किन्तु, उनका मिलना बड़ा कठिन है। तब भी सतत प्रयास से अनेक महान् साहित्यकारों के पत्र प्राप्त किये जा सकते हैं। पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादक इस काम में विशेष सहायक होंगे। पत्र-संग्रह का आन्दोलन होने से यदि कुछ साधारण पत्र भी एकत्र हो जायँगे, तो उनमें से महत्त्वपूर्ण पत्रों का चुनाव किया जा सकता है। इस दिशा में बराबर खोज होती रही, तो साहित्य-जगत् की बहुतेरी पुरानी घटनाएँ प्रकाश में आवेंगी और कितनी ही लुप्त बातों का उद्धार होगा।

प्रेमचन्दजी के पत्रों का संग्रह उर्दू में छपा है, पर हिन्दी में आज तक नहीं छपा, यह आश्चर्य और खेद की बात है। उनके पत्रों के संग्रह में विशेष कठिनाई होने की आशा नहीं है। उनके कितने ही पत्र कई पत्रिकाओं में छप भी चुके हैं। उनकी समस्त रचनाओं को प्रकाशित करनेवाले उनके सुपुत्रों को यह काम तत्परता से और अविलम्ब करना चाहिए। गणेशशंकरजी विद्यार्थी के पत्र भी खोज करने से अभी मिल सकते हैं। उनके पत्रों का संग्रह हिन्दी-साहित्य और भारतीय राजनीति के बहुत से रहस्यों का उद्घाटन करेगा। इसी प्रकार, साहित्यिक पत्रों के अतिरिक्त राजनीतिक पत्रों का संग्रह एवं प्रकाशन भी होना चाहिए। महान् और लोकसेवक व्यक्तियों के घरेलू पत्र भी बड़े मनोरंजक और शिक्षाप्रद होंगे। यदि ऐसे पत्रों का संग्रह किया जाय, तो बिखरी हुई विपुल साहित्य-सामग्री एकत्र हो सकती है। इस कार्य के पूरा होने से साहित्य का बड़ा भारी उपकार होगा। —शिव०

o

## प्रेम का भारतीय आदर्श

प्रेम का परिपूर्णतम आदर्श, कालिदास ने, भग्नमनोरथ पार्वती का वर्णन करते हुए, इन पंक्तियों में जिस उदात्तता के साथ प्रस्तुत किया है, उसकी समता शायद ही भारतीय साहित्य में कहीं अन्यत्र मिले :

"तथा समक्षं दहता मनोभवं पिनाकिना भग्नमनोरथा सती।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती प्रियेषु सौभाग्यफला हि चारुता॥
इयेष सा कर्त्तुमवन्ध्यरूपतां समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथाविधं प्रेम पतिश्च तादृशः॥"

अर्थ है—शिव ने देखते-देखते कामदेव को भस्म कर दिया। यह देख कर पार्वती की आशाएँ भग्न हो गईं। उन्होंने अंतःकरण से अपने सौंदर्य को कोसा, क्योंकि सौंदर्य तो वही है जो प्रिय को रिझा सके! उन्होंने अब निश्चय कर लिया कि वे समाधि लगा कर कठोर तपश्चर्या से अपने सौंदर्य को सार्थक बनायेंगी। सच भी है, भला और किस प्रकार से ये दोनों वस्तुएँ मिल सकती हैं—ऐसा प्रेम और ऐसा पति!

प्रेम का यही आदर्श कालिदास के काव्यों और नाटकों में संकेतित हुआ है, जिसका बड़ा ही मार्मिक विवेचन रवींद्रनाथ ठाकुर ने, अभिज्ञान-शाकुंतल के दुर्वासा-शाप-प्रसंग पर विचार करते हुए, दिया है। उनके शब्द हैं: "जिस प्रेम में कोई बंधन नहीं, कोई नियम नहीं, जो प्रेम अकस्मात् नर-नारी को मोहित करके संयम-दुर्ग के भग्न प्राचीर के ऊपर अपनी जय-पताका को गाड़ता है, उस प्रेम की शक्ति को कालिदास ने स्वीकार किया है, किन्तु उसके हाथ आत्म-समर्पण नहीं कर दिया। उन्होंने दिखलाया है कि जो असंयत प्रेम-संभोग हमलोगों को अपने अधिकार से प्रमत्त कर देता है, वह स्वामि-शाप से खंडित, ऋषि-शाप से प्रतिहत और दैव-रोष से भस्म हो जाता है।"

सामान्य रूप से संस्कृत-काव्य में, और विशेष रूप से हिंदी-काव्य में भी प्रेम का आदर्श रूप यही रहा है—यह दूसरी बात है कि उसके अन्य रूपों के वर्णन—चित्रण में भी यहाँ के कवियों को कहीं से, किसी से कुछ सीखना नहीं है। इन्हीं कवियों में से अनेक ने ऐसे प्रेम का भी वर्णन किया है जैसा आज के घोर यथार्थवादी गल्प-साहित्य में ही मिल सके तो सके, लेकिन आदर्श के स्तर पर सीता, पार्वती, सावित्री, राधा के प्रेम को ही इन्होंने भी प्रेम माना है। इनकी द्विधा का अनुमान तो इसी से किया जा सकता है कि प्रेम के उत्तान शृङ्गारिक रूप के आलंबन के लिए भी इन कवियों ने—खास कर हिंदी के प्राचीन कवियों ने—राधा या गोपियों को चुना है। ऐसा करने में उनकी मनोवृत्ति, उन्हीं के शब्दों में, यह है कि कविता हुई तो हुई, नहीं तो 'राधिका-कन्हाई को सुमिरन को बहानो' तो है ही।

संस्कृत या दूसरी भारतीय भाषाओं के प्राचीन साहित्य, या हिंदी के प्राचीन काव्य के रचयिताओं के प्रेम-वर्णन में जिस द्विधा की बात ऊपर कही गई है, उसका, मेरी दृष्टि में, बहुत महत्त्व है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में हम पाते हैं कि काम और मोक्ष का उल्लेख जैसे एक स्वर में हुआ है; जीवन में दोनों उपेय हैं, इसका स्पष्ट निर्देश है।

यही वह संस्कार है, जिसके फलस्वरूप हमारी संस्कृति और सभ्यता के स्वर्ण-युग में यदि धर्म और दर्शन का अधिकाधिक विकास हुआ, तो सबसे पहले भारत में ही काम को शास्त्र का विषय बनाया गया और उस शास्त्र के प्रणेता भी, अन्य शास्त्रों के प्रणेताओं की तरह ही, ऋषि-महर्षि ही हुए। जिन शिव-पार्वती के प्रेम का इतना उदात्त, आदर्श रूप

कालिदास ने वर्णित किया है, उन्हीं का, दम्पति के रूप में, संयोग-शृङ्गार चित्रित करते समय उन्हें तनिक भी झिझक नहीं मालूम पड़ती—यहाँ तक कि जीवन को इतने परिपूर्ण रूप में ग्रहण करने में अक्षम परवर्ती साहित्यकारों ने यह किंवदंती तक चलाई कि इस अपराध के कारण कालिदास को कुष्ठ हो गया था !

वास्तविकता यह है कि सांस्कृतिक ह्रास के साथ ही साथ काम-मोक्ष के, शृङ्गार-वैराग्य के इस संतुलन का निभना कठिन होता गया। एक तरफ तो संत-साधु नारीमात्र को नरक का द्वार बताने लगे और दूसरी तरफ कवि राधा-कृष्ण का नाम लेकर, उनके दिव्य प्रेम के वर्णन के बहाने, प्रेम के उस विकृत और निम्न स्तर के वर्णन में तल्लीन हो गये, जहाँ प्रेम को इस शब्द से अभिहित करना भी अनुचित है। दिलचस्प बात यह है कि जहाँ पहले काव्य में यह संतुलन पाया जाता था, वहाँ बाद में इसकी रक्षा भक्ति की रचनाओं में हो गई तो हो गई—उदाहरण के लिए सूर, घनानंद, रसखान आदि की रचनाएँ हैं, विशेष रूप से सूर की। यदि सूर राधा-कृष्ण की ऐसी रास-लीला और अन्य लीलाओं का वर्णन करते हैं, जिनकी कड़वी गोली आज बड़ी मुश्किल से भक्ति की चीनी में लपेट कर ही गले के नीचे उतारी जा सकती है, तो उन्हीं का यह जीवन-व्यापी, किन्तु अखंड, प्रेम भी है, जिसका आभास सूरदास उस प्रसंग में देते हैं जहाँ, कुरुक्षेत्र में, व्रज से आई राधा और द्वारका से समागत कृष्ण का सहसा, क्षण भर के लिए, मिलन होता है :

"राधा-माधव भेंट भई।<br>
राधा-माधव माधव-राधा कीट भृङ्ग गति ह्वै जु गई।<br>
माधव राधा के रँग राँचे राधा माधव रंग रई।<br>
माधव राधा प्रीति निरंतर रसना कहि न गई।<br>
विहँसि कह्यो हम तुम नहि अन्तर यह कहि व्रज पठई॥"

जिस संतुलन की बात हमने कही है, वह परवर्त्ती संस्कृत-काव्य में ही डांवाडोल होने लगा था। प्राकृत-अपभ्रंश-काव्य में प्रेम में काम का तत्त्व प्रधान होता गया और अपभ्रंश-हिन्दी की संधि-वेला में, बौद्ध सिद्धों की वाणियों में, प्रेम का वह गुह्य रूप देखने को मिलता है जो उनके और 'अंतःशाक्तों' तथा अन्य गुह्य संप्रदायों के द्वारा भरसक प्रच्छन्न ही रखा गया। वस्तुतः, युगनद्ध की साधना, शक्ति की उपासना या परवर्त्ती गुह्य संप्रदायों की साधना-पद्धतियों में पुरुष और नारी के सम्बन्ध का लौकिक-सांकेतिक जो भी रूप था, वह प्रेम-वर्णन के सिलसिले में विचारणीय है भी नहीं।

हिंदी-काव्य के जिस आदि-युग को हम वीर-गाथा का युग कहते आये हैं, उसमें फिर कुछ-कुछ प्रेम का काम-मोक्ष के तत्त्वों से संतुलित रूप देखने को मिलता है। पृथ्वीराज संयुक्ता का हरण करता है, उसके साथ विलास का जीवन व्यतीत करता है, किन्तु कर्त्तव्य की पुकार होने पर वह युद्ध में प्राणोत्सर्ग करता है और संयुक्ता असंख्य राजपूत-रमणियों के साथ उस जौहर-व्रत का पालन करती है, जिसकी तरह की कोई चीज संसार के इतिहास में नहीं मिलती। चंद बरदाई ने इन सभी स्थितियों का एक समान विस्तार और मनोयोग

से वर्णन किया है और हम प्रायः पहली और अन्तिम बार हिंदी-काव्य में प्रेम का वह उदात्त रूप देख पाते हैं जो भारतीय आदर्श के सर्वथा अनुरूप है।

विद्यापति इस संतुलन का निर्वाह नहीं कर पाते—और उन्हें, चैतन्य का प्रमाण-पत्र रहने के बावजूद, अनेक नवीन आलोचकों से केवल शृङ्गारिक कवि के रूप में ही मान्यता प्राप्त हो सकी है। भक्ति-काल के कबीर एकमात्र माता के स्नेह को ही निःस्वार्थ मानते हैं, अन्यथा नारीमात्र के प्रति उनकी अश्रद्धा है, वह बहन हो या पुत्री या पत्नी। उनका तो साफ कहना है :

"फूला-फूला फिरे जगत में रे मन कैसा नाता रे।
माता कहै यह पुत्र हमारा, बहिन कहै बिर मेरा।
कहै भाई यह भुजा हमारी नारि कहै नर मेरा।
पेट पकरि कै माता रोवे बाँह पकरि कै भाई॥
लपटि-झपटि कै तिरिया रोवै हंस अकेला जाई।
जब लग जीवै माता रोवै बहिन रोवै दस मासा।
तेरह दिन तक तिरिया रोवै फेर करै घर बासा॥"

अवश्य ही, तेरह दिनों तक रोने के बाद फिर घर बसा लेने वाली यह पत्नी, पत्नीत्व की उस परम्परा या प्रथा में नहीं आती जिसका हम उल्लेख करते आये हैं! पत्नी की ओर से पति के प्रति प्रेम का तो हमारे यहाँ ऐसा सामान्य और बद्धमूल संस्कार था कि जायसी जैसे परधर्मावलम्बियों ने भी जब यहाँ की प्रेम-कहानियाँ लिखीं, तो तसव्वुफ के लोक-निरपेक्ष प्रेम के आदर्श के बीच से, नागमती और पद्मावती के प्रेम के रूप में, हमें अंततोगत्वा सीता-सावित्री का प्रतिबिंब ही देखने को मिलता है। इसी युग के तुलसीदास ने, स्पष्ट ही प्रेम के काम-तत्त्व के प्रति कवियों की बढ़ती हुई अनुरक्ति को नियंत्रित करने के उद्देश्य से, उसका प्रायः बहिष्कार कर अपने प्रेम-वर्णन को एकदम दूसरे ही छोर पर पहुँचा दिया, जहां पत्नी-रूप में वर्णित होती हुई सीता के संबंध में भी कवि और पाठक को क्षण भर भी यह भूलने की अनुमति नहीं कि वे जगज्जननी हैं। सूर के प्रेम-वर्णन की विशेपता का उल्लेख तो हम कर ही चुके हैं।

प्रेम-वर्णन का यह डांवाडोल संतुलन, हिंदी-काव्य के अगले युग में, जिसे हम साधारणतः रीति-काल कहते हैं, काम-तत्त्व के छोर पर स्थिर हो गया। प्रेम-वर्णन का यह नया रूप नहीं था, यह भी प्राचीन संस्कृत-काव्य में पहले से वर्त्तमान था। हुआ सिर्फ इतना ही कि उसका पवित्र और दिव्य अंश प्रायः सर्वथा उपेक्षित हो गया। इस युग के कवियों को अपने एकांगी प्रेम-वर्णन के लिए पर्याप्त भर्त्सना सुननी पड़ी है, और यहाँ उनकी कृतियों से उद्धरण प्रस्तुत करना अनावश्यक है।

किन्तु प्रेम के भारतीय आदर्श की आलोचना करनेवाले, हिन्दी के रीति-कालीन कवियों के वर्णनों को ही अपना आधार नहीं बनाते। उनका तो कहना है कि कुछेक अपवादों को छोड़ कर हमारा उदात्ततम प्रेमादर्श भी स्पष्टतः ऐंद्रिय रहा है, वह कभी शरीर, आज के शब्द में रति—सेक्स—के ऊपर नहीं उठ सका है, जैसा हम पश्चिम के अनेक प्राचीन कवियों

में पाते हैं। वास्तविकता यह है कि 'काम' शब्द के प्रयोग के द्वारा यहाँ के शास्त्रज्ञों और आचार्यों ने मानव-मनोविज्ञानविषयक अपनी सूझ का परिचय दिया था और आधुनिक मनोविश्लेषण के मूलभूत तथ्य को पूर्वाशित कर लिया था, जिसके अनुसार प्रेम तो क्या, प्रायः समस्त मानवीय व्यापारों के पीछे काम प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से वर्त्तमान रहता है। विश्व-इतिहास को देखने से आसानी से यह बात प्रमाणित हो जाती है कि ऐश्वर्य और प्रचुरता के युगों में सर्वत्र प्रेम में काम-तत्त्व को प्रधानता दी गई है। यह भारतीय संस्कृति की विशेषता रही है कि ऐसे युग में उसने प्रेम में काम और आध्यात्मिकता के समन्वय का आदर्श अपने सामने रखा है, जिसे उसकी सभी तत्कालीन कलाओं में प्रतिफलित देखा जा सकता है। एक और भी विशेषता यहाँ की मनीषा की रही है कि पहले तत्त्व को उसने ही सर्वप्रथम शास्त्र के स्तर पर उन्नीत किया था—उसे गुह्य या गोपनीय और मात्र रसिकों के मनोरंजन का विषय नहीं माना था।

प्रेम का मात्र अतीन्द्रिय, वायवी तथा आदर्शीकृत रूप समाज में, और फलतः काव्य में, तभी प्रश्रय पाता है जब एक ओर संकीर्णता बढ़ती है और दूसरी ओर सुधारवादी मनोवृत्ति से समझौता करना पड़ता है। इसका स्पष्ट दृष्टांत हमें अपने आधुनिक काव्य में मिलता है, जिसका आरंभ साधारणतः भारतेंदु हरिश्चन्द्र से मानते हैं।

भारतेन्दु-युग और उसके बाद द्विवेदी-युग में भी, एक ओर तो रीति-काल की श्रृङ्गारिक प्रवृत्ति अभिव्यक्ति के लिए छटपटाती रही, और दूसरी ओर सुधारवादी दृष्टिकोण को प्रधानता मिलती गई। इस सुधारवादी दृष्टिकोण को हम स्वयं भारतेंदु की व्रजभाषेतर रचनाओं में आये प्रेम-वर्णनों में तथा राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', श्रीधर पाठक, 'हरिऔध', 'शंकर', रामनरेश त्रिपाठी, मैथिलीशरण गुप्त आदि के काव्यगत प्रेम-वर्णनों में पाते हैं। इसकी पराकाष्ठा हमें 'हरिऔध' के राधा के प्रेम-वर्णन में मिलती है, जिसे उन्होंने समाज-सेविका बना कर छोड़ा है। प्रेम के इस रूप के वर्णन से सुधार कितना हुआ होगा, यह तो हम नहीं कह सकते, किन्तु वह नितांत हास्यास्पद है, इसमें आज शायद ही मतभेद हो।

पूर्ण जी जहाँ यह वक्तृता देते हैं :

"नारी के सुधारे देश जग में प्रसिद्ध होत, नारी के सँवारे होत सिद्ध धन-बल है।
शोभा गेह-गेह की है, सीमा सुचि नेह की है, दाता नर-देह की है, संपदा की थल है॥"

और रामनरेश त्रिपाठी यह आदर्श उपस्थित करते हैं :

"पति-अभिलाषा पूर्ण करना ही है मेरा ध्रुव धर्म।
सदा करूँगी मैं स्वदेश की सेवा का शुभ कर्म।"

वहाँ 'हरिऔध', राधा का काया-कल्प करते हुए, उससे कहलाते हैं—

"मेरे जी में अनुपम महा विश्व का प्रेम जागा
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश ही में।
पाई जाती विविध जितनी वस्तु जो हैं सबों में
मैं प्यारे को अमित रँग औ रूप में देखती हूँ॥
तो मैं कैसे न उन सब को प्यार जी से करूँगी
यों है मेरे हृदय-तल में विश्व का प्रेम जागा।"

कविता में यह शुष्कता और सुधारवादिता—यह राष्ट्रीयता से प्रेरित रही हो अथवा आर्यसमाज आदि से—ज्यादा दिनों तक टिक नहीं सकती थी। लेकिन, न तो यही स्वाभाविक होता कि उसकी उपेक्षा कर फिर पूर्णतः प्राचीन परम्परा अपनाई जाती, न यही संभव था कि पश्चिम के आदर्श, जो हमें काफी प्रभावित कर चुके थे, यथावत् गृहीत कर लिये जाते। इसी निषेध और आकर्षण के बीच से हिन्दी-कविता ने अपना वह रूप विकसित किया, जिसे छायावाद-रहस्यवाद का अस्पष्ट अभिधान मिला था, और जिसमें वस्तुतः छाया का भी और रहस्य का भी बाहुल्य था। इस युग की कविता में जो प्रेम-वर्णन हुआ है, वह भी छायात्मक और रहस्यपूर्ण ही है। इसके ताने-बाने में उपनिषदों, मध्ययुगीन सन्तों, रवीन्द्र और अँगरेजी के रूमानी कवियों की ही नहीं, कठोरता से आलोचित रीति-काल की परम्परा भी, सन्निविष्ट है।

यहाँ हम एक ही उदाहरण देना पर्याप्त समझते हैं—'निराला' की जूही की कली नायिका-भेद के निकष पर भी खरी उतरती है, और राधा या कोई गोपी न होकर कली होने के कारण, उसके वर्णन में मांसलता और ऐन्द्रियता के बावजूद सूक्ष्मता, लाक्षणिकता और प्रतीकात्मकता है। 'प्रसाद' ने कामायनी में आख्यान का आधार लिया है तो ऐसे अपरिचित प्राक्-पौराणिक स्रोत से कि वातावरण की धूमिलता नष्ट नहीं होने पाती, और आधार की यत्किंचित् स्थूलता रहने पर भी वर्णित प्रेम अतीन्द्रिय और आदर्शीकृत बना रहता है। ऐसा प्रेम जब रहस्यानुभूति के स्तर पर चढ़ता दीखता है, तो कवि के सिद्ध साधक न होने के कारण, कभी-कभी सारे वर्णन में ही अविश्वास प्रकट किया जाता है, यद्यपि जो अनुभूति साधना के क्षेत्र में संभव है वह कविता में भी है, यह स्वीकृत तथ्य है। माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन, पंत और महादेवी आदि के प्रेम-वर्णन के सम्बन्ध में भी ये सामान्य बातें लागू हैं। छायावादी कविताओं में वर्णित प्रेम में उस विरह के तत्त्व की मात्रा काफी बढ़ गई थी जो मिलता तो विद्यापति और जायसी, सूर और मीरा, घनानन्द और भारतेन्दु में भी है, किन्तु सीमित मात्रा में। पन्त जी ने घोषणा की थी कि—'वियोगी होगा पहला कवि' और महादेवी जी के आदर्श प्रेम में 'मिलन का मत नाम ले' का उपदेश था। बच्चन आदि गौण छायावादियों ने तो आह कीजिए और फीस लीजिए-वाली उक्ति ही चरितार्थ कर डाली थी और प्रेम का पुटपाक 'चिता की राख' में घटित हो गया था।

साम्यवादी अथवा प्रगतिवादी कविता ने प्रेम पर से छायावाद का इन्द्रधनुषी आवेष्टन हटाया और उसे दो व्यक्तियों के एक शारीरिक, आर्थिक, सामाजिक समझौते से ज्यादा कुछ मानने से इनकार किया, और पहले के छायावादी, किन्तु तब के प्रगतिवाद के समर्थक स्वयं पन्त ने कहा : 'नर-नारी के सहज स्नेह से सूक्ष्म वृत्ति हों विकसित।'

हिन्दी की आधुनिकतम कविता में प्रेम न तो रहस्यावेष्टित है, न आक्रोश का पात्र। मनोविश्लेषण के द्वारा निरावृत सत्य होकर प्रेम सुन्दर और काम्य भी बन गया है।

—न० वि० श०

# असमीया भाषा और उसका साहित्य

श्री जीतेन्द्रचन्द्र चौधुरी, असम-राज्य-राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति (शिलांग)

## १. प्राक्कथन

भारतवर्ष के मानचित्र की उत्तर-पूर्व दिशा में, उत्तर से दक्षिण तक विस्तृत, वर्मा की ओर नजर लगाकर बैठे हुए गरुड़ पक्षी के चित्र की तरह जिस भू-भाग के दर्शन होते हैं वही असम राज्य है। आज भी असम का नाम भारतीयों के मन में कल्पना के रंग से रँगा हुआ है। यह आज भी उत्सुक व्यक्तियों के मन में कुतूहल का उद्दीपन कर रहा है। बहुतों की कल्पना है कि असम पर्वतों की गुफाओं में रहनेवाले नंगे अर्द्धसभ्य व्यक्तियों, काल्पनिक वन्य पशुओं तथा जादू-मन्त्र द्वारा पुरुषों को भेड़ बनानेवाली योगिनियों का देश है। जो वहाँ एकबार जाता है वह फिर वापस नहीं आता।

इस कल्पना का आधार कहाँ है, कहना सम्भव नहीं। किन्तु, तान्त्रिकों का पीठ-स्थान कामाख्या ने, गैंड़े जैसे दुर्लभ वन्य पशुओं ने तथा नागा, कुकी आदि पर्वतीय भाइयों के सहज, सरल तथा नैसर्गिक जीवन ने अपनी-अपनी विशेषताओं द्वारा भारतीयों के मन में विचित्र कल्पना की सामग्री प्रस्तुत की है—ऐसा अनुमान किया जा सकता है।

भारत की स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व असम का भौगोलिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान असमेतर प्रदेशवासियों को बड़ा ही अस्पष्ट रहा। पड़ोसी बंगाल तथा बिहार के अधिवासियों को सुजला, सुफला, शस्य-श्यामला, प्रकृति का लीला-निकेतन असम और उसके निवासियों की भाषा तथा सभ्यता-संस्कृति का परिचय नहीं था। पढ़े-लिखे लोग अपने सीमित अध्ययन द्वारा समझ लेते थे कि इस वन्य भू-भाग में ब्रह्मपुत्र नद बहता है और इसके दोनों तटों पर चाय-बगान है, वहाँ अँगरेज, बंगाली, बिहारी तथा मारवाड़ी भाई मलेरिया, कालाज्वर आदि रोगों से लड़ाई करते हुए अपने-अपने उद्योग-धंधे चला रहे हैं।

भारत के इस पूर्वी विभाग का नाम 'असम' क्यों पड़ा, इसमें कई मत हैं। साधारणतः 'सम' अर्थात् समतल न होकर पहाड़ियों से भरा होने के कारण ही यह प्रदेश 'असम' नाम से प्रख्यात हुआ है। दूसरा एक मत यह है कि असम में मिट्टी-तेल, कोयला, अभ्रक आदि की खानें हैं। यहाँ के जंगलों में ऐसे जन्तु, मूल्यवान् काष्ठ, बेंत, खर, राल, धूना, कत्था आदि मिलते हैं जो और किसी भी प्रदेश में इस मात्रा में नहीं हैं। चाय की खेती के लिए तथा मूल्यवान् रेशम के लिए भी यह प्रदेश संसार-भर में प्रसिद्ध है। विभिन्न-भाषा-भाषी लोगों की आबादी तथा उनके जीवन की अलग-अलग कलात्मक अभिव्यक्ति ने भी असम को अन्य प्रान्तों से अधिक मनोहर कर रखा है। प्राकृतिक सौन्दर्य में, आबादी की विविधता में, सभ्यता तथा संस्कृति के विचित्र तथा चित्ताकर्षक समावेश में असम प्रदेश सचमुच 'असम' अर्थात् अतुलनीय है। इन सब कारणों के अतिरिक्त भारत के जिस प्रदेश में सर्वप्रथम सूर्योदय होता है उस प्रदेश का नाम 'असम' होना सर्वथा उचित ही है।

भाषा-शास्त्र के महापंडित स्वर्गीय डा० वाणीकान्त काकति ने नाम के सम्बन्ध में

शास्त्रीय तर्क उपस्थित किया है। वे असम नाम का सम्बन्ध 'शान' आक्रमणकारियों से जोड़ते हैं। सन् १२२४ ई० से ही ब्रह्मपुत्र उपत्यका का पूर्वी भाग 'शान' यानी ताई (सम्भवतः थाईलैंडवाले) जाति के अधिकार में आ गया था। इन शान आक्रमणकारियों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में 'अहम' नाम से है! 'स' का उच्चारण असमीया भाषा में 'ख' और 'ह' को मिलाकर बीच का होता है। और, एक तर्क उपस्थित किया जाता है कि शान जाति बड़ी दुर्द्धर्ष जाति थी। असीम पराक्रम में यह 'असम' अर्थात् अप्रतिद्वन्द्वी थी। अतः इन विजेताओं के नामानुसार ही इस प्रान्त का नाम असम पड़ा होगा।

## २. विषय-प्रवेश

किसी भी जाति के भाषा और उसके साहित्य के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने के लिए भौगोलिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय अत्यावश्यक होता है। भाषा यदि जाति के भावों का वाहन हो और साहित्य यदि समाज का प्रतिविम्ब हो तो भाषा तथा साहित्य की चर्चा के प्रारम्भ में देश तथा जाति के इतिहास का सिंहावलोकन करना अत्यावश्यक होता है। असम का पुराना नाम कामरूप तथा इसकी राजधानी का नाम प्राग्ज्योतिषपुर था। कामरूप नाम के साथ एक पौराणिक कहानी जुड़ी हुई है। मदन-भस्म हो जाने के उपरान्त महादेव का मन रति के विलाप से पिघल गया और उन्हें वरदान दिया कि कामदेव फिर रूप प्राप्त करेंगे अर्थात् जन्म-ग्रहण करेंगे। यथासमय अनंग ने इसी प्रदेश में जन्म-ग्रहण यानी रूप-धारण किया। इसीसे इस प्रदेश का नाम 'कामरूप' पड़ा। प्राग्ज्योतिषपुर गुवाहाटी ( गौहाटी ) का प्राचीन नाम इसलिए था कि प्राक् अर्थात् पहले यहाँ ज्योतिष्-विद्या का केन्द्र था।

कामरूप राज्य का उल्लेख महाभारत आदि पौराणिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। आज के असम से यह अधिक विस्तृत तथा पराक्रमी राज्य था। यह हिमालय पर्वत से लेकर वंगोपसागर तक और पाटकाई पर्वत से लेकर पश्चिम में बंगाल की करतोवा नदी तक विस्तृत था। वर्तमान समय के असम राज्य और वंगप्रदेश के आधे भाग को लेकर प्राचीन कामरूप राज्य था। कामरूप राज्य की प्राचीनता का प्रमाण महाभारत से प्राप्त होता है। कामरूप के राजा भगदत्त बड़े पराक्रमी थे और उन्होंने कुरुक्षेत्र में कौरवों की ओर से पाण्डवों से लड़ाई की थी। रुक्मिणी-हरण, ऊषा-हरण तथा अर्जुनपुत्र वीर बभ्रुवाहन की कथाओं से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि असम प्राचीन काल से ही सुसभ्य तथा उन्नत देश रहा है। महाभारत-युग के बाद हजारों वर्षों का इतिहास हमें नहीं मिलता, पर ईस्वी सन् ६०० से लेकर, अर्थात् कामरूप-नरेश कुमार भास्कर वर्मा से लेकर आज तक असम के राजनैतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास का पता चलता है। कुमार भास्कर वर्मा तथा उनके पश्चात् नाग शंकर, संकल, श्री हर्षदेव, पाल वंश तथा जितारि वंश के राजाओं के समय में असमीया भाषा तथा साहित्य की काफी उन्नति हुई। निदर्शनस्वरूप पर्याप्त सामग्रियाँ न मिलने पर भी कुछ प्राचीन हस्तलिखित पोथियों, ताम्रलिपियों तथा शिलालेखों से साहित्यिक प्रगति का अनुमान किया जा सकता है।

ई० सन् १२०० से १५०० तक कामतापुर राज्य का, १२२३ से १५२३ तक चुतिया राज्य का फिर सन् १५०० से १८००ई० तक कछाड़ी राज्य का इतिहास हमें प्राप्त है। परन्तु, इन राजाओं ने भाषा तथा साहित्य की क्या उन्नति की, इसका विश्वसनीय प्रमाण यद्यपि अभी तक अप्राप्त ही रहा, तथापि ई० सन् १२०० से लेकर १५०० तक असमीया जन-साहित्य तथा धार्मिक साहित्य का एक स्वर्णयुग रहा है और इसी समय में श्रीमन्त शंकरदेव की धार्मिक चिन्ताधारा से अनुप्राणित उत्तमोत्तम साहित्य की रचना हुई, इसका स्पष्ट प्रमाण उपलब्ध है। महात्मा माधवदेव तथा दामोदरदेव ने कई ग्रन्थ रचे। माधवदेव ने अपने गुरु शंकरदेव की धार्मिक तथा सामाजिक विचार-धारा को साहित्य में अमर रूप दिया।

सन् १२२९ ई० में चुकाफा नामक ताई (शान) राजा पाटकाई पर्वत को पार करके असम में पहुँचा था। इन्होंने शिवसागर में अपनी राजधानी बसायी। चुकाफा के बाद प्रायः ३९ ताई राजाओं ने, जो कि आहोम नाम से प्रख्यात हुए थे और जिनके नाम के आधार पर ही प्राचीन कामरूप राज्य का नाम असम (अहम) पड़ा, राजत्व किया। ये थे इरावती घाटी के अधिवासी और इनका धर्ममत था बौद्ध धर्म का। धीरे-धीरे इन्होंने हिन्दू-धर्म ग्रहण किया। वास्तव में आधुनिक असमीया भाषा, साहित्य तथा संस्कृति के विकास में इस आहोम राजघराने का जो अवदान है उसके संस्मरण विना असम का इतिहास नितान्त दुर्बल पड़ जाता है। इसी वंश में राजा गदापाणि, रुद्रसिंह, शिवसिंह जैसे प्रबल प्रतापी स्वधर्मनिष्ठ विद्यानुरागी राजा और फुलेश्वरी, जयमती जैसी रानियाँ हुईं। इन्हीं के राजत्व-काल में ललितकला तथा साहित्य की सर्वाधिक उन्नति हुई।

पहले कहा जा चुका है कि सभी दृष्टियों से असम वैचित्र्यपूर्ण देश है और यहाँ बहु-भाषा-भाषियों का वास है। विभिन्न जातियाँ अपने-अपने जातीय अभिमान तथा अपनी अपनी विशेषता को लेकर असम को अपना प्यारा देश मानकर अनेकता में एकता का दृष्टान्त दिखा रही हैं। अतः असमी जनसमुदाय को हम मुख्यतः तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहले भाग में वे जातियाँ हैं जो कि नागा, कुकी, मिशमी, अबर, मिजो लुशाई, गारो, खसीया, जयन्तीया, मिकिर, बोड़ो आदि नामों से प्रख्यात हैं। इन जन-जातियों ने पहाड़ी अंचलों में अपने-अपने समाज-विधान, भाषा तथा वैशिष्ट्य को लेकर अपनी-अपनी पुरानी परम्परा को जीवित रखा है। बीच-बीच में विदेशी मिशनरी पादरी लोग ईसाई धर्म के प्रचार द्वारा उनकी खास परम्परा में सुधार या विकार लाये, इनको अपने ढंग से सुसभ्य बनाने का प्रयास किया, अँगरेजीपन का मादक फल भी चखाया, परन्तु ये पूर्णतया सफल नहीं रहे। उन्हें केवल इस हद तक सफलता मिली कि जिसके परिणाम में हमारे ही ये भाई हमें विदेशी समझने लगे। इन भाइयों की भाषाएँ अलग-अलग, पर सभी अष्ट्रो-मंगोलियन गोष्ठी की हैं। आश्चर्य की बात होने पर भी सत्य है कि ३ लाख नागाओं में दर्जन से भी अधिक ऐसी भाषाएँ बोली जाती हैं जो एक दूसरे से सम्पूर्ण भिन्न हैं। आवो नागा अंगमी नागा की भाषा नहीं समझते। खसिया, गारो, जयन्तीया तथा बोड़ो भाषाओं में कुछ ऐसे शब्द अवश्य मिलते हैं जो कि संस्कृत शब्दों के विकृत रूप हैं। असमीया भाषा का खास प्रभाव उन

भाषाओं पर न रहने पर भी उन भाषा-भाषियों पर अवश्य है। ये भिन्नभाषाभाषी जन-जातियाँ असमीया भाषा द्वारा एवं कहीं-कहीं टूटी-फूटी हिन्दी द्वारा परस्पर भाव-विनिमय कर लेती हैं। इनकी संख्या प्रायः ४० प्रतिशत है।

दूसरे वर्ग में बँगला, हिन्दी तथा नेपाली भाषा-भाषी समतलवासी असमीया हैं, जो अपने-अपने रीति-रिवाज, भाषा तथा संस्कृति के उपासक हैं। फिर भी, असम को ही अपना देश मानकर बसते हैं। इनकी संख्या ३० प्रतिशत होगी।

तीसरे वर्ग में जो समतलवासी सुसभ्य आर्य-संस्कृति-परम्परा के असमी जन-समुदाय हैं, वही हैं मूल असमीया और इनकी आबादी ३० प्रतिशत होगी। इनका खास क्षेत्र ब्रह्मपुत्र नद के दोनों ओर उपजाऊ भूमि, लखीमपुर जिले से लेकर कामरूप जिले तक है। इनकी भाषा ही असमीया भाषा है और इनकी संस्कृति को ही असमीया संस्कृति कहते हैं। असमीया भाषा तथा साहित्य का विकास इन्हीं के द्वारा हुआ है और अपनी भाषा तथा साहित्य को दूसरी भाषा तथा साहित्य के राहु-ग्रास से बचाकर इसके उन्नति-साधनार्थ प्रयत्न करते आ रहे हैं। असमीया भाषा—हिन्दी-आर्य-भाषा-गोष्ठी की प्राचीन भाषा और इसका प्राचीन साहित्य वैभवशाली है। इसका आधुनिक साहित्य प्रगति के पथ पर होने पर भी शंका लगी रहती है कि बहु-भाषा-भाषियों की संख्या पर्याप्त न होने के कारण कहीं इसके प्रगति-पथ पर बाधाएँ न पड़ जायँ। भारतवर्ष की आधुनिकतम श्रेष्ठ भाषाओं में असमीया भाषा की गिनती है इसके उज्ज्वल भविष्य को उज्ज्वलतम करना सभी भारतीयों का कर्तव्य है। इससे भारत का ही गौरव बढ़ेगा।

## ३. भाषा का स्वरूप तथा विकास

पहले ही कहा जा चुका है कि असमीया भाषा का क्षेत्र बहुत छोटा है और उससे बोलनेवालों की संख्या भी बहुत कम है। जिसका परिणाम हुआ कि पड़ोसी समृद्धिशाली बँगला भाषा का प्रभाव असम पर पड़ने लगा और असम की मूल असमीया भाषा उपेक्षित होकर रही। बृटिश-शासन के प्रारम्भ में उच्च पदाधिकारी बंगाली शिक्षित लोग असम में नियुक्त होकर आये। अँगरेजों ने इस देश की भाषा को प्रोत्साहन न देकर असमीया भाषा को बँगला की एक उपभाषा मान लिया और राजकार्य आदि के लिए बँगला को ही उच्च स्थान दे रखा। परन्तु, जनता की भावोत्पादक भाषा दबाये भी नहीं दबी। यह अन्तःसलिला फल्गु नदी की तरह शहर की अप्राकृतिक वातावरण से मुक्त होकर प्रकृति-लीला-निकेतन गाँवों में प्रवाहित होने लगी। शासकों द्वारा अनादृत होने पर उपजाऊ ग्राम्यभूमि में निर्वासित होकर यह फूलने-फलने लगी। फिर, ऐसा एक समय आया जब कि इस भाषा ने पाश्चात्त्य ढंग से शिक्षित असमीया शहर-वासियों की दृष्टि आकृष्ट की। इस समय ईसाई मिशनरियों ने बड़ा उपकार किया। इन्होंने बाइबिल आदि धर्मग्रन्थों को असमीया भाषा में अनूदित करके भाषा का चमत्कार दिखाया। समग्र जनता ने भाषा को अपना लिया और इसे अपने स्वस्थान पर ससम्मान प्रतिष्ठित करने के लिए शासकों को बाध्य किया।

असमीया भाषा का विकास-काल सन् ६०० ई० से माना जाता है। इस समय जो

साहित्य रचा गया वह मौखिक जन-साहित्य था। इस समय की भाषा का परिचय चीनी परिव्राजक ह्यु एनसंग ने, जो कामरूप राज्य के तत्कालीन राजा कुमार भास्कर वर्मा के निमन्त्रण से पधारे थे, अपने यात्रा-विवरण में स्पष्ट रूप में दिया है, 'इस देश की भाषा बँगला या आसपास की अन्य भाषाओं से भिन्न है, किन्तु पश्चिमोत्तर भारत की भाषा से कुछ मिलती-जुलती है।' महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने अपने 'बौद्धगान व दोहा' और महापंडित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी 'पुरातत्त्व-निबन्धावली' में बौद्ध सिद्धाचार्यों के द्वारा रचे गये चर्य्यापद-समूह के भाव, भाषा तथा लेखकों के सम्बन्ध में आलोचना की है। ये पद बौद्ध महायान-सम्प्रदाय के साधना-संगीत हैं। पंडितों ने इन गीतों को भाषा का प्राचीनतम निदर्शन माना है, पर असमीया भाषा के दृष्टिकोण से उन गीतों का अध्ययन किया जाय तो असमीया भाषा की परिपक्वता के भी दर्शन उन गीतों में होंगे। अतएव, असमीया भाषा का आदि रूप उन्हीं चर्या-पदों में मिल जाता है। उस काल के मौखिक जन-साहित्य में धाई नाम, आई नाम तथा साधुगीत इस प्रकार की भाषा का रूप हमें दिखा देते हैं।

मणिकुँवर और फूलकुँवर का गीत भी प्राचीन असमीया भाषा का निदर्शनस्वरूप है। चर्य्यापद के समान बौद्ध धर्म की भिन्न-भिन्न शाखाओं के साधकगण जो काव्य-रचनाएँ कर गये हैं उनमें असमीया भाषा का जो रूप मिलता है, उससे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्रारम्भिक काल में भाषा का विकास अच्छी तरह से हो गया था। 'डाकर वचन', जिसपर बंगाल और उड़ीसा भी दावा करते हैं, में भी आदि काल की असमीया भाषा के दर्शन होते हैं।

उस काल में शैव, शाक्त और तन्त्र-मन्त्र के प्रभाव से भी भाषा की उन्नति हुई। कामरूप को केन्द्र करके तान्त्रिक साहित्य की जो रचना हुई थी उसमें हम भाषा का पंडितम्मन्य रूप यानी संस्कृत शब्दों से परिपूर्ण भाषा के निदर्शन पाते हैं। इसके बाद समग्र असम में वैष्णव-युग का एक बड़ा धर्म-विप्लव दिखाई दिया। इस समय भाषा त्रिधारा में बहने लगी। उत्तर-पूर्व असम में अहोम राजघराने के विद्यानुराग के तथा कोच-नरेशों के प्रोत्साहन के सहारे श्रीमंत शंकरदेव, माधवदेव तथा दामोदरदेव ने अपने धार्मिक साहित्य में भाषा को परिमार्जित और सुललित कर दिया। कामरूप के तन्त्र-मन्त्र-पूर्ण शाक्त-साहित्य में भाषा का दूसरा रूप और ग्वालपाड़ा तथा इसके आसपास के इलाकों में एक वर्णसंकर भाषा का रूप मिलता है। किन्तु, उत्तर-पूर्व असम में भाषा ने जो परिपक्वता प्राप्त की थी उसके परिणामस्वरूप वहाँ की चालू भाषा यानी शिवसागर और नौगाँव की भाषा ही साहित्यिक भाषा बन गई। उत्तर-वैष्णव-युग में वही भाषा क्रमशः विकसित होकर आधुनिक साहित्यिक भाषा बन गई। वैष्णव-युग की भाषा, जो असम में 'ब्रजाबुली' अर्थात् व्रजभाषा नाम से प्रख्यात है, शंकर-साहित्य की भाषा है। श्रीमन्त शंकरदेव वेद, पुराण, उपनिषद् आदि का सारांश असमीया भाषा में लिखकर साहित्य की श्रीवृद्धि की। अपने धर्ममत को भगवान् बुद्ध की भाँति जनगण की भाषा में लिखकर प्रचार करना ही उन्होंने उचित समझा। उनके कीर्त्तन की भाषा मनोहर और प्रभावोत्पादक थी। भारत के अन्य प्रदेशों में श्री चैतन्य, संत ज्ञानेश्वर,

सूर, तुलसी आदि सन्तों ने धार्मिक विप्लव द्वारा जैसे अपनी-अपनी भाषाओं की उन्नति की थी, उसी प्रकार श्रीमन्त शंकरदेव तथा उनके अनुयायियों ने की थी।

'बिहु' उत्सव असमीया जनसाधारण का एक विशेष त्योहार है। इस त्योहार में गाये जानेवाले लोकगीतों में असमीया जनता की अन्तरतम प्रदेश की ललित भाव-धाराएँ प्रकट होती हैं। इन लोक-गीतों को 'बिहुगीत' कहते हैं। बिहुगीत बिहु उत्सवों से सम्बन्ध रखते हैं, जो ऋतु-परिवर्तन के समय नृत्य, गीत तथा भोज-समारोह द्वारा मनाये जाते हैं। बिहु शब्द संस्कृत विषुवत् शब्द का ही अपभ्रंश है। कार्तिक मास की संक्रान्ति के समय कंगाली बिहु मनाया जाता है, पौष-संक्रान्ति में भोगाली बिहु और चैत्र-संक्रान्ति के समय रंगाली बिहु या बहाग बिहु। बहाग बिहु वसंत के आगमन के हेतु उल्लास प्रकट करने के लिए मनाया जाता है। रंगाली बिहु नाम से ही इस उत्सव के रंग का आभास मिलता है। यह प्रेम और आनन्द का उत्सव है। इन दिनों गाँवों में युवक-युवतियाँ सज-धज कर समूह में निकलते हैं। युवक वृत्ताकार मंडली में खड़े होते हैं और उनके बीच सबसे सुन्दर युवती नृत्य के साथ अत्यन्त उत्तेजक प्रेम के गीत गाती है। ये गीत सहज, सरल और प्रभावोत्पादक होते हैं। इनकी भाषा, देहाती, सीधी-सादी, साफ और ध्वन्यात्मक है। ये गीत दोहों में हैं। बिहुगीत के पूर्व अथवा समसामयिक जो गीत हैं, उनमें भी भाषा का परिचय प्राप्त होता है। जैसे, लरा शुववा नाम, गरखीया नाम, बिया नाम, नाओ खेलोवा गीत, बारहमाही गीत, हुचरी नाम, आई नाम आदि।

बिया नाम—"आम मले थोपा थोपि
कदम मले हांलि।
वेइर माजत पद्म जले
मेघे ढाले पानी॥"

लरा शुववा नाम या लोरी—"आमारे मइना शुब ए। बारीते बगरि पकि सरिब।
बारीते बगरि रूब ए। मइनाइ बुललि खाब ए॥"

इन लोक-गीतों का प्रभाव परवर्त्ती साहित्यकारों की भाषा में दिखाई देता है। श्रीमन्त शंकरदेव जैसे महान् गीतिकार भी इनसे अछूते नहीं रहे। बिहुगीतों के अतिरिक्त 'डाकर-वचन' नाम से जो दोहे प्रसिद्ध हैं वे आदि युग के मौखिक साहित्य की भाषा का स्वरूप प्रदर्शित करते हैं। डाक के इन वचनों में कृषि, ऋतु, औषधि, राजनीति के अतिरिक्त गृहजीवन की दैनन्दिन समस्याओं का समाधान है। जैसे—

"सोमे बहु जल,
कृषिर विफल डाकर वचन सार।
यदि होवे बुध, विचरति शुक्रवार
मेदिनी न सहे शष्यर भार॥
गरु किनिवा चिकन ज़ालि।
दुइ चारि छय दन्तीया भालि॥"

असमीया भाषा की लिपि ब्राह्मी लिपि का ही क्रम-विकसित रूपान्तर है और दो अक्षरों की बनावट के सिवा बँगला लिपि से हू-बहू मिलती है। कुछ अक्षरों का उच्चारण असमीया भाषा में अलग है, पर उनकी शकल-सूरत में कोई भिन्नता नहीं है। भोजपुरी, मैथिली, मगही, बँगला, उड़िया आदि भाषाओं की तरह र, ड़, ढ़ तथा ह्रस्व, दीर्घ स्वरों के उच्चारण में पार्थक्य बहुत कम है, किन्तु च, छ तथा स, श, ष का उच्चारण असमीया भाषा की एक खास वस्तु है जो दूसरी भारतीय भाषाओं में नहीं मिलती। इतालीय भाषा की तरह तालव्य और दन्त्य वर्णों का उच्चारण प्रायः एक-सा होता है। प्रारम्भ में असमीया लिपि के अनेक रूप और नाम थे जैसे गर्गया, बामुनिया, लखारी और कैथिली आदि। किन्तु, अब इनमें से कोई भी व्यवहार में नहीं आती।

शब्दावली के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि साठ प्रतिशत शब्द तत्सम और तद्भव ही हैं। विदेशी शब्द दस प्रतिशत से अधिक नहीं होंगे। शेष देशी शब्द अष्ट्रोमंगोल, तिब्बती-बर्मी तथा मनखामेर भाषाओं के शब्दों से मिलते-जुलते हैं। असमीया शब्द-विन्यास, विभक्ति आदि के रूप 'बौद्ध-गान व दोहा' तथा चण्डीदास के 'श्रीकृष्ण-कीर्त्तन' की भाषा से बहुत-कुछ मिलने-जुलने पर भी इनका स्वतन्त्र स्वरूप अवश्य है, जिसके द्वारा अपनी पुरानी परम्परा की रक्षा हुई है। असमीया भाषा की एक विशेष व्याकरण-प्रणाली भी दृष्टिगोचर होती है। इसमें सर्वनाम, क्रियापद तथा अव्यय आदि बँगला और हिन्दी से कुछ-कुछ मिलने पर भी उच्चारण और जोड़नी में भिन्न है। किन्तु, ध्यान से अध्ययन करने पर इसका उत्तर-पूर्व भारत की आर्य-गोष्ठी की भाषाओं से जो एक पक्का सम्बन्ध है उसका अनुमान सहज ही में किया जा सकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि हिन्दी तथा बँगला की भाँति साहित्यिक प्राकृत से ही इसकी उत्पत्ति हुई है और सातवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही इसका व्यवहार असम में होने लगा है। साहित्यिक प्राकृत के साधारणतः चार मुख्य विभाग हैं—शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी एवं मागधी अथवा गौड़ी प्राकृत। बँगला तथा उड़िया भाषा की तरह असमीया भाषा का विकास भी मागधी-गौड़ी प्राकृत से हुआ है। इसीलिए, अपनी बहनों अर्थात् बँगला तथा उड़िया के साथ इसका नैकट्य दिखाई देता है।

## ४. साहित्य का परिचय

असमीया साहित्य का काल-विभाजन उपलब्ध साधनों के आधार पर होना उचित है। भाषा-शास्त्र के पंडित स्वर्गीय वाणीकान्त काकति ने चतुर्दश से षोडश शताब्दी तक साहित्य का आदिकाल (प्राक्-वैष्णव तथा वैष्णव-युग), सप्तदश से ऊनविंश शताब्दी तक मध्यकाल (आहोम राजाओं के गद्यमय इतिहास का युग) एवं ऊनविंश शतक के पूर्वार्ध से आज तक आधुनिक काल मानकर ही अपने अमूल्य 'असमीया भाषा-विज्ञान' ग्रन्थ को लिखा है। श्री विरंचिकुमार बरुआ महोदय आदिकाल सन् १२०० ई० से १६५० ई० तक, मध्यकाल सन् १६५० से १८३४ ई० तक और सन् १८३४ ई० से आज तक आधुनिक काल मानते हैं। इन दोनों पंडितों ने प्राचीनतम मौखिक जन-साहित्य के युग को तथा लिखित तन्त्र-मन्त्र और

भनिता-युग को साहित्य के पर्याय में स्थान नहीं दिया। इसके कारण हो सकते हैं, पर स्वनामधन्य, विद्योत्साही, भारतीय भाषा और साहित्य के उत्साहदाता स्वर्गीय सर आशुतोष मुकर्जी की प्रेरणा से तथा उन्हीं की निगरानी में भाषा तथा पुरातत्त्वविद् हेमचन्द्र गोस्वामी ने अपने प्रामाएय ग्रन्थ 'असमीया साहित्यर चानेकी' में, जो कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा सात छत्रृहत् खण्डों में प्रकाशित किया गया था, असमीया साहित्य का काल-विभाजन छह भागों में किया है। श्री डिम्बेश्वर नेओग महोदय ने अपनी 'असमीया साहित्यर बुरंजी' नामक संक्षिप्त पुस्तक में स्वर्गीय गोस्वामी के काल-विभाजन को ही सामान्य रूप से मान लिया है। सम्भव है कि मौखिक जन-साहित्य, तन्त्र, मन्त्र और भनिता-साहित्य एवं चर्यापद आदि बौद्धगीत-साहित्य में असमीया भाषा के निस्सन्दिग्ध वैशिष्ट्य की कमी रहने के कारण तथा इन साहित्यों पर वंग-भाषा का भी स्पष्ट प्रभाव रहने के कारण उस काल का विवेचन असमीया साहित्य के पर्याय में नहीं किया गया। उल्लिखित काल में साहित्य के जो सुन्दर नमूने प्राप्त होते हैं, उसकी चर्चा पहले ही की गयी है और निस्सन्देह यह कहा जा सकता है कि इस काल की रचना असमीया साहित्य के अन्तर्गत अवश्य है। अतः 'असमीया साहित्यर चानेकी' के आधार पर ही इस लेख में साहित्य का काल-विभाजन किया जा रहा है।

प्रधानतः हम प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक इन तीन विभागों में ही समग्र असमीया साहित्य को बाँट रहे हैं।

१. प्राचीन काल [ सन् ६०० ई० से १६५० ई० तक ]

(क) मौखिक जनसाहित्य-युग [सन् ६०० ई० से ८०० ई०]

(ख) तन्त्र-मन्त्र और भनिता-युग [सन् ८०० ई० से १२०० ई०]

(ग) प्राक्-वैष्णव-युग [सन् १२०० ई० से १४५० ई०]

(घ) वैष्णव या शंकरदेव-युग [सन् १४५० ई० से १६५० ई०]

२. मध्य युग और विस्तार-काल—

इतिहास तथा जीवन-चरित-रचना का युग [सन् १६५० ई० से १८३४ ई० तक]

३. आधुनिक काल [सन् १८३४ ई० से आज तक ]

प्राचीन काल—प्राचीन कालारम्भ ई० सन् ६०० से कामरूप-नरेश कुमार भास्कर वर्मा के समय से होता है। इस काल को पूर्वार्द्ध प्राचीन तथा उत्तरार्द्ध प्राचीन युग में साहित्यिक गुरुत्व के अनुसार विभक्त किया जा रहा है। पूर्वार्द्ध में मौखिक जन-साहित्य तथा तन्त्र-मन्त्र-भनिता-साहित्य प्राप्त होते हैं, और उत्तरार्द्ध में प्राक्-वैष्णव तथा वैष्णव-साहित्य।

मौखिक जन-साहित्य का विकास लोकगीतों में हुआ था और इसका प्रभाव आज भी असमीया समाज में परिलक्षित होता है। धाईनाम या लरा शुववा नाम लोरी, गरखीया नाम, चरवाहे का गीत, बिया नाम, विवाह-गीत, बिहुर नाम, संक्रान्ति उत्सव का प्रेम-गीत, नाव-खेलोवा गीत, माँझी का गीत, बारहमाही गीत, बारहमासी गावलीया गीत, ग्राम्य गीत, तोकारि नाम, एकतारा-गीत, हुचरी नाम, नाच का गीत, आई नाम, मातृ-संगीत।

इनमें ग्राम्य गीतों को फुलकोंवर तथा मनिकोंवर गीत भी कहते हैं। भाषा सुन्दर और भाव बड़ा कोमल तथा करुणोत्पादक है। इन गीतों को हम असमीया भाषा-साहित्य के जन्मकालीन गीत कह सकते हैं।

"शंकलदेव रजारे पुतेक मणि कोंवर
किछुत खति खने नाइ।
ए बेला दोलाते ए बेला घोँड़ाते
ए बेला सेनर रं चाइँ॥"

× × ×

"मन्त्रीर जीयेक कांचन कुँवरी
दांर बान्धि मेलाओंते छुली।
सोनर फनियेरे मूर फनियाओंते
कोंवरर निले मन हरि॥"

राजा शंकलदेव के पुत्र मणिकुमार का मन मन्त्रि-कन्या सुन्दरी कांचनकुमारी ने अपने असामान्य केश-श्रृङ्गार द्वारा सज्जित होकर हर लिया था—इसका कैसा सुन्दर वर्णन इस कविता में किया गया है। शंकलदेव राजा का जो उल्लेख यहाँ है उससे श्रीमन्त शंकरदेव का भ्रम नहीं होना चाहिए। शंकलदेव ऐतिहासिक प्रसिद्ध गौर नगर के प्रतिष्ठाता थे।

बिहुगीत में असमीया प्राचीन साहित्य का चमत्कार दिखाई देता है। बिहुगीत सुन्दर, शुद्ध श्रृङ्गार रस का गीत-साहित्य है। प्रेमिक-प्रेमिका का श्रृङ्गारात्मक प्रेमोद्गार बड़ा मनोरंजक है। नायिका नायक के चुम्बन से कातर होने की सम्भावना से कहती है—

"चेनेहर चुमाये नाकटी छिगिब
नाकर बै जाब तेज।
मारे कान्दिब बापे रे कान्दिब
ककायेरे बिचारिब बेज॥"

नायिका के प्रेम से विह्वल नायक का उद्गार बड़ा मर्मस्पर्शी तथा करुणोत्पादक है। जैसे—

"तोमारे मरमत मरो मइ लाहरी
तोमारे मरमत मरो।
दिनरे मूरते ए बार देखा दिबा
तालैके काकूति करो॥"

हे प्रियतमे (लाहरी), तुम्हारे प्रेम (मरम) में डूबकर मैं मर रहा हूँ। तुमसे मेरा कातर निवेदन है कि दिवसान्त में प्रतिदिन कम-से-कम एक बार दर्शन देकर मुझे कृतार्थ करो।

आईनाम वा मातृ-संगीत की रचना भाषा की शुद्धता की दृष्टि से कितना सुन्दर तथा सम्पूर्ण है—

"आई सुन्दरी आइ, तोमार मान ( सदृश ) सुन्दरी नाइ।
अम्बिका चण्डिका भवानी कालिका एइ रूपे फुरा वेड़ाइ ॥"

× × ×

"आई भगवती आइ, आकाशे आहिला उड़ि।
बहिबाक लागि आसन पारि थैछो शिरर उपरत तुलि ॥"

पूर्व प्राचीन काल में जनगीत-युग के पश्चात् लगभग ८०० ई० से तन्त्र-मन्त्र तथा भनिता-युग का आरम्भ होता है। इस युग में गद्य-साहित्य का जन्म हुआ था। तन्त्र-मन्त्र-साहित्य गद्य-पद्य दोनों में ही रचा गया था। जैसे—

पद्य—"बिसबान व्येधि छाड़ा मन्दकड़ा।
समस्ते मन्त्र तन्त्र काटि करु बुन्दामार ॥
हुं हुंकार ओं ऋं हं स्वाहा
स्वाहा हुंकारी सुदर्शन चक्रे काटि निलन भार ॥"

गद्य—"सत्वरे चलियो आमुकिर गाय, मन्द मन्द आमुकरि गाय तद्वा लंघय, आमुकरि बिचाट मन्दं, बं लं दं रं जं पं हं हं तं सि ओं ओं अमुकस्यं तदं स्वाहा।"

'डाकर-वचन' नामक साहित्य इस युग की एक विशेष वस्तु है। इसकी भाषा शुद्ध तथा मार्जित है। 'डाक-भनिता' वंग-साहित्य के 'खनार वचन' की तरह वैज्ञानिक उपाय से कृषि, औषधि, राजनीति तथा सामाजिक जीवन की दैनन्दिन समस्याओं का समाधान है। डाक[1] के दैहिक अस्तित्व के सम्बन्ध में सन्देह है। डाक था एक काल्पनिक पुरुष और इसका वचन जनगण की वाणी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। असम, वंग तथा उत्कल में डाक-वचन के प्रचलित रहने के कारण तीनों प्रदेशों ने डाक-पुरुष पर दावा किया है। बंगाली डाक-पुरुष था ग्वाले का लड़का, पर असमीया डाक-पुरुष था कुम्हार का लड़का। अतः डाक-साहित्य की आलोचना जटिल हो गयी है। किन्तु—

"लेहिरंगा डाकर गाँव।
सेइ गाँवत उपजिल डाक ॥"

इस वचन से कामरूप जिले के बरपेटा के अन्तर्गत 'लेहि' गाँव का सम्बन्ध लेहिरंगा से जोड़कर देखा जाय तो डाक असमीया ही था और वह काल्पनिक पुरुष नहीं था।

प्राक्-वैष्णव-युग ( सन् १२०० से १४५० ई० तक )—इस युग के साहित्यिक लक्षणों का विचार करने से राजनीति और धर्म की तरह भाषा तथा साहित्य में नाना प्रकार के परिवर्त्तन तथा अव्यवस्था का प्रमाण पाते हैं। इसी युग में भारतीय भाषाओं ने साहित्यिक

---

१. लोक-भाषा के कवि घाघ और भड्डरी की तरह डाक भी लोक-साहित्य के एक प्रसिद्ध कवि हैं। कहा जाता है कि डाक मैथिल थे। इनकी कहावतें और पहेलियाँ मैथिली में बहुप्रसिद्ध हैं। 'डाक-वचनामृत' नामक मैथिली पुस्तक में इनकी रचनाएँ प्रकाशित हैं। —सं०

प्राकृत के बन्धनों से क्रमशः मुक्त होते-होते प्रादेशिक भाषाओं के स्वतन्त्र रूप ग्रहण किये थे पूर्व-भारत में असमीया और वंग भाषाएँ भी अपना-अपना स्वतन्त्र रूप ग्रहण करने लगीं। भाषा की दृष्टि से रामाई पंडित के 'शून्य पुराण' चण्डीदास के 'श्रीकृष्ण-कीर्त्तन' तथा गोपीचन्द और मयनामती के गीतों में असमीयापन स्पष्टतः दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में श्री डिम्बेश्वर नेओग ने अपनी 'असमीयन साहित्यर बुरंजी' नामक ग्रन्थ में तर्क उपस्थित करके सुन्दर विचार प्रकट किया है। उल्लिखित परस्पर विवदमान युक्तियों को छोड़कर यहाँ सर्वमान्य असमीया साहित्य की ही चर्चा की जा रही है।

लिखित साहित्य का उदय असमीया भाषा में कविवर हेम सरस्वती से ही होता है। इन्होंने 'वामन पुराण' और 'प्रह्लाद-चरित्र' का असमीया भाषा में अनुवाद किया है। कामतापुर के राजा दुर्लभनारायण के राजत्व-काल में रुद्र कन्दली तथा हेम सरस्वती ने राजा की पृष्ठपोषकता से ही अपनी काव्य-प्रतिभा का परिचय अनुवाद-साहित्य में दिया है। इस समय कवि हरिहर, कविरत्न, श्रीधर कन्दली तथा रत्न-कन्दली ने भी साहित्य की सेवा की। हरिहर ने 'बभ्रुवाहन-युद्ध' और 'अश्वमेध' नामक काव्य लिखे। श्रीधर कन्दली ने अश्वमेध-पर्व का अनुवाद किया। कविरत्न सरस्वती ने महाभारत के द्रोण-पर्वान्तर्गत 'जयद्रथ-वध' काव्य लिखा। विष्णुभक्त महामायासेवक ताम्रध्वज राजा के शासनकाल में रुद्र कन्दली ने द्रोण पर्वान्तर्गत 'सात्यकि-प्रवेश' का अनुवाद किया।

माधव कन्दली की रामायण-रचना इस युग की विशेष घटना है। कवि माधव कन्दली कछाड़ी-नरेश महामाणिक्य के सभाकवि थे और साहित्यिक जगत् में कविराज कन्दली नाम से प्रख्यात थे। असमीया साहित्य के सर्वश्रेष्ठ उन्नायक श्रीमन्त शंकरदेव इस रामायण की सम्पन्नता तथा सुचारुता पर मुग्ध थे। माधव कन्दली के प्राग्वैष्णव कवि होने पर भी इनकी रामायण में वैष्णव भनिता देखकर इसकी प्राचीनता के प्रति सन्देह किया जाता है। परन्तु, यह वैष्णव भनिता[१] माधव कन्दली की नहीं थी।

कहा जाता है कि माधव ने रामायण के सातो काण्ड की रचना की थी, किन्तु दुर्भाग्यवश इसके आदि काण्ड तथा उत्तर काण्ड आहोम-कछाड़ी-युद्ध में नष्ट हो गया था। बाद में श्रीमन्त शंकरदेव ने उत्तर काण्ड की तथा तदीय शिष्य माधवदेव ने आदि काण्ड की रचना करके रामायण को सम्पूर्ण किया था। शंकरदेव ने अपने वैष्णव-धर्म-प्रचार में इस रामायण की सहायता ली। उत्तर काण्ड की भूमिका में श्रीमन्त शंकरदेव ने अपने परिचय के साथ 'पूर्व कवि अप्रमादी माधव कन्दली' आदि लिखकर माधव कन्दली के प्रति अकृत्रिम श्रद्धा दिखायी। वैष्णवशिरोमणि शंकर, माधव तथा उनके अनुयायी कवियों पर माधव कन्दली के साहित्य का प्रभाव अति मात्रा में दीख पड़ता है।

माधव कन्दली का दूसरा काव्य 'देवाजित्' अपने समय की सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है। असमीया भाषा में रत्नात्मक साहित्य-सर्जन का यह प्रथम परिणाम है और इस रचना

---

१. संस्कृत 'भणिति' शब्द कविता के अर्थ में प्रसिद्ध है। विद्यापति और तुलसी ने भी इस शब्द का कविता के अर्थ में प्रयोग किया है। —सं०

में वैष्णव मत के भावी प्रादुर्भाव का संकेत है। इस काव्य में भगवान् कृष्ण तथा विष्णु के अन्य अवतारों को इतर देवी-देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ ठहराया गया है। इन रचनाओं में शब्द-विन्यास तथा विचारों का अपूर्व प्रवाह है। उन्होंने रामायण में लंका का जो प्राकृतिक चित्रण किया है, उसे असम का प्राकृतिक चित्रण कहा जा सकता है।

इस युग के सभी कवि संस्कृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इनकी कृतियाँ बोलचाल की भाषा में अनूदित या छायानूदित थीं। इन कवियों ने अलंकारों से अपनी रचनाओं को समृद्ध बनाने तथा कविताओं के सौन्दर्य-वर्द्धन के लिए उपमा, यमक और अनुप्रास के पर्याप्त प्रयोग किये हैं।

माधव कन्दली तथा परवर्त्ती सदियों के धार्मिक नेता और साहित्यिक व्यक्ति नौगाँव जिले के थे। बंगाल के नवद्वीप की तरह तथा उत्तर-प्रदेश के काशीधाम की तरह नौगांव उस समय विद्वानों, पण्डितों तथा दार्शनिकों का केन्द्र बन गया था। कछाड़-नरेश विद्योत्साही राजा थे और सम्भवतः ये ही इन विद्या-व्यसनियों के महान् संरक्षक थे। पंचदश शताब्दी के धार्मिक एवं साहित्यिक आन्दोलन का बीज नौगाँव में ही बोया गया था और इसी बीज ने महान् वैष्णवसुधारक श्रीमन्त शंकरदेव के विशाल व्यक्तित्व की छाया में समूचे असम को आन्दोलित कर दिया। सदियों की सांस्कृतिक परम्परा ही इस महान् धार्मिक विप्लव की पृष्ठभूमि है।

वैष्णव-युग (सन १४५० से १६५० ई० तक) — पंचदश शताब्दी के अन्त तक समग्र असम प्रान्त अहोम और कोच राजाओं के अधीन दो भागों में विभक्त हो गया था। अहोम-नरेशों को मुस्लिम आक्रमण का बार-बार सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप प्राचीन कामरूप राज्य अनेक टुकड़ों में विभक्त हो गया। सन् १५१५ ई० में कोच राजा विश्वसिंह के नेतृत्व में कोच-वंश का अभ्युदय आरम्भ हुआ। उनकी मृत्यु के उपरान्त मल्लदेव 'नरनारायण' के नाम से गद्दी पर बैठे। नरनारायण स्वयं विद्वान् थे और वे विद्वानों और पण्डितों के पृष्ठपोषक थे उनके दरबार में वैष्णव-युग के सभी विद्वान्, सन्त तथा पण्डित विराजमान थे। उनमें श्रीमन्त शंकरदेव, माधवदेव, राम सरस्वती सार्वभौम भट्टाचार्य और पुरुषोत्तम विद्यावागीश नामक महान् वैयाकरण राजसभा-रत्न थे। वास्तव में, नरनारायण का शासन-काल असमीया साहित्य के इतिहास में स्वर्णयुग था।

अति प्राचीन काल से ही असम में शाक्त-धर्म का प्राधान्य रहा। जैसा प्रारंभ में कहा जा चुका है कि कामरूप की कामाख्या देवी का प्रभाव सारे प्रान्त पर रहा; परिणाम में शाक्तमतावलम्बी जनगण धार्मिक क्षेत्र में अत्यन्त प्रभावशाली हो उठे। अहोम तथा कोच राजा भी शाक्तमत को आश्रय देने लगे। यह सब होने पर भी चतुर्दश शताब्दी में वैष्णव धर्ममत ने अपनी जड़ जमा ली। वैष्णव धर्म की मानवीय सहृदयता, भक्ति रस की सहज भावुकता तथा जातिवर्ग की भेदबुद्धि-हीन सहिष्णुता ने ब्राह्मण्य धर्म की हृदयहीन बौद्धिकता तथा कर्मकांड के जीवन-हीन क्रिया-कलाप पर विजय प्राप्त कर ली। श्रीमन्त शंकर-

देव ही इस धर्म-विप्लव के नेता थे। इन्होंने अपने जनप्रिय विशाल साहित्य द्वारा प्रेम, भक्ति और एकेश्वरवाद का प्रचार करके असम में नवीन जागरण का उन्मेष किया।

श्रीमन्त शंकरदेव (आविर्भाव सन् १४४९, तिरोभाव १५६९ ई०)—इनका जन्म अहोम राजा सुनेफा के राजत्व-काल में नौगांव जिले के बरदोवा गांव में हुआ था। इन्होंने विख्यात पंडित महेन्द्र कन्दली के 'टोल' में संस्कृत-भाषा में पांडित्य अर्जन किया। अपने प्रिय शिष्य महापुरुष माधवदेव के साथ इन्होंने असम के कोने-कोने में अपना धर्ममत फैलाया। सन् १५६८ ई० में इनका स्वर्गवास कोचविहार में हुआ। इनकी रचनाएँ हरिश्चन्द्र, उद्धव-संवाद, चिह्न-यात्रा, भागवत कीर्त्तन, रामायण (उत्तर काण्ड), रुक्मिणीहरण, उत्कल-माला, वैष्णवामृत, बड़गीत, कालियदमन नाटक, पारिजातहरण नाटक आदि-आदि असमीया साहित्य की अमूल्य सम्पद् हैं। शंकरदेव ही गद्य-साहित्य के जन्मदाता हैं। इन्होंने 'अंकीया नाट' अर्थात् एकांकी की भी रचना की थी। इनके नाटकों में असमीया गद्य-साहित्य का प्रथम चमत्कार मिलता है।

शंकर-साहित्य की भाषा मैथिली और असमीया का एक सुन्दर मिश्रण है। उन पर मैथिली का प्रभाव इसलिए पड़ा था कि ये मिथिला-कोयल विद्यापति ठाकुर की रचना के बड़े मर्मज्ञ पाठक थे। वृन्दावन में इन्होंने व्रजभाषा भी सीखी और अपने शिष्यों के लिए मिश्रित व्रजभाषा में बड़गीत की रचना की। उदाहरण के लिए बड़गीत की भाषा को देखिए—

राग-बसन्त—"कैछे हरहरि तरण उपाय।
नाश सकले कैलों विषय लोभाइ॥
अथिर जीवन धन यौवन देह।
सुहृद सोदर सुत किछु नोहे केह॥
पेखिते अमिया रस विष परिणाम।
तथिये मजाइलों मन मेरि राम॥"

अंकिया नाटक के एक गीत की भाषा भी देखिए—

रागगान्धार—"चलल नारद हरिगुण गाइ।
भरमे द्वारकापुर सम्पति चाइ॥
रतने रचित यत हरिक आवास
जैचे सुरपुर कर परकाश॥
पेखल पाचु भुवन अनुपमा।
आसने ठिक बैठे सत्यभामा॥"

× × ×

"जीवतु, जीवतु नारद बोल।
डाकि करहु नर हरि हरि बोल॥"

अंकिया नाटक में संस्कृत-पद्य भी हैं।

माधवदेव—पहले ये घोर शाक्त थे, पर शंकरदेव के प्रभाव में आकर ये कट्टर वैष्णव बन गये। ये विद्वान् तथा गायक थे। आजीवन ब्रह्मचर्य रखकर इन्होंने शंकर-मत का प्रचार किया। इनके नाम पर आजीवन ब्रह्मचारियों का एक सम्प्रदाय 'केवलिया' नाम से चल पड़ा।

माधवदेव की मुख्य कृतियाँ ये हैं—

रामायण आदिकाण्ड, वैष्णव-कीर्त्तन, नाम घोषा, भक्ति-रत्नावली, शंकरकृत भक्ति-रत्नाकर की टीका आदि। कविता-क्षेत्र में नाम घोषा तथा भक्ति-रत्नावली सबसे अधिक सुन्दर और सफल हैं। इन्होंने नाटक भी लिखे थे—अर्जुन-भजन, भोजन-ब्रहार आदि नाटक बड़े सुन्दर हैं।

शंकरदेव तथा माधवदेव के अतिरिक्त इस स्वर्णयुग में बकुल, कविरत्न, चुरामणि तथा पुरुषोत्तम ने गणित, ज्यौतिष और व्याकरण पर ग्रन्थ लिखे थे। कवि मनकर, दुर्गावर, नारायण तथा पष्ठिवर ने पद्म-पुराण की रचना की। अनन्त कन्दली ने रामायण के पांच काण्ड लिखे थे। राम सरस्वती ने महाभारत के आधार पर रोमांचक काव्य रचे थे। इन्होंने जयदेव के 'गीत-गोविन्द' का भी अनुवाद किया था।

सार्वभौम भट्टाचार्य इस युग के एक ऊँचे दर्जे के साहित्यकार थे। इन्होंने 'भागवत पुराण' तथा 'भविष्य पुराण' के कुछ अंशों का अनुवाद किया। अपने गुरुदेव श्रीमन्त शंकरदेव की जीवनी भी लिखी थी। इनकी पत्नी भी विदुषी थीं, जिन्होंने नरनारायण के दरबार में प्रसिद्ध बंगाली धर्मशास्त्री रघुनन्दन भट्टाचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था!

इस वैष्णव-युग में अवैष्णव साहित्यकारों की भी उत्तमोत्तम रचनाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें से कवीन्द्र, संजय, रमापति तथा पीताम्बर प्रसिद्ध थे। पीताम्बर का 'ऊषा-परिणय' काव्य उपलब्ध है।

वसन्त ऋतु का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं—

"लवंग माधवीलता आरो पारिजात।
अशोक किंशुक आदि पुष्प असंख्यात॥
मकरन्द परागे रंजित महीतल।
तात ठेकि समिरणे करे हल बल॥"

इस युग में गद्य-साहित्य का चमत्कार दिखा गये हैं भट्टदेव। गीता तथा भागवत का असमीया भाषा में गद्यानुवाद करके इन्होंने असमीया गद्य-साहित्य में चार चाँद लगा दिये हैं। इनकी इन रचनाओं के नाम हैं 'कथा-गीता' एवं 'कथा-भागवत'। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने इन पुस्तकों को पढ़कर दृढ़ता से कहा था, 'कथा-गीता को पढ़ने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है कि षोडश शताब्दी में असमीया भाषा के गद्य-साहित्य का ऐसा सुन्दर विकास हुआ था जैसा बंग-साहित्य में ईश्वरचन्द्र तथा बंकिमचन्द्र के पूर्व तक प्राप्त नहीं होता।'

कथा-भागवत का गद्य—"एक दिना नारद ऋषि नारायणक देखिवे तान आश्रमत

गछा। यि लोकहितार्थ आकल्पान्त तप करिबे लागिछा, तात कलाप ग्रामवासी मुनि सबे आवृत हुआ नारायण बसिछन्त। नारदो प्रणाम करि तुमि यि पुचिला आके पुचिलन्त।"

कथा-गीता में—देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

श्लोक का असमीया अनुवाद 'कथा-गीता में' देखिए—"येने देही पुरुषर एह देहाते देह-निबन्धन कौमार, यौवन जरा अवस्था हय देहान्तर-प्राप्ति को तेमने बुजिबा। एते के यि धीर हय सि देहर उत्पत्ति विनाशत मोह नयाइ।"

पहले कहा जा चुका है कि वैष्णव-युग सभी दृष्टियों से असमीया साहित्य का स्वर्णयुग है। यह केवल असम के ही नहीं, सारे भारतवर्ष के गौरव का विषय है। असमीया रामायण प्रान्तीय भाषा की रामायणों की मार्गदर्शक थी। काशीदास की बँगला-रामायण तथा तुलसी की हिन्दी-रामायण माधव-रामायण के बाद रची गयी थी। गद्य-साहित्य का तो क्या कहना। महामानव सर आशुतोष मुकर्जी तथा आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने इस युग के साहित्य को देखकर आनन्दोद्गार प्रकट किये। सेडलर-कमीशन के सदस्य के नाते भारतीय भाषा-साहित्यों के सक्रिय हितैषी सर आशुतोष जब गौहाटी पधारे थे, तब असमीया साहित्य का चमत्कार देखकर ऐसे मुग्ध हुए थे कि इन्होंने स्वयं अथक परिश्रम करके असमीया पुरातत्त्वविद् पंडित हेमचन्द्र गोस्वामी की निगरानी में 'असमीया साहित्यर चानेकी' नामक अमूल्य संग्रह-ग्रन्थ सात खंडों में लिखवाकर कलकत्ता-विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित कराया था। इस युग की साहित्यिक प्रवृत्तियों का श्रेय विद्योत्साही कोच-नरेश नरनारायण को ही प्राप्त होना चाहिए। इन्होंने ही महान् कृतियों के प्रादुर्भाव का क्षेत्र प्रस्तुत किया था। शंकर, माधव, भट्टदेव, अनन्त कन्दली जैसे अमर साहित्यकारों को जो प्रोत्साहन नरनारायण से मिला था वैसा यदि मध्य तथा आधुनिक काल में प्रतिभावान् व्यक्तियों को प्राप्त होता तो निस्सन्देह असमीया साहित्य पड़ोसी वंग-साहित्य की तरह उन्नत हो जाता।

**मध्य काल सन् १६५० से १८३४ ई० तक**—पंडितों ने इस वैष्णवोत्तर काल का सूत्रपात सप्तदश शताब्दी के मध्यभाग से उनविंश शताब्दी के प्रारंभ तक माना है। यह काल जीवन-चरित, इतिहास, आयुर्वेद, गणित, नृत्यगीत आदि लौकिक विषयों पर साहित्य-रचना का विस्तार-काल था। 'असमीया साहित्यर चानेकी' में इस काल को विस्तार-युग बताया गया है।

त्रयोदश शताब्दी में अहोम असम में आ गये थे। अब तक इनका शासन सुदृढ़ हो चुका था। शिवसागर में इनकी राजधानी बसी। इन्होंने राजकाज और व्यावहारिक भाषा के रूप में असमीया को ही अपना लिया था। फिर, असमीया साहित्य को प्रोत्साहन देकर अपनी जनप्रियता बढ़ाने लगे। व्यावहारिक जीवन की सुविधा के दृष्टिकोण से लौकिक साहित्य की रचना होने लगी। बुरंजी यानी इतिहास-साहित्य इस काल का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अवदान है।

सबसे पहली बुरुञ्जी पुरणी असम बुरुञ्जी है जिसमें चुकाफा से लेकर गदाधर सिंह तक के अहोम-नरेशों का इतिवृत्त है। इसका रचयिता अज्ञात ही रह गया। कामरूप-अनुसन्धान-समिति के तत्त्वावधान में यह प्रकाशित हुई है। इसके अतिरिक्त छन्दोबद्ध पद्य में 'कलि भारत' और 'बेलिराम बुरुञ्जी' उल्लेखनीय है। 'कलि भारत' में सन् १६७९ से १८५४ ई० तक के अहोम-नरेशों के शासन का वर्णन है। बेलिराम बुरुञ्जी की रचना विश्वेश्वर विद्याधिप ने की थी। इसमें अहोम-नरेशों के शासन के अस्त का इतिहास है।

'मायामरा' जन-आन्दोलन इस समय के राजनैतिक तथा सामाजिक इतिहास की मुख्य घटना है। असम में वैष्णव धर्म के प्रादुर्भाव को तत्कालीन गुरुधर एवं अहोम राज-घराने ने अच्छा नहीं समझा। शंकरदेव तथा माधवदेव ने इसी कारण से कोच राजा नरनारायण का आश्रय लिया था। बाद में गदापाणि आदि अर्थात् गदाधर सिंह ने निर्मम कठोरता से वैष्णवों का समूल विनाश करने की चेष्टा की थी। इसी गदाधर सिंह की रानी जयमती इतिहास-प्रसिद्ध सती जयमती हैं। शिवसागर में इनका स्मारक जयसागर नामक बृहत् सरोवर जयमती की असामान्य सत्यनिष्ठा तथा अतुलनीय आत्मत्याग की याद दिलाता है। गदाधर सिंह के पुत्र रुद्र सिंह ने (सन् १६९६—१७१४ ई०) ढलती आयु में वंगदेश के शाक्त महन्त कृष्णराम भट्टाचार्य को असम में बुलाकर उनसे हिन्दूधर्म ग्रहण किया। कृष्णराम ने शाक्त धर्म को राजशक्ति के सहारे खूब फैलाया। वैष्णवों पर अत्याचार इनके पुत्र राजा शिवसिंह ने भी किया। शिवसिंह की रानी फुलेश्वरी के राजत्व-काल में शाक्त-वैष्णव-विद्रोह चरम विन्दु तक पहुँच गया था। इस विद्रोह ने असम को दुर्बल कर दिया।

इतिहास के अतिरिक्त 'चरित पुथी या जीवनी' की रचना इस काल में गद्य तथा पद्य में हुई थी। इनमें सर्वप्रथम शंकरदेव की जीवनी गुरु-चरित या शंकर-चरित है। इसके लेखक हैं दैत्यारि ठाकुर। इसका रचना-काल सप्तदश शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। वैष्णवशिरोमणि नदिया-बिहारी श्रीकृष्ण चैतन्य महाप्रभु से असम-शिरोमणि श्रीमन्त शंकरदेव मिले थे। इस मिलन का वर्णन दैत्यारि ठाकुर ने किया है। देखिए—

"प्रभाते उठिया निते गमन करन्त।
कृष्ण चैतन्यर गैया थानक पाइलन्त॥
पथत चलन्ते शिक्षा दिलन्त लोकक।
नकरिबा केह नमस्कार चैतन्यक॥"

× × ×

"कृष्ण चैतन्य चन्द्र आछन्त यथात।
भैलन्त शंकर सूर्य प्रवेश तथात॥
श्रीकृष्ण चैतन्य आछा मठर भीतर।
ब्रह्मचारी कहिलन्त आहिछा शंकर॥
शंकरर नाम शुनि कृष्ण चैतन्यर।
मिलिल आनन्द बाझ भैलन्त मठर॥

दुवार मुखत रहि अछिलन्त चाइ।
दुयो नयनर नीरव धारे बहि याइ॥
शंकररो नयनर नीर बहे धारे।
पथहन्ते निरखिया आछन्त सादरे॥"

कविशेखर भट्टाचार्य ने युवराज चाऊसिह की पत्नी प्रमोदसुन्दरी के विनोद के लिए यौन-विज्ञान पर छन्दोबद्ध रचना इसी काल में की थी। स्वप्न-विज्ञान पर भी शुभंकर कवि ने पुस्तक लिखी थी। रोमांस-प्रेम-सम्बन्धी काव्य रामद्विज कवि ने, शकुंतला-काव्य की रचना तथा जयदेव-कृत गीत-गोविन्द का अनुवाद कविराज चक्रवर्त्ती ने और हितोपदेश का पद्यानुवाद राय मिश्र ने किया था। इस काल का ध्यान से अध्ययन करने से हिन्दी-साहित्य के रीति-काल की याद आती है। इस काल के साहित्य में शृंगार रस का प्राधान्य दिखाई देता है।

**आधुनिक काल (सन् १८३४ ई० से आज तक)**—आधुनिक असमीया की नींव मध्यकाल के उत्तरार्द्ध में ही साहित्यिकों ने डाल दी थी। अहोम राजाओं का शासन-काल असमीया साहित्य की समृद्धि के लिए बड़ा अनुकूल रहा; परन्तु गदाधर, रुद्र, फुलेश्वरी, राजशेखर आदि नरेशों के समय में जो विप्लव मच गया था उससे चन्द्रकान्त सिंह के शासन-काल (सन् १८२७ ई०) में अहम राज्य नष्ट-भ्रष्ट हो गया। एक अहोम सेनापति के निमन्त्रण पर बर्मियों ने असम पर आक्रमण किया, खूब लूटा, फिर दुबारा हमला करके सन् १८२० ई० में उस पर अधिकार कर लिया। इधर कछाड़ में अँगरेजों ने बर्मियों से लड़कर जीता। सन् १८५६ ई० में अँगरेजों ने सारे असम पर कब्जा कर लिया। अँगरेजों के साथ दूसरे प्रान्तों से अफसर, क्लर्क आदि आये थे, जिनमें बंगालियों की संख्या अधिक थी। राजकाज की सुविधा के लिए अँगरेजों ने सन् १८३६ ई० में वंग-भाषा को ही अदालतों की तथा स्कूली शिक्षा की भाषा का स्थान दे दिया।

**असमीया ईसाई-साहित्य की त्रिमूर्त्ति**—इसी समय अमेरिकन बेप्टिष्ट पादरियों का शुभागमन असम में हुआ। इन्होंने अपने धर्म-मत के प्रचार के लिए असमीया भाषा सीखी, और अपनी धार्मिक पुस्तकों का अनुवाद करने लगे। एक असमी पंडित आत्माराम शर्मा के सहयोग से सन् १८१३ ई० में बाइबिल का अनुवाद हो चुका था। सन् १८४० ई० में डब्ल्यू रोबिन्सन ने असमीया भाषा का व्याकरण भी प्रकाशित कर लिया। सन् १८४६ई० में शिवसागर से 'अरुणोदय' नामक एक मासिक पत्र भी निकालने लगे। सन् १८६८ ई० में पादरी ब्रनसन ने असमीया-अँगरेजी-कोश प्रकाशित किया। सन् १८८४ में पादरी एन्० ब्राऊन ने अपनी 'ग्रामेटिकल नोट्स आफ दि आसामीज लैंग्वेज' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इन पादरियों ने असमीया साहित्य की प्राचीन पाण्डुलिपियों को खोज निकालना शुरू किया और अन्त में इन्हीं के अथक परिश्रम तथा प्रयत्न से सन् १८८२ ई० में असमीया जनता को अपना जन्मसिद्ध भाषाधिकार प्राप्त हुआ। इसके बाद इन पादरियों ने असमीया भाषा तथा साहित्य की सेवा अपने ढंग से जारी रखी। पादरी पी० एच्० मूर ने सन् १९०७ ई० में एक

स्थान पर लिखा है कि आधुनिक असमीया साहित्य १९ वीं सदी के विगत ६० वर्षों के प्रयत्न का परिणाम है। ब्राऊन, ब्रनसन और निधिलेवी असमीया ईसाइ-साहित्य के निर्माता हैं। ये असमीया साहित्य की त्रिमूर्त्ति के नाम से प्रख्यात हैं।

असमीया गद्य-साहित्य की त्रिमूर्त्ति—आनन्दराम ढेकियाल फुकन, हेमचन्द्र बरुवा और गुणाभिराम बरुवा आधुनिक असमीया गद्य-साहित्य के प्रवर्त्तक त्रिमूर्त्ति हैं। आनन्दराम की रचनाएँ 'इंगलंडर विवरण' आदि प्रसिद्ध हैं। हेमचन्द्र हेमकोश नामक असमीया कोश लिखकर अमर हो गये हैं। इन्होंने पाठ्य-पुस्तकें, व्याकरण आदि भी लिखे थे। इनकी कोवाभापुरी, आत्म-जीवन-चरित तथा पाठमाला रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। गुणाभिराम की रचनाएँ 'सौमार भ्रमण', 'असम देशर उपकार,' और 'आनन्द फुकनर जीवन-चरित' उत्तम साहित्य-कृति हैं।

लक्ष्मीनाथ बेज बरुवा—उक्त त्रिमूर्त्ति के अलावा प्रायः उन्हीं के समसामयिक चार प्रतिभाओं को साहित्य-क्षेत्र में पाते हैं। जैसे कालीराम बरुवा, कमलाकान्त भट्टाचार्य, सत्यनाथ बरा एवं लक्ष्मीनाथ बेज बरुवा। पर, साहित्य में नवीन भावधारा तथा शैली बेज बरुवा महोदय ही सर्वप्रथम लाये थे। इन्होंने अपना जीवन पत्रकार के रूप में आरम्भ किया। उपन्यास, व्यंग्यात्मक निबन्ध, कहानी, नाटक और कविता के क्षेत्रों में आपकी प्रतिभा चमक उठी। आप एक सुप्रसिद्ध प्रहसन-लेखक तथा असमीया में सर्वप्रथम कहानी-लेखक हैं। आपका गीत 'ओ मोर असम देश' असम में राष्ट्रीय गीत के रूप में आदृत हुआ।

चन्द्रकुमार आगरवाला—इनकी कविताएँ सजीव तथा सरस हैं। इनकी कविताओं में छायावाद का मनोमोहक आवेश है। कुछ रचनाओं में आवेगपूर्ण उद्गार भी मिलते हैं। वे असमीया जाति को पुकार कर कहते हैं—

"उठा असमीया चोवा चकु मेलि
एलाह पाटीत ना लागे लाज।
बंगाली टोपनी भांगि उठा बहा
पेलोवा पेलोवा टोकोना साज॥"

श्री हेमचन्द्र गोस्वामी, दुर्गेश्वर शर्मा, अम्बिका गिरि राय चौधुरी, वेणुधर राजखोवा आदि वयोवृद्ध साहित्यिकों ने भी सुमधुर कविताएँ रचीं। श्री राय चौधुरी ने अनेक राजनैतिक उत्तेजक कविताएँ लिखीं। वेणुधर राजखोवा कवि होते हुए भी सफल नाटककार हैं। इनका 'सेउती किरण' सुन्दर नाटक है। इन्होंने अपने प्रहसन-नाटक 'तीनी घइनी' और 'अशिक्षिता घइनी' में अज्ञानता तथा रुढ़िप्रियता की हँसी उड़ायी। श्री हेमचन्द्र गोस्वामी की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। इन्होंने असमीया भाषा की उन्नति तथा इसके साहित्य को उच्च स्तर पर लाने के लिए कई प्रकार से प्रयत्न किये। इनका निबन्ध 'असमीया भाषा' बड़ा उत्तेजक है। इसमें भाषा की अवहेलना होते देखकर इन्होंने अँगरेज शासक और बंगाली कर्मचारियों की तीव्र भाषा में आलोचना की।

विहगी कवि रघुनाथ चौधरी—आधुनिक असमीया कवियों में श्री रघुनाथ चौधुरी का स्थान बहुत ऊँचा है। इनकी कविताओं में छायावाद की झलक है। सरस तथा

कोमल होने के कारण इनकी भाषा संगीत-जैसी हो गई है। इनकी रचनाओं का आधार उन्मुक्त प्रकृति है। गगनविहारी पक्षियों, पर्वतीय स्रोतों और पुष्पों को अपनी रचनाओं में बहुत अपनाया। भारत-सरकार ने आपको साहित्यिक पुरस्कार द्वारा सम्मानित किया है।

असमीया का निबन्ध-साहित्य और आलोचना-साहित्य भी काफी प्रगति पर है। डा० सूर्यकुमार भूयाँ और वेणुधर शर्मा ने आलोचनात्मक ऐतिहासिक निबन्धों से असमीया गद्य-साहित्य की अमूल्य सेवा की। स्वर्गीय डा० वाणीकान्त काकति तथा डा० विरंचिकुमार बरुवा ने भाषा-शास्त्र तथा साहित्यिक आलोचना की पुस्तकें लिखकर प्राचीन और नवीन असमीया साहित्य के महत्त्व को दरसाया है। प्रस्तुत लेख में इन दोनों पंडितों की कृतियों की सहायता प्रमाणस्वरूप ली गयी है। लेखक इनके आभारी हैं। श्री महेश्वर नेओग एक उदीयमान आलोचक हैं। असमीया भाषा और साहित्य पर इन्होंने कई आलोचनात्मक निबन्ध तथा पुस्तकें लिखीं।

वयोवृद्ध कवियों में श्री नीलमणि फुकन का स्थान भी ऊँचा माना जाता है। इनकी रचना गंभीर और तथ्यपूर्ण होती है। इनके निबन्ध आदर्शवाद पर आधृत हुआ करते हैं। प्रस्तुत लेख के लेखक ने इनकी कई कविताओं का, 'कवि' तथा 'शिक्षा' निबन्धों का हिन्दी में अनुवाद करके राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति (वर्धा) की साहित्यिक पत्रिका, मासिक 'राष्ट्रभारती' में प्रकाशित किया था। ये आजीवन ब्रह्मचारी रहे हैं। सत्तर वर्ष की आयु में भी इनकी भाषण-शक्ति को देखकर लोग दंग रह जाते हैं। असम में इनको 'वाग्मिवर' की उपाधि दी गयी है।

नवीनतम युग में उच्च कोटि की साहित्यिक प्रतिभा को लेकर प्रकट हुए हैं आचार्य हेम बरुवन। ये गौहाटी के वेजबरुवा-कालेज के आचार्य हैं। अँगरेजी भाषा तथा साहित्य पर भी इनका उतना ही अधिकार है, जितना अपनी मातृभाषा असमीया पर। अँगरेजी में इनकी 'लाल नदी और नीले पहाड़' उच्चकोटि की सूचनात्मक पुस्तक है। इनकी 'सागर देखिछा' नामक कृति ने असमीया साहित्य में एक नवीन धारा का प्रवर्त्तन किया है। यह पुस्तक यायावर की 'दृष्टिपात' नामक बँगला पुस्तक की परम्परा की है। इनसे असमीया साहित्य-जगत् बहुत आशा रखता है।

आधुनिक असमीया साहित्य-क्षेत्र में महिला साहित्यिकों का स्थान किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं। पद्मावती फुकन के उपन्यास बहुत जनप्रिय हैं। आप ही महिलाओं में सर्वप्रथम उपन्यासलेखिका हैं। यमुनेश्वरी खातुनिया की कविताएँ सरस और सरल हैं। नलिनीबाला देवी और धर्मेश्वरी देवी छायावादी कवयित्री हैं। नलिनीबाला देवी की भाषण-शक्ति अपूर्व है। स्नेहलता भट्टाचार्य तथा चन्द्रप्रभा शइकियानी ने कई कहानियाँ और उपन्यास लिखे हैं। ❀

---

❀ बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के पंचम वार्षिकोत्सव में पढ़ सुनाने के लिए, परिषद् के अनुरोध से, विद्वान् लेखक ने यह निबन्ध लिखा था, किन्तु समय पर न मिलने के कारण उक्त अवसर पर न पढ़ा जा सका। —सं०

# भारतीय इतिहास में मगध का स्थान

श्री व्रजविहारी शरण, बक्सर-गदाधरगंज (शाहाबाद)

मोहन-जो-दड़ो की खुदाई के बाद भारतीय इतिहास की ओर-छोर का पता नहीं चलता यद्यपि प्राप्त सामग्रियों से एक विस्तृत उच्चकोटि की सभ्यता का धूमिल चित्र तैयार होने लगा है, उसके विषय में अनेक मौलिक और आवश्यक प्रश्नों का उत्तर नहीं मिल पाया है, तथापि जैसे-जैसे खुदाई की मर्य्यादा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे स्पष्ट हुआ जाता है कि वह सभ्यता, सिन्ध और पञ्जाब में नियमित न रहकर उत्तरी भारत भर में फैली हुई थी। बिहार में, पाटलिपुत्र और बक्सर की खुदाइयों से, वैसी ही मिट्टी और बालू की पकाई (tervacotta) मूर्त्तियाँ मिली हैं, जैसी मोहन-जो-दड़ो में मिली थीं। उत्तर-प्रदेश, पञ्जाब और सौराष्ट्र में, जहाँ भी खुदाई हुई है, वैसी ही मूर्तियाँ पाई गई हैं। इन बातों से इतिहासज्ञों में यह धारणा हुई जाती है कि जिस सभ्यता का चित्र हमें मोहन-जो-दड़ो में मिला है, वह इन प्रदेशों तक तो अवश्य फैली हुई थी। यद्यपि मोहन-जो-दड़ो और हरप्पा में प्राप्त लिपि की तालिका तो अभी तक अप्राप्त है, और उसे पढ़ने के प्रयत्न अभी तक असफल समझे जाते हैं, तथापि विद्वानों का झुकाव उस सभ्यता को अनार्य मानने की ओर ही है।

इस झुकाव के अनेक कारण हैं, जिनमें तीन मुख्य हैं। पहला तो यह कि वर्त्तमान भारतीयों में, अनेक जातियों के सम्मिश्रण के साथ-साथ, भिन्न जातियों की स्वतन्त्र स्थिति भी पाई जाती है। इनमें चार मुख्य जातियाँ हैं—निग्राइटो (Negrito), आष्ट्रेलायड (Australoid), द्राविड़ (Dravidian) और आर्य्य। इन सभी जातियों की भाषाओं और धार्म्मिक विश्वासों का प्रभाव प्राचीन आर्य्यभाषा (संस्कृत, प्राकृत) और आधुनिक आर्य्यभाषाओं में पाया जाता है। दूसरा, यह सिद्धान्त कि आर्य्य यूरोप से आये। तीसरा, यह कि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता वैदिक सभ्यता से उच्चकोटि की थी। यहाँ पर इन बातों की जाँच नहीं करना है; केवल इसी बात की ओर ध्यान आकृष्ट करना है कि आधुनिक इतिहासज्ञों के अनुसार हमारी आज की सभ्यता अनेक सभ्यताओं का सम्मिश्रण है, और हमारा इतिहास, पाश्चात्त्य विद्वानों से निर्धारित सीमा के सहस्राब्दियों पहले प्रारम्भ होता है।

सभी विद्वान् यह मानते हैं कि हमारी सभ्यता पर निग्राइट जाति का बहुत ही कम प्रभाव पाया जाता है। परन्तु, आष्ट्रेलायडों और द्राविड़ों का प्रभाव यथेष्ट मात्रा में मिलता है; अब इस प्रभाव का रूप चाहे आर्य्य सभ्यता के ताने पर अनार्य्य बाने का हो, अथवा अनार्य्य ताने पर आर्य्य बाने का हो, यह स्पष्ट है कि एक समय था, जब उत्तरी भारत में अनार्य्य सभ्यता फैली हुई थी और बिहार—प्राचीन मगध, अङ्ग और मिथिला—में इस बात के चिह्न मिलते भी हैं। वैदिक साहित्य से भी मालूम होता है कि प्रारम्भिक काल में आर्यों को बिहार का कुछ भी ज्ञान नहीं था, परन्तु पीछे, ब्राह्मणों और अथर्ववेद के समय में, जब बिहार का परिचय हो गया, तब यहाँ के लोग 'व्रात्य' कहलाने लगे। ये 'व्रात्य' वैदिक

समाज से बाहर समझे जाते थे, परन्तु वे असभ्य नहीं थे, क्योंकि अथर्ववेद में 'व्रात्य' की एक विख्यात स्तुति मिलती है। अनेक विद्वान् यह अनुमान करने लगे हैं कि अनेक पौराणिकी अनैतिहासिक कथाएँ अनार्य्य जनश्रुतियों के परिवर्त्तित रूप हैं। इस बात का समर्थन यवन (Greek)–इतिहास में पाया जाता है। यह सिद्ध हो गया है कि अनेक ग्रीक-देवताओं और वीर मनुष्यों की कथाएँ, जैसे इलियड (Iliad) और ओडिस्सी (Odyssey) अनार्य्य मिनोअनों (Minoan) के देवताओं और उनकी प्रचलित कथाओं के परिवर्त्तित रूपमात्र हैं। यदि आगे की खुदाइयों से इस दृष्टिकोण का समर्थन हुआ, तो प्राचीन भारतीय इतिहास का रूप ही बदल जायगा।

भविष्य में जो कुछ भी हो; उपर्युक्त पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए, हम यह नहीं कह सकते कि बिहार का इतिहास महाभारत-काल से या उसके कुछ ही पहले से प्रारम्भ हुआ। महाभारत में मगध के एक राजा का नाम, बृहद्रथ, दिया हुआ है और बृहद्रथ का पुत्र था विख्यात जरासन्ध, जिसने भारत के प्रायः सभी राजाओं को (हस्तिनापुर को छोड़ कर) अपने वशमें कर लिया था। रामायण के अनुसार गिरिव्रज के बसानेवाले और मगध के प्रथम ( आर्य्य ? ) राजा कुश के पुत्र वसु थे। पुराणों ने उत्तरी भारत के सभी राजवंशों की उत्पत्ति इक्ष्वाकु अथवा इला से बताई है। उनके अनुसार मगध का बार्हद्रथ वंश भी चन्द्रवंशी था और पुरु से ही प्रारम्भ हुआ था। बार्हद्रथों को वासव भी कहते थे। इससे रामायण की कथा की पुष्टि होती है कि वसु ने ही गिरिव्रज बसाया। प्रतीत होता है कि बृहद्रथ के बाद यह वंश बार्हद्रथ नाम से प्रसिद्ध हो गया। इसका कारण यही हो सकता है कि बृहद्रथ स्वयं यशस्वी राजा होगा। महाभारत के सभा-पर्व में इस राजा की बड़ी प्रशंसा की गई है। जरासन्ध के जन्म की कथा अविश्वसनीय है। कहा गया है कि बृहद्रथ की दोनों रानियाँ सगी बहनें थीं, परन्तु दोनों में से एक को भी पुत्र नहीं हुआ। राजा धर्मपरायण व्यक्ति थे, और बराबर यज्ञादि किया करते थे। इससे पुत्र न होने पर उन्हें अत्यन्त दुःख और क्लेश हुआ। उनका मन सब छोड़-छाड़ कर, जंगल का आश्रय लेने की ओर दौड़ने लगा। इसी समय एक विख्यात महर्षि उनकी राजधानी के बाहर आ टिके। राजा अपनी रानियों को लेकर, उनके पास गये, और उनकी ऐसी सेवा की कि वह प्रसन्न हो गये और वर माँगने को कहा। तब राजा ने अपने दुःख की बात कही। महर्षि सब सुन कर, ध्यानावस्थित हो गये, तो उनकी गोद में एक सुन्दर आम का फल आ गया। उसे राजा को देते हुए बोले—'इसी से तुम्हें एक प्रतापी पुत्र होगा।' अपनी रानियों पर राजा की समान प्रीति थी और उनके प्रति उनका व्यवहार भी समान होता था। इसलिए, उन्होंने उस आम को खाने के लिए दोनों को दिया। इसका फल यह हुआ कि दोनों ही गर्भवती हुईं, परन्तु पूर्ण बच्चा किसी को भी नहीं हुआ। उन अर्द्ध शिशु-खण्डों को मृत समझकर धाइयों ने बाहर कूड़ा-कर्कट में फेंक दिया। एक जरा नाम की राक्षसी ने उन खण्डों को देखा और जीवित जानकर, उन्हें जोड़ दिया। इस तरह जरासन्ध का जन्म हुआ और उसका नाम भी उसी राक्षसी के नाम के अनुसार रखा गया। इस कथा से इतना ही अनुमान लिया जा

सकता है कि जरासन्ध की उत्पत्ति के विषय में किंवदन्तियाँ प्रचलित थीं और सम्भवतः वह बृहद्रथ का औरस पुत्र नहीं था।

जो कुछ भी हो, वसु के पहले के मगध का इतिहास तो अज्ञात है ही, वसु के बाद और बृहद्रथ के पहले के इतिहास के लिए जनश्रुतियाँ भी नहीं मिलतीं। बृहद्रथ से महाभारत-युद्ध के समय तक मगध की स्थिति का चित्रण महाभारत और पुराणों में किया गया है। उस समय मगध भारत के सभी राष्ट्रों में उच्च स्थान प्राप्त कर चुका था। जरासन्ध का मगध शक्तिशाली, सभ्य और अपने शत्रुओं में भय पैदा करनेवाला हो चुका था। श्रीकृष्ण के अनुसार, जरासन्ध के भय से, अनेक राजवंश, जिनकी शूरता वैदिक काल में विख्यात थी, अपने-अपने देशों को छोड़कर दूर भाग गये थे। स्वयं श्रीकृष्ण अपने समस्त परिवार को लेकर, मथुरा छोड़ दूर द्वारवती में जा बसे थे। इन बातों से उस समय के भारत के राजनैतिक क्षेत्र की उथल-पुथल स्पष्ट हो जाती है। ऋग्वेद से स्पष्ट है कि उन दिनों के आर्य्यावर्त्त में बराबर हस्तिनापुर और पाञ्चाल के एलवंशधरों की ही प्रधानता चली आती थी। इन वंशधरों में भरतों, (जिनमें त्रित्सुओं की गिनती थी), पौरवों, द्रुह्युओं, यदुओं, तुर्वसुओं और अनुओं की ख्याति थी। वे आपस में कभी लड़ भी लेते थे, और कभी मिल भी जाते थे। दाशराज्ञ की लड़ाई ऋग्वेद में विख्यात है, जिसमें भरतों के राजा सुदास ने दस राजाओं की संघटित सेना को बुरी तरह हराया था। इससे स्पष्ट है कि जब मगध का राजा इतना शक्तिशाली हो गया कि सनातन से चली आई भरतों की प्रधानता नष्ट होने लगी, तो उस वंश के विचारशीलों और हितैषियों में उसका विरोध करने की प्रवृत्ति का जगना स्वाभाविक था। जरासन्ध स्वयं प्रतापी तो था ही, उसने दूसरे बलवान् राजाओं का अपने अधीन ऐसा संघटन भी कर लिया था कि भरतवंशवाले एक तरह से घिरे-से जाते थे। चेदी का बलवान् शिशुपाल, पश्चिमी सीमा का भगदत्त, और दक्षिण और पूर्व के सभी बलवान् राजा उसके अनुयायी बन गये थे। श्रीकृष्ण की नीति इस संघटन का नाश कराने की थी और इस कार्य्य की सफलता के लिए उन्होंने पाण्डवों को उपयुक्त साधन समझा था। दुर्योधन अपनी मूर्खता से इस नीति की सफलता में बाधक बन गया और श्रीकृष्ण के लाख समझाने पर भी नहीं समझा। इसमें सन्देह नहीं कि महाभारत के युद्ध से उनके इष्ट की पूर्ण पूर्ति हुई—मगध और उसके सहायकों का ऐसा नाश हुआ कि वे फिर एक सहस्र वर्षों तक सार्वभौम पद प्राप्त करने का स्वप्न भी नहीं देख सके। यद्यपि चक्रवर्ती-पद उस समय भरतों में रह गया, परन्तु उनकी शक्ति क्षीण हो गई।

पुराणों और महाभारत के अनुसार भारत-युद्ध के समय में सहदेव गिरिव्रज के सिंहासन पर था, और उस युद्ध में वह मारा गया। उसके बाद उसका पुत्र सोमाधी राजा हुआ। सोमाधी की छठी पीढ़ी में सेनाजित् मगध का राजा था और उसके समसामयिक पौरव अधिसीमकृष्ण और कोशल दिवाकर थे। सोमाधी से इक्कीसवाँ राजा रिपुञ्जय हुआ जिसे उसके सेनापति ने मार दिया। इस तरह मगध के बार्हद्रथ वंश का नाश हो गया। यहाँ पर पौराणिकी वंशावलियों में गड़बड़ी आ गई है और बौद्ध और जैन जनश्रुतियाँ अधिक

विश्वसनीय और प्रामाणिक पाई गई हैं। उनके अनुसार बुद्ध के समसामयिक बिम्बिसार और अजातशत्रु थे। बिम्बिसार का पिता भट्टीय अङ्ग के राजा, ब्रह्मदत्त से, हार गया था; परन्तु कुछ ही दिन पीछे बिम्बिसार ने, जब वह राजकुमार ही था, इस पराजय का बदला, ब्रह्मदत्त को हरा और मारकर ले लिया। वह अङ्ग को मगध में मिलाकर, वहाँ का पहला महामात्य बन बैठा। जब वह भट्टीय के बाद राजगृह के सिंहासन पर बैठा, तो उसने अपने पुत्र अजातशत्रु को वहाँ का महामात्य बनाया। बिम्बिसार से ही मगध की वह उन्नति प्रारम्भ हुई, जो अपने शिखर पर अशोक के समय में पहुँची।

यद्यपि चक्रवर्ती राजा की भावना वैदिक समय में ही पैदा हो चुकी थी, वैदिक साहित्य से स्पष्ट है कि वह प्रायः स्वप्न ही रहता था। इने-गिने राजा इस पद को प्राप्त कर सके थे, जैसे पृथु, पुरुरवा, मान्धाता, सुदास आदि। परन्तु, इसमें सन्देह भी नहीं है कि भारतीय राजनीति समस्त भारत को एक छत्र के नीचे देखने का स्वप्न सदा देखती आई थी। यद्यपि कोई विशिष्ट-गुण-सम्पन्न राजा अपने जीवन में चक्रवर्ती-पद प्राप्त कर लेता था, पर साधारणतः उसकी मृत्यु के बाद वह पद उसके वंशजों के हाथ से निकल जाता था। वेदों और पुराणों में दी हुई जनश्रुतियों से यह बात स्पष्ट है कि अधिकतर चक्रवर्ती सम्राट् ययाति के वंशजों में—विशेषकर कौरवों में—ही हुए। बीच-बीच में अयोध्या के इक्ष्वाकुओं की भी श्रेष्ठता हो जाती थी। इस तरह राजलक्ष्मी कहीं भी स्थिर नहीं हो पाती थी। स्वयं महाभारत भी एक महान् प्रयत्न था, राजलक्ष्मी को पुरुवंश में चिरस्थायी बनाने का। परन्तु, वह प्रयत्न भी असफल ही रहा। श्रीकृष्ण की मृत्यु के साथ ही पाण्डवों के बल और ऐश्वर्य का अन्त हो गया। यद्यपि जन्मेजय ने अपने वंश की सामर्थ्य और कीर्त्ति को पुनर्जीवित किया था, परन्तु उनके बाद के कौरवों में दो ही तीन को ख्याति मिली; वह भी राजनैतिक क्षेत्र में नहीं, धर्म और ज्ञान के क्षेत्र में। उनमें अधिसीमकृष्ण ज्ञान के लिए विख्यात थे, और उन्हीं के समय में बारह वर्षोंवाला सत्र अयोध्या के नैमिषारण्य में हुआ, जहाँ महाभारत की कथा सुनाई गई थी। प्रतीत होता है कि उसी सत्र में ऋषियों ने पौराणिकी कथाओं को प्रथमबार एकत्र किया था, क्योंकि अधिसीमकृष्ण के बाद के राजाओं के प्रति 'भवितारो' (होनेवाले) शब्द का प्रयोग किया गया है। इससे स्पष्ट है कि जब-जब पुराणों का पीछे संशोधन किया गया, तब-तब वंशावलियों में पीछे के राजाओं को 'भवितारो' कहकर जोड़ दिया गया। बुद्धदेव का समय पहुँचते-पहुँचते भारतवर्ष में १६ छोटे-बड़े राष्ट्र स्थापित हो गये थे और चक्रवर्ती-पद किसी को प्राप्त नहीं था। हम मोटा-मोटी कह सकते हैं कि युधिष्ठिर के बाद (जन्मेजय को छोड़कर) चक्रवर्त्तियों का लोप हो गया और महाभारत ने सूर्य्य और चन्द्रवंश की प्रधानता को नष्ट कर दिया।

बिम्बिसार का राजनैतिक क्षेत्र में बड़ा महत्त्व है। भारत में उसी ने पहले-पहल विजित राजाओं के राष्ट्रों को हड़प जाने की प्रथा चलाई। इसके पहले पराजित राजा विजेता के शरणागत हो जाता था और इसीसे काम चल जाता था। यही एक बड़ा कारण था जिससे चक्रवर्ती-पद किसी एक वंश में स्थायी नहीं हो पाता था। बिम्बिसार की नई नीति से

उसे स्थायी बनाना सम्भव हो गया। उसने अङ्ग को मगध में मिलाकर अपने बल को दूना कर दिया। बिम्बिसार की दृष्टि वैशाली पर पड़ी थी या नहीं, इसका उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु जिसने एक नया नैतिक सिद्धान्त स्थापित किया, उसके लिए उसे भी मगध में मिलाने का स्वप्न देखना असम्भव नहीं प्रतीत होता। उसके पुत्र अजातशत्रु ने तो इस उद्देश्य की पूर्ति में अपना जीवन ही बिता दिया और सफल भी हो गया। सम्भव है कि वह अपने पिता का घातक होकर भी इस विषय में उसी की नीति को अपनाया हो।

इस तरह हम देखते हैं कि बिम्बिसार से प्रारम्भ होकर एक के बाद दूसरा प्रतापी राजा मगध के सिंहासन पर आता गया और मगध-साम्राज्य को बढ़ाता गया। उदयी ने पाटलिपुत्र बसाया और राजगृह से हटाकर, राजधानी वहीं स्थापित की। नन्दिवर्धन और महापद्म ने प्रायः समस्त उत्तरी भारत पर मगध का शासन स्थापित किया। चन्द्रगुप्त मौर्य्य को एक सुसंघटित साम्राज्य योंही मिल गया और जब उसने और उसके पुत्र बिन्दुसार ने मध्यप्रदेश, सौराष्ट्र और दक्षिण भारत को जीता, तो भारत में पहले-पहल एक अपूर्व साम्राज्य की स्थापना हो गई। अशोक को केवल कलिङ्ग का ही विजय करना शेष रह गया था।

इस रीति से जिस स्वप्न को वैदिक ऋषियों ने देखा था, वह स्वप्न सहस्राब्दियों के बाद चरितार्थ हुआ। यहाँ स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि साम्राज्य की भावना क्या आर्य्यों की थी? प्राचीन आर्यों का प्राप्त इतिहास उनमें विस्तृत राज्यों की स्थिति का समर्थन नहीं करता। उदाहरणार्थ, प्राचीनतम काल में ग्रीकों, रोमनों, जर्मनों आदि आर्य्य जातियों में बड़े राज्यों का पता नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण (१. १. १४) से ऐसा प्रतीत होता है कि उन लोगों में पहले राजा होता ही नहीं था। वहाँ कहा गया है कि देवासुर-संग्राम में देवता हारने लगे और उन लोगों ने सोचा कि असुरों को विजय इससे मिली थी कि उनमें राजा होते थे। तब उन लोगों ने भी एक राजा चुना और तब से जीतने लगे। सम्भव है कि यह कथा विश्वसनीय जनश्रुतियों अथवा विश्वासों के आधार पर लिखी गई हो। इसके प्रतिकूल अनार्य्य जातियों में अत्यन्त प्राचीन समय से विशाल साम्राज्यों का होना प्रमाणित है—जैसे, लङ्का का रावण, बैबिलन का इयन्नेरन और सार्गन, और मिस्र तथा असुर के अनेक विजयी एवं प्रशस्त राजा। यदि भारतीय आर्य्य बाहर से आये, तो उन्होंने इस सार्वभौम राज्य की भावना, पूर्व-स्थित अनार्य्य साम्राज्यों से ही लिया होगा, यह आश्चर्य की बात नहीं है। हम ऊपर कह आये हैं कि इस समय तक की खुदाइयों से प्राप्त ज्ञान के अनुसार एक समय था जब भारत से लेकर मिस्र और क्रीट तक एक उच्चकोटि की अनार्य्य सभ्यता फैली हुई थी जिसके चिह्न इन सभी देशों में मिलते हैं। अतः सार्वभौम की भावना सम्भवतः उन्हीं से ली गई।

अभी तक अथर्ववेद की छानबीन वैसी नहीं हुई है, जैसी ऋग्वेद की। यह सभी जानते हैं कि प्राचीन समय में तीन ही वेद 'वेद' समझे जाते थे—ऋक्, साम और यजुष्। इनके लिए 'त्रयी' शब्द का व्यवहार होता था। वेदों में 'अथर्वन्' की गिनती बहुत पीछे

हुई। वह तभी सम्भव हुआ होगा जब आर्य-अनार्य-सम्मिश्रण पूर्ण हो गया होगा। अथर्ववेद के दशम अध्याय में 'व्रात्यों' का पूर्ण विवरण आता है। ब्राह्मणों में भी व्रात्य-स्तोत्रों के विधि-विधान पाये जाते हैं। 'व्रात्य' शब्द तो ऋग्वेद में भी मिलता है, परन्तु वह निन्दित अर्थ में ही व्यवहृत हुआ है। परन्तु, अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्तों में आदिदेव को ही 'व्रात्य' कहा गया है। इसका अध्ययन करके विद्वानों की धारणा हो रही है कि 'व्रात्य'-सभ्यता और धर्म्म सर्वाङ्गपूर्ण थे और उपनिषदों के सिद्धान्तों के मूल में व्रात्यों के विचार हैं। इसी कारण उपनिषदों में इस ज्ञान को क्षत्रियों का गुप्त ज्ञान बताया गया है और उसे प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण क्षत्रियों के शिष्य बनते थे।

इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि व्रात्य-सभ्यता का केन्द्र पूर्वी भारत था, जैसे वैदिक सभ्यता का केन्द्र कुरु-देश था। पूर्वी भारत में कोशल, मगध, विदेह सभी आ जाते है। यह विचार करने की बात है कि कोशल का उल्लेख ऋग्वेद में नहीं मिलता; परन्तु एक स्थान पर राजकुमार इक्ष्वाकु का उल्लेख है। कोशल, मगध, विदेह आदि के नाम ब्राह्मणकाल में प्रधानता पाने लगते हैं। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि आर्यों का इन देशों से सम्बन्ध पीछे हुआ। जब यह सम्पर्क हुआ, तो इधर आकर बसे आर्यों पर व्रात्यसभ्यता का प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। इस प्रभाव को हम, उपनिषदों, बौद्ध-जैन धर्म-ग्रन्थों और अथर्ववेद को वेद-पद दिलाते हुए, स्पष्ट देखते हैं।

वैदिक आर्य्यों के मध्यदेश और उस समय के पूर्वी देशों में जो विभिन्नता थी, वह आज भी पूर्वी और पश्चिमी भारत में थोड़ी-बहुत पाई ही जाती है। यदि अयोध्या से कुछ पश्चिम हट कर हम उत्तर से दक्षिण एक सीधी रेखा खींचें, तो हम पायेंगे कि उस रेखा के पश्चिम और पूर्व के लोगों में आचार, व्यवहार एवं भाषा और विचार में भिन्नता है, और जैसे-जैसे हम पूर्व या पश्चिम बढ़ेंगे इस विभिन्नता को बढ़ते हुए पायेंगे। इसका कारण यही हो सकता है कि मगध आदि ही एक विशिष्ट सभ्यता का केन्द्र था और उस सभ्यता ने आर्य्य-सभ्यता पर अपना रंग जमा दिया था।

इस तरह हम देखते हैं कि मगध न केवल राजनीति में, परन्तु दार्शनिक और सैद्धान्तिक उन्नति में सदा से पथप्रदर्शक रहा है। प्राचीनतम काल के लिए तो हमें अनुमानों से ही काम लेना पड़ता है, परन्तु वह विचारों का संघर्ष, जिससे बौद्ध, जैन और दूसरे छोटे-बड़े वादों का जन्म हुआ, एक प्रमाणित सत्य है। इसकी चर्चा बौद्ध और जैन ग्रन्थों में बहुतायत से मिलती है। व्रात्य-सभ्यता के मूल में स्वतन्त्र विचार और मानवता की उदात्तता के भाव थे। शुद्ध वैदिक आर्य्य-सभ्यता का भार देवों और पुरोहितों पर था। इसलिए, जो सैद्धान्तिक वाद-विवाद मगध के स्वतन्त्र वायुमण्डल में सम्भव हुआ, वह पाश्चात्य देशों के विधि-विधान से जकड़े हुए वातावरण में असम्भव था। इसका प्रमाण यही है कि जब हम ऐतिहासिक समय के आरम्भ पर आते हैं तो देखते हैं कि ययाति-वंश के पाश्चात्य शाखाओं में एक गंभीर शिथिलता के साथ-साथ भोग-विलास की प्रधानता छा गई है। यदि कथा-सरित्सागर में किये हुए चन्द्रमहासेन और उदयन के दरबारों के चित्रण

में सहस्रांश भी सचाई हो, तो हम कह सकते हैं कि उस समय वैदिक धर्म्म निर्जीव हो गया था और न प्रवाहन, न अश्वपति केकय आदि ज्ञानी राजाओं के समान राजा ही पैदा हो रहे थे। यदि हम ज्ञान की बात छोड़ दें और राजनैतिक क्षेत्र की ओर ध्यान दें, तो पाश्चात्त्य राजाओं को लकीर का फकीर हुआ पायेंगे। ऐसा प्रतीत हुआ है कि उसमें नवीनता के लिए साहस ही न रह गया था। परन्तु, यह साहस मगध, कोशल आदि पूर्वी देशों के विचारकों में था। इससे यहीं से वे राजनैतिक और धार्म्मिक धाराएँ निकलीं जिन्होंने शिथिल हुए भारतीय सभ्यता के अंगों में नवीन स्फूर्त्ति भर दी। धार्म्मिक क्षेत्र में ये धाराएँ उस समय के ज्ञान-जगत् की ओर-छोर तक पहुँच गईं और राजनैतिक क्षेत्र में उन साम्राज्यों को सम्भव किया जो बाहरी बलवान् शत्रुओं का भी सामना कर सकते थे।

# 'काल और दिक् या अवकाश'

( सांख्यीय दृष्टि )

श्री हरिहरानन्द आरण्य, कपिलमठ, मधुपुर ( संताल परगना )

काल ( Time ) और दिक् या अवकाश ( Space ) ये दो पदार्थ विशेष रूप से विचार्य हैं, क्योंकि इन दोनों के विषय में अनेक वाद उत्पन्न हुए हैं। किसको काल और अवकाश कहा जाता है? जहाँ कोई बाह्य वस्तु नहीं है, उस स्थान मात्र का नाम अवकाश है—सबको अवकाश का लक्षण इस रूप से करना पड़ता है। दूसरे शब्दों में जिसको व्याप्त कर कोई भी बाह्य वस्तु ( द्रव्य और क्रिया ) रहती है या होती है, वह अवकाश है। उसी प्रकार जिसको व्याप्त कर कोई मानस क्रिया होती है, वह काल है। अवकाश के लक्षण की तरह काल का लक्षण करने से ऐसा कहना होगा—जिस अवसर में कोई मानस क्रिया या मनोभाव नहीं है, वह अवसर मात्र काल है। बाह्य वस्तु के विषय में जो मनोभाव होता है, उसके द्वारा ही हम बाह्य वस्तु को जानते हैं अर्थात् बाह्य वस्तु का ज्ञान मन में ही होता है। इसलिए बाह्य वस्तु अवकाश और काल — इन दो पदार्थों में हैं ऐसा हम समझते हैं, अर्थात् दैर्घ्य, प्रस्थ तथा स्थौल्य इन तीन परिमाणों के साथ कालावस्थान-रूप चतुर्थ परिमाण की कल्पना भी हम करते हैं।

काल और दिक् शब्द अन्य अर्थ में भी व्यवहृत होता है। संहार-शक्ति का नाम भी काल है, यथा 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्' ( गीता )। जागतिक क्रियाएँ कालक्रम से प्रलय की ओर चल रही हैं, अतः संहार को काल, महाकाल आदि कहा जाता है। उसी प्रकार उद्भव शक्ति को भी काल कहा जाता है। 'काल में सब होते हैं,' इस वाक्य का वही अर्थ है। लोग घड़ी के काँटों का चलन या सूर्यादि की गति को भी काल समझते हैं। ये सब काल क्रिया और शक्ति-रूप भाव पदार्थ हैं, शून्य नहीं।

इसी प्रकार लोग देश को भी अवकाश समझते हैं। द्रव्य के अवयवों का सम्बन्ध-विशेष ही देश है, अर्थात् द्रव्य का 'एक स्थान से अन्य स्थान' ही देश है। यह भी भाव पदार्थ है, क्योंकि द्रव्य के आश्रय से ही वह देशज्ञान होता है। द्रव्य का अवयव शून्य पदार्थ नहीं है। लाइबनीत्स कहते हैं--'Space is the order of co-existences।' यह 'Existent Space' विस्तृत द्रव्य है, द्रव्यातिरिक्त शुद्ध विस्तारमात्र नहीं है। वे काल को कहते हैं—'Time is the order of successions।'

मान लीजिए कि एक व्यक्ति किसी अत्यन्धकारमय गुहा में है और उसके द्वारा किसी भी बाह्य क्रिया के लक्ष्य करने की संभावना नहीं है। उसका कालज्ञान कैसे होता है? चिन्तारूप मानस क्रिया से कालज्ञान होता है। स्वप्न में भी इस प्रकार एक क्षण में बहुत वत्सरों का ज्ञान होता है। 'मन में इतनी चिन्ताएँ उठी हैं,' इस प्रकार चिन्ता की संख्या से काल का ज्ञान होता है। चिन्ता-संख्या के अतिरिक्त काल और कुछ नहीं है। सिलबर्ष्टाइन कहते हैं—'Our Consciousness moves along time ?'

कालावस्थान-रूप चतुर्थ परिमाण दो प्रकार के होते हैं—( १ ) बाह्य वस्तु-संबन्धी मनोभाव ( जो काल में होता है ) के आश्रय से होता है और (२) बाह्य वस्तु की काल-व्यापी क्रिया के आश्रय से होता है। आपेक्षिकतावादियों का 'Four-dimensional Continium' कालव्यापी साकार पदार्थ है।

मनोभाव के दैर्घ्य, प्रस्थ और स्थौल्य नहीं होते—'A monad (मन) has no dimensions, one monad does not occupy more or less space than another।' इसलिए मन का बाह्यद्रव्य की तरह दैशिक विस्तार भी नहीं है। चूँकि मन का केवल कालिक विस्तार ही है, इसलिए मन को कालव्यापी द्रव्य कहा जाता है; दूसरे शब्दों में, मनोभाव जिसको व्याप्त कर होता है, वह काल है।

दिक् और काल के लक्षण में यह जो 'जिसको व्याप्त कर' कहा गया है, वह व्याप्य पदार्थ कौन है? अवश्य ही यह कहना होगा कि वह न बाह्यभाव (बाह्यद्रव्य और क्रिया) है और न मनोभाव है। यदि वह न बाह्यभाव है और न मनोभाव है, तो वह क्या है? यह निश्चित रूप से कहना होगा कि वह अभावमात्र या शून्य है। अतएव, 'दिक् और काल है,' ऐसा कहने से उसका अर्थ होगा—उस नाम का अभाव या शून्य है। अभाव का अर्थ है—जो नहीं है। अतएव, उस वाक्य का अर्थ होगा—'जो नहीं है, वह है।'

दिक् या अवकाश का अर्थ है केवल बाह्य विस्तार। पर, क्या 'केवल विस्तार' कहीं है? यह कहना होगा कि कहीं भी नहीं है, क्योंकि सब स्थान शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-गुणवान् द्रव्यों (जिनसे हमलोगों को बाह्यज्ञान होता है) से पूर्ण है। यदि उन द्रव्यों से शून्य केवल विस्तार रहता, तो 'केवल विशुद्ध विस्तार' है, ऐसा कहा जा सकता। अतः 'शुद्ध विस्तार' नहीं है, या वह अभाव पदार्थ है, ऐसा कहना चाहिए। काल के विषय में भी यही जानना चाहिए। यदि ऐसा 'अवसर' मिलता, जब कोई भी मनोभाव उत्पन्न नहीं होता, तब वह 'केवल शुद्ध अवसर' नामक काल होता। पर 'विशुद्ध अवसर' को जानने

के लिए भी, 'जानना' रूप मनोभाव उस समय रहेगा, अतएव 'केवल अवसर' नहीं मिल सकता।

इस प्रकार शुद्ध विस्तार भी नहीं मिल सकता। उसकी कल्पना या मानसिक धारणा (Imagery) करने की भी संभावना नहीं है, क्योंकि पूर्वानुभूत किसी बाह्य वस्तु के बिना बाह्य स्मृति नहीं होती और स्मृति न होने से बाह्य कल्पना भी नहीं होती, क्योंकि कल्पना उत्तोलित एवं सज्जित स्मृति है। उसी प्रकार मनोभाव के अभाव की कल्पना करने में भी उस समय कल्पना करना रूप मनोभाव विद्यमान रहेगा, अतएव मनोभाव-हीन अवसर की कल्पना कैसे की जा सकती है ?[१]

यदि यह कहा जाय कि काल और दिक् एक प्रकार का ज्ञान है और ज्ञान रहने से ज्ञेय वस्तु भी रहेगी, अतएव दिक् और काल वस्तु हैं, तो आंशिक सत्य है। काल और दिक् ज्ञान तो हैं, पर ज्ञान होने से ही उसका वास्तव विषय रहेगा, ऐसी बात नहीं है। ज्ञान अनेक प्रकार के होते हैं। सर्व प्रकार के ज्ञान का वास्तव विषय नहीं रहता। 'अभाव' इस शब्द को सुनकर एक प्रकार का ज्ञान होता है, पर क्या 'अभाव' नामक कोई वस्तु है ? सब वस्तु का अभाव ही विशुद्ध अभाव है। 'अभाव' इस शब्द का श्रवण ज्ञान वास्तव है, और उसके अर्थ के विषय में भी जो एक प्रकार का ज्ञान होता है, वह भी एक वास्तव मनोभाव है। पर, जैसे घट, पट आदि विषय बाह्य रूप से मिलते हैं वा इच्छा, द्वेष आदि विषय मन में मिलते हैं, वैसे 'अभाव' नामक विषय कहीं भी नहीं मिलता।

---

१. भौतिक विज्ञानी भी ऐसा ही कहते हैं। उनका व्यवहार्य काल केवल पृथ्वी की गति है, और कुछ नहीं है—'Time and Space and many other quantities, such as Number, Velocity, Position, Temperature etc. are not things.' (Watson's Physics, p. 1)

आइनष्टीन भी कहते हैं—'According to the general theory of relativity, the geometrical properties of Space are not independent, but they are determined by Matter. Thus we can draw conclusions about the geometrical structure of the universe on the state of the matter as being something that is known. In the first place we entirely shun the vague word Space, of which we must honestly acknowledge, we cannot from the slightest conception and we replace it by Motion relative to a practically rigid body of reference.' अन्यत्र—'Space without ether is unthinkable.' (Relativity, Chapter 32 and 3)। इन लोगों का Space ईथर है, शून्य Space नहीं है। हर्बर्ट स्पेन्सर भी काल को 'Sequence of the events', मात्र कहते हैं।

यहाँ ज्ञान के तत्त्व पर भी कुछ कहना आवश्यक है, अन्यथा दिक्-काल-ज्ञान कैसा है, यह समझ में नहीं आयगा। हम चक्षुकर्णादि से बाह्य रूपादिविषय को जानते हैं और आभ्यन्तर इन्द्रिय मन से मनोभाव है या हो रहा है, यह जानते हैं। केवल एक-एक इन्द्रिय से जो विशुद्ध रूप या शब्द या केवल एक मनोभाव का ज्ञान होता है, उसको आलोचन ज्ञान कहते हैं। मान लीजिए कि आपने नील रूप देखा। चक्षु से उसका 'नील' यह नाम और अन्यान्य गुण नहीं जाना जाता। चक्षु से नाम-जाति-ज्ञान-हीन नील का ही ज्ञान होता है। अन्यान्य इन्द्रिय-ज्ञान के विषय में भी यही बात जाननी चाहिए। नील को देखने के बाद उसका नाम नील है, वह रूपजातीय है, इत्यादि अन्यान्य इन्द्रिय-ज्ञान-अभिकल्पन-रूप मानस व्यापार (Conception) से एकत्र कर ज्ञान होता है कि 'वह नील नामक रूप है' इत्यादि। एतादृश ज्ञान का नाम है विज्ञान या चित्तवृत्ति। विज्ञान दो प्रकार के हैं—(क) साक्षात् या प्रत्यक्षविज्ञान ( Perception and Consciousness ) और (ख) चैत्तिक विज्ञान ( Conception ) बाह्य प्रत्यक्ष और अन्तर का अनुभव ये दो ही प्रत्यक्ष विज्ञान हैं। यही Perception है। External perception और Internal perception ये दो प्रकार के प्रत्यक्ष हैं। इनमें Consciousness को internal perception कहा जाता है।

साधारण मनुष्यों का यह विज्ञान शब्द पदार्थ ( Concept ) से होता है। पद का अर्थ ही पदार्थ है, यह अच्छी तरह से जानना चाहिए। चित्त की अनेक शक्तियों से जो मिलित ज्ञान होता है, वही विज्ञान है। शब्दज्ञानहीन वधिरों का भी सामान्य रूप से होने पर, नामजातिवाची शब्दयुक्त पदों की सहायता से भाषावित् मनुष्यों का यह ज्ञान प्रकृष्ट रूप से होता है। उनमें दृष्ट और अदृष्ट विषय का जो यथार्थ ज्ञान है, वह प्रमाण है। वैसे विषय का अयथार्थ ज्ञान या अन्य का अन्य ज्ञान विपर्यय या भ्रान्त ज्ञान है। जब हम किसी ज्ञान को भ्रान्त समझते हैं, तब उसको छोड़ देते हैं, और उसका व्यवहार भी नहीं करते। इसलिए, सत्यज्ञान होने से विपर्यय की व्यवहार्यता नहीं रहती। अन्य प्रकार के भी विज्ञान हैं, जिनका नाम विकल्प है। दिक् और काल पद का अर्थज्ञान इस विकल्पज्ञान का उदाहरण है। इसलिए, इन दोनों पदार्थों को समझने के लिए विकल्प विज्ञान को अच्छी तरह जानना होगा। योगसूत्र कहता है—'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्ये विकल्पः' ( १।९ ), अर्थात् जिस शब्द का वास्तव में कोई विषय नहीं है ऐसे शब्दों को सुनकर जो विज्ञान होता है, उसका नाम विकल्प है। कार्वेथ रीड कहते हैं—'We have concepts representing nothing which have perhaps been generated by the mere force of grammatical negation, ( Logic p. 306 )।' ऐसे concept से जो empty conception होता है वही यह विकल्पविज्ञान है। यथा—अभाव-शब्द को सुनकर जो विज्ञान होता है, वह विकल्प है। यह एक प्रकार का भ्रान्तिज्ञान तो है, पर यह साधारण भ्रान्तिविज्ञान की तरह नहीं है। साधारण भ्रान्तिज्ञान का उदाहरण रज्जु में सर्पज्ञान है। उस भ्रम की निवृत्ति होने से उसका पुनः व्यवहार नहीं होता। पर, अभाव

शब्द का अर्थ यद्यपि कुछ भी नहीं है, पर भाषा में उसका सर्वथा व्यवहार होता है, और उससे अनेक तथ्यों का ज्ञान भी होता है। वस्तुतः, विकल्प-विज्ञान यदि न रहे, तो भाषा-व्यवहार ही नहीं रहता। इसे समझने के लिए कुछ भाषा का तत्त्व भी समझना चाहिए। स्वर और व्यंजन वर्णों से गो, मनुष्य आदि पद रचित होते हैं। पद दो प्रकार के होते हैं—कारकार्थ (Term) और क्रियार्थ (Verb) [१]। (विशेषण के साथ) विशेष्य पद कारकार्थ कर्त्ता, कर्म, अधिकरण आदि कारक या क्रियान्वयी अथवा किसी कर्म के निष्पादक की तरह व्यहृत होता है। क्रिया पद से कारक किसी प्रकार कोई क्रिया ( या अक्रिया ) कर रहा है, ऐसा बोध होता है। कारकार्थ और क्रियार्थ पद के योग से वाक्य बनता है। जैसे—'राम है' यह एक वाक्य है। इसमें 'राम' कारक और 'है' क्रिया है। ऐसा वाक्य ही हमारी भाषा है।

पद भावार्थक या अभावार्थक होते हैं। 'अन्त' यह एक भावार्थक पद है और 'अनन्त' यह अभावार्थक है, 'है' यह भावार्थक है, 'नहीं है' यह अभावार्थक है। अभावार्थक पद की रचना नञ् (या अ) के योग से की जाती है। पर, नञ् का अर्थ सभी स्थलों में पूर्ण अभाव नहीं है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नहीं है, बल्कि विपरीत ज्ञान है। 'यहाँ घटाभाव है' इसका अर्थ सम्पूर्ण अभाव नहीं, प्रत्युत घट छोड़कर वायु आदि है, यह अर्थ ऊह्य रहता है। इस प्रकार हम अभाव से अनेक स्थल पर अन्य एक भाव पदार्थ को समझते हैं; 'भावान्तरमभावो हि कयाचित्तु व्यपेक्षया'। नञ् से जहाँ अल्प, मन्द आदि वस्तुधर्म समझे जाते हैं, वहाँ नञ्-युक्त पद सब धर्मों का अभावार्थक नहीं है, यह जानना चाहिए। जहाँ सर्वधर्म का निषेध होता है, वहीं नञ् पूर्णतः अभावार्थक है।

सम्पूर्ण अभावार्थक पद या वाक्य से मन में जो विज्ञान होता है, वह विकल्प है। यह समझकर आश्चर्य होता है कि भाषा में कितने ही विकल्पज्ञानों का व्यवहार होता है। पर्वत है, यह कहा जाता है। 'पर्वत' कर्तृकारक; 'है' उसकी क्रिया है। पर पर्वत 'है' नामक कोई क्रिया करता नहीं है। यथार्थ बात यह है कि पर्वत को जान रहा हूँ, या जाना है या जान सकता हूँ इसको उस अर्थहीन वाक्य से कहा जाता है। 'पर्वत नहीं जा रहा है' यह वाक्यार्थ भी अभाववाची या विकल्प है। क्रिया को भी कारकार्थ किया जाता है, जैसे 'अस्ति' इस क्रिया-पद को 'सत्' किया जाता है। पुनः सत् इस विशेषण पद को 'सत्ता' इस विशेष्य पद में परिणत किया जाता है। सत्ता सत् का भाव या भाव का भाव, ऐसा वास्तव अर्थहीन वाक्य है; इसलिए उसका ज्ञान विकल्प है। ऐसे सामान्य मात्र पदों (Abstract terms) का

---

१. यह कहना अनावश्यक है कि संस्कृत का व्याकरण मूलतः वैज्ञानिक प्रणाली से रचित है, अतः इस पद का नाम 'क्रिया' रखा गया है। पाश्चात्य Verb शब्द का धातुगत अर्थ 'क्रिया' नहीं होने पर भी वस्तुतः वैयाकरणों को जो active (सकर्मक), passive ( अकर्मक ), transitive, intransitive रूपों के विभाग करने पड़ते हैं, उनसे क्रिया और अक्रिया का बोध होता है, अतः verb भी अर्थतः क्रियावाचक शब्द होता है।

(जिसका वास्तव अर्थ कुछ नहीं) ज्ञान विकल्प-विज्ञान है। सामान्य पदों (Common terms) का जो अर्थ व्यक्ति-समाहार (denotation) है, वह भी विकल्प है। जैसे—मनुष्य शब्द सामान्यार्थक है। उसका अर्थ है मनुष्यों का गुणसमूह या मानवत्व और असंख्य मनुष्य भी होता है। यह दूसरा अर्थ ज्ञानविकल्प है। क्योंकि, असंख्य मनुष्यों का ज्ञान संभव नहीं है। इस प्रकार पदार्थों को लेकर भाषा-व्यवहार में सदैव विकल्प का व्यवहार होता है।

दिक् और काल ये दो पदार्थ भी उसी प्रकार व्यापी विकल्पज्ञान ही हैं। साधारण बाह्य द्रव्यों के ज्ञान के साथ विस्तार धर्म का ज्ञान सहभावी है। विस्तार पदार्थ को विस्तार नाम देकर बाद में कल्पना से उसका पृथक्करण कर जो कहा जाता है 'वहाँ विस्तारमात्र है, और बाह्यद्रव्य नहीं है' वह 'विशुद्ध विस्तार' या अवकाश है। इस प्रकार, असाध्य को साध्य समझकर, अविनाभावी को विनाभावी समझकर, अकल्पनीय को कल्पनीय समझकर वाक्यकाल से लक्षण किया जाता है—'जहाँ कुछ नहीं है, वह 'अवकाश' है। अतएव, वह अवस्तुवाची विकल्पन है या वह अवकाश विकल्पज्ञान है। काल भी उसी प्रकार है। मानसक्रिया के अभाव का विकल्पन कर हम समझते हैं कि जो क्रियाहीन अवसर मात्र है, वही काल है। क्रिया-वियुक्त अवसर अकल्पनीय असंभव पदार्थ है। कोई क्रिया या ज्ञान नहीं हो रहा है, ऐसे अवसर की धारणा करना संभव और साध्य नहीं है। इस प्रकार काल और दिक् ये दो पदार्थ ज्ञान शब्दज्ञानानुपाती वस्तु-शून्य विकल्प-ज्ञान सिद्ध हुए।

पहले ही कहा गया है कि हम प्रायः अभाव-पदार्थ का व्यवहार भावान्तर में करते हैं। यद्यपि काल और अवकाश उसी प्रकार अभाव पदार्थ हैं, तथापि अनेक स्थलों पर उसका व्यवहार भाव-पदार्थ की तरह भी हम करते हैं। 'मुझको बैठने के लिए थोड़ा अवकाश दीजिए' कहने से वहाँ अवकाश से कुर्सी आदि भाव पदार्थ समझा जाता है, पूर्णतः अभाव पदार्थ नहीं समझा जाता। 'थोड़ा-सा अवसर मिलने पर' वाक्य से विशेष कर्म की निवृत्ति समझी जाती है, सर्वकर्म की निवृत्ति नहीं। जहाँ केवल कुर्सी आदि और घड़ी के काँटे का चलन आदि अवकाश और काल का अर्थ है, वहाँ वे भाव पदार्थ हैं। चूँकि काल और अवकाश इस प्रकार व्यर्थक होते हैं, अतः उनके अर्थबोध में अनेक अपक्वबुद्धि व्यक्तियों की बुद्धि भ्रान्त हो जाती है। वे एकबार भावार्थक और फिर अभावार्थक के रूप में काल और अवकाश को लेकर भ्रान्ति की उत्पत्ति करते हैं।

हम भाषा-व्यवहार में इस काल और अवकाश-रूप विकल्पज्ञान का सदैव व्यवहार करते हैं। वास्तव और अवास्तव क्रिया-पदों का तीन कालों के साथ योगकर हम व्यवहार करते हैं। काल का भी तीन काल में—('है या रहेगा' इस प्रकार) व्यवहार करते हैं। स्थानमात्र या अवकाश भी एक स्थान या सब स्थानों में है, ऐसा हम कहते हैं। इस अवकाश और काल को लेकर ही अधिकरण कारक की कल्पना की जाती है। 'है' कहने से कहाँ और किस काल में है, वह भी वक्तव्य होता है। 'कहाँ' और किस काल में ये दो पदार्थ अन्यान्य अभाव पदार्थों की तरह वास्तव भी होते हैं, अवास्तव भी। जब कहा जाता

है 'इस देश में है', तब जहाँ अन्य भाव पदार्थ के साथ पूर्वापरता-सम्बन्ध समझा जाता है, वहाँ वास्तव ज्ञान है, विकल्प नहीं। पर जहाँ अवास्तव अधिकरण या अधिकरण मात्र वक्तव्य होता है, वहीं वह विकल्प-ज्ञान होता है। सभी द्रव्य अपने आप में हैं कोई किसी का आधार नहीं है।[1] जल और पात्र का संयोगविशेष रहने से उसको ही आधार-आधेय-सम्बन्ध कहा जाता है। शून्यरूप देशाधार और कालाधार ही विकल्प ज्ञान है। द्रव्य के परिमाण के साथ उस आधार के परिमाण को समान समझा जाता है; अतएव द्रव्य रहने से वह नहीं है या शून्य है। अर्थात् 'क' परिमाण द्रव्य रहने से यदि वहाँ 'क' परिणाम अवकाश है, ऐसा कहा जाय तो द्रव्य को छोड़ कर 'क' परिमाण-शून्य है या 'क' परिमाण अन्य कुछ नहीं है, ऐसा कहा जायगा।

द्रव्य के परिमाण का नाम अवकाश या Space नहीं है वह अवयवों की संख्या है। द्रव्य का आकार अवकाश या अवसर नहीं है। आकार वह है जहाँ ज्ञायमान द्रव्य नहीं है या अन्य द्रव्य है। उसके साथ अवकाश या काल का सम्बन्ध नहीं है। आकार का यह पहला लक्षण गुण का निषेध है; दूसरा लक्षण भी वैसा ही है, क्योंकि वह अन्य द्रव्य से सम्बन्धित बात है। जिस वस्तु के विषय में वह कहा गया, उसमें वह नहीं है, ऐसा कहा गया तथा अन्य द्रव्यों के उस स्थान में रहने का निषेधमात्र किया गया है।

अधिकरण कारक करके भाषा-व्यवहार में अनेक विकल्पों का व्यवहार किया जाता है। इसलिए, भाषा-युक्त ज्ञान सविकल्प ज्ञान है, अतएव वह ज्ञान मिथ्यामिश्रित है। जब तक भाषा से चिन्ता की जायगी, तब तक विकल्प रहेगा ही; निर्विकल्प-ज्ञान होने से ही सत्य ज्ञान होता है। कैसे वह होता है, योग-शास्त्र में वह विवृत है।

हम वर्त्तमान काल को अतीत और भविष्यत् का मध्यस्थ समझते हैं। अतीत और

---

१. काल और दिक् वास्तव आधार नहीं हैं, वे विकल्पित आधार हैं। 'Time and Space are not containers, nor are they contents, they are variants.' (Dr. W. Carr's Relativity). Minikowoski कहते हैं—'Henceforward Space in itself and Time in itself as independent things must sink into mere shadows'। जड़ विज्ञान के उच्च सिद्धान्तों का अनुकरण कर ऐसी नई बात कहने पर भी, यह प्राचीन दार्शनिक सिद्धान्त है। Zeno of Elea ने जो Paradox या समस्या कही थी, उनमें एक यह है—यदि यह कहा जाय कि सभी द्रव्य अवकाश में रहते हैं, तो अवकाश भी अवकाश में रहेगा। वह दूसरा अवकाश भी अन्य अवकाश में रहेगा, और इस प्रकार अनवस्था-दोष होगा (If all that is in Space, Space must be in Space and so on *ad infinitum*)। आधारभूत शून्यरूप विकल्पज्ञान के विषय को सत् समझने की असंगतता इस समस्या से दिखाई गई है।

भविष्यत् जब अवर्त्तमान पदार्थ, ( या नहीं हैं ) तब उन दोनों का 'मध्य' कहाँ से आयगा ? अतीत और अनागत हैं, कहने से ( तब तो वे वर्त्तमान हैं, ऐसा कहा गया ) यह भी कहना होगा कि अनागत का अव्यवहित बाद में ही अतीत है। दोनों के बीच में यदि व्यवधान नहीं है, तो वर्त्तमान कहाँ रहेगा ? पुनः सोचना चाहिए कि वर्त्तमान काल का परिमाण कितना है ? यदि कहा जाय 'क्षण-परिमाण', तो पुनः प्रश्न होगा—क्षण का परिमाण क्या है ? उत्तर में यदि कहा जाय कि अत्यन्त क्षुद्र परिमाण, उसका परिमाण इतना अल्प है कि उसका पुनः विभाग नहीं हो सकता। पर, अविभाज्य परिमाण नहीं है और वह कल्पनीय भी नहीं है, अतः यह कहना होगा कि वह 'अनन्त सूक्ष्म परिमाण' है। परिमाण को यदि अनन्त सूक्ष्म कहा जाय, तो वह शून्य या नहीं है, अतः वर्त्तमान अतीत और अनागत काल नहीं है। वे ( काल ) केवल उन-उन शब्दों के द्वारा विकल्पज्ञानमात्र हैं। इसलिए, योगभाष्यकार ने कहा है—'स खल्वयं कालो वस्तुशून्यो बुद्धिनिर्माणः शब्दज्ञानानुपाती लौकिकानां व्युत्थितदर्शनानां वस्तुस्वरूप इवावभासते' ( ३।५२ )—अर्थात् यह काल वस्तुशून्य, बुद्धिनिर्माण, शब्दज्ञानानुपाती और व्युत्थितदृष्टि लौकिक व्यक्तियों से वस्तुस्वरूप अवभासित होता है।

हम काल और अवकाश का परिमाण अनन्त समझते हैं। इसका प्रकृत अर्थ है 'बाह्य वस्तु किसी स्थान में नहीं है' इस वाक्य का तथा 'मनोभाव नहीं था और नहीं रहेगा' इस वाक्य का जो अर्थ है, उसकी अचिन्तनीयता (बाह्यज्ञान हो रहा है, अथच वह शब्दस्पर्शादि पाँच ज्ञानों के द्वारा नहीं हो रहा है ) ऐसी चिन्ता सम्भव नहीं है। चाहे कितनी ही दूर, कितना ही खाली स्थान, कितना ही शून्य की चिन्ता क्यों न की जाय, किसी न किसी प्रकार का रूप अन्ततः अन्धकार—वहाँ रहेगा ही; अतएव वहाँ व्याप्तिज्ञान भी रहेगा। चूँकि, वास्तव धर्म का अभाव कहीं भी नहीं होता (अर्थात् उसकी अचिन्तनीयता के कारण); इसलिए हम बाह्यगुणक द्रव्य को असीम कहते हैं और उसके सहगतरूप में विकल्पित विस्तारमात्र को (या अवकाश को) असीम कहते हैं। असीम सीमा का अभाव है। उसमें सीमा चिन्तनीय पदार्थ और अभाव अचिन्तनीय पदार्थ है। इसलिए, असीम पद का अर्थ है विकल्प ज्ञान (Infinity is not the affirmation of Space but its disappearance )। उसका वास्तव बाह्य विषय नहीं है।

इस प्रकार हम काल को भी अनादि और अनन्त कहते हैं। यदि कोई क्रिया या परिवर्त्तन नहीं होता, तो किसी ज्ञान का भी परिवर्त्तन नहीं होता। उससे जिन पदों से काल का विकल्पज्ञान होता है, वे पद भी नहीं रहते, अतः काल भी विकल्पित नहीं हो सकता था। पर, क्रिया है और जो रहता है, उसका अभाव कभी नहीं होता, इसलिए क्रिया का अभाव चिन्तनीय नहीं है। बुद्धि या ज्ञान-शक्ति की क्रिया या परिवर्तन का अर्थ है एक-एक, खण्ड-खण्ड ज्ञान। ज्ञान और सत्ता अविनाभावी हैं। इसलिए, हमको यह सोचना और कहना पड़ता है कि ज्ञान या सत्ता परिवर्त्तमान-रूप में या अवस्थान्तरता-प्राप्यमाण-रूप में विद्यमान है, अर्थात् सत्

पदार्थ था और रहेगा, ऐसा भाषा-व्यवहार कर हमलोगों को सोचना पड़ता है। मानस सत्त्व या स्थिर मानस द्रव्य[1] तथा मानस क्रिया का अभाव कल्पनीय नहीं हो सकता, इसलिए हमलोगों को यह कहना पड़ता है कि मानस द्रव्य क्रिया के द्वारा अवस्थान्तरता-प्राप्यमाण होकर 'था' और रहेगा। क्रिया और स्थिर द्रव्य-सम्बन्धी इन दोनों पदों ('था' और 'रहेगा') के अर्थ को परिमित करने का हेतु नहीं होने के कारण (अर्थात् कब तक था और रहेगा, इसका निर्धारण नहीं होने के कारण) हम कहते हैं 'काल अनादि और अनन्त है'। दूसरे शब्दों में मनोद्रव्य का और मनःक्रिया का अभाव अचिन्तनीय होने के कारण, उसका अधिकरण-रूप वैकल्पिक सत्पदार्थ जो काल है, उसके भी अभाव की चिन्ता न कर सकने के कारण हम कहते हैं—काल अनादि तथा अनन्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि यद्यपि काल अभाव है तथापि विकल्प के द्वारा उसको एक भावपदार्थ की तरह हम निश्चित करते हैं और कहते हैं कि वह अन्य भावपदार्थ की तरह चिरकाल से था और चिरकाल तक रहेगा।

जैसे ज्यामिति के विन्दु-रेखा आदि पदार्थ वैकल्पिक हैं, पर उनको लेकर जो युक्ति की जाती है, वह यथार्थ है और उससे क्षेत्र-परिमाण आदि यथार्थ व्यवहार-सिद्ध होते हैं, ठीक उसी प्रकार वैकल्पिक दिक् और काल पदार्थ से भी अनेक यथार्थ विषय का ज्ञान सिद्ध होता है। हम उत्पत्ति और लय सदा देखते हैं, परन्तु उसके पीछे जो अनुत्पन्न भाव है या रहेगा, उसको दिक्काल-युक्त अभिकल्पना से समझते हैं। शाब्द पद या वाक्य से ही हम पदार्थ-विज्ञान-रूप अभिकलपना करते हैं, इसलिए उसमें विकल्प मिश्रित रहता है। अनुत्पन्न, निर्विकार, निराधार, अनादि, अनन्त, अमेय आदि पदों का अर्थज्ञान वैकल्पिक है, पर उनसे हम सत्य पदार्थों की अभिकल्पना करते हैं। इसलिए, भाषायुक्त सभी सत्यज्ञान विकल्पमिश्रित या व्यावहारिक, अर्थात् किसी की तुलना में सत्य है ( अनापेक्षिक नहीं )। जब दिक् और काल शून्य हैं या वाक्मात्र हैं, तब उनके आश्रय से जो सत्य प्रतिज्ञात होते हैं, वे अवश्य ही व्यावहारिक सत्य होंगे।

हम अपने अवस्थान-परिमाण आदि के ज्ञान के अनुसार अन्य द्रव्यों का अवस्थान-परिमाण आदि जानते हैं। अतः, विभिन्न-अवस्था-सापेक्ष ज्ञान पृथक् हैं। एक अवस्था में अवस्थित व्यक्ति का ज्ञान उनके लिए सत्य प्रतिभात होने से भी भिन्न अवस्था में अवस्थित व्यक्ति के लिए वह ज्ञान सत्य नहीं भी हो सकता। कोई व्यक्ति किसीके पूर्व में है, यह सत्य है, पर वह अन्य किसी के पश्चिम में है, यह भी सत्य है। ऐसे आपेक्षिक सत्यों को लेकर व्यवहार चल रहा है। दिक् और काल को लेकर जो कुछ सत्य भाषण किया जाता है, वह

---

१. यहाँ ये शब्दार्थ ज्ञातव्य हैं। पदार्थ=पद का अर्थमात्र=भाव और अभाव। भाव=वस्तु=द्रव्य। द्रव्य दो प्रकार के हैं—स्थिर द्रव्य या सत्त्व और क्रिया या प्रवहमाण सत्ता।

इस प्रकार व्यावहारिक सत्य है। दार्शनिकों के लिए सब परिदृश्यमान और अनुभूयमान आपेक्षिक सत्य हैं।[१]

पहले कहा गया है कि विस्तार नामक यथार्थ ज्ञान के आश्रय से दिक् और काल पदार्थों को माना जाता है। अतः, विस्तार-ज्ञान का तत्त्व विचार्य है। भाव या वस्तु या द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—(१) स्थिर सत्ता और (२) प्रवहमान सत्ता या क्रिया। जिन द्रव्यों का परिमाण या अवस्थान्तरता लक्ष्य नहीं होता, वे 'स्थिर सत्ता' हैं। ज्ञानेन्द्रिय के शब्दादि प्रकाश्य विषय यदि वैसा (अर्थात् एक ही प्रकार) मालूम हो, तो वे स्थिरसत्ता हैं, ऐसा ज्ञान पड़ता है। गवाक्ष से आगत एक खण्ड गोलाकार आलोक को हम स्थिर सत्ता समझते हैं। शब्दादि को भी वैसा ही समझते हैं। कर्मेन्द्रिय के चाल्य द्रव्य को भी वैसी स्थिर सत्ता समझते हैं। चालन करने के लिए शक्ति का व्यय करना पड़ता है। हस्तादि कर्मेन्द्रियों में जो बोध है, उससे उस शक्ति-व्यय का ज्ञान होता है। किसी द्रव्य को चालन करने में यदि शक्ति-व्यय की सम्भावना हो, तो उस चाल्य द्रव्य को स्थिर सत्ता समझते हैं। प्राण या शरीरनिष्ठ जो बोध-शक्ति है, उससे जो उपश्लेष-बोध (कठिन, तरल आदि जड़त्व का बोध) होता है, तादृश बोध्य द्रव्य को भी स्थिर सत्ता समझते हैं। उन त्रिविध बोध-शक्ति का मिलित कार्य होने के कारण, वह प्रकाश चाल्य-जाड्य गुण जिस द्रव्य में मिलित रूप से बुद्ध होता है, उसको उत्तम स्थिरसत्ता समझते हैं। इस बाह्य स्थिरसत्ता के सिवा, मानसिक स्थिरसत्ता भी है। सुख-दुःख-मोह नामक मन की जो अवस्थावृत्तियाँ हैं—जो शब्दादिज्ञान के साथ मिलित और अपेक्षाकृत स्थायी रूप से रहते हैं, उनको भी स्थिरसत्ता समझते हैं। सबसे अधिक स्थिरसत्ता है—'मैं-पन'। मैं-पन का ज्ञान (सब ज्ञान क्रियादि शक्ति लेकर जो मैं-

---

१. दार्शनिकों की दृष्टि में ऐसा होने पर भी वैज्ञानिक उसे वैसा नहीं समझते थे। वे (वैज्ञानिक) Space और Time को अनापेक्षिक व्यवहार्य पदार्थ समझकर सत्यभाषण करते थे। आधुनिक आपेक्षिकता-वाद (Theory of Relativity) उसकी भ्रान्ति दिखाता है। उसके द्वारा गणित की सहायता से अनेक व्यवहारसत्य की अलीकता दिखाई जाती है और दिक् तथा काल-संबन्धी साधारण-प्रज्ञा की धारणा कितनी असंगत है, उसको इस रूप से दिखाया जाता है कि वह सहजज्ञान के लिए दुश्चिन्त्य हो जाती है; पर एक बार समझ लेने से वह बहुत उच्च नहीं है, ऐसा ज्ञात होता है। आकार, गति आदि अवस्था के अनुसार बाह्य वस्तु का ज्ञान प्रत्येक प्रकार के दर्शक के निकट विभिन्न प्रकार का होता है। सभी अपनी दृष्टि को सत्य समझते हैं। विभिन्न दर्शकों की स्वकीय गति आदि अवस्था-भेद से, दृष्टि विभिन्न होने पर भी, जो सब के लिए सत्य होना चाहिए, आपेक्षिकतावाद गणित से तादृश चित्र का अंकन करता है। अंकसमावेश को छोड़कर आपेक्षिकतावाद के सत्य कभी द्रव्यरूप में गोचर होने के योग्य नहीं हैं।

पन का बोध) अन्य सब ज्ञान में एक की तरह जाना जाता है, तथा वह उन सबका ज्ञाता है, ऐसा बोध होता है, इसलिए वह अत्यन्त स्थिर सत्ता है।

द्वितीय प्रकार का द्रव्य क्रिया है। जिसमें अवस्था-परिवर्त्तन का अति स्फुट ज्ञान होता है और जिसका परिवर्त्तन उतना लक्ष्य नहीं होता, वह क्रिया-द्रव्य है। मूलतः बाह्य क्रिया देश को व्याप्त कर होती है, अर्थात् 'एक स्थान से अन्य स्थान में प्राप्यमाणता' बाह्य क्रिया है। पर, 'एक स्थान से अन्य स्थान', यह स्थान-परिमाण यदि अलक्ष्य हो, तब एक ही स्थान में पूर्व शब्दादि गुण की निवृत्ति होकर अन्य शब्दादि गुण के आविर्भाव को भी हम बाह्य क्रिया कहते हैं। जैसे 'एक स्थान में नील गुण था; बाद में लाल हुआ', यहाँ स्थान-परिवर्त्तन न होकर गुण-परिवर्त्तन हुआ। पर, मूलतः वह भी स्थान-परिवर्त्तन से होता है। साधारण क्रिया की तरह शब्दादि की मूलीभूत क्रिया तथा रासायनिक क्रिया भी मूलतः अंगभूत द्रव्य का 'स्थान-परिवर्त्तन' है, यह बाह्य विज्ञान की प्रसिद्ध बात है।

जिसको हम स्थिर सत्ता समझते हैं, वह भी अलक्ष्य क्रिया ही है।[१] गवाक्षागत जिस आलोक-खण्ड को हम 'एक स्थिर सत्ता' समझते हैं, वस्तुतः वह भी आलोक नामक क्रिया है। वह क्रिया इतनी द्रुत और सूक्ष्म है कि उसका स्थान-परिवर्त्तन लक्ष्य नहीं होता। शास्त्र कहता है—'नित्यदा ह्यङ्गभूतानि भवन्ति न भवन्ति च; कालेनालक्ष्यवेगेन सूक्ष्मत्वात् तन्न दृश्यते', अर्थात् सभी द्रव्यों का अंगभूत सूक्ष्म अंश अलक्ष्यवेग से काल या क्रियाशक्ति के द्वारा अथवा अत्यन्त सूक्ष्मकाल में एक बार हो रहा है और एक बार लीन हो रहा है; सूक्ष्मत्व के कारण उसका दर्शन नहीं होता। आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से भी ऐसा ही कहना चाहिए, क्योंकि रूपादिद्रव्य क्रिया या कम्पन स्वरूप है। कम्पन का अर्थ है एक बार क्रिया की मन्दता और एक बार प्रबलता—एक बार आघात एक बार अनाघात। उनमें आघात के समय इन्द्रिय में उद्रेक होता है, बाद में अनुद्रेक। उद्रेक में ज्ञान और अनुद्रेक में ज्ञानाभाव, अतएव ज्ञान एक बार उत्पन्न हो रहा है, और तत्क्षणात् लीन हो रहा है। रूपज्ञान में एक मुहूर्त्त में बहुकोटिवार वैसा होने से उसका लक्ष्य नहीं होने के कारण-रूप स्थिर सत्ता की तरह मालूम पड़ता है। अलातचक्र अर्थात् एक प्रज्वलित अंगार को घुमाने से जो चक्राकार स्थिरसत्ता दृष्ट होती है, वह भी वैसी ही है। काठिन्य, भारवत्ता आदि जिन गुणों से द्रव्य स्थिरसत्ता मालूम पड़ता है, वे भी क्रिया या गतिविशेष मात्र हैं।[२] द्रव्य

---

१. But there are real movements and the immobilities into which we seem able to decompose them are not constituents of the movements, they are views of it.

२. 'Since we have found that electrons are constituents of all atoms and that mass is a property of electrical charge (Millikan's electron. p. 187), पर विद्युत् को भी आणविक अवयवयुक्त द्रव्य या क्रिया (atomic nature) कहा जाता है, पर वह किसकी क्रिया है या वह कौन-सा द्रव्य है, इसे अज्ञेय कहा जाता है'।

का आणविक आकर्षण-विशेष या क्रियावर्त्त ही काठिन्य है। भारवत्ता भी पृथिवी के साथ मिलने की गति है, इत्यादि।

इस प्रकार यह देखा गया कि जिसको स्थिरसत्ता समझते हैं, वह भी उदीयमान और लीयमान क्रिया-प्रवाह है। साधारण दृष्ट क्रिया या स्थान-परिवर्त्तन का कुछ अनुभव स्थिर सत्ता की तुलना से हम करते हैं। इस पुस्तक का, इस पृष्ठ के ऊपर से नीचे तक, कागज का देश एक स्थिर सत्ता है। उसके सब अवयव भी (जितने परिमाण के जितने संख्यक अवयव-विभाग क्यों न किया जाय) स्थिरसत्ता हैं, और आपकी अंगुलि भी स्थिर-सत्ता है। अंगुलि को पृष्ठ के ऊपर से नीचे तक खींचने से जो क्रिया होगी, वह उन स्थिर-सत्ताओं का पूर्वापर-क्रम से संयोग-वियोग मात्र है। पूर्वापर अवयवों के संयोग को लेकर देशव्यापी क्रिया होती है और पूर्वापर-क्षणव्यापी को लेकर क्रिया को काल-व्यापी कहा जाता है।

इस प्रकार स्थिर सत्ता को तुलना में हम दृष्ट क्रिया को समझते हैं। पर, चूँकि वे सब स्थिरसत्ताएँ भी जब क्रिया-विशेष हैं, तब मूल क्रिया को कैसे लक्षित करना युक्तियुक्त होगा? उसको इस स्थान से उस स्थान में गति कहकर लक्षित नहीं कर सकते, क्योंकि 'यह स्थान' और 'वह स्थान' ये दो ही स्थिर सत्ताएँ हैं। जब हमें स्थिरसत्ता को भी मूलीभूत क्रिया का लक्षण करना है, तब उसको अन्य किसी स्थिरसत्ता के द्वारा लक्षित करना युक्ति-युक्त नहीं है। अतएव, जागतिक मूलक्रिया को, जो 'यहाँ से वहाँ' रूप गति नहीं है, इस न्याय से कहना होगा। तब वह क्रिया कैसी है? यदि 'यहाँ से वहाँ' गतिरूप क्रिया के सिवा कोई अन्य क्रिया है, तब वह वही होगी। वैसी क्रिया भी है। वह क्रिया मन की है। इन दोनों प्रकार की क्रियाओं के अतिरिक्त अन्य कोई क्रिया व्यावहारिक जगत् में नहीं है। अतएव, मूल बाह्य क्रिया यदि दैशिक न हो, तो वह मानस क्रिया होगी। मन की क्रिया में स्थान का ज्ञान नहीं होता, परन्तु कालक्रम में परिवर्त्तन का ज्ञान होता है, मूल बाह्य क्रिया को भी न्यायतः तज्जातीय क्रिया कहना होगा।[1]

---

१. रूपादि बाह्य पदार्थ अन्तःकरणजातीय हैं, यह सांख्यीय सिद्धान्त है। प्रजापति का अभिमान-विशेष ही रूपादि विषय का मूल है, यह सांख्यमत है। जो कहते हैं कि ईश्वरीय इच्छा से रूपादि हुए हैं उनके मत से भी यही बात सिद्ध होती है, क्योंकि इच्छा अभिमान-विशेष है। उससे बाह्य विषय उत्पन्न होने से विषय का उपादान अभिमानसिद्ध होता है। बाह्यमूल के विषय में Plato कहते हैं—'Ether is the mother and reservoir of visible creation...and partaking somehow of the nature of mind'. Julian Huxley कहते हैं—'There is only one fundamental substance which possesses not only material properties but also properties for which the word 'mental' is the

बाह्यज्ञान का मूलीभूत पदार्थ इस प्रकार विस्तारहीन है, यह न्याय से सिद्ध होता है। तब विस्तार-ज्ञान कहाँ से आता है? पहले कथित अलातचक्र के उदाहरण में यह देखा गया है कि एक क्षुद्र अंगार-खण्ड एक बृहत् चक्ररूप स्थिर सत्ता मालूम पड़ता है। क्यों ऐसा होता है? उत्तर में कहना होगा कि एक स्थान में एक वस्तु के रूपज्ञान होने के लिए उस वस्तु का वहाँ एक निश्चित काल तक रहना आवश्यक होता है, पर यदि तदपेक्षा कम समय तक रहता है, तो चक्षु उसके उस स्थान में स्थित रूप से नहीं देख सकती और पूर्वज्ञान के साथ परक्षणिक ज्ञान मिलकर एक चक्राकार ज्ञान होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन्द्रिय से विषय का ग्रहण कर उसका ज्ञान होने तक जितने समय की आवश्यकता होती है, कोई भी ज्ञानहेतु क्रिया यदि तदपेक्षा अल्पकालस्थायी क्रियाओं का प्रवाहभूत हो, तो हम उन खण्ड-खण्ड प्रवाहांश-भूत क्रियाओं को विविक्त कर नहीं जान सकते, बल्कि बहुसंख्यक क्रियाओं को—एकवत् समझते हैं। इस प्रकार बहुसंख्यक बाह्यज्ञानहेतु क्रियाओं को—अविविक्त रूप में ग्रहण करना ही विस्तार-ज्ञान का स्वरूप है। अलातचक्र के उदाहरण में विन्दुमात्र आलोक (जो स्थिरसत्ता है) बृहत्चक्र में विवर्त्तित होता है और उसके पीछे तुलना करने के लिए बाह्य स्थिरसत्ता रहती है, पर मूल बाह्य विस्तार-ज्ञान के लिए (जो विस्तार-ज्ञान का मूल है) वैसी स्थिरसत्ता कैसे लभ्य हो सकती है?

वह जो लभ्य नहीं है, यह यथार्थ सत्य है। मूल बाह्य ज्ञेय द्रव्य के तुलनामूलक ज्ञान के लिए अन्य एक बाह्य ज्ञेय द्रव्य को स्थिरसत्ता के रूप में ग्रहण करने की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः, तब मैं-पन-रूप आभ्यन्तरिक स्थिरता को ग्रहण कर उसकी तुलना में मूल बाह्य विस्तार ज्ञेय होता है। मैं-पन सर्वज्ञान का ज्ञाता है, उसकी उपमा में सब कुछ ज्ञात या सत्तावान् मालूम पड़ता है। मैं-पन का धर्म है अभिमान, या 'मैं ऐसा हूँ, वैसा हूँ' ऐसा बोध। 'मैं' के साथ (ज्ञान से) किसी के योग होने से 'मैं तद्वान्' और वियोग होने से 'मैं तद्हीन' ऐसा जो बोध होता है, वह अभिमान है। अभिमान से मैं-पन लक्षित होता है। मैं-पन अभिमान की समष्टि है। अभिमान त्रिविध है—मैं ज्ञाता, मैं कर्त्ता और मैं (शरीरादि का) धर्त्ता। चूँकि ज्ञान सर्वप्रधान है, अतः 'मैं कर्त्ता', 'मैं धर्त्ता' इन दोनों भावों का भी 'मैं ज्ञाता हूँ'। ज्ञान, चेष्टा और धृति या संस्कार, अन्तःकरण के ये तीन मौलिक भाव हैं। मेरी क्रियाशक्ति है, क्रियाशक्ति का आधार

---

nearest approach'. आपेक्षिकतावाद में भी यही सिद्धान्त आता है। "But there exists in nature an impalpable entity which is not matter but which plays a part at least as real and prominent is a necessary implication of the theory' ( Relativity by L. Bolton, p. 175 ). बाह्य जगत् का यह अस्पर्श मूल यदि matter न हो, तो mind के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? इन दोनों को छोड़कर और कुछ कल्पनीय नहीं है या विद्यमान नहीं है।

शरीर और इन्द्रिय है। मेरे स्मार्यविषय मन में ही धृत हैं, इन सब बोधों का नाम या अभिमान का नाम ही 'धर्त्ता मैं' हूँ। मैं-पन वस्तुतः मनोभाव है, अतः विस्तारहीन है। पर, ऐसा होने पर भी अभिमान से वह विस्तारयुक्त या 'मैं विस्तृत हूँ, ऐसे ज्ञान से युक्त' हो सकता है। क्योंकि, जैसा अभिमान किया जाता है, व्यक्ति वैसा हो भी जाता है, ऐसा ज्ञान सर्वदा हो रहा है। हमारे विस्तार-ज्ञान की मूल अवस्था शरीराभिमान है। सर्वशरीरव्यापी जो बोध है, मैं इसका बोद्धा हूँ, अतः मैं शरीरी हूँ, ऐसा धर्तृत्वाभिमान स्थिरसत्ता की तरह अवभात है।

पहले कहा गया है कि सभी स्थिरसत्ताएँ भी अलक्ष्य क्रिया हैं। बोध होने के लिए बोधहेतु क्रिया चाहिए, और उस क्रिया को बोद्धा मैं-पन के साथ संयुक्त होना चाहिए। अतः, शरीररूप स्थिरसत्ता (या जो अलक्ष्य क्रियापुंज है) उसके बोद्धा मैं-पन के साथ युक्त होने से शरीर का बोध हो रहा है। शरीर अनेक क्षुद्र तथा बृहत् यन्त्रों की समष्टि है। वे सब क्रिया कर रहे हैं। बोद्धा उन क्रियाओं का ग्रहण कर रहा है।

पर ज्ञान का स्वभाव है 'एक क्षण में एक ज्ञान' होना। युगपत् मैं दो ज्ञान या बहु ज्ञान का ज्ञाता हूँ, ऐसा होना असंभव और अचिन्तनीय है[1], अतः शरीररूप युगपत् बहु (बोधहेतु) क्रियाजनित ज्ञान कैसा होता है? यह कहना होगा कि क्रमशः होता है (शतपत्र-भेद की तरह)। पर, वह इतना द्रुत होता है कि हम अपनी अपेक्षाकृत जड़ परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति से पृथक् कर जान नहीं सकते।[2] हमारी मनःक्रियाएँ, परिदृष्ट या लक्ष्य (Supraliminal) और अपरिदृष्ट या अलक्ष्य (Subliminal) हैं, यह प्रसिद्ध है। अशेष पिण्डीभूत संस्कार, जो बोध की सूक्ष्म अवस्था हैं और जो मैं-पन के साथ संसृष्ट हैं, अपरिदृष्ट चित्तकार्य हैं।[3] बोध तो

---

१. कोई भी मनस्तत्त्वविद् कदाचित् Two co-existent thoughts in the same subject नहीं मानता। यह अनुभूतिविरुद्ध है।

२. जैसे आलोक-ज्ञान में एक सेकंड में बहुकोटिवार चक्षु में क्रिया होती है; पर प्रत्येक क्रियाजन्य जो अणु-बोध होता है, उसे हम पृथक् कर नहीं जान सकते। बहु-कोटि क्रियानिर्मित कुछ आलोक को हम स्थूल इन्द्रिय से जान सकते हैं। इस प्रकार परिदृष्ट एक ज्ञान का स्थितिकाल ही हमारे साधारण ज्ञान में अविभाज्य क्षण की तरह प्रतीत होता है।

३. अपरिदृष्ट चित्तकार्य का उदाहरण—प्राण-कार्यों के ऊपर आधिपत्य, संस्कार का अस्फुट बोध, मिडियमों की अज्ञात लेखा ( automatic writing ) आदि कार्य। ( यदि इस पर विश्वास किया जा सके!—सं० ) शेषोक्त अवस्था में वह व्यक्ति कदाचित् परिदृष्ट भाव में एक प्रकार का कार्य करता है और अपरिदृष्ट भाव में उससे अन्य प्रकार का कार्य किया जाता है ( जैसा दूसरा कोई 'मैं' कर रहा है )। एक 'अहम्' का युगपत् बहुज्ञान संभव नहीं होने के कारण इसमें

बोद्धा के साथ संयोग के बिना नहीं रह सकता; अतः वे संस्कार-रूप सूक्ष्मबोध भी बोद्धा के साथ संयोग में वर्त्तमान है, अर्थात् अमेय संस्कार-रूप विशेष से अभिसंस्कृत बोध-रूप मैं-पन का धृत अंश अलक्ष्यवेग से बोद्धा से बुद्ध हो रहा है, उसीसे हमलोगों में यह अस्फुट अभिमानज्ञान होता है कि 'मैं संस्कारवान् धर्त्ता हूँ'। संस्कार किस रूप में रहते हैं, इसकी अच्छी तरह से धारणा करनी चाहिए। मन, चूँकि, देशिक विस्तारहीन है, अतः संस्कार 'एक के निकट दूसरा' इस प्रकार से नहीं हैं। जब संस्कार हैं, या वर्त्तमान हैं, तब एक क्षण में ही सब हैं। परिदृष्ट मैं-पन के ज्ञान में (चितवृत्ति के साथ 'मैं' के ज्ञान में) सब संस्कार अन्तर्भुक्त हैं। मिट्टी के पिण्ड में यदि बहुत बार छेद किया जाय, तो छेद के चिह्नयुक्त मृत्-पिण्ड के साथ संस्कारयुक्त मैं-पन को तुलना हो सकती है। मिट्टी को तरल और उसके छिद्र-चिह्नों को—असंख्य और विशद (आकारवान्) की तरह कल्पना करने से तुलना और अच्छी होगी। पर, यथार्थतः मैं-पन नामक पिण्ड क्षणस्थायी एक विस्ताहीन विन्दु है, और उसमें स्थित सभी संस्कार मैं-पन के ज्ञान-क्रिया-रूप में परिणत होने के सहज पथमात्र हैं। चूँकि, पहले अनुभूति होती है, अतः वह सहज पथ बन जाता है; वही संस्कार है। वैसे अशेष अन्तर्गत विशेष-युक्त एक विद्युद्विन्दु की कल्पना करने से मन की उपमा और भी अच्छी होगी। विद्युत् की प्रभा मन के ज्ञान की उपमा समझी जायगी। वैसा मैं-पन बोद्धा पुरुष के संयोग से प्रकाशित हो रहा है ( मैं बोद्धा हूँ, इस प्रकार )। मैं-पन या अन्तःकरण की वृत्तियाँ एक के बाद दूसरी होती हैं। एक समय दो ज्ञान नहीं होते, अतः संस्कार भी उसी रूप से होते हैं, अर्थात् एक समय में एक ज्ञान—इस प्रकार ही संस्कार का स्मरण होता है। उसी प्रकार संस्कार-स्मृति, चूँकि, असंख्य हो सकती है, अतः उस रूप से स्मरण करते रहने से कभी स्मरण-क्रिया का अन्त नहीं होगा। इसीलिए, काल के साथ योग कर कहने से यह कहना होगा कि मैं अनादिकाल से हूँ। उसी प्रकार मैं-पन किसी न किसी रूप से रहेगा, यह चिन्ता, चूँकि, अपरिहार्य है, अतः यह कहना होता है कि मैं अनन्तकाल तक रहूँगा। विज्ञाता या द्रष्टा की ओर से काल नहीं है ( क्योंकि काल-ज्ञान का भी वह ज्ञाता है) और सब संस्कार भी वर्त्तमान हैं, अतः द्रष्टा के साथ संस्कार का योग है ही। पर, प्रत्येक के बोध के समय परम्पराक्रम से एक संस्कार एक क्षण में ज्ञात होता है, ऐसा दीख पड़ता है। यद्यपि असंख्य संस्कार एक दूसरे से पृथक् हैं; तथापि, चूँकि, उन सबका निष्पादन संहत्यकारी एक-एक समष्टि शक्ति से (दर्शनादि का) होता है, अतः वे असंख्य-जातीय नहीं हैं। एक-एक जातीय संस्कार एक-एक संहत्यकारी मनःशक्ति के अनुगत रूप से रहते हैं, और द्रष्टा के साथ संयुक्त होकर बुद्ध होते हैं। तादृश संख्यशक्ति द्रष्टा के संयोग होने में (क्रमशः होने से भी) अमेय काल नहीं लगता, प्रत्युत मेय काल में ही होता है। वह, चूँकि, अतिद्रुत होता है, अतः युगपत् की तरह जान पड़ता है। पहले ही कहा गया है कि युगपत् बहुज्ञान अर्थात् युगपत्

एक बार परिदृष्ट भाव और दूसरी बार अपरिदृष्ट भाव—इस प्रकार बोद्धा के साथ अलक्ष्यवेग से संयोग होता रहता है, उसीसे मालूम पड़ता है कि मानों दो 'अहम्' युगपत् कार्य कर रहे हैं।

की तरह बहुज्ञान विस्तारज्ञान का स्वरूप है। एक बोद्धा का बहुबोध यद्यपि युगपत् असंभव है, तथापि परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति का मन्द-वेग और अपरिदृष्ट ज्ञानशक्ति का भृशवेग, इन दोनों वेगों का पार्थक्य रहने से, परिदृष्ट ज्ञान-शक्ति के पास बहुत अपरिदृष्ट ज्ञानहेतुक क्रिया युगपत् की तरह अविभक्त ज्ञान का उत्पादन करेगी। तादृश बोध का नाम ही शरीराभिमान-बोध है। उसीसे 'मैं शरीरी या शरीरव्यापी' इस व्यापी शरीरगत बोध-रूप स्थिर सत्ता का बोध होता है। पहले ही कहा गया है कि शरीर प्रवहमान सत्ता क्रियापुंज है। अलातचक्र की तरह वह उसी रूप से स्थिरसत्ता-रूप विपर्यय (या Illusion) होता है। यदि सूक्ष्म ज्ञानशक्ति से शरीरनामक क्रियापुंज की प्रत्येक क्रिया को पृथक्-पृथक् रूप से जाना जाय, तो उसका अनुभव प्रवहमान व्याप्तिहीन क्रियाजन्य सत्ता ही होगा, जैसे अत्यल्प कालव्यापी उद्घाटन (Exposure) से अलातचक्र की फोटो लेने से वह चक्राकार नहीं, क्षुद्र अंगार-खण्ड ही रहता है। यह उस विषय की उपमा है। अथवा एक द्रुतगामी चक्र—जिसके अर एकाकार मालूम पड़ते हैं—को क्षणप्रभा के आलोक से देखने से प्रत्येक अर स्पष्ट दीख पड़ेगा, मानो चक्र स्थिर है।[1]

इस प्रकार यह जाना गया कि हमलोगों के विस्तारज्ञान का मूल या मौलिक अवस्था है 'शरीर-बोध या प्राणन क्रिया का बोध'। यह विस्तार-ज्ञान अत्यन्त अस्फुट है। इसमें आकारज्ञान अत्यन्त अल्प ही रहता है। यदि केवल शरीर में अवहित होकर स्वास्थ्य या पीड़ा का बोध किया जाय, तो इसका ज्ञान होगा। तब एक व्याप्तिबोध तो रहेगा, पर स्वास्थ्य या पीड़ा का आकारबोध नहीं रहेगा। यह बोध शब्द-रूपादिज्ञान का उतना सापेक्ष नहीं है, क्योंकि शरीरमध्यस्थ बोध ही उसका स्वरूप है। यदि किसी की चक्षु आदि ज्ञानेन्द्रियाँ और हस्त-पद न रहें, तो प्राणन-बोध से उसका वैसा विस्तार-ज्ञान होता है।

---

१. आजकल वैज्ञानिक Relativity आदि जटिल विषय समझाने के लिए ऐसे Super-intelligence की कल्पना करते हैं, जिससे Fourth और Fifth dimension ज्ञात हो सकते हैं। सांख्यसम्मत सुसूक्ष्म ज्ञानशक्ति वैसी काल्पनिक नहीं है। उसके साधन का संविशेष उपाय योगशास्त्र में है। इस सुसूक्ष्म ज्ञान के ज्ञेय का नाम है तन्मात्रसंज्ञक ज्ञानाणु (अत्यन्त क्षुद्रकण या अविभाज्य Atom नहीं है)। उस दृष्टि से देखने से विस्तारज्ञान लुप्तप्राय होकर कालिक धाराक्रम से भृशवेग से बाह्यज्ञान होता रहता है। वह मन और बाह्य का सन्धिस्थल है। क्रिया या प्रवहणशीलता जब प्रबल होती है, तब वह क्रिया जिसकी है, वह लक्ष्य नहीं होता, इसलिए उस समय बाह्यविस्तृत सत्ता लुप्तप्राय होती है। जिस क्रिया-प्रवाह से रूपादि ज्ञान होते हैं, उस प्रवाहांशभूत एक-एक क्रिया से जो सुसूक्ष्म ज्ञान होता है, वही तन्मात्र ज्ञान है। योगशास्त्रोक्त निर्विचारा समापत्ति से उसका सम्यक् साक्षात्कार करने से उस ज्ञान की हेतुभूत इन्द्रिय-क्रियाओं के जितने समाहार हो सकते हैं (जो समाहार रूपादि के विशेषों का

बाह्य द्रव्य से बाधा पाने पर जो बोध होता है, वह काठिन्य है। उसके तारतम्य से कोमल, वायवीय आदि बोध होते हैं। उसके साथ यह व्याप्तिबोध मिलित होकर व्यापी बाह्यबोध उत्पन्न होता है।

इस मौलिक विस्तार-बोध को अन्तर्गत कर कर्मेन्द्रियों में व्याप्ति-बोध होता है, और उनसे शरीर या शरीरस्थ द्रव्य चालित होकर बाह्य-विस्तार का बोध होता है। उनमें गमनेन्द्रिय से अच्छी तरह से बाह्य विस्तार का बोध होता है, और हाथ से आकार-बोध बहुलांश में होता है। ज्ञानेन्द्रिय नहीं रहने से केवल कर्मेन्द्रिय से जो हो सकता है, वह सहजतः जाना जा सकता है। प्राणन-बोधजनित स्वगत विस्तार-बोध को अन्तर्गत करने के कारण ज्ञानेन्द्रिय में अस्फुट विस्तार-बोध रहता है। उसकी तुलना करने के लिए स्थिरसत्ता के रूप में पाकर रूपादि विषय पूर्वोक्त कारण से विस्तारयुक्त रूप में युगपत् की तरह गृहीत होते हैं। जैसे प्राणों में व्यान की रक्तसंचालनकारी प्राणशक्ति से सर्वोत्तम रूप से शरीर विस्तार का बोध होता है, कर्मेन्द्रियों में गमनेन्द्रिय से अच्छी तरह से चलन-जनित विस्तार-ज्ञान होता है, उसी प्रकार ज्ञानेन्द्रियों में चक्षु से सर्वापेक्षा उत्तम रूप से विस्तार और आकार का ज्ञान होता है। वागिन्द्रिय और कर्ण से कुछ कालिक विस्तार-ज्ञान भी होता है (क्योंकि शब्द में देश-व्याप्ति की अपेक्षा क्रिया-ज्ञान का प्राबल्य अधिक है)।

इस प्रकार बाह्य विस्तार-ज्ञान के दृष्टिभ्रम या विपर्यय होने से भी, वह अभाव नहीं है। शब्दादिरूप भावपदार्थ के क्रमभावी अवयवों को युगपद्भावी जानना ही इसका स्वरूप है। युगपद्भाव का ज्ञान ही यहाँ विपर्यय है, अवयव-ज्ञान न विपर्यय है

---

स्वरूप है), वे सब (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) ज्ञानगोचर होते हैं (योगभाष्य १।४४ द्रष्टव्य)। पाश्चात्त्य वैज्ञानिक जिस Fourth Dimension की बात कहते हैं, (जो कालव्यापी परिमाण है) वह इस तन्मात्रतत्त्व की ओर जा रहा है। Fourth Dimension को जानने से कैसा ज्ञान होगा, वह वैज्ञानिकों की युक्ति में इस प्रकार से कहा जायगा—"Proucher who tells us that a man who was able to make use of the fourth dimension, would see the whole of the interior of the material bodies, without being arrested by their surfaces ...He would be able to energe from a space, closed in all directions, without passing through its boundaries.' अन्यत्र भी 'Since in the fourth dimension matter is permeable, reversible and subject to the mind' इत्यादि (M. Maeterlinck का Life of Space p. 45.) योगदर्शन में भी यही बात है। पर, वहाँ यह सम्यक् वैज्ञानिक प्रणाली में प्रतिपादित है और वैसे ज्ञान का साधन भी प्रदर्शित हुआ है।

और न अभाव ही । विपर्यय-ज्ञान में भी एक भावपदार्थ का अध्यास 'अन्य भाव-पदार्थ में होता है; यह अध्यास ही वहाँ मिथ्या है, पर वे दो भावपदार्थ सत्य हैं। रज्जु भी सत्पदार्थ है, सर्प भी सत्पदार्थ है, पर एक में अन्य का अध्यास मिथ्या है। यहाँ भी अवयव-ज्ञान सत्य है। अतएव, विस्तार या देश के अर्थ में जहाँ अवयव-ज्ञान है, वहाँ वह वास्तव है, अथवा जहाँ उसका अर्थ बहुतेरे अवयव हैं, वहाँ भी वह सत्यज्ञान है, पर जहाँ वह क्रमभावी ज्ञान को सहभावी बोध कराता है, वहाँ उतना ही अंश अतद्रूपप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान है या एक का अन्य रूप से ज्ञान है (पर वहाँ भी 'एक' और 'अन्य' भाव पदार्थ है)।

पर, जहाँ विस्तार शब्द का अर्थ सीखकर यह सोचा जाता है कि ग्राह्य वस्तु से एक विस्तार है, या ग्राह्यवस्तु के अभाव होने से जो रहता है, वही विस्तार या अवकाश है, वहाँ वह विस्तार 'शून्य' है और उस शब्द या वाक्य से उत्पन्न ज्ञान विकल्पज्ञान है। काल के विषय में भी यही जानना चाहिए। जिसको जान रहा हूँ, उसीको वर्त्तमान समझते हैं। जिसको जाना था या जानूँगा, उसको यथाक्रम अतीत और अनागत समझते हैं। पर, भावपदार्थ का अभाव नहीं होता और अभाव का भी भाव नहीं होता; अतः हम जिसको अतीतानागत कहते हैं, वह भी है या वर्त्तमान है (अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्ति—योगसूत्र ४।१२)।[1] सब भाव-पदार्थ अवस्थान्तर में विद्यमान रहते हैं। अतः सभी वर्त्तमान हैं। वर्त्तमान होने से भी, जिसको नहीं जान रहे हैं, वह अतीत या अनागत कालस्थ है, ऐसा समझते हैं, क्योंकि हम असत् को सत् नहीं समझ सकते। स्मृति और कल्पना के बल पर मैं था और रहूँगा, ऐसा सोचकर मैं-पन को हम त्रिकालव्यापी स्थिरसत्ता समझते हैं। बोध से संस्कार होता है और संस्कार से स्मृति होती है तथा स्मृति के आश्रय से कल्पना होती है। सब बोध एक के बाद अन्य काल में होते हैं (क्योंकि एक ही मैं-पन में एक क्षण में दो बोध नहीं होते), अतः तज्जनित संस्कार भी कालव्यापी होगा, पर वे सूक्ष्म रूप में रहते हैं, अतः अलक्ष्यवत् रहते हैं। जैसा एक शाब्दिक कम्पन क्रमशः सूक्ष्म होकर अलक्ष्य हो जाता है, पर वह उस विशेष शब्द की हो सूक्ष्मावस्था है (घण्टाध्वनि की सूक्ष्मावस्था घण्टाध्वनि के अनुरूप ही होगी, मृदंगध्वनि की तरह नहीं होगी), उसी प्रकार यादृश स्वभाव का बोध होता है, उसका संस्कार भी उसी के अनुरूप होता है। अतः, संस्कार कालव्यापी प्रवहमान सत्ता के रूप में ही अलक्ष्यवत् रूप में विद्यमान है। पर, संस्कार पूर्णरूप से

---

१. Maurice Maeterlinck ने अपने एक भविष्यत् स्वप्न के विषय में (जो स्वप्न तीन दिन के बाद असन्दिग्ध रूप से मिल गया है) विचार कर कहा था—'We shall before long be convinced by our personal experience that the future already exists in the present, that what we have not yet done is to some extent accomplished' (Life of Space p. 126),

अलक्ष्य नहीं है। शरीरगत अस्फुट बोध की तरह उसका भी स्मृति-बोध सामान्य रूप से है। चूँकि, वह अलक्ष्य है, अतः वह 'था' ऐसा समझते हैं, और अस्फुटभाव से उसके उदय होने के कारण वह 'है' ऐसा समझना पड़ता है। अतः, वह 'है' और 'था', इन दोनों का सम्मिश्रण है। किंच, संस्कार का जो स्मृतिबोध होता है, वह बाह्य विस्तार-बोध की तरह बहुत क्रियाओं का संकीर्ण ग्रहण स्वरूप है, क्योंकि क्रमशः संघटित बोधों के अनुरूप संस्कार क्रमशः ही विद्यमान रहेगा; पर उनकी जो स्मृति उठकर परिदृष्ट वर्त्तमान ज्ञान के पीछे आघात करती है, उसमें अनेक संस्कार (जो क्रमशः उत्पन्न हैं, अतः क्रमिक मनोभावरूप में स्थित है[1] युगपत् या अक्रम से वर्त्तमान हैं, मानों इस प्रकार का बोध उत्पन्न करा देती है। इसीसे जिसको 'था' समझता हूँ, उसीको पुनः 'है' ऐसा मानना पड़ता है। यही अतीत से वर्त्तमानपर्यन्त कालिक विस्तार है। पर, स्मृतिमूलक युक्तियुक्त स्वाभाविक कल्पना से मैं-पन की अलक्ष्यभावी अवस्था का भी निश्चय होता है, अर्थात् जो होगा या 'मैं किसी न किसी रूप में रहूँगा', यह भी वर्त्तमान काल में जानता हूँ। वर्त्तमान में जानना या वर्त्तमान के रूप में जानने का अर्थ है 'रहना'। अतः जो होगा, वह भी है, ऐसा समझकर वर्त्तमान और भविष्यत् काल को हम समाहृत करते हैं। इस प्रकार वस्तु का, लक्ष्य और अलक्ष्य, इन दो अवस्थाओं के अनुसार, कालभेद हम करते है। जिस पुरुष का भूत और भविष्य-ज्ञान अबाध है, उनके या ईश्वर के पास सभी वर्त्तमान हैं। इसलिए योगभाष्यकार ने कहा है, 'वर्त्तमान एक क्षण में विश्व-परिणाम का अनुभव कर रहा है' (३।५२)। उस अशेष विश्व-परिणाम का जो जितना अंश ग्रहण कर रहा है, वह उतने अंश को वर्तमान समझता है, और अन्य अमेय अंश को अतीतानागत समझता है। मेरे असंख्य परिणाम हुए हैं[2] और असंख्य परिणाम हो सकते हैं—मैं-पन के विषय में यह स्वाभाविक निश्चय ही कालिक विस्तार-ज्ञान है। दैशिक विस्तार-ज्ञान में जैसे अवयवों की संख्या (मेय या अमेय) यथार्थ पदार्थ हैं, कालिक विस्तार-ज्ञान में भी उसी प्रकार मानस घटनाओं की संख्या (मेय और अमेय) यथार्थ पदार्थ है, अर्थात् असंख्य परिणाम हुए हैं और होंगे—इसलिए 'मैं'

---

१. इसकी कल्पना करना कठिन है। अनेक मनोभाव पर-परस्थान में है, ऐसी दैशिक भेद की कल्पना करना अयुक्त है। क्रमशः एक के बाद दूसरे का होना ही उनका अवस्थान-भेद है, पर जो यह कहा जाता है कि सब वर्त्तमान हैं, तब 'एक के बाद दूसरा' ऐसा कहना भी अयुक्त होगा। अतः यह कहना होगा कि वे वर्त्तमान हैं, पर 'एक क्षण में एक ज्ञेय है' ऐसा क्रमशः ज्ञेय रूप में और क्रमोत्थाप्य रूप में वर्त्तमान हैं। देशावस्थितिहीनता, बहुता और युगपत् वर्त्तमानता की कल्पना करना कठिन है।

२. जो वादी मैं-पन को भौतिक द्रव्य समझते हैं, वे भी इस बात को अन्यथा नहीं कर सकते। वे समझते हैं कि 'मैं भूतनिर्मित हूँ और भूत में मैं मिल जाऊँगा।' वे यह भी कहने में बाध्य हो जाते हैं कि जिस भूत का परिणाम 'मैं-पन'

(या अन्य कोई वस्तु) था और रहेगा, ऐसा कहते हैं। यह मानसिक घटना परम्परारूप विस्तार प्रकृत पदार्थ है। उससे वाक्यविन्यास से हम यह जो कहते हैं कि जिसमें वह मानस घटना है, थी और रहेगी—वही काल है। ऐसा काल 'शून्य' है और ऐसे अवास्तव पदार्थ का ज्ञान काल नामक विकल्प ज्ञान है।

[क्रमशः]

●

# 'बाधति बाधते'

## 'छात्री' शब्द की असाधुता

डा० ईश्वर दत्त, प्राचार्य, खगड़िया-कालेज (मुँगेर)

[ हम इस स्तम्भ के अन्तर्गत साधुशब्द-प्रयोगविषयक विद्वानों के विचार समय-समय पर प्रस्तुत करने का यत्न करेंगे। सम्प्रति 'छात्री' शब्द की साधुता पर संस्कृत और हिंदी के यशस्वी आचार्य डा० ईश्वर दत्त जी के विचार दिये जा रहे हैं। हम अन्य विद्वानों को इस विषय पर प्रकाश डालने के लिए आमन्त्रित करते हैं। ]—सं०

व्याकरण की दृष्टि से छात्र शब्द के स्त्रीलिङ्ग का शुद्ध रूप 'छात्रा' है। कुछ लोग भ्रम-वश कभी-कभी 'छात्री' शब्द का प्रयोग कर दिया करते हैं। हिन्दी हमारी राष्ट्रभाषा है। उसके रूप को परिष्कृत करना प्रकृत लेख के लेखक का जीवन में प्रधान कर्त्तव्य रहा है। तदनुसार इस लेख में 'छात्री' शब्द के सम्बन्ध में फैलते हुए भ्रम को दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

विषय शास्त्रीय है। अतः, इस पर विचार करते हुए हमें शास्त्र की जटिलताओं में बलात् जाना पड़ेगा। तथापि यत्र-तत्र कठिन विषयों का स्पष्टीकरण यथासम्भव पाद-टिप्पणियों में कर दिया जायगा, ताकि वैयाकरण और अवैयाकरण दोनों ही विना कठिनाई के सत्यासत्य का निर्णय स्वयं कर सकें।

सब से पहले हम, प्रतिपक्षी जिस आधार को लेकर 'छात्री' शब्द की साधुता सिद्ध करना चाहते हैं उसका उल्लेख करेंगे। तदनन्तर उसकी निःसारता दिखलाकर 'छात्रा' शब्द की साधुता स्थापित की जायगी।

प्रतिपक्षियों का कथन है कि पाणिनि के 'कार्मस्ताच्छील्ये' (६।४।१७२) इस सूत्र पर

---

है, वह भूत अनादिकाल से असंख्य परिणाम पा चुका है, और भविष्य में भी पायगा। अतः, उनको भी यह कहना होगा कि मैं पहले भी किसी न किसी रूप में था, और भविष्य में भी रहूँगा।

भाष्य करते हुए महाभाष्यकार पतञ्जलि ने कहा है कि 'एवं तर्हि सिद्धे सति यन्निपातन करोति तज्ज्ञापयत्याचार्यः—ताच्छीलिकेऽणकृतानि भवन्ति इति।'

अर्थात् 'कर्मशील' के अर्थ में 'कार्म' शब्द की सिद्धि के लिए पाणिनि को 'कार्मस्ताच्छील्ये' इस सूत्र द्वारा टि[1] के लोप का निपात[2] करना पड़ा, किन्तु टि का लोप तो 'नस्तद्धिते' इस सूत्र द्वारा प्राप्त ही था और 'अन्' इस सूत्र द्वारा उसके प्रकृतिभाव[3] की आशङ्का का भी कोई कारण नहीं था, क्योंकि 'अन्' सूत्र प्रकृतिभाव तभी करता है, जबकि अन्नन्त शब्द के आगे अण् प्रत्यय हो, किन्तु 'कार्म' शब्द में तो ण प्रत्यय है। इस प्रकार, पाणिनि का 'कार्मस्ताच्छील्ये' यह सूत्र वृथा सिद्ध होकर यह ज्ञापित करता है कि 'ताच्छील्य' [4] अर्थ में प्रयुक्त ण प्रत्यय में अण् प्रत्यय के कार्य होते हैं।

इसके अतिरिक्त 'ताच्छीलिके णेऽणकृतानि भवन्ति' यह परिभाषा [5] भी इसी तथ्य की सूचना देती है।

अतः, जिस प्रकार 'चौरी' और 'तापसी' 'चौर' और 'तापस' शब्दों के ण-प्रत्ययान्त होने पर भी अण्-कार्य अर्थात् ङीप् हो जाता है, उसी प्रकार छात्त्र' शब्द में भी अण्-काय अर्थात् स्त्री-प्रत्यय ङीप् होना चाहिए और 'छात्त्र' शब्द के स्त्रीलिङ्ग का रूप 'छात्त्री' ऐसा होना चाहिए, 'छात्त्र' नहीं।

प्रतिपक्षियों का उपर्युक्त तर्क भ्रान्तिपूर्ण है। इसके निम्नलिखित कारण हैं—

१. ज्ञापन [6] का प्रयोजन 'छात्त्र' शब्द को सिद्ध करना नहीं है।

ज्ञापक [7] सर्वदा किसी प्रयोजनविशेष की सिद्धि के लिए हुआ करते हैं। तदनुसार महाभाष्यकार उक्त स्थल पर स्वयं पूछते हैं-'किमेतस्य ज्ञापने प्रयोजनम्' ? अर्थात् 'ताच्छीलिक ण प्रत्यय में अण् प्रत्यय के कार्य होते हैं'— इस बात के ज्ञापन का क्या प्रयोजन है ? इसका उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'चौरी तापसी इति अणन्तादितीकारः सिद्धो भवति', अर्थात् इसका प्रयोजन यही है कि 'चौरी' और 'तापसी' इन शब्दों में 'टिड्ढाण ञ्०' इत्यादि सूत्र द्वारा ईकार हो जाय।

यहाँ पर यदि महाभाष्यकार की दृष्टि में 'छात्त्री' शब्द में भी ईकार अभीष्ट होता तो जहाँ 'चौरी' और 'तापसी' शब्दों को उन्होंने उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया था वहाँ वे 'छात्त्री' शब्द को भी अवश्य प्रस्तुत करते। किन्तु, उन्होंने ऐसा नहीं किया। अतः स्पष्ट है कि उन्हें 'छात्त्री' शब्द अभीष्ट नहीं था।

२. इसके अतिरिक्त परिभाषा स्पष्ट रूप से कह रही है कि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र'।

---

१. 'कर्मन्' शब्द का 'अन्' भाग। २. विशेष रूप से विधान। ३. लोप का निषेध। ४. तत् शीलम् अस्य, अर्थात् अमुक व्यक्ति का अमुक प्रकार का स्वभाव है, यह अर्थ। ५. पाणिनीय व्याकरण की व्याख्या के लिए उपलब्ध सिद्धान्त। ६. आचार्य का अपने व्यवहार द्वारा किसी नियम को सूचित करना। ७. किसी नियम-विशेष की सूचना देनेवाला व्यवहार।

ज्ञापक किसी सामान्य प्रयोजन की सिद्धि के लिए नहीं हुआ करते। अतएव, पाणिनि के व्याकरण की व्याख्या के लिए हमें जो परिभाषाएँ उपलब्ध हुई हैं उनमें संख्या १२६ की परिभाषा स्पष्ट शब्दों में घोषित करती है कि 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र।'—अर्थात् ज्ञापक द्वारा निकाले गये सिद्धान्त का प्रयोग सर्वत्र नहीं किया जा सकता। अतः, 'ताच्छील्यार्थक ण प्रत्यय में अण् प्रत्यय के कार्य होते हैं।'—इस नियम का प्रयोग पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य में प्रयोजनविशेष की सिद्धि के लिए, अर्थात् 'चौरी' और 'तापसी' इन विशिष्ट प्रयोगों को निष्पन्न करने के लिए, किया है। फलतः, उसका उपयोग अपने मनगढ़न्त प्रयोग 'छात्री' की सिद्धि के लिए करना व्याकरण-शास्त्र की मर्यादा का उल्लङ्घन करना है।

३. पाणिनि ने 'छत्त्रादिभ्योऽण्' ऐसा सूत्र नहीं बनाया। क्यों ?

पाणिनि का 'छत्त्रादिभ्यो णः' सूत्र छत्त्रादि गण में पठित शब्दों के आगे ताच्छील्य अर्थ में स्पष्ट रूप से 'ण' प्रत्यय का विधान करता है। यदि उसे उक्त अर्थ में सर्वत्र ही अण्-कार्य अभीष्ट होता तो वह 'ण' का विधान न करके सीधे ही 'अण्' प्रत्यय का विधान कर देता। किन्तु, उसने ऐसा नहीं किया। क्यों ?

इसका एक मात्र उत्तर यही है कि पाणिनि को छत्त्रादिगण में पठित सभी शब्दों के योग में अण्-कार्य अभीष्ट नहीं था। केवल 'चुरा' और 'तपस्' इन्हीं दो शब्दों के योग में अभीष्ट था, जैसा कि महाभाष्यकार की ऊपर उद्धृत उक्ति द्वारा हम सिद्ध कर आये हैं। यही कारण है कि नागेश भट्ट जैसे व्याकरण के पहुँचे हुए आचार्य 'ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र' इस परिभाषा का औचित्य दिखलाते हुए सिद्धान्त-कौमुदी पर लिखी अपनी परिभाषेन्दुशेखर नाम की प्रसिद्ध टीका में लिखते हैं कि 'स्पष्टमेव पठितव्येऽनुमानाद् बोधनमसार्वत्रिकत्वार्थमित्यर्थः'। अर्थात्, स्पष्ट रूप से 'छत्त्रादिभ्योऽण्' ऐसा न कहकर पाणिनि ने जो 'छत्त्रादिभ्यो णः' ऐसा सूत्र बनाया और अनुमान द्वारा इस तथ्य का ज्ञान कराया कि जहाँ ताच्छील्यार्थक ण प्रत्यय का विधान किया गया है, वहाँ अण् प्रत्यय का कार्य होता है—इससे यही बात प्रमाणित होती है कि ज्ञापन द्वारा सूचित नियम का प्रयोग सर्वत्र नहीं किया जा सकता।

४. नागेशभट्ट उद्योत[1] में स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि 'ज्ञापकसिद्धस्यासार्वत्रिकत्वात् 'छात्त्रा' इति सिध्यति।'

अर्थात्, चूँकि ज्ञापक द्वारा सिद्ध बात का प्रयोग सर्वत्र नहीं किया जा सकता, अतः पाणिनीय व्याकरण के अनुसार छात्त्र शब्द का स्त्रीलिंग में 'छात्त्रा' यही रूप निष्पन्न होता है।

इतना ही नहीं, कि उक्त उद्धरण में नागेश भट्ट ने स्पष्ट शब्दों में 'छात्त्रा' शब्द का समर्थन किया है, बल्कि आगे चलकर उन्होंने कैयट के इस मत को 'चिन्त्य' अर्थात् आपत्तिजनक बतलाया है कि "पाणिनि के 'छत्त्रादिभ्यो णः' इस सूत्र के स्थान में

१. महाभाष्य पर कैयट ने 'प्रदीप' नाम की टीका लिखी है। उस पर नागेशभट्ट की 'उद्योत' नाम की टीका है।

'छत्रादिभ्योऽण्' ऐसा पाठ होना चाहिए, क्योंकि इसमें डेढ़ मात्रा की कमी हो जायगी और ण प्रत्यय के विधान का कोई प्रयोजन भी नहीं है।''

इस सम्बन्ध में हम नागेशभट्ट के पूरे शब्द ही नीचे उद्धृत कर देना उचित समझते हैं—

उद्योत—

'एवञ्चेति। ज्ञापके हि ज्ञापकसिद्धस्याऽसार्वत्रिकत्वात् 'छात्त्रा' इति सिध्यतीति चिन्त्यमिदमित्यन्ये।'

हिन्दी-अनुवाद—

कैयट के ''एवञ्च 'छत्त्रादिभ्योऽण्' इति लाघवाय कर्त्तव्यम्, ण-वचने प्रयोजनाभावात्'' इन शब्दों पर नागेशभट्ट की टीका उद्योत—

चूँकि 'ताच्छीलिक ण के योग में अण् के कार्य होते हैं' यह बात ज्ञापक से सिद्ध होती है और ज्ञापक द्वारा सिद्ध बात का प्रयोग सर्वत्र नहीं किया जा सकता, अतः व्याकरण द्वारा 'छात्त्रा' ऐसा ही रूप निष्पन्न होता है। अतः 'एवञ्च' इन शब्दों से आरम्भ होनेवाली और 'प्रयोजनाभावात्' इनसे समाप्त होनेवाली ऊपर उद्धृत कैयट की उक्ति चिन्त्य है, यह अन्य पक्षवालों[1] (अर्थात् अस्मदादिक नागेशभट्ट और उनके सदृश विचार रखनेवालों) का मत है।

५. छत्त्रादिगण में हमें निम्नलिखित २२ शब्द उपलब्ध होते हैं, जिनमें छत्त्र शब्द सबसे पहले पढ़ा गया है—

१. छत्त्र, २. शिक्षा, ३. प्ररोह, ४. स्था, ५. बुभुक्षा, ६. चुरा, ७. तितिक्षा, ८. उपस्थान, ९. कृषि, १०. कर्मन्, ११. विश्वधा, १२. तपस्, १३. सत्य, १४. अनृत, १५. विशिखा, १६. विशिका, १७. भक्षा, १८. उदस्थान, १९. पुरोडा, २०. विक्षा, २१. चुक्षा और २२. मन्द्र।

इन २२ शब्दों के योग में पाणिनि के 'छत्त्रादिभ्यो णः' (४. ४. ६२) इस सूत्र द्वारा ण प्रत्यय होता है। गुरु के दोषों के आवरण का नाम छत्त्र है। 'वह जिसका स्वभाव है' इस अर्थ में छत्त्र शब्द से ण प्रत्यय करने पर 'छात्त्र' शब्द सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्रमशः 'चोरी करना जिसका स्वभाव है' इस अर्थ में 'चौर' और 'तप करना जिसका स्वभाव है' इस अर्थ में 'तापस' ये शब्द भी सिद्ध होते हैं।

यहाँ पर हम 'छात्त्री' शब्द के समर्थकों से यह पूछना चाहते हैं कि यद्यपि छत्त्र शब्द छत्त्रादिगण में पहले ही स्थान पर पठित है तथापि जब उपर्युक्त ज्ञापक का प्रयोजन उल्लेख करने का अवसर आया तब पतञ्जलि मुनि एकाएक छत्त्र शब्द को सर्वथा क्यों भूल गये?

---

१. नागेशभट्ट नम्रतावश अपने लिए 'इति नागेशभट्टाः' ऐसा न कह कर नियम से सर्वत्र 'इत्यन्ये' इत्यादि पदों द्वारा संकेत किया करते हैं।

इतना ही नहीं, उन्होंने तो 'छत्त्र' शब्द से लेकर 'मन्द्र' शब्द पर्यन्त पठित २२ शब्दों में से केवल 'चुरा' (सं० ६) और 'तपस्' (सं० १२) इन दो शब्दों को छोड़कर शेष सभी को भुला दिया ! ज्ञापक के प्रयोजन का व्योरा देते हुए उन्होंने जहाँ 'चुरा' एवं 'तपस्' इन शब्दों से सम्बद्ध 'चौरी' और 'तापसी' का उल्लेख किया था वहाँ कम-से-कम प्रथम स्थान पर पठित छत्त्र शब्द से सम्बद्ध 'छात्त्री' का तो उल्लेख कर देते ! किन्तु, उन्होंने इतना भी नहीं किया, प्रत्युत गणपाठ के बीच में से दो शब्दों को उठाकर उदाहरण प्रस्तुत किये।

क्या प्रतिपक्षी हमें इसका कारण बतलाने की कृपा करेंगे ?

यदि हमसे पूछा जाय तो इसका सीधा और यथार्थ उत्तर यही है कि उक्त ज्ञापक का प्रयोजन पतञ्जलि मुनि के अनुसार 'चौरी' और 'तापसी' इन शब्दों को सिद्ध करना था। 'छात्त्री' आदि शब्द तो अप्रयुक्त हैं। अतः, उन्हें सिद्ध करना पतञ्जलि-जैसे आचार्य को अभीष्ट नहीं था। अतएव, उन्होंने उनका उल्लेख नहीं किया।

इस प्रकार ण-प्रत्ययान्त छात्त्र शब्द के आगे स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्-कार्य सर्वथा असिद्ध है। अतः, छात्त्र शब्द के स्त्रीलिङ्ग में पाणिनि के किसी भी सूत्र द्वारा ईकार प्राप्त नहीं है। फलतः, 'छात्त्री' शब्द व्याकरणानुसार असाधु है।

ईकारविधायक सूत्र के अभाव में पाणिनि के 'अजाद्यतष्टाप्' ( ४।१।४ ) सूत्र द्वारा छात्त्र शब्द के अकारान्त होने के कारण इसके आगे स्त्रीत्व की विवक्षा में आकार ( टाप ) ही प्राप्त होगा। इसके फलस्वरूप व्याकरणानुसार 'छात्त्रा' शब्द ही निष्पन्न होगा, न कि 'छात्त्री'।

# यूनान का जीवन

श्री सत्यदेव, पटना-विश्वविद्यालय

मध्ययुग के यूरोप के समाज और विचारों में जो गतिरोध उत्पन्न हो गया था उसका अन्त दैवी इच्छा या द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के नियमों के द्वारा नहीं हुआ। विचारों में परिवर्त्तन होने पर ही क्रान्ति हुई, और उन क्रान्तिकारी विचारों के बीज यूनान के इतिहास में विद्यमान थे। यूनान के इतिहास की उस भूली हुई कड़ी को समझ लेने के बाद ही पुनर्जागरण-आन्दोलन का महत्त्व समझा जा सकता है। मध्ययुग में निराशा के अन्धकार से घबराकर लोगों ने मुक्ति का पथ खोजने का यत्न किया। ऐसे संकट-काल में, यूनान के मानववादी विचारों ने अन्धकार दूर करने में प्रकाश-स्तम्भ का काम किया। यूनान के उस गौरवपूर्ण युग में रोम-साम्राज्य का ऐश्वर्य और वैभव तो नहीं है, लेकिन उससे आज भी प्रेरणा अवश्य मिलती है।

विचारों में अद्‌भुत क्षमता होती है। युग-विशेष में जो विचार उत्पन्न होते हैं वे उस युग तक सीमित न रहकर भावी पीढ़ियों को प्रभावित और नियन्त्रित करते रहते हैं। विचार काल-विशेष की छाया होते हुए भी भावी युगों में अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं और समय पाकर महान् ऐतिहासिक क्रान्ति के कारण बन जाते हैं। अतः, उस युग के इतिहास का भी अनुसन्धान करना आवश्यक हो जाता है जिससे आज हमारा कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रह गया है। पुनर्जागरण-आन्दोलन से लेकर ब्रिटिश औद्योगिक क्रान्ति, फ्रांसीसी राज्य-क्रांति और रूसी राज्य-क्रांति तक के इतिहास पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय, तो यह पता चल जायगा कि इनकी जड़ों में मानववादी विचार ही स्पन्दित हैं।

इसके लिए यूरोपीय पुनर्जागरण के उद्‌गम-स्थान, यूनान के इतिहास के विभिन्न पहलुओं, का अवलोकन करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत करने में कठिनाई यह होती है कि यूनान के प्रारम्भकाल से पतनकाल तक का इतिहास कई शताब्दियों की कहानी है और उसमें पाठक खो-सा जाता है। लेकिन, यदि महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों को पकड़ लिया जाय तो सारी पेचीदगी दूर हो जाती है। ऐसा करते समय यूनान के इतिहास की उन घटनाओं को छोड़ देना पड़ेगा, जिन्हें आज तक स्थूल अर्थ में इतिहास माना जाता रहा है। यूनानी राज्य बहुत बड़े भूभाग में फैले हुए थे और उनके उपनिवेशों की संख्या कम नहीं थी। उपनिवेशों ने भी यूनान की सभ्यता-संस्कृति के निर्माण और विकास में कम योग नहीं दिया था। जाति एक होने पर भी उप-जातियों की संख्या अधिक थी और यूनानी नगर-राज्य आपस में लड़ते रहते थे। इन सारी विभिन्नताओं के बावजूद उस समय सभी नगर-राज्यों में ऐसा प्रयोग चल रहा था जिसका आधार एक था। यूनान के पड़ोसी देशों की संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि नगर-राज्यों में ऐसी विचारधारा की नींव डाली जा रही थी जो उनसे बिल्कुल भिन्न थी। विषयान्तर के भय से यहाँ उन कारणों पर प्रकाश नहीं डाला जा सकेगा जिनसे यूनान में भौतिकवादी तथा मानववादी संस्कृति पनपने लगी थी। यूनान की संस्कृति को समझने के लिए मैंने सुविधानुसार निम्नलिखित वर्गीकरण किया है—

(१) जीवन, (२) चिंता-धारा, (३) कला और साहित्य।

आदिम मानव उस अर्थ में धार्मिक नहीं था जिस अर्थ में आज हमलोग माने जाते हैं। मध्य-युग में अनेक प्रकार की जटिलताओं ने मनुष्य के सामने जैसी विवशता उत्पन्न कर दी थी, वह प्रकृति के प्रकोपों से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक स्थिति से भिन्न थी। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि दोनों युगों के मानसिक धरातल भिन्न थे। आदिम मानव उस शिशु के समान था जो सहज में सब कुछ मान लेता है। उसके जीवन में विश्वास की इतनी अधिक प्रधानता थी कि वह सपने में किसी मरे हुए आदमी को देख लेता था तो वह उसे जीवित मान लेता था और यह समझ लेता था कि किसी कारणवश वह आदमी अलग चला गया है। इसलिए, वह मृतकों के लिए भोजन रख देता था और संकट पड़ने पर अपने पितरों का आह्वान करता था। वह पितरों को शक्तिशाली इसलिए मान लेता था कि मरने के बाद

भी वे सपने में आ जाते हैं और जब वह व्यथित रहता है तब वे सामने आकर खड़े हो जाते हैं। E. B. Tylor[1] ने यह सिद्ध किया है कि स्वप्न को सत्य मानने के कारण आगे चलकर विभिन्न धर्मों में पुनर्जन्म या आत्मा-संबंधी सिद्धान्त गढ़ लिये गये थे। इसी तरह J. B. Frazer[2] ने आत्मा-सम्बन्धी सिद्धान्तों पर जो प्रकाश डाला है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि आदिम मानव के सरल विश्वासों का शोषण करके धर्म की नींव खड़ी की गयी थी, और यही कारण है कि आज भी सभी देशों में धर्मान्धता का बोलबाला है। Carveth Read[3] ने यह बताया है कि धर्म के ठेकेदारों ने किस तरह आत्मा को शरीर का वास्तविक तत्त्व सिद्ध किया और तब से धर्म-प्रधान, अन्धविश्वास के शिकार देशों में आत्मा को प्रधान तथा शरीर को गौण मान लिया गया। कुछ लोगों का खयाल है कि आत्मा या पुनर्जन्म का सिद्धान्त देश-विशेष की प्रतिभा की देन है, लेकिन सच तो यह है कि सभी पिछड़े देशों में आदिम मानव के सपनों को तर्क का जामा पहनाया गया और इस तरह धर्म की नींव डाली गयी।

प्रकृति से अपने को भिन्न न समझने का विश्वास डोरियन ( Dorian ) लोगों में डायोनिसस (Dionysus) की कल्पना के रूप में, प्रकट हुआ था। डायोनिसस अंगूर-लता और फल-फूल से लदी हुई प्रकृति का प्रतीक था। वह देवता उनके जीवन, उल्लास और आकांक्षाओं का मूर्त्त रूप था। यदि प्रकृति फल-फूल से लद जाती तो वे लोग यह समझ लेते कि उनके देवता प्रसन्न हैं और फिर वे उस देवता के सामने अपना सब कुछ समर्पित कर देते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रकृति और मानव के बीच कोई दीवार नहीं थी। यूनान का जीवन बदल जाने पर भी डायोनिसस का पर्व प्रति वर्ष उत्साह के साथ मनाया जाता रहा। जैसे-जैसे जीवन बदलता गया, वैसे-वैसे डायोनिसस के स्वरूप में भी परिवर्त्तन होता चला गया, लेकिन अंत तक वह उन्मुक्त इंद्रिय-सुख का ही प्रतीक बना रहा। डायोनिसस आधुनिक युग तक कवियों को प्रेरित करता आया है। पुनर्जागरण-काल के कलाकारों ने अपनी कल्पना से उसे अपने चित्रों में उतारने का यत्न किया। यूरी-पाइडीडा (Euripides) के अनुसार वह स्त्रियों का देवता है, क्योंकि उत्सव में स्त्रियाँ अपने को देवता के साथ एकाकार कर देने के लिए सुध-बुध खो देती थीं! मेसिडोनिया की राजधानी पेला (Pella) में देवता की पूजा विशेष उत्साह के साथ चलती रही। स्त्रियाँ सज-धजकर जुलूस निकालती थीं और जुलूस बाजे-गाजे, मशाल और नृत्य के साथ जंगलों और पहाड़ों पर जाकर उत्सव में परिणत हो जाता था। बुद्धिवादी और संयमी एथेंसवासी इसमें शामिल नहीं होते थे, लेकिन वहाँ के युवक लुक-छिपकर डेल्फी (Delphi) के मंदिर के पास पहुँच ही जाते थे। मेसिडोनिया की राजधानी में तो बड़े घराने के लोग भी उत्सव में शामिल होते थे।

---

१. Primitive Culture.
२. Belief in Immortality.
३. Man and His Superstitions.

प्लूटार्क ( Plutarch ) ने लिखा है कि सिकंदर की माता ओलिम्पियाज (Olympias) बड़े चाव से उत्सव में भाग लेती थी। उत्सव के अवसर पर जो सामूहिक नृत्य होता था, उसमें अपने को प्रकृति के साथ एकाकार कर देने की जैसी भावना मिलती है, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पर्व उस अर्थ में कदापि धार्मिक नहीं था जिस अर्थ में आज हमलोग विभिन्न पर्वों को धार्मिक समझते हैं। उस सामूहिक नृत्य की झाँकी जंगली जातियों के नृत्य में मिल सकती है। जैसे-जैसे पेड़-पौधों, लताओं और खेतों में हरियाली छा जाती थी, वैसे-वैसे प्रकृति की गोद में पलनेवालों के जीवन में रस का संचार होने लग जाता था। आज जिसका सारा जीवन नगर के कोलाहल में व्यतीत होता है उसके लिए डोयोनिसस का पर्व असभ्य या असंस्कृत ही मालूम पड़ेगा। उस जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि लोग अपने को ऐसे अवसरों पर बिलकुल खो देते थे। इस तरह खोकर वे पाते थे नव-जीवन! यह न भूलना होगा कि यह जीवन से भागने का बहाना नहीं था, क्योंकि प्रकृति उनके जीवन में समायी हुई थी और उनका जीवन प्रकृति में। वे उस जीवन से भाग कहाँ रहे थे![1]

मेक्सिको, युकेटान और पेरू में जो नयी सभ्यता विकसित हुई थी उसकी प्रमुख विशेषता है पुरोहितवाद की स्थापना। पुरोहितवाद के लिए उपर्युक्त स्थान उपयुक्त सिद्ध हुए, क्योंकि कृषि पर निर्भर रहनेवालों को अनुकूल मौसम की बहुत चिन्ता रहा करती थी और अच्छी फसल के लिए अन्न-देवता को प्रसन्न रखना पड़ता था। क्रमशः पुरोहित खेतिहरों और देवता के मध्यवर्त्ती बन गये। पुरोहित का अधिकार कितना अधिक था इसका अनुमान इसीसे लगाया जा सकता है कि उसके आदेश से मनुष्य की बलि भी दी जाती थी! पुरोहित या पुजारी के हाथ में उस सभ्यता सूत्र था और जन-साधारण को अन्धविश्वासों में जकड़ते जाने में उसका स्वार्थ निहित था। उसने कृषि-समाज के संचालन के लिए नियम बनाये और सारा समाज नियमों में इस तरह जकड़ दिया गया था कि लोगों का दम घुटने लगा। मेसोपोटामिया और नीलघाटी में भी जो सभ्यता विकसित हुई वह मन्दिरवाद पर आधारित थी। सुमेर के नगरों में भी पुजारियों का एकाधिकार था और उन्हें राजा का स्थान प्राप्त था। पुजारी देवता के नाम पर अन्य नगरों को अधिकृत करने की आज्ञा देते थे। एरेच (Erech) नगर के पुरोहित तो ईरान की खाड़ी से लाल सागर तक अपना दावा रखते थे। सुमेर का मन्दिर बहुत ऊँचा था और उस पर चढ़कर नक्षत्रों का पर्यवेक्षण किया जाता था। मिस्र का मन्दिर उतना ऊँचा नहीं था, लेकिन बहुत बड़ा अवश्य था। मिस्र और सुमेर की सभ्यताओं में कुछ अन्तर भी पाया जाता है। मिस्र में राजा पुजारी से अधिक शक्तिशाली था, और सुमेर में पुजारी ही सर्वेसर्वा था। लेकिन, इससे यह नहीं समझना चाहिए कि मिस्र में पुजारी का महत्त्व नहीं था। जन-साधारण को कड़ी मिहनत

---

१. विशेष अध्ययन के लिए देखिए—Walter Pater का Greek Studies.

के बाद भी भर पेट भोजन नहीं मिलता था और उसे पुजारियों की आज्ञा पर सब कुछ भेंट चढ़ा देनी पड़ती थी, अन्य देशों को जीतकर पुजारी के अधिकार का प्रसार करना पड़ता था और बड़े-बड़े मंदिरों के निर्माण के लिए श्रमदान (!) करना पड़ता था। मिस्र का सबसे बड़ा पिरामिड साढ़े चार सौ फुट ऊँचा है और पत्थरों की वजन ४,८८३००० टन है। यह अनुमान किया जा सकता है कि इन पिरामिडों के निर्माण में उस समय कितना शारीरिक श्रम लगा होगा जबकि यन्त्र नहीं थे ! पिरामिडों को देखकर उस सभ्यता की महत्ता स्वीकार करना बुद्धिमानी नहीं कहीं जायगी। मंदिरवादी सभ्यता में शारीरिक श्रम का दुरुपयोग किया गया और उस सभ्यता की रक्षा के लिए जन-साधारण में प्रेरणा नहीं जग सकी।

भूमध्य-सागर के इर्द-गिर्द मंदिरवादी सभ्यता थी, लेकिन मध्य-एशिया से पश्चिम की ओर आनेवाले आर्यों के सामाजिक जीवन का केन्द्र मंदिर नहीं था और उनके नेता वे ही माने जाते थे जो युद्ध का संचालन करते थे। आर्यों में श्रेणी-विभाजन या अभिजात-वर्ग अवश्य था, लेकिन पुजारियों की प्रधानता नहीं थी। यह पितृ-प्रधान जाति थी और इसमें पितरों की पूजा होती थी। पश्चिम की ओर बढ़नेवाले आर्यों ने यूनान और सीमावर्त्ती देशों पर अधिकार कर लिया था। आर्य फैलते हुए एशिया माइनर के पश्चिमीय तट, दक्षिणीय इटली, सिसली और फ्रांस के दक्षिण तक चले गये थे।

ट्राय (Troy) पर विजय प्राप्त करने के बाद आर्यों ने एजियन(Aegean) सभ्यता को नष्ट कर दिया, लेकिन उससे स्वयं भी प्रभावित हुए विना न रह सके। होमर ने आर्यों के पहले की सभ्यता को 'स्वर्ण-युग' के नाम से पुकारा है, और इसका एकमात्र कारण यह मालूम होता है कि तत्कालीन जीवन अत्यंत सरल था जब कि होमर के युग में सामाजिक जटिलताएँ और विश्रृंखलताएँ दिखाई पड़ने लगी थीं। आर्यों के पहले यहाँ जो सभ्यता थी उसमें भी मन्दिर के लिए स्थान नहीं था। राजप्रासाद में एक ऊँचा-सा चबूतरा रहता था और वहीं देवताओं की पूजा होती थी तथा भक्षण-योग्य पशुओं की बलि दी जाती थी, पहाड़ों, गुफाओं, पत्थरों, सूर्य, चंद्रमा, सर्प आदि की पूजा होती थी। आदिम लोग प्राकृतिक शक्तियों को प्रतीक बना कर पूजा चढ़ाते थे और यह प्रथा आर्यों के विश्वास का भी अंग बन गयी।

आर्यों और मूलनिवासियों के मिश्रण से यूनान में जिस सभ्यता का आविर्भाव हो रहा था वह पड़ोसी देशों की सभ्यता से सर्वथा भिन्न थी। यूनानी अपने पड़ोसी देशों से इसलिए घृणा भी करते थे कि वहाँ के लोग स्वतंत्रता का अर्थ भी नहीं समझते थे, बुद्धि को प्रधानता नहीं देते थे और निरंकुश शासकों के अधीन पशुवत् आचरण करते थे !

यूनान नगर-राज्यों में बँटा हुआ था और प्रत्येक नगर के अलग-अलग देवता थे। प्राचीन काल में प्रत्येक परिवार के देवता होते थे जो कुल-देवता कहलाते थे। नगर-देवता नगर की एकता के प्रतीक थे। नगर-देवता की पूजा करने का यह अर्थ नहीं था कि उनके निजी या व्यक्तिगत विश्वासों का अंत हो चुका था। लोग पृथ्वी, आकाश, वृक्ष आदि की पूजा करने को पूर्णतः स्वतंत्र थे। नगर-देवता की पूजा राजनीतिक एकता की दृष्टि से आवश्यक

थी और जो नगर-देवता की पूजा में सम्मिलित नहीं होते थे उन पर शंका होना स्वाभाविक था। नागरिक संघटन के द्वारा ही यूनान की सभ्यता का विकास हुआ था और उस संघटन को बनाये रखने के लिए नागरिकों की एकता आवश्यक समझी गयी थी। ये नये नगर यूनानियों के विकास के लिए लाभप्रद सिद्ध हुए थे। नगर-देवता की पूजा करने के बाद प्रत्येक नागरिक इच्छानुकूल विचार या विश्वास रखने के लिए पूर्ण स्वतंत्र था, और इस तरह जनतंत्र की नींव डाली जा रही थी। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि जब ईसाई धर्म की विजय-पताका फहराने लगी थी तब व्यक्तिगत विश्वासों के लिए स्थान नहीं रह गया। यही ईसाई धर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान करने का कारण था। नगर-देवता की पूजा करने के साथ-साथ यूनानी अपनी आदिम प्राकृतिक भावनाओं को बनाये रखने के लिए स्वतंत्र थे। नागरिक जीवन की जटिलताओं और कुरूपताओं के बावजूद वे प्रकृति के कण-कण में देवता के दर्शन करते थे। उनके जीवन से देवताओं का निकटतम और व्यक्तिगत सम्बन्ध था, क्योंकि देवताओं का अस्तित्व न तो तर्क से सिद्ध किया गया था और न वे अमूर्त्त ही थे। देवता उनके जीवन को स्पंदित करते थे और उन्हें प्रकृति-प्रदत्त सुखों का भोग करते हुए जीने के लिए प्रेरणा देते थे। वे लोग देवताओं से भौतिक सुख-सुविधाओं की ही याचना करते थे। उनके लिए जीवन वरदानस्वरूप था और सुखों का अच्छी तरह भोग करना ही वे जीवन का लक्ष्य मानते थे। जीवन और सुख-भोग को पाप घोषित करनेवाले मध्ययुगीन धर्मों ने तो आगे चलकर ऐसा संकट उत्पन्न कर दिया कि प्रतिभावान् लोगों के लिए भी विद्रोह करना असंभव हो गया। इस तरह मध्ययुगीन धर्मों ने जीवन और जगत् को मिथ्या भी कह डाला और लोगों को परलोकवादी बना दिया। तत्कालीन यूनान के जीवन में कितनी स्वतंत्रता थी, इसका उदाहरण उनकी पूजा भी है। वे परलोक सुधारने के लिए या पापों का बंधन काटने के लिए पूजा नहीं करते थे। यह पूजा उनकी प्रत्यक्ष जगत् में आस्था का परिचायक है। यह जानकर सचमुच आश्चर्य होता है कि यूनानियों ने किस तरह उस युग में जनतंत्र और भौतिकवाद के समन्वय की चेष्टा की थी! यूनान में न तो राजा के लिए स्थान था और न पुजारियों का ही महत्त्व था। जहाँ यूनान के पड़ोसी देशों में पुजारी ही सर्वेसर्वा थे, वहाँ नगर-राज्यों में पुजारी सरकारी कर्मचारीमात्र था। मंदिर की संपत्ति पर पुजारी का नहीं, बल्कि सरकार का ही अधिकार था। पुजारियों की कोई पृथक् जाति भी नहीं थी और उनकी नियुक्ति चुनाव के जरिये होती थी। यदि धर्म का कोई अर्थ था तो इतना ही कि प्रत्येक नागरिक को नगर-देवता की पूजा में सम्मिलित होना अनिवार्य था। धार्मिक कट्टरता नहीं होने के कारण जनतांत्रिक प्रयोग सफल हो रहा था।

वैयक्तिक स्वातंत्र्य और सामाजिक दायित्व में सामंजस्य के परिणामस्वरूप यूनान में ऐसी सर्जनात्मक प्रतिभाओं का आविर्भाव हुआ, जिनकी धाक आज, तक बनी हुई है। इसके विपरीत यूनान के पड़ोसी देशों का जीवन बोझिल, उदास और विषादपूर्ण था। सिमोनाइडीज ( Simonides ) ने जो कुछ कहा है उससे यूनान के जीवन की झाँकी मिल जाती है--मनुष्य के लिए स्वस्थ रहना सबसे बड़ी वस्तु है; इसके

बाद सुन्दरता का स्थान है; तीसरी वस्तु है नैतिक ढंग से अर्जित धन का भोग; और चौथी है मित्रों के बीच यौवन-काल व्यतीत करना। औसत यूनानी खेलकूद, कसरत आदि के आयोजनों को सबसे अधिक महत्त्व देता था। सुडौल शरीरवाले खिलाड़ी को वे लोग देवता का स्थान देते थे। स्पार्टा (Sparta) उपर्युक्त आयोजनों का प्रमुख केन्द्र था। इस नगर में युवक-युवतियों को विशेष प्रकार का शारीरिक प्रशिक्षण दिया जाता था। खिलाड़ियों को नग्न होकर मैदान में उतरना पड़ता था। ऐसे अवसरों पर कलाकारों को नग्न सौंदर्य के निकटतम पर्यवेक्षण का अवसर मिलता था।

४८० ई० पूर्व से ३९९ ई० पूर्व तक यूनान का स्वर्ण-युग माना गया है। इस काल में औसत यूनानी इंद्रिय-सुख को पाप नहीं मानता था, लेकिन विलासिता भी वांछनीय नहीं समझी जाती थी। सच तो यह है कि सामाजिक मर्यादाओं के अंतर्गत इच्छाओं की पूर्त्ति हो जाती थी, क्योंकि अप्राकृतिक नियम नहीं बने थे। सामाजिक नियमों और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी था, लेकिन पाप के डर से जीवन के भोग से विरत होने का प्रश्न नहीं उठता था। यदि किसी से भूल-चूक हो जाती थी तो वह क्षम्य मान लिया जाता था। इसका प्रमाण नहीं मिलता कि यूनानियों के जीवन में पाप-पुण्य का कोई विशेष स्थान था। न तो उन्हें स्वर्ग की लालसा थी और न नरक का ही डर था! वे जीवन का पूरा-पूरा आनन्द लेने में विश्वास करते थे। वे जिस सीमा तक स्वतंत्रता का उपभोग करते थे, उसकी कल्पना भी पुजारी-प्रधान या मंदिर-प्रधान सभ्यता में नहीं की जा सकती।

यूनानियों का उन्मुक्त जीवन देखकर यह भ्रम नहीं होना चाहिए कि वे इंद्रिय-लोलुप या विलासी रहे होंगे। स्वस्थ जीवन में विलासिता या लोलुपता के लिए स्थान नहीं रहता। यूनानियों के जीवन में संयम का अभाव नहीं दीख पड़ता था। यदि वे संयमी नहीं होते तो सोलोन (Solon) की नीति कदापि सफल न हो पाती। गृह-युद्ध की आशंका देखकर उसने ऐसे-ऐसे नियम बनाये जिनसे शांति और व्यवस्था कायम हो सकी। विलासिता का अंत करने के लिए सोलोन ने आलस्य को एक अपराध घोषित कर दिया और भ्रष्टाचारियों को नगर-सभा में भाषण करने के अधिकार से वंचित किया। जो लोग अविवाहित रहना चाहते थे उनके विरुद्ध काररवाई नहीं की गयी, लेकिन दुराचारियों को कड़ा दंड दिया जाने लगा। उसने एपोलो (Apollo) के मंदिर में यह आदर्श वाक्य लिखवाया—'अति वर्जित है'। उसने समाज और व्यक्तियों में जो संतुलन कायम किया था उसके सुन्दर परिणाम स्वर्ण-युग में देखने को मिले। पाँच सौ वर्षों के बाद उसके संविधान की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए सिसेरो (Cicero) ने लिखा था कि उस संविधान के प्रभाव में कोई कमी नहीं हुई है। वह संविधान इसलिए स्थायी हो सका कि सौभाग्यशाली या सम्पन्न लोगों द्वारा अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए कोई षड्यंत्र नहीं किया गया!

स्वर्ण-युग में प्रेम का आधार आध्यात्मिक नहीं, बल्कि भौतिक था। बड़े-बड़े उत्सवों में युवक-युवतियों को मिलने-जुलने का अवसर मिलता था, और इसे एकपतित्व या एक-पत्नीत्व का निर्वाह करने में सहायक माना जाता था। जीवन की जटिलताओं ने ऐसा

मानसिक तनाव नहीं पैदा कर दिया था कि उसे दूर करने के लिए संभोग को बहाना बनाना आवश्यक था। जहाँ तक शारीरिक आवश्यकताओं का प्रश्न है, मर्यादाओं के अंतर्गत उनकी पूर्ति स्वाभाविक ढंग से हो जाती थी। आगे चलकर कुछ स्त्रियों ने वेश्या-वृत्ति भी अपना ली थी और जिन युवकों का समय पर विवाह नहीं होता था वे उन स्त्रियों से तृप्ति पा लेते थे। वेश्या-वृत्ति सामाजिक कलंक मानी जाती थी, लेकिन ऐसी स्त्रियों को राजकीय दंड इसलिए नहीं दिया जाता था कि सामाजिक विषमताओं की शिकार स्त्रियों को राजकीय सुरक्षा प्रदान नहीं की जाती थी। ज्यों-ज्यों सामाजिक विषमताएँ और जटिलताएँ बढ़ती जाती थीं, त्यों-त्यों बहुत से काले धब्बे दिखाई पड़ने लगे थे और यदि कोई भी इतिहासज्ञ उनपर लीपापोती करने की चेष्टा करेगा तो विकास-क्रम पर पर्दा पड़ जायगा। सामाजिक-आर्थिक सुधार का प्रश्न टालने की कोशिश करने का कुपरिणाम प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगा और समाज को सुदृढ़ बनाने के नाम पर नियन्त्रक कानून बनाये जाने लगे। जहाँ पहले स्त्रियाँ पुरुषों की तरह स्वच्छन्द थीं वहाँ अब वे घर के बाहर नहीं निकलने दी जाती थीं। चहारदीवारी में बन्द हो जाने के बाद स्त्रियों का स्थान दासों से ऊँचा नहीं रह गया। इसका सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि युवक-युवतियों के स्वाभाविक प्रेम में बाधा पड़ने लगी। बचपन समाप्त होते ही लड़कों का लड़कियों से मिलना-जुलना बन्द कर दिया जाता था और इसका लड़कों के भावनात्मक विकास पर बुरा प्रभाव पड़ता था। स्त्रियों को सांपत्तिक अधिकार से वंचित करने का यह परिणाम हुआ कि सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में पुरुषों का बोलबाला हो गया। इन नियन्त्रणों की प्रतिक्रिया आगे चलकर दिखाई पड़ी और ४११ ई० पू० से एथेन्स के नाटकों में स्त्री-पात्रों को भी स्थान मिलने लगा। क्रीट (Crete) की आदिम सभ्यता में पूर्वीय देशों की भाँति पर्दा-प्रथा नहीं थी और प्राकृतिक शक्तियों के रूप में स्त्रियों की ही पूजा होती थी। उस समय स्त्रियों को समान अधिकार थे और वे सर्वत्र घूमने-फिरने के लिए स्वतन्त्र थीं। उनके पहनावे भी उनकी स्वतन्त्रता के परिचायक थे। वे जैसे चाहती थीं अपने को सजाती थीं। क्रीट की स्त्रियाँ अपने शरीर के ऊपर भाग को खुला रखती थीं और पुरुषों को यह अधिकार नहीं प्राप्त था कि वे इसे असभ्य घोषित कर स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर आघात कर सकें। आज सर्वाधिक स्वतन्त्रता-प्रेमी अमेरिका में भी स्त्रियों को ऐसी स्वतन्त्रता नहीं है।

यूनान छोटे-छोटे नगरों में बँटा हुआ था और कुछ लोग दूर-दूर देशों में आकर बस गये थे, लेकिन सभी यूनानियों के जीवन में एकता का सूत्र था। सभी लोगों का दृष्टिकोण भौतिकवादी था। इस एकता में अनेकता भी अवश्य थी। स्पार्टा में भौतिकवाद की जो व्याख्या की गयी वह एकांगी और घातक सिद्ध हुई। केवल शारीरिक प्रशिक्षण पर जोर देने के कारण स्पार्टावासियों का मानसिक धरातल ऊँचा नहीं उठ सका। यह सभी जानते हैं कि स्पार्टा ने घृणित सैन्यवाद को जन्म दिया और वह अन्य नगर-राज्यों की दृष्टि में गिर गया। एथेंस ने स्पार्टा की गलतियों से सबक लिया और वह समस्त यूनान का बौद्धिक केन्द्र बन

गया। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यदि एथेंस ने भी स्पार्टा का अनुकरण किया होता, तो उसका भी कोई इतिहास नहीं रह जाता। कठोर शारीरिक नियंत्रण से स्पार्टावासी 'यंत्र' बन गये। यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एथेंस का इतिहास यूनान का इतिहास बन गया और एथेंस में ऐसे-ऐसे बौद्धिक प्रयोग किये गये कि आज भी लोगों को चकित रह जाना पड़ता है। इस नगर-राज्य में कभी-कभी तो बौद्धिक पिपासा पराकाष्ठा पर पहुँच जाती थी और सामाजिक-राजनीतिक जीवन में तूफान-सा उठने लगता था। यहाँ ऐसे महान् विचारकों का आविर्भाव हुआ जिन्होंने विचार-स्वातंत्र्य को अपने प्राणों से भी प्यारा समझा!

यूनानियों का स्वातंत्र्य-प्रेम उनकी शासन-पद्धति में पूर्णतः परिलक्षित होता है। विश्व में इसके पहले कहीं भी जनतंत्र का प्रयोग नहीं किया गया था। यूनान के समीपवर्ती देशों में तो जनतंत्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। एक ओर जहाँ सामाजिक दृढ़ता पर जोर दिया जाता था, वहीं दूसरी ओर व्यक्ति को विचारों और शासन में अधिक-से-अधिक स्वतंत्रता देकर संतुलन कायम किया जाता था। चूँकि, नगर-राज्य छोटे थे, अतः प्रत्येक नागरिक को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता था और नगर-राज्यों का स्वामी कोई राजा नहीं होता था। यदि सारे यूनान की एक ही सरकार होती तो अधिकतर व्यक्ति शासनाधिकार से वंचित हो जाते और यूनान में साम्राज्यवाद या अधिनायकवाद की नींव पड़ती। यूनान में दास और स्त्रियों को मताधिकार नहीं प्राप्त था, लेकिन यह न भूलना होगा कि पड़ोसी देशों की तुलना में यूनान का वातावरण मुक्त था। यूनानी साम्राज्यवाद के कट्टर विरोधी थे और राजतंत्र आर्यों की परम्परा के प्रतिकूल था।[1] यहाँ इस बात पर पुनः जोर देना पड़ेगा कि जिन देशों में धर्म का जाल फैल गया उन देशों में ही पहले राजतंत्र अभिशाप रूप में प्रकट हुआ था। यूनान का गणतंत्र भौतिकवाद की प्रतिष्ठा का प्रमाण माना जा सकता है। यूनान के जीवन की भौतिकवादी धारा पर इसलिए जोर दिया जाना चाहिए कि बहुत से ईसाई लेखकों ने अपने धर्म के बचाव के लिए इस पक्ष को कम-से-कम महत्त्व देना आवश्यक समझा है। ऐसे ईसाई लेखकों को दबी जबान से यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि मध्य-युग की अराजकता, कट्टरता आदि की जिम्मेवारी ईसाई धर्म पर ही थी। यूनान में साम्राज्यवाद की नींव डालने के लिए सिकन्दर को भी एकिलेस (Achilles) से वंशगत संबंध जोड़ना पड़ा था और राजतंत्र के समर्थन के लिए धर्म की शरण लेनी पड़ी थी। स्पार्टा-वालों ने सिकंदर में देवत्व का आरोप किया था और वे लोग उसे यूनान के सम्राट् के रूप में देखना चाहते थे। देवत्व के प्रचार का परिणाम यह हुआ कि फिलिप को अपनी पत्नी पर संदेह हो गया! डिमास्थनीज (Demosthenes) ने सिकंदर के पिता फिलिप की महत्त्वाकांक्षा को भाँप लिया और नगर-राज्य के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने प्राणों की बाजी लगा दी। उसने यह कभी स्वीकार नहीं किया कि आपसी संघर्ष और गुटबंदी का समाधान साम्राज्यवाद ही है। वह जानता था कि यूनान की एकता के नाम पर लोगों के

---

१. Glimpses of The World History : Jawahar Lal Nehru

पैर में गुलामी की बेड़ी डाली जा रही है। उसने जनतंत्र और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एथेंसवासियों का आह्वान किया और फिलिप का बहादुरी से मुकाबिला किया, लेकिन स्पार्टा के विश्वासघात से सारे यूनान पर मेसिडोनिया का प्रभुत्व स्थापित हो गया। स्पार्टा में बौद्धिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ भी नहीं था और यह अपनी सैनिक महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति मेसिडोनिया के साम्राज्यवाद में देखता था। सभ्यता के विकास ने यूनान में अनेक जटिलताएँ पैदा कर दी थीं और एथेंस इससे अधिक चिंतित था। एथेंसवासियों की चिंता का मूर्त्त रूप डिमास्थनीज की मूर्त्ति में आज भी देखने को मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि उसका शरीर भावी आशंका से क्षीण हो गया है और आसन्न संकट का सामना करने के लिए वह एथेंसवासियों से अनुरोध कर रहा है। लड़ाई में हार के बाद वह विक्षिप्त हो गया और विषपान करके मर गया। अरस्तू सिकंदर का हिमायती था और एथेंसवासी उससे इतना घृणा करने लगे कि उसे नगर छोड़कर चला जाना पड़ा। यदि वह स्वयं नहीं चला जाता तो एथेंसवासी उसे फाँसी पर चढ़ाकर सिकंदर की महत्त्वाकांक्षा का बदला अवश्य ही चुका लेते। सिकंदर की जीत ने यूनान के लिए क्रांति का द्वार बन्द कर दिया, और साम्राज्यवाद का फंदा गर्दन में पड़ जाने के बाद सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में परिवर्त्तन असंभव हो गया।

यदि जीवन-यापन में ही सारा समय लग जाय तो सभ्यता का विकास नहीं हो सकता। आदिम समाज में सभ्यता के विकास के चिह्न इसलिए नहीं मिलते कि उस समाज के सदस्यों का पूरा समय उदर-पूर्त्ति में ही लग जाता था। यूनान में सभ्यता का विकास तो हुआ, लेकिन यंत्रों के अभाव के कारण सामाजिक-आर्थिक क्रांति नहीं हो सकती थी। यह तो अनुमान किया ही जा सकता है कि विज्ञान के व्यावहारिक पक्ष पर लोगों का ध्यान अवश्य ही जाता, लेकिन साम्राज्यवाद ने यूनान के भविष्य का नक्शा ही बदल दिया। साम्राज्यवाद की स्थापना के बाद यूनान की बौद्धिक उर्वरता नष्ट होने लगी और प्रतिभा-संपन्न दार्शनिकों की उपस्थिति में सिकंदर ने, जिसके खून में अपनी मातृभूमि स्पार्टा की बर्बरता भरी हुई थी, यूनान में विश्व के प्रथम जनतांत्रिक प्रयोग का गला घोंट दिया!

## प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण*

[ वर्ष ६ अंक ४ के बाद ]

११६-राम-दोहावली—ग्रंथकार—रामसखे । लिपिकार—× । अवस्था—जीर्ण-शीर्ण
भाषा—हिन्दी । लिपि—नागरी । पृष्ठ-संख्या-२२ । प्रतिपृष्ठ पंक्तियाँ
लगभग—४४ । आकार—९'×६'' रचनाकाल—× । लिपिकाल—× ।

प्रारंभ—"श्री सीतारामाय नमः चंचरीक

---

* बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के प्राचीन-ग्रन्थ-शोध-विभाग के अनुसंधायक द्वारा प्रस्तुत।

वरनो वाह्यांतर सीव रघुबर सेवकाइ
सीय राम पलपलखत कोटिन मुष वरनत नित कहि न सकहि
सारद विधि सिय स्रुति अहिराइ
मै निज मति हित विलास पिअतह रोजिय पिआस चातकज्यौ
आनंदयेक स्वाती वुंद पाइ
जामयेक उठि सवार सुखकेर भुत दवार बैठी के ये कांत राम मत्र
जपै भाई ..."

मध्य—[पृ० सं० ११] "नीर्त गान करो वोवीधी वोधी सषो सोअ राम रीझाई
राम सीय रुष परि पुनि वीवीधी वेआरी आई
पोकदान दे दुइ सषी पुनी आयमन कराई
पट दे धुप दीप करी पुनि भोजन अरचाई ३४"

अन्त—"नीज नीज सेवा अली लगै पुनी पगु सतगुर सेव
प्रम उध्यासक सो सही जो येही जाने भेव २१
येह सेवा सेवे सदा वीदान होप छन येक
अन्य साधनातर कीचीत्त व्रत अनन्य दृढ टेक २२
अल्ट सभै सुष भावना पुअनन्य स्रुती नेती
तीनमे सत दोहा रचे मन समुझावन हेतु २३
नमे···कृपा परे पार करे निति प्यार
कृपा जानकीलाल···जानकी लहे महल अधीकार २४
मया प्रसाद···सुष लह्यौ अनादी···
रह्यौ घमंडि रस···कह्यौ प्रकास नीवास
इती भावना···क्रीपानेवासजो संपुरन श्री रघुनन्दन ओ १"

विषय—राम के जीवन से सम्बन्धित स्फुट कविता। प्रारंभ के तीन जीण तथा कीटविद्ध पत्रों में जीवन, ब्रह्म, पुनर्जन्म, गुरुभक्ति, संतपूजा, वेद-प्रमाण, निराकारभक्ति-भर्त्सना और रामभक्ति तथा रामचरित-कथन के अभिप्राय के सम्बन्ध में विवेचन। बाद में सखियों द्वारा राम को जगाना। नृत्य, वाद्य आदि का आयोजन और सीता का विबोधन। जम्हाई और आलस्य के बाद नित्यक्रिया। सखियों द्वारा नृत्य आदि प्रस्तुत करना। वन तथा प्रमोदकारी वस्तुओं का वर्णन। ग्रन्थ के पठन-पाठनादि का फल।

टिप्पणी १—यह ग्रंथ कविवर रामसखे द्वारा रचित है। प्रारम्भ के पृष्ठ खंडित हैं। पूरा ग्रन्थ तीन भागों में विभाजित है। पृ० सं० १ से ५ तक कवि ने दार्शनिक जीवन और भगवद्-भजन के सम्बन्ध में में अपने विचार दिये हैं। दूसरे भाग के बारह पृष्ठों में रामचरित्र पर

स्फुट रचना है और तीसरे भाग को पाँच पृष्ठों में लिख कर कवि ने रामचन्द्र तथा सीता का मनोरम वाटिका-विहार वर्णित किया है।

२—ग्रन्थकार के सम्बन्ध में, रचना में नाम-चर्चा के सिवा और कुछ नहीं है। नागरी-प्रचारिणी सभा ( काशी ) की खोज-विवरणिकाओं के अनुसार इनकी जन्मभूमि जयपुर थी, साधु होकर अयोध्या में रहने लगे थे और कुछ दिन चित्रकूट में भी रहे थे। सं० १८०४ वि० के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी और अन्य सात रचनाओं का पता चला है। मतान्तर से ग्रन्थकार अट्ठारहवीं शती के मध्य में विद्यमान थे। यह ग्रन्थ नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) को भी खोज में मिला है। दे०—खो० वि०, संवत् १९०५, ग्रं० सं० ८०।

३—ग्रन्थ की लिपि-शैली प्राचीन और कैथी से प्रभावित है। प्रारंभ के पृष्ठ खंडित हैं तथा बीच के पृष्ठ कीटविद्ध हैं। यह ग्रन्थ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण (दहियावाँ, छपरा) के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

११७-नीति-श्रृंगार-शांत-शतक—ग्रन्थकार—मनोहरलाल। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी, पुराना कागज। पृ० सं० ६६। प्र० पृ० पं० लगलग--१७। आकार—९'×६"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—"बडे बडे अभिमान कर खोय गये जग मांहि॥
महिरावण रावण सकल कौरव दीखत नांहि ॥४६॥
भयें अधिक अधिकारके यों मति कहियो मैं॥
मरत अजा की खालसों कूट कहावत तैं ॥४७॥
दयो दई अधिकार तो अहंकार मति लाइ॥
अहंकार में आ गयो फिर धिकार रहि जाइ ॥४८॥
कुटिल नरन में कुटिलता स्वान पूंछसम जांनि
गडी रहै सौ बरष तक पूँछ न छोडै बानि ॥४९॥
ज्वारी विभचारी छली इनसों मति करि मोह॥
सदां झूठ के पात्र ये करनों उचित विछोह ॥५०॥"

मध्य—[पृ० सं० ३३]—"अथ चित्रदर्शन॥
छिनक छिनक हिय लाय तिय निरखि मित्र को चित्र॥
चित्र लिखीसी है रही लखौ जु चित्रविचित्र ॥१२१॥
अथ प्रत्यक्षदर्शन॥
लखों लाज कुल छांडि अब बुरैं कहौ सब लोग॥
दिना रैंन पियसांमरो सदा निरखिबे जोग ॥१२२॥

अथ श्रवणदर्शन ॥
सुनत प्रशंसामाधुरी थकित भई नहि चैंन ॥
वह चितौन हँसिबोलिवौ कब देखों निज नैंन ॥१२३॥
इति श्री श्रृंगाररस मनोहरकृत संपूर्णम्"

अन्त—"करि बिरोध श्री राम सों लह्यौ कौंन सुख तात ॥
रावण महरावण मरे सबकुटंबन भ्रात॥९९॥
अरेदेखिरा कहत ही सकल पाप वतरायँ ॥
चलौ भाजि नातर तुरत परम काल गिरजाँय ॥१००॥
शांत शतक पूरण कियो सकल छांडि मद मोह ॥
कवि कोविद निज कृपातैं सोधि लेहु तजि कोह ॥१०१॥
इतिश्री शांत शतक मनोहर लाल कृतसंपूर्णम् ॥ शुभम् ॥"

विषय—जीवनोपयोगी नीति, श्रृंगार और वैराग्य से सम्बन्धित रचनाएँ।

टिप्पणी—१ कवि मनोहर दास की सात कृतियाँ इस संग्रह में हैं। उक्त तीनों शतकों के अतिरिक्त—(१) पद, (पाँच पदों में समाप्त); (२) बारहखड़ी, (बयालीस पदों में समाप्त); (३) कवित्त-श्लेष, ( बीस पदों में समाप्त ); (४) होली, ( नौ पदों के बाद खंडित)—चार अन्य रचनाएँ हैं।

ग्रंथ के प्रारम्भ के (नीति-शतक के) छह पृष्ठ (चौआलीस पद) खंडित हैं। कवि ने अपने सम्बन्ध में तथा ग्रंथ-रचना-काल के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया है, किन्तु 'बारहखड़ी' के अन्त में—

"जुगदृग शशिनव वामगति संवत विक्रम जानि ॥
श्रावन शुक्ला तीज तिथि भृगुवासर पहिचानि ॥४२॥

इतिश्री मनोहर कृत बारह खडी संपूर्णम् शुभम्" लिखा है।

नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) की खोज-विवरणिका (सं १९६३–६५ वि०; सन् १९०६–८ ई०) में भी एक 'मनोहरदास निरंजनी' की और उनके दो ग्रंथ (ज्ञान-मंजरी और वेदांत-परिभाषा) की चर्चा है। इनका रचना-काल है सं०१७१६ और १७१७ वि० और लिपिकाल सं० १८४० वि० है। सभा के खोज-विवरण में इनके सम्बन्ध की अन्य कोई चर्चा नहीं है। सभा को इनके निम्नलिखित अन्य ग्रन्थ भी खोज में मिले हैं—षट्प्रश्नी, शतप्रश्नोत्तरी, ज्ञानवचन—दे० खोज-विवरण सन्—१९००, ग्र० सं० ५८; सन् १९०३, ग्र० सं० ८३, ८४ और १५२; सन् १९०६—८, ग्र० सं० २९३ डी०, २९३ सी० और २९३ ई०। संभवतः, प्रस्तुत ग्रन्थ के ग्रन्थकार और सभा के खोज-विवरण में लिखित ग्रन्थकार एक हैं। उपर्युक्त बारह-खड़ी के उद्धरण में 'जुग दृग शशि नव' से रचनाकाल का जो संकेत मिलता है, उसमें 'शशिनव' का अर्थ नवीनचन्द्र करने से सत्रहवाँ चाँद होता है और तब कवि

का समय सं० १७२४ वि० परिलक्षित होकर सभा के खोज-विवरणस्थ रचनाकाल (सं० १७१६ वि०) के समीप प्रतीत होता है। इनके सम्बन्ध में नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-ग्रन्थों की खोज का पिछले पचास वर्षों का परिचयात्मक विवरण' की पृष्ठ-सं० ४१ और ग्र० सं० २७५, २७६ तथा नागरी-प्रचारिणी सभा (काशी) से प्रकाशित 'हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण' (पहला भाग) की पृष्ठ-सं० ११६ देखिए। यह ग्रन्थ श्रीअवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ, छपरा (सारन) के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

११८-रामायण (सुन्दर कांड)—ग्रन्थकार—तुलसीदास। लिपिकार—लाला शिवचरण। अवस्था—प्राचीन, देशी कागज, पूर्ण। पृ० सं०—३९। प्र० पृ० पं० लगभग—३६। आकार—$6\frac{1}{8}$'×$5\frac{1}{8}$"। भाषा-हिन्दी (अवधी)। लिपि—नागरी। रचनाकाल-×। लिपिकाल—सं० १८७१ वि०, माघ, सुदी, त्रयोदशी, रविवार।

प्रारंभ—"श्रीगनेसजीवसहाऐ श्रीरामजीवसहाऐ श्रीहनुमानजीवसहाऐ श्रीठाकुरजीवसहाऐ श्रीपोथीसुंदरकाडली ...

दोहा—सुमीरी सीभु भवानी रामनामजी ...छ
हीरदैऐ कहो जोरी जुगपानी : दीजे भगवती जो वीमलजस :

चौपाई—जामवंत के वचन सुहा ...
सुनी हनुमान हीरदे अतीभा ...
तौलगी मोही परीखीहहु ...
सही दुख कंदमुलफल खाइ"

मध्य—[पृ० सं० २५]

"चौपाइ—वेद पुरान स्रुती समवानी
कही बीभीखन नीती वखानी
सुनत दसानन उठा रीसाइ
खल तोही भ्रीतु नीकट चल आइ
जीअसी सदासठ मोर जीआवा
रीपुकर पछमुट तोही भावा
कहसी न खल असको जगमाही
भुजबल जाही जीत मै नाही"

अन्त—"दोहा—सकल सुमंगल दाऐक रघुनाऐक गुनगान
सादर सुनहीते भवतरही सीधु वीना जलजान
इतीस्री पोथी सुदरकाड संपुरन जो देखा सो लीखा मम
दोख न दीअते पंडीत जन सो वीनती मोरी टुटल आखर

लेत्र सव जोरी समत १८७१ साल सामे माघ सुदी तीरोदसी रोज ऐतवार के तैआर भइल आगरे कीलामे दसखत लाला सीवचरन सीघ काऐथ सन १२२६ साल"

विषय—गोस्वामी तुलसीदास के प्रसिद्ध ग्रन्थ रामचरित-मानस का सुन्दर काण्ड।

टिप्पणी—प्रकाशित अन्य प्रतियों से कई स्थानों पर पाठान्तर हैं। ग्रन्थ की लिपि प्राचीन है। यह ग्रन्थ परिषद्-संचालक आचार्य शिवपूजन सहाय जी के सौजन्य से प्राप्त हुआ है।

११६-आयुर्वेद-सम्बन्धी ग्रन्थ—ग्रन्थकार—×। लिपिकार—×। अवस्था—अच्छी, प्राचीन लिपि और खंडित। पृ० सं० ६२ ( कुल पृ० सं० ११६, किन्तु ५४ पृष्ठ तक खंडित ) प्र०पृ०पं० लगभग—४२। आकार—६½'×६"। भाषा—हिन्दी। लिपि—नागरी-कैथी। रचनाकाल—×। लिपिकाल—×।

प्रारंभ—'श्रीगणेशाये नमः अथ पारा मारने के वीधी—हीरा काशीश तोलाः २ काचकानोनोनतोलाः २ जवाषार तोलाः २ शोराकलमीः २ तोलाः पारातोलाः १ छोठीनोनो काशागतोलाः २ शबको षल करै नोनी के शागमो षल करै जब नोन शुषै बुकनी होए तब आधी बुकनी कदुमो भरे उपरशोपारा डालै तब आधी बुकनी फेर डालैः नीमुन्द करै मुन्दै तब शात प्रत कपरकुट माटी कदु प्र चढावै जब पुब माटी शुषै तव कमर भर गडहा षोदै उशमो कडरा आधा भर तव कदु रषै कडरा तब फेर भरैः कदु को षडा रखैः बारह पहर के आचदे तव शुध होएः पारा शब तब चावर भर मगही मगहीपानपर धरकेषाएंः छत्तीश रोगजाऐ भुष लगै षटावादी वारै"

मध्य—[ पृ० सं० ८६ ] "रकतवीकार का घीव कुष्ठजायेठाशंभालुकापत्ता तोला ८ जैइत्तका पत्तातोला ४ रेगनीकाजरकेछालतोला ८ जीरतोला ३॥ कालीमुशलीको घीज तोला २ पीपरकेछालके राप तोला २ चैइतारी घीव शेर शवा ८१। कराहीमोघीव चढाकै शुधकरै आचदे अकवन का लकरी काकगहीआ का लकरी शो चलावै पहीले जइत का पात दे तव रेगनी का जर दे तव सहजनेका पातदे तब शंभालु का पातदे तबकेशरमोशाचा चले तब गोआलगेरु तोला १ चारघरी पलकरे फेर मीरीचडालके..........

तब कराही उतारकै फेर शंभालुका पत्ता दे तब जीरा मरीचपीपर की रष तुलशीका बीज चारो चीज शोहजने के रश मो पीशे तबदे मंदी आचदे तबउतारकै रगरै जब आधा रहै तब अकरकराहा डाले पुत्र चलायेकेधरीअधपीछेउतारले वाशनमोरषै शुवा ही षाय तो………"

अन्त—"शुपारी शो षाए तो अजीरन जाए ॥३८॥ नीर गुडी शो षाए तो कोठ जाए ॥३९॥ रत्ती भर कशतुरी २॥ भर शहत शो षाए तो दुना भुष होए ॥४०॥ करकरा शो षाए तो नामर्द मर्द होए ॥४१॥ तंमाम…… शर्वशीतजाए ॥ शुंबुल माशा १ शींगीरीक माशा २॥ गोंद बबुलका माशा ४। अदरष के रश मे गोली बनावे शरशो प्रवान शीतजोर वाले को देवै चंगाहोए अजमुदे है"

विषय—पारा मारने की विधि, हरताल मारने की विधि, कुष्ठरोग-निवारण-विधि, ताँबा पकाने की विधि, राँगा मारने की विधि, जस्ता मारने की विधि, ताँबा भस्म की तरकीब, जमालगोटा शोधने की विधि, शीशा शोधने की विधि, रक्तविकार का तेल; रक्तविकार का घी, रक्तविकार की दवा, उनबहरी का यत्न, रसचिंतामणि की गोली, सोहागवटी, रसपर्पटी आदि आयुर्वेद से सम्बन्धित औषध-निर्माण तथा रोगोपचार-विधि।

टिप्पणी—ग्रन्थ खंडित है। प्रारंभ के चौअन पृष्ठ खंडित हैं। अपूर्ण होने के कारण 'ग्रन्थ-पुष्पिका' के अभाव में ग्रन्थकार लिपिकार और उनके समय, स्थान आदि का संकेत ग्रन्थ में नहीं है। ग्रन्थ की लिपि अस्पष्ट और पुरानी है। 'ख' के लिए 'ष' और 'य' के लिए नीचे विन्दु देकर 'य़', 'स' के लिए 'श' तथा ज के लिए केवल 'य' का प्रयोग लिपिकार ने किया है। यह ग्रंथ मुँगेर-जिलान्तर्गत बरबीघा (शेखपुरा) ग्रामवासी श्री शंकरप्रसाद 'आर्य' के सौजन्य से प्राप्त हुआ।

१२०-वन-यात्रा- ग्रन्थकार—×। लिपिकार—×। अवस्था-अच्छी, प्राचीन, देशी कागज। पृष्ठ-सं० ७६। प्र० पृ० पं० लगभग—२२। आकार—९'×५½"। भाषा—हिन्दी (व्रज)। लिपि—नागरी। रचनाकाल—×। लिपिकाल ×।

प्रारंभ—"श्री कृष्णाय नमः श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥ अथ वन यात्रा-परिक्रमा व्रज चौरासी कोस की लिख्यते।

प्रथम श्री गोशाई जी करी सो श्री गोशाई जी अपने सखन सो कहत हैं श्री गोसाइ जी

श्री संवत १६०० भाद्रपद वदी १२ द्वादशी को सैन आरती करिके पोछे श्री गोशाईजी मथुरा जी को पधारे व्रज की परिक्रमा करिवे को सो तहा प्रथम श्री मथुराजी में श्रीकृष्णजी को प्रागटा भयो है तहाँ कारामह को ठौर है तहां श्री मथुरा जी में विश्राम घाट है तहां कस को मारि कै श्रीकृष्ण ने विश्राम कियो है……"

मध्य—[ पृ० सं० ३८ ]

"यह कीटवन की लीला है ताके आगे खीर सागर सेषसाई हैं तहां व्रज भक्तननें श्री ठाकुर जी सो कह्यो जी सीर सागर में श्री लक्ष्मीनारायण कौन प्रकार तपस्या करत हैं सो हमको दिखावोभष श्री बलदेवजी तो शेषरूपभये तिनकी सिज्या ऊपर आय चतुर्भुज स्वरूप भये के शंषचक्र गदा मल्ललेके पौठे नाभि कमल मेते ब्रह्मा आदि देखाये तब देवता आनसो स्तुति करन लागे……"

अन्त—"श्री गोसाईजी की बैठक व्रज में ॥६॥

श्रीकुंड पै १ रासोली मे २ गोपालपुर में ३ सुरभी कुंड पै ४ परासोली ५ संकेतवट पै ६ टीकरी पै ७ मानकसिला पै ८ श्री गोकुलजी में ६ व्रज में कुंड ८४ बिमल कुंड १ धर्मकुंड २ यज्ञ कुंड ३ पंचतीर्थ कुंड ४ मनकर्णिका कुंड ५ यशोद कुंड ६ निवास कुंड ७ लंका कुंड ८ मनकामना कुंड ६ श्वेतबंध रामेश्वर कुंड १० महोदधिकुंड ११ क्षीरसागर कुंड १२ जलविहार कुंड १३ प्राग कुंड १४ पुस्कर कुंड १५ द्वारिका कुंड १६ घोखराना कुंड १७ गोपी कुंड १८ किशोरी कुंड १६ मोती कुंड २० नृसिह कुंड २१ सरस्वती कुंड २२ परमदारा कुंड २३ अभिमत कुंड २४ रुद्र कुंड २५ सूकरा कुंड २६ गुलाल कुंड २७ संकेत कुंड २८ सुरभी कुंड २६ सीतल कुंड ३० रंगीलो कुंड ३१ छबीलो कुंड ३२ दवीलो कुंड ३३ हठीलो कुंड ३४ सेत कुंड ३५ सूर्य कुंड ३६ बिसाषा कुंड ३७ विश्राम कुंड ३८ भोग कुंड ३६ संकर्षण कुंड ४० मानसी कुंड ४१……अवंती कुंड ८२ गरुड़ कुंड ८३ व्रजवल्लभ कुंड ८४ ॥ इतिश्री वनयात्रा परिक्रमा व्रजचौरासी कोस की संपूर्णम् ॥"

विषय—मथुरा-परिक्रमा, मधुवन, कामोद वन, बहुलावन, बसाई ग्राम, गोपालकुंड, बरसाना, क्षीर-सागर, द्रुम-वेलि, भूषण-वन, सबई ग्राम, गरुड़गोविन्दग्राम, सोलहवन, बुढ़िया का खेरा और महावन का वर्णन तथा विस्तृत चित्रण।

टिप्पणी—यह ग्रन्थ प्राचीन लीथो (प्रस्तराक्षर) में है। ग्रन्थ की लिपि-शैली प्राचीन है। प्रारंभ या अन्त में ग्रन्थकार और लिपिकार का नामोल्लेख

नहीं है। ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर चित्र भी दिये हुए हैं, जो व्रज के विशेष स्थानों, ग्रामों, वनों आदि से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। ग्रन्थ में मथुरा तथा आस-पास के विविध स्थानों की विस्तृत सूचना संकलित है। यह ग्रन्थ खोज में नया है।

यह ग्रन्थ श्री अवधेन्द्रदेव नारायण, दहियावाँ, छपरा ( सारन ) के सौजन्य से प्राप्त हुआ। [क्रमशः]

......

## फाउष्ट-कथा की परम्परा

प्रो० दिनेश्वर प्रसाद, पटना-विश्वविद्यालय

विश्व की अनेक महान् कृतियों का मूल लोक-कथाएँ रही हैं। रामायण और महाभारत कभी लोक में सूतों द्वारा गायी जानेवाली गाथाओं के रूप में प्रचलित थे तथा इलियड और ओडीसी भी कभी गाथा-चक्रों के रूप में ही जन-गायकों के कंठ में बसी थीं। होमर का अर्थ ही होता है—'जोड़नेवाला' ( Piecer-together )। ग्रीक-साहित्य के विद्वानों का अनुमान है कि होमर ने हेलेन और यूलिसिस से सम्बद्ध गाथा-चक्रों को केवल क्रमबद्ध रूप दे दिया था, यद्यपि इसे अस्वीकृत नहीं किया जा सकता कि ऐसा करने में उसने अपनी रुचि और प्रतिभा का भी उचित सीमा तक उपयोग किया होगा। ग्येटे ने फाउष्ट की जिस कथा का आधार लेकर उसी नाम का अपना नाटक लिखा, वह भी उसके पूर्व छोटे-मोटे रूपान्तरों के साथ यूरोप के अनेक देशों में प्रचलित थी। ऐसी ख्यात कथाओं का कोई-न-कोई ऐतिहासिक आधार अवश्य रहता है, लेकिन लोक-मानस में बस जाने के बाद जनता अपने विश्वासों और रुचियों के अनुसार उनमें अनेकानेक परिवर्त्तन कर डालती है तथा अपनी अनेक प्रिय कथाओं का उनमें इस प्रकार संयोग कर डालती है कि उनके मूल रूप को पहचानना बड़ा कठिन हो जाता है। परन्तु, युगों तक लोक-कल्पना द्वारा परिमार्जित होते-होते उनमें अनायास ही ऐसे गम्भीर मानवीय मूल्यों का समावेश हो जाता है जिन्हें पहचान कर अन्तर्दृष्टि-सम्पन्न कलाकार उन्हें अमर बना देते हैं।

ग्येटे की रचना की प्रसिद्धि के बाद कुछ समय तक फाउष्ट का ऐतिहासिक अस्तित्व संदेह से परे नहीं था, लेकिन जर्मन विद्वानों के अध्यवसाय के फलस्वरूप इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ा है। उसके अस्तित्व का प्रमाण हमें उसके जीवन तथा मृत्यु के आसपास प्रकाशित तीन लैटिन ग्रंथों से मिलता है। इनके नाम हैं—इराडेक्स सेनिटैटिस, सरमोनेस कानविवलेस तथा लेकोरम काम्मीनियम कलेक्टनी। इराडेक्स सेनिटैटिस का लेखक कोई फिलिप बेगार्डी नाम का डाक्टर था। इस ग्रन्थ का प्रकाशन १५३९ ई० में हुआ। बेगार्डी

लिखता है कि अब भी एक ऐसा कुख्यात व्यक्ति जीवित है जिसने हाल के कुछ वर्षों के अन्दर सारे यूरोप की यात्रा की है और जो न केवल चिकित्साशास्त्र, वरन् मुखसामुद्रिक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत होने का दम भरता है। उसने जितनी सफलता प्राप्त की है, उसको देखते हुए उसका नाम फाउष्टस (भाग्यवान्) सर्वथा सार्थक है। अपनी लोकप्रियता के गर्व में चूर होकर वह अपने को दार्शनिक-शिरोमणि (Philosophus philosophorum) आदि-आदि नामों से अभिहित करता है। फाउष्ट के अस्तित्व का दूसरा साक्ष्य सरमोनेस कानविवलेस है, जिसका लेखक ब्रिसगान का प्रोटेष्टेशट-मतावलम्बी यान गाष्टिउस था। इसका प्रथम प्रकाशन सन् १५४३ ई० में हुआ था और इसका चतुर्थ प्रकाशन (सन् १५६१ ई०) इन दिनों प्राप्य है। इसमें शैतान की शक्ति के उदाहरण के रूप में दो कथाएँ आयी हैं जिनका सम्बन्ध फाउष्ट से है। पहली कथा के अनुसार फाउष्ट एक रात को किसी सम्पन्न कन्वेशट में जाता है। वहाँ माँगने पर भी उसे अच्छी शराब नहीं मिलती। वह अपने को अपमानित अनुभव करता है और क्रुद्ध होकर दूसरे दिन एक शैतान को भेजता है जो वहाँ आकर भयंकर उत्पात मचाता है। दूसरी कथा में लेखक कहता है कि उसने एक बार फाउष्ट के साथ बासले के कालेज में भोजन किया था। उसके साथ एक कुत्ता था और एक घोड़ा, जिनके विषय में मेरा विश्वास है कि वे शैतान थे, क्योंकि उसकी आज्ञा पाकर वे असम्भव कार्यों को भी सम्भव कर देते थे। अन्त में लेखक फाउष्ट की मृत्यु की सूचना देते हुए कहता है—'अभागे की बड़ी दर्दनाक मृत्यु हुई। शैतान ने उसे फाँसी देकर मार डाला।' तीसरा समकालीन साक्षी यान मनलियूस है, जो प्रसिद्ध धर्मनेता मेलंकटोन का शिष्य था। उसने लेकोरम॰कामीनियम कलेक्टनी (सन् १५६२ ई०) में लिखा है कि उसने अपने गुरु महान् धर्म-सुधारक मेलंकटोन से ही फाउष्ट के विषय में यह सुना था—'मैं एक समय फाउष्टस नाम के एक व्यक्ति को जानता था जो मेरे निवास-स्थान (ब्रेटेन) के समीप ही कुंडलिङ्ग नामक शहर का रहनेवाला था। क्राकोव-विश्वविद्यालय के विद्यार्थी के रूप में उसने जादूगरी की शिक्षा पायी थी। इस फाउष्टस ने सभी स्थानों की यात्रा की थी और अनेक रहस्यों का उद्घाटन किया था।' पुनः—'वह अपने साथ एक कुत्ता रखता था जो शैतान था।...शैतान ने ही उसे मार डाला।'

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त दो और व्यक्ति—प्रसिद्ध जादूगर एग्रिअप्पा का शिष्य वीर (wier) और भूतत्त्ववेत्ता कोनराड गेस्नर—समकालीन व्यक्ति के रूप में फाउष्ट की चर्चा करते हैं। लाइपत्सिग के एक शराबखाने में भी फाउष्ट से सम्बद्ध दो भित्तिचित्र हैं, जिनमें एक में उसे शराब के पीपे पर सवार दिखाया गया है तथा दूसरे में विद्यार्थियों और गायकों के एक दल के साथ उसे भोज में बैठा दिखलाया गया है। ग्येटे जब लाइपत्सिग में पढ़ता था, उसने इन चित्रों को देखा था और अपनी रचना में 'वाएरबाख सेलर' (Auerbach Cellar) नाम से एक दृश्य की योजना भी की है। लेकिन, इन चित्रों की प्रामाणिकता संदेह से परे नहीं है।

ये प्रमाण फाउष्ट के अस्तित्व की स्थापना करते हैं तथा उसके जीवन और चरित्र

की एक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। इनके आधार पर यह आसानी से माना जा सकता है कि वह पन्द्रहवीं सदी के अन्तिम चरण से लेकर सोलहवीं सदी के प्रथम चरण के कुछ वर्ष बाद तक अवश्य वर्तमान था। जर्मनी के कुंडलिङ्ग नामक गाँव में उसका जन्म हुआ था और क्राकोव-विश्वविद्यालय में उसने शिक्षा पायी थी। शिक्षा की समाप्ति के बाद उसने जादूगर का जीवन अपनाया और दार्शनिक, ज्यौतिषाचार्य आदि नामों से अपने को अभिहित करना प्रारम्भ किया। रसायन, वशीकरण, मनोमारण आदि विद्याओं में उसकी गहरी पहुँच थी और अपनी प्रतिभा के बल पर वह इनकी सहायता से एक-से-एक कौशल दिखाता था। अपने कौशल और प्रतिभा के कारण वह सारे यूरोप में ख्यात हो गया। लेकिन, उसमें कुछ ऐसी बातें अवश्य रही होंगी जिनके कारण वह रूढ़िग्रस्त धर्मनेताओं की दृष्टि में उतना निन्दनीय हो गया होगा। प्राप्त विवरणों से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वह धार्मिक विधि-निषेधों की ओर से लापरवाह रहा होगा—सम्भव है कि सर्ववाद या नव-अफलातूनवाद से प्रभावित रहा होगा जो ग्रीक-विद्या के फलस्वरूप उस समय यूरोप के अनेकानेक व्यक्तियों को प्रभावित कर चुका था। सम्भव है कि उसका चरित्र थोड़ा असंयत भी रहा हो। उसकी मृत्यु अकस्मात् हुई होगी, जैसे हृदय की गति के बन्द हो जाने से या किसी अन्य प्राकृतिक कारण से। बहुत सम्भव है कि उसने स्वयं गले में फाँसी डालकर आत्महत्या कर ली हो। उसकी मृत्यु की आकस्मिकता ही अनेकानेक प्रवादों का कारण बनी होगी।

फाउष्ट की मृत्यु के कुछ ही दिनों के अन्दर उसके विषय में अनेकानेक कहानियाँ प्रचलित हो गयीं और अनेकानेक जादूगरों से सम्बन्धित लोकप्रिय घटनाएँ भी उसके साथ जुट गयीं। कुछ वर्षों के अनन्तर उसकी कथाएँ पुस्तकाकार रूपों में प्रकाशित होने लगीं। फाउष्ट-कथा की प्राचीनतम पुस्तक है 'फाउष्ट बूख' जिसका दूसरा नाम 'श्पीस बूख' भी है। इसका प्रकाशन सन् १५८७ ई० में ग्येटे के जन्मस्थान फ्रांकफोर्ट में हुआ था। इसमें फाउष्ट का जन्म-स्थान 'रोडा' नामक गाँव बतलाया गया है जो वाइमर के समीप ही है। वह एक साधारण किसान का लड़का था, लेकिन उसके संतानहीन धनी चाचा ने उसे गोद ले लिया। क्राकोव में उसने जादू, प्रेतविद्या आदि अनेकानेक विषयों की शिक्षा पायी, लेकिन दर्शन में उसकी विशेष रुचि थी। लेखक के शब्दों में, चील के पंख बाँधकर उसने पृथ्वी और आकाश की सभी वस्तुओं के आन्तरिक रहस्य को ढूँढ़ने की चेष्टा की। अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए उसने धर्मविहित और धर्मनिषिद्ध, सभी उपायों का अवलम्बन किया। जादू, मंत्रों आदि के द्वारा वह प्रेतों को, यहाँ तक कि शैतान को अपनी सहायता के लिए बुला लिया करता था। अपने चाचा की मृत्यु के बाद वह अपने शिष्य वाग्नर के साथ उसके मकान में रहने लगा। उसने शैतान को अपने जादू के बल पर प्रकट किया और उसके साथ यह शर्त्त की कि यदि शैतान उसकी सभी इच्छाओं की पूर्त्ति करता चलेगा तो चौबीस वर्षों के बाद वह अपनी आत्मा उसे समर्पित कर देगा। शैतान उसके लिए विलास की इच्छित सामग्रियाँ प्रस्तुत करने लगा। एक बार जब उसके मन में पत्नी की लालसा जगी तो शैतान

( मेफिस्टोफेलेस ) ने उसे विवाह नहीं करने दिया और उसे वचन दिया कि उसके संकेत, पर वह अनेकानेक रमणियाँ प्रस्तुत कर दिया करेगा। सोलह साल व्यतीत होने पर उसने घोड़े की आकृति धारण किये शैतान की पीठ कर समूचे यूरोप और एशिया की यात्रा की। यात्रा से लौटने पर चार्ल्स पंचम के दरबार में उसने मंत्र-शक्ति से हेलेन की छाया को प्रकट किया। चौबीसवें वर्ष में उसने हेलेन की इच्छा प्रकट की जिसके संयोग से उसने जष्टस फाउष्टस नामक पुत्र उत्पन्न किया। लेखक ने फाउष्ट के जीवनान्त का बड़ा भयंकर चित्र प्रस्तुत किया है।

इसी पुस्तक का सन् १५८८ ई० के लगभग पी० आर० जेएट ने अँगरेजी में अनुवाद किया। अँगरेजी-साहित्य के विद्यार्थी के लिए इसका महत्त्व इस बात में है कि मारलो ने 'डा० फाउष्टस' की रचना इसीके आधार पर की।

सन् १५९९ ई० में गेआर्ग रुडोल्फ विडमन की रचना में इस कथा का एकदम नवीन रूपान्तर मिलता है। उसमें फाउष्ट चार्ल्स पंचम के दरबार के बदले मैक्सिमीलियन (सन् १५०३-१९ ई०) के दरबार में अपने कौशल दिखलाता है। समय के दीर्घ अन्तराल के बाद यह कथा जर्मन भाषा में कठपुतली नाटक के रूप में मिलती है। यह अपने वर्तमान रूप में कार्ल सिमरोक की स्मृति के आधार पर लिखित है। ड्युन्त्सर के अनुसार मारलो के नाटक का इस पर प्रभाव पड़ा है। ग्येटे ने अपने बचपन में इसका अभिनय देखा था और अपनी कृति की रचना में इससे प्रभावित हुआ। इसके प्रथम दृश्य में फाउष्ट अपने अध्ययन-कक्ष में दिखलाया गया है। जीवन-भर अनेकानेक विषयों के अध्ययन के बाद भी वह अपने को रिक्त अनुभव करता है। उसके पास इतने भी पैसे नहीं कि वह अपने लिए नये वस्त्र बना सके या ऋणमुक्त हो सके। उसकी निराशा निश्चय में परिणत हो जाती है और वह शैतान के साथ समझौता करने के लिए तैयार हो जाता है। परन्तु, इसके लिए उसे जादू सीखना होगा। उसके बायीं ओर से एक आवाज आती है कि तुम्हारा निश्चय ठीक है, लेकिन दायीं ओर से आती हुई आवाज कहती है कि तुम्हारे द्वारा निश्चित मार्ग तुम्हें नरक ले जायगा। लेकिन, वह शैतान के साथ चौबीस वर्षों का समझौता कर ही लेता है। तीसरे अंक में फाउष्ट परमा के ड्यूक डोन कारलोस के दरबार में सोलोमन, सैम्सन और डिलैल्हा आदि की प्रेतात्माओं को प्रदर्शित करते दिखलाया गया है। चतुर्थ अंक में वह कुमारी की मूर्ति के सामने पश्चात्ताप करता है, परंतु शैतान उसे पश्चात्ताप करने से रोकता है। वह उसके सामने हेलेन की छाया प्रस्तुत करता है जो उसके अन्तर्धान होते ही अन्तर्धान हो जाती है। फाउष्ट शैतान को खूब कोसता है। परंतु, उसके जीवन के अन्तिम क्षण आ गये हैं—चौबीस वर्षों की अवधि समाप्त हो गयी है। नाटक का अन्त अत्यन्त करुण और काव्यात्मक है। ग्येटे की कृति के साथ इसकी पुस्तक की तुलना अत्यन्त मूल्यवान् सिद्ध होगी।

फाउष्ट की कथा ने जिस युग में अपना आकार ग्रहण किया वह धर्म-सुधार का युग

था। उस समय जादू, मंत्र-तंत्र और टोना-टोटकों में लोगों का जीवित विश्वास था। शैतान और उसके पार्षदों का जर्मनी के प्रत्येक घर में वास था और लोग उनसे डरते थे। बाइबिल के शब्द-शब्द की सत्यता में उनकी अटल आस्था थी और लूथर, कालविन आदि धर्मोपदेशक ज्यौतिष और पदार्थ-विज्ञान के प्रत्येक नये विकास पर, जो बाइबिल के कथनों के विरुद्ध पड़ते थे, कठोर आक्रमण करते थे। प्रत्येक नया आविष्कार सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था—यहाँ तक कि बारूद और छापे की मशीन को भी लोग शैतान की करामात समझते थे। मानसिक संकीर्णता के ऐसे जमाने में न केवल जादू-टोने ही हेय माने जाते थे, वरन् शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में काम करनेवाले लोग भी शैतान के मित्र समझे जाते थे।

लेकिन, अट्ठारहवीं सदी तक यूरोप के मानसिक वातावरण में कितना परिवर्त्तन हो गया था, इसका अनुमान वाल्तेयर, रूसो आदि के नाम लेने मात्र से ही हो सकता है। यह युग बुद्धिवाद का था। कोई भी वस्तु तर्क से परे नहीं समझी जाती थी। धर्म में विश्वास लगभग उठ-सा गया था। ऐसे ही समय में ग्येटे ने अपने फाउष्ट की रचना की। ऐसे युग में मेफिष्टोफेलेस (शैतान) स्थूल रूप में लोगों की रुचि आकृष्ट नहीं कर सकता था—वह असत् के प्रतीक के रूप में ही उपस्थित हो सकता था। इसके अतिरिक्त युग की मनोवृत्ति के अनुकूल अनेक परिवर्त्तन इसमें अपेक्षित हुए।

ग्येटे ने धर्म-सुधार-युग के क्षार से ढँके फाउष्ट के व्यक्तित्व की महत्ता का उद्घाटन किया और धार्मिक संकीर्णता तथा अन्धविश्वासों के प्रति अपने विरोध-प्रदर्शन के माध्यम के रूप में इसका उपयोग किया। वह दो कारणों से इस कथा की ओर आकृष्ट हुआ; एक तो उसे इस कथा के नायक में अपने व्यक्तित्व का अद्भुत साम्य दिखायी पड़ा; दूसरे इसमें अभिव्यक्त जीवन की विविधता और विशालता में उसने अपनी प्रतिभा के उच्चतम विकास का माध्यम देखा। अपनी जीवनी 'डिसतुङ् उराड वारहाइट' ( काव्य और सत्य ) में उसने लिखा है कि—"फाउष्ट की तरह मैं भी ज्ञान के सभी क्षेत्रों में भटका था और बहुत पहले ही इसके ( ज्ञान के ) मिथ्या-अहंकार का अनुभव मुझे हो गया था। मैंने भी जीवन पर अनेकानेक प्रयोग किये और प्रत्येक बार पहले से और भी असन्तुष्ट और व्यथित होकर लौटा।" फाउष्ट की तरह ही उसने अनुभव किया कि ज्ञान की जो बलवती पिपासा उसमें वर्त्तमान है, उसके पास उसकी तृप्ति के साधन अत्यन्त सीमित हैं। अपने कथा-नायक की तरह उसे शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि सभी धरातलों पर अपनी शक्ति की सीमा का अनुभव हुआ और इसके विरुद्ध अदम्य विद्रोह के भाव का भी। इस प्रकार फाउष्ट स्वयं कवि का, और व्यापक रूप में सम्पूर्ण मानवता का प्रतीक बन गया है जो मानवता अनेकानेक अवरोधों के बीच भी आगे बढ़ती रहती है—कभी रुकती नहीं।

# नवीन...और...उल्लेख्य

समीक्षक—प्रो० नलिनविलोचन शर्मा

'काव्य और कवि'[1] : श्री विश्वमोहन कुमार सिन्हा ने अँगरेजी-साहित्य को अधीत और अध्यापित कर जो यश अर्जित किया है, उसके सर्वथा अनुरूप ही उनकी सद्यःप्रकाशित पुस्तक काव्य और कवि है। इसमें उन्होंने काव्यालोचन के सिद्धांतों का भी निर्देश किया है और उनके आधार पर हिंदी के कुछेक प्रसिद्ध कवियों की आलोचना भी प्रस्तुत की है। हिंदी में व्यावहारिक आलोचना की ऐसी पुस्तक का नितांत अभाव था, जिसमें उन सिद्धांतों का व्यवहृत रूप मिले, जिनका स्पष्ट निरूपण पहले कर दिया गया हो। सैद्धांतिक और व्यावहारिक पक्षों के एक साथ रहने से लाभ यह है कि कविता के पाठक और आलोचक दोनों ही सरलतम मार्ग से अपनी रुचि और कार्य की परिष्कृति और सिद्धि के लिए निश्चित आधार पा लेते हैं। काव्य के अध्ययन और परिशंसन के अतिरिक्त उसके लेखन में भी इस पुस्तक से लाभ पहुँच सकता है। हिंदी के अनेकानेक कवि अपनी संदेहास्पद 'शक्ति' के भरोसे रचना करने के साथ ही साथ यदि इसे अपने लिए पाठ्य-पुस्तक बना लें, तो निस्संदेह उनकी शिल्प-विधि परिमार्जित हो जायगी।

विश्वमोहन जी ने पुस्तक के प्रारंभिक ७३ पृष्ठों में काव्य और चित्रकला, काव्य और संगीत-कला, इनका परस्पर साहाय्य, काव्य और दर्शन, काव्य और विज्ञान, काव्य और तुक, काव्य की सामग्री, काव्य की सार्थकता, काव्य का जीवन में स्थान आदि विषयों पर जो कुछ बड़े-बड़े ग्रन्थों में, जटिल भाषा में, अतिशय विस्तार के साथ विवेचित हुआ है, उसका सारभूत अंश सरल, सुबोध भाषा में प्रस्तुत कर दिया है। अत्यन्त कठिन विषय को क्लिष्ट भाषा में व्यक्त करना दोष नहीं है, किंतु यदि वह वैसी प्रासादिक भाषा में किया जा सके, जो आलोच्य लेखक के द्वारा अधिकृत है, तो इससे बड़ी उपलब्धि नहीं हो सकती। काव्य और कवि अपने विषय के कारण यदि महत्त्वपूर्ण है तो अपनी शैली की दृष्टि से अप्रतिम।

पुस्तक के उत्तरांश में प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी वर्मा और दिनकर के जो विशद अध्ययन हैं वे लेखक के द्वारा निरूपित सिद्धांतों के उत्कृष्ट उदाहरणमात्र नहीं हैं। वे अँगरेजी और हिंदी-साहित्य के गंभीर अध्ययन और मौलिक आलोचनात्मक दृष्टिकोण के दुर्लभ परिणाम भी हैं। इन नातिदीर्घ अध्ययनों में उपर्युक्त कवियों की जैसी सर्वांगीण आलोचना सुलभ हो जाती है, वैसी अन्य लेखकों की बृहत् पुस्तकों में भी नहीं हुई है।

---

१. लेखक—श्री विश्वमोहन कुमार सिन्हा; प्रकाशक—इण्डियन प्रेस, प्रयाग; मूल्य—दो रुपये मात्र।

मूल को सदैव दृष्टिगत रखते हुए लिखी गई इन आलोचनाओं में आवश्यकतानुसार ऐसे तुलनात्मक निर्देश सन्निविष्ट किये गये हैं जो शोध-प्रबंधों के विषय बन सकते हैं। एक उदाहरण यह है—"निराला जी का दार्शनिक कथोपकथन भी बेन जौनसन का ऐतिहासिक तथ्य है। यह कवि की अंतर्ज्वाला से तपाया न जाने के कारण दार्शनिक सत्य ही रह गया, साहित्यिक सत्य के व्यापक और सुंदर स्तर तक नहीं पहुँच सका।" निराला की पहले की कविताओं के तथाकथित दार्शनिक तत्त्व का यह यौक्तिक मूल्यांकन है। विश्वमोहन जी अवश्य ही यह स्वीकार करेंगे कि निराला की बाद की कविताओं में दार्शनिक सत्य 'साहित्यिक सत्य के व्यापक और सुंदर स्तर' तक पहुँच सका है।

काव्य और कवि साहित्य के अध्येताओं के लिए अनिवार्य पुस्तक है और विद्वानों के लिए परमोपयोगी, आदर्श साहित्यिक कृति।

०

समीक्षक—श्री सूर्यनारायण व्यास ( 'विक्रम'-संपादक, उज्जैन )

'मैं धरती पंजाब की'[१] : इस पुस्तक में लेखक ने यह स्थापना करने का प्रयास किया है कि 'मालव' पंजाब के निवासी थे। यह धारणा अन्य इतिहासकारों की भी है। अँगरेजी-इतिहास के आधार पर यह भ्रान्त धारणा पोषित होती आ रही है। हमने 'साहित्य' के रजत-जयन्ती-विशेषांक में यह सिद्ध करने का उपक्रम किया था कि 'मालव' अवंती के ही निवासी थे। वे उज्जैन से ही पंजाब में गये थे। क्षुद्रकों के साथ जुड़कर उन्होंने सिकन्दर से संघर्ष किया था। वे पंजाब से मालव में नहीं आये थे। हमारे तर्क और प्रमाणों के आधार महाभारत और पुराण-ग्रन्थ थे; जिनके पीछे वैदिक परम्परा और इतिहास रहा है। लेखक ने उधार लिये हुए उद्धरणों से अपनी उक्त स्थापना को पुष्ट किया है। उन्होंने जिन लोगों के दयनीय ज्ञान से उद्धरण लिये हैं, उनकी प्रामाणिकता संदिग्ध है। लेखक ने अपनी मौलिक मति से उद्धृत विचारों का विश्लेषण नहीं किया है। ऐसी अवस्था में जिन भ्रान्त प्रणालियों का अनुकरण कर उन्होंने इतिहास को पर-प्रत्ययनेय बुद्धि से सँवारा है उनका महत्त्व विशेष मूल्य नहीं रखता। उन्हीं मान्यताओं का अवलम्बन कर लेखक अपने मन्तव्यों को स्थिर करे, तो उसके भ्रान्त हो जाने की संभावना स्वाभाविक है। उन्होंने डा० ईश्वरीप्रसाद की गणना के अनुसार ऋग्वेद का रचना-काल मानकर जो प्राथमिक भूल कर डाली है, वह 'प्रथमग्रासे मक्षिकापातः' बन गई है। क्योंकि, ईश्वरीप्रसाद जी ने मध्ययुग के भ्रान्त इतिहास को भी दूसरे विद्वानों के उद्धरणों के आधार पर ही रचा है, उनकी अपनी पूँजी परिमित रही है, इसलिए उनके इतिहास को वह महत्त्व नहीं मिल सका, जो आज भी सी० वी० वैद्य जैसे प्रचंड पण्डित के इतिहास को प्राप्त है। ऋग्वेद की रचना पर जिस व्यापक अध्ययन और ज्ञान की आवश्यकता है, वह आधारों पर आधार करनेवालों के पास न पहुँचे,

१. लेखक—श्री नरेन्द्र धीर; प्रकाशक—मस्ती कार्यालय, जी० टी० रोड, खन्ना (पंजाब); मूल्य—तीन रुपये मात्र।

तो विस्मय का कारण नहीं। वैदिक विज्ञान का अध्ययन करनेवाले और ऐतिहासिक दृष्टि रखनेवाले मननशील विद्वानों ने उसके मर्म को समझकर, उसमें सूचित खगोलीय स्थिति के प्रत्यक्ष गणित का आधार लेकर, गणना द्वारा यह स्वीकार किया है कि वह छह हजार वर्ष पूर्व की रचना है। स्वयं वेद-विद्या के अप्रतिम विद्वान् मैक्समूलर-जैसों को उन तर्कों को स्वीकार करने को बाध्य होना पड़ा है। जिन्होंने स्व० लोकमान्य तिलक का 'ओरायन' पढ़ा है, उन्हें वह बतलाने की आवश्यकता नहीं, जो अकाट्य और प्रत्यक्ष है। पचीस सौ वर्ष ईसवी-पूर्व की बात तो तथ्यरहित भूल से भरी हुई और न जाने, कब से मजाक का विषय बन चुकी है। उस तर्क को लेखक ने अपना आधार बनाकर सर्वप्रथम आर्यों के भारत-आगमन को मान लिया है। और, यह कहने का साहस कर डाला है कि उस समय दक्षिण या मध्य-भारत में आर्यों का निवास नहीं था। यदि लेखक को यह ज्ञात होता कि 'नर्मदा-संस्कृति' का विकास आज से पचास हजार वर्ष पूर्व ही हो चुका था और वहाँ प्रागैतिहासिक अवशेष उपलब्ध होकर अपना अस्तित्व भी प्रमाणित कर रहे हैं, तो वे यह कहने का साहस नहीं करते। इस उपत्यका और अवंती के प्राप्त अवशेष 'मोहंजोदड़ो' और 'हड़प्पा' से साम्य सिद्ध कर रहे हैं, तो ये छह हजार वर्ष ईसवी-पूर्व पहुँच ही जाते हैं। यह मोहनजोदड़ो के समय निश्चित हो जाने से स्वयं प्रमाणित है। फिर, वह बात तो भिन्न रहती है जो आज से बीस-पचीस हजार वर्ष पूर्व प्रलयोपरांत पृथुवैन्य और मान्धाता की स्थापित सभ्यता इसी नर्मदा के तट पर उद्भूत हुई थी और जिस तट की हैहय-सभ्यता की खोज के लिए डा० साँकलिया आदि यत्नशील हैं और जिसे वे एक लाख वर्ष पूर्व की मान रहे हैं।

यदि लेखक के विचार मान लिये जायँ तो पचीस सौ वर्ष ईसवी-पूर्व के समय, जब सप्तसिंधु से आर्य चलकर भारत के विभिन्न भागों में फैले, मालवा ही क्या, सारे भारतीय आर्य ही पंजाबी बन जायेंगे। वे बौद्धकाल में 'अवंती-प्रदेश' को प्रख्यात 'बौद्धमत का केन्द्र' बन जाने की बात कहते हैं, परन्तु उन्हें इसके पूर्व के इतिवृत्त का यदि पता होता, अध्ययन होता, तो ऐसी 'अटपटी' बात नहीं कहते। वे पुराणों के आधार को भी खोखला समझते हैं। और, अन्य विद्वानों से भी अपने मत मनवाने का प्रयास करते हैं और कुछ पुराणों की रचना के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का आधार लेकर इतिहासज्ञ बनने का दावा करते हैं। वे महाभारत को कहीं पुराण समझने की भूल न कर बैठें। क्या आर्यों के आगमन-काल में नाम-भेद और जाति-भेद भी थे? लेखक का यह तर्क बच्चों-जैसा है। आर्य तो समस्त उत्तर-भारत ही है। जो जहाँ बसा, वह उस प्रदेश का अधिवासी बना और उसी नाम से ज्ञापित हुआ। मालव आर्य होकर भी मालववासी होने के कारण ही मालवी माने गये, इससे उनके आर्यत्व के कारण, उनमें पंजाबीपन नहीं आ जाता। मालव की प्रचण्ड गण-शक्ति ने, एक नहीं, अनेक बार मालव से बाहर जाकर ठेठ भारत की सीमा से आक्रमणकारियों को खदेड़ा है। खदेड़ने के बाद सीमा-सुरक्षा और सुव्यवस्था के लिए अपनी सैन्य-शक्ति को उस प्रदेश में रख छोड़ना उस प्रदेश का ही बन जाना नहीं है। महर्षि पाणिनि ने भी सिकन्दर

को परास्त करनेवाली सैन्य-शक्ति को 'मालवगण' कहा है। किन्तु, लेखक को अभी यह पता नहीं कि पाणिनि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व के थे। वे जरा पाणिनि के उद्भव-काल के विषय में प्रामाणिक तथ्य जान लेते, तो ठीक होता। इसी तरह लेखक ने 'अवंती-भाष्य' की रचना करने की बात भी जो कही हैं, वह गलत है। 'अवंती-भाष्य' जैसी तो कोई चीज ही नहीं बनी है, न है ही। डा० जायसवाल या अन्य विद्वानों ने मालवों के पंजाब में रहने की जो बात कही है, वह तो ठीक है। हम भी स्वीकार करते हैं कि मालवगण के सैन्य पंजाब में थे, परन्तु इसी स्थिति के कारण जो यह भ्रम फैल रहा है कि मालव पंजाब से मालव-प्रदेश में आये थे, यहीं मतभेद है। इस मतभेद के जनक पाश्चात्त्य इतिहासकार हैं तथा अनुकरण-प्रिय पण्डितवर्ग भी। इसके लिए हमें महाभारत का आश्रय लेना होगा, जहाँ से हमारी भ्रांति का निवारण हो सकता है। महाभारत में मालवगण के प्रचंड पराक्रम का अनेक स्थल पर, अनेक प्रकार से वर्णन आया है। और, अनेक प्रदेशों पर उनके प्रभाव स्थापित करने की चर्चा हुई है। उत्तर-भारत के बहुत बड़े भाग पर उनके आधिपत्य की गाथा मिलती है। पूर्व-मालव और पश्चिम-मालव का भी जिक्र है। उत्तर या पूर्व-मालव विदिशा-प्रभावित क्षेत्र के रहे हैं और पश्चिम-मालव माहिष्मती-प्रभावित क्षेत्र के। माहिष्मती के हैहयों के तालजंघों से समर तो बहुत व्यापक और महान् रहा है। स्वयं भार्गव और हैहयों के समर का इतिहास पुराकालीन है। जामदग्न्य परशुराम और हैहयों के संघर्ष की बात महाभारत और पुराणों में तो है ही, परन्तु जरा सावधानी से देखें, तो ऋग्वेद और अथर्ववेद में भी है। ये ही हैहय मल्ल और मालव कहे गये हैं। महाभारत में ये स्पष्ट ही 'गण' माने गये हैं। उक्त महिष्मती मालव-भूमि में ही है। लेखक का यह भ्रम है कि महाभारत में कहीं नहीं लिखा है कि ये मालव कहाँ के थे? जब माहिष्मती के अत्यन्त पुरातनकाल में मालव का अस्तित्व था, प्रभाव था, देश के विभिन्न भागों में उनकी वर्चस्विता थी, तब यह प्रश्न ही कैसे उठ सकता है कि मालव-प्रदेश में मालव लोग नहीं थे या कहीं बाहर से आये थे? इसके प्रमाणस्वरूप ऋग्वेद की हैहय-समर की ऋचाएँ हैं, जिन्हें इतिहास का कोई जानकार निराधार नहीं बता सकेगा। इसी तरह महाभारत में विन्द-अनुविन्द के है-राज्य-शासन के उज्जैन में होने का उल्लेख है। और, वे महाभारत-समर में लड़े भी थे, इसके सिवा अश्वत्थामा नामक हाथी भी उज्जैन से गया था। इसे पंजाब का कैसे बनाया जा सकेगा? इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि वैदिक काल से महाभारत-काल पर्यन्त इस प्रदेश को 'मालव' कहा, जाना, माना जाता था। ऋग्वेद में इसे ही मल्ल, मल्व या मालव कहा गया है। अवंती-प्रदेश शायद उस काल में कहा गया है जब इसकी सीमा निर्धारित हुई। परन्तु, मालव-संवत् और मालव-गण इसके साक्षी हैं कि यह प्रदेश अत्यन्त पुरातन समय से 'मालव' रहा है। अवश्य ही, मुलतान के पास के जिस भाग को अलबेरूनी ने 'मालव' कहा है, वह 'कु-मालव' रहा है और वह मालव के प्रभाव-काल का अवशेष ही हो सकता है। पतंजलि ने (१५० ई० पू०) जब मालवगण की चर्चा की है तब स्पष्ट ही उसने विदिशा (मालव) में ही बैठकर की है। क्योंकि, वह पुष्यमित्र शुंग

का पुरोहित था और विदिशा में अश्वमेध का पुरोहित बना था। लेखक ने पतंजलि का 'उस समय निवास पंजाब में ही था' कहा है, यह उनके इतिहास के अज्ञान का स्पष्ट प्रमाण है। लेखक महाभारत के सभा-पर्व के उस वर्णन के आधार पर, जिसमें मालवगण को ओर से युधिष्ठिर को गेहूँ अर्पित किये जाने का उल्लेख है, और जिस मालवी गेहूँ की ख्याति पंजाब के अखाण (आख्यान) में भी चली आती है, मालव को सात-आठ सौ मील दूर मानकर, पंजाब के 'मालव' से ही गेहूँ ले जाने की बात का समर्थन करना चाहते हैं। किन्तु, पंजाब में गेहूँ की खेती का इतिहास भी पुराना नहीं है। केवल कुछ सदियाँ ही हुई हैं कि पंजाब में गेहूँ की खेती होने लगी है, इसलिए युधिष्ठिर के लिए गेहूँ का उपहार मालव से ले जाना ही स्वाभाविक प्रतीत होता है, न कि पंजाब से। जिस छठी शती में मालव-संवत् मिलता है, उसमें भी 'मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये' वाक्य है, जिसका उल्लेख ४०० वर्ष पूर्व प्राप्त शिलालेख में मिलता है। इसी तरह द्वितीय चन्द्रगुप्त की संवत्-स्थापना के तर्क पर लेखक ने 'ऐतिहासिकों का निश्चित मत' प्रतिपादित किया है, वह सर्वथा भ्रांत है।

रही बात मालवी और पंजाबी बोली के साम्य की। इससे भी हमारे मत की ही पुष्टि होती है। क्योंकि, जो मालव 'मालव' से पंजाब गये और सैन्यजीवी बनकर सीमा-रक्षा की उनकी बोली और संस्कार का प्रभाव वहाँ पड़ा। किन्तु, जिन संस्कारों और सूर्य के पर्वोत्सवों से मालव-पंजाब की तुलना कर समानता दिखाई गई है, वे ऐसे त्यौहार हैं, जिनका सारे भारत में प्रचलन है।

लेखक ने मालवों को भाषा-साम्य के आधार पर मालव से पंजाब में पहुँचाने का जो प्रयत्न किया है, वह अनैतिहासिक, असंगत, असम्बद्ध और भ्रान्त है।

०

## समीक्षक—श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

'ईशोपनिषद्भाष्य'[१] पुस्तक, जैसा नाम से स्पष्ट है, तथाप्रथित मूल ईशोपनिषद् का हिन्दी-भाष्य है। भाष्यकार हैं गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालय के कुलपति, बहुश्रुत अध्यात्मचिन्तक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति। यद्यपि, सभी उपनिषदों को भारतीय साहित्य में महत्ता प्राप्त है, तथापि उनमें ईशोपनिषद् मूर्द्धन्य है, क्योंकि शेष उपनिषदों में इसी उपनिषद् की शिक्षाओं का विवेचन विस्तारित है। ईशोपनिषद् (यजुर्वेद का किञ्चित्परिवर्त्तित अन्तिम अध्याय) अट्ठारह वैदिक मंत्रों का संकलन है। यह ज्ञान और कर्म में समन्वय-स्थापन के उद्देश्य से ऋषि द्वारा प्रणीत है। इसमें दी गई शिक्षा का सार है—ईश्वर में विश्वास, ईश्वर का ज्ञान एवं प्रपंच-परिग्रह का त्याग। प्रत्येक मंत्र अपनी परिधि में अर्थगर्भ है। एक-एक मंत्र की व्याख्या के लिए संख्यातीत पृष्ठ और काल अपेक्षित हैं। ईशोपनिषद् आकार में लघु होने पर भी समस्त भारतीय अध्यात्म-तत्त्वचिन्तन का एक विपुल-विराट् ग्रन्थरत्नाकर है।

---

१. लेखक—श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति; प्रकाशक—प्रकाशन-मन्दिर, गुरुकुल-काँगड़ी-विश्वविद्यालय, हरद्वार; मूल्य—दो रुपये मात्र।

चूँकि, भाष्य एक विद्वान् वेदज्ञ भाष्यकार के द्वारा भाषित है, अतएव निस्सन्देह, भाषा, शैली और विषय-व्युत्पादन, तीनों को दृष्टि से सरल, सुगम और सुन्दर हुआ है। विषय-विश्लेषण में युक्तियुक्तता भी है, क्योंकि वह उदाहरण-पद्धति पर आधृत है। इस भाष्य में एक अनतिसुलभ गुण, जिसके दर्शन अपरापर भाष्यों में प्रायशः नहीं होते, आ गया है, वह है उसकी सर्वजनसंवेद्यता। एक सौ इक्कीस पृष्ठों के सत्रह अध्यायों में मूल के साथ विवृत यह ईशोपनिषद्भाष्य वस्तुतः भाष्यकार की बहुज्ञता को संकेतित करता है। भाष्यकार ने प्रस्तुत भाष्य में ज्ञान और कर्म में सामंजस्य की स्थापना के अवसर पर गीता के ज्ञान-योग और कर्मयोग की चर्चा, तुलनात्मक रीति से, बड़ी व्युत्पन्नता के साथ की है। अन्त में, 'उपनिषदों की ज्ञान-परम्परा' शीर्षक परिशिष्ट भी संयुक्त किया गया है। चूँकि, इसमें उपनिषदों का इतिहास, अनुसन्धान के आलोक में, लिखा गया है, इसलिए शोध की दृष्टि से भी इसकी महार्घता स्वीकार्य होगी। स्वच्छ-शुद्ध मुद्रण के लिए गुरुकुल-विश्वविद्यालय का प्रकाशन-मन्दिर प्रशंसार्ह है।

०

'बिहार की भाषाएँ और बोलियाँ',[1] अपने नामानुसार, बिहार की भाषाओं और बोलियों पर लिखी गई एक सूचना-पुस्तिका है। इसके लेखक हैं 'बिहार-अब्द-कोष', 'बिहार-दर्पण', 'हमारा बिहार' आदि पुस्तकों के यशःप्राप्त लेखक श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ठ। अनुभवी लेखक ने, बिहार के सम्बन्ध में, ऐतिहासिक, भौगोलिक, साहित्यिक और भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विस्तृत अध्ययन उपस्थित कर, बिहार-बिहारी जिज्ञासु पाठकों के लिए, पर्याप्त शोध-सामग्री सुलभ की है; जिसका सम्यक् संकलन 'बिहार-सीरीज' तथा 'जिलादर्पण-सीरीज' की पुस्तकों में हुआ है। प्रस्तुत आलोच्य पुस्तक 'बिहार-सीरीज' की पुस्तकों में से एक है।

श्री अम्बष्ठजी ने अपनी इस पुस्तक में, सन् १९५१ ई० की जनगणना के अनुसार, बिहार के विभिन्न भाषा-भाषियों की संख्या लिखने के अवसर पर, भारतीय आर्यभाषा, मुंडा भाषा, द्रविड़ भाषा, भारत की अन्य भाषा, भारतीयेतर एशियाई भाषा तथा यूरोपीय भाषा बोलनेवालों के आँकड़े सविवरण और सोदाहरण उपस्थित किये हैं, जिससे लेखक के संकलन-कार्य, शोध की दृष्टि से जिसका महान् महत्त्व है, में अपेक्षित कौशल तथा धैर्य का संकेत स्पष्ट हो गया है। इसके अतिरिक्त लेखक ने बिहार में प्रचलित लिपियों की ओर भी अंगुलिनिर्देश किया है। पुस्तक के अन्त में, लेखक ने लिपि के सम्बन्ध में अपनी मान्यता स्थापित करते हुए लिखा है कि एक भाषा को दूसरी भाषा से पृथक् करने में लिपि ही एकमात्र कारण है। साथ ही, लेखक ने यथासंभव लिपि-भेद को मिटाकर भारत की सभी प्रान्तीय भाषाओं को एकमात्र राष्ट्रलिपि देवनागरी में लिखने का सत्परामर्श दिया है।

१. लेखक—श्री गदाधरप्रसाद अम्बष्ठ; प्रकाशक—ग्रन्थमाला-कार्यालय, पटना-४; मूल्य—बारह आने मात्र।

श्री अम्बष्ठजी की प्रस्तुत पुस्तक भाषाविज्ञान की पुस्तकों में पांक्तेय न हो सही, किन्तु भाषा-विज्ञान के भाण्डार को भरने में अनुपूरक अवश्य प्रमाणित होगी।

०

'पुस्तकालय क्यों और कैसे ?'[1] श्री अनुज शास्त्री द्वारा ग्रामीण पुस्तकालय-संचालन-कला पर लिखित एकमात्र (!) पुस्तक है, जैसा लेखक ने संकेत किया है। इस पुस्तक में, 'पुस्तकालय की महत्ता', 'पुस्तकालय का विकास और भारत', 'बिहार में पुस्तकालयों की परम्परा', 'गाँव का पुस्तकालय और भविष्य की योजनाएँ', 'ग्रामीण पुस्तकालय का संचालन', 'भारत में पुस्तकालय-आन्दोलन' और 'बिहार में पुस्तकालय-आन्दोलन' इन सात विषयों पर नातिदीर्घ विवरण उपस्थित किये गये हैं।

विवृत विषयों में, लेखक की ओर से, यद्यपि नवीन एषणा या उद्भावना नहीं उपस्थापित की गई है, तथापि वर्णित वस्तुओं में उपस्थित किये गये सुलझे सुझावों से, वास्तव में, ग्रामीण पुस्तकालयों के संचालकों को मार्गसौविध्य प्राप्त होगा, ऐसी आशा की जा सकती है। आलोच्य पुस्तक के उपर्युद्धृत सात विषयों में से दूसरा, जो 'पुस्तकालय का विकास और भारत' शीर्षक से उपन्यस्त है, अपर्याप्त ही सही, परन्तु पठनीय ऐतिहासिक शोध-सामग्री से ठोस बन पड़ा है। इसमें ईसवी-सन् ७०० वर्ष पूर्व से लेकर बीसवीं शती तक के पांक्तेय पुस्तकालयों की चर्चा, अपूर्ण और अक्रमबद्ध रूप में ही सही, किन्तु सज्ञानता के साथ की गई है। इसके अतिरिक्त तीसरा छठा और सातवाँ विषय भी मननीय हैं, क्योंकि उनमें भी भारत और विशेषतः बिहार के पुस्तकालयों के संबंध में पाठकों के लिए ऐतिहासिक सूचना की सामग्री प्रस्तुत की गई है।

पुस्तक सरल भाषा और सुगम शैली में लिखी गई है, किन्तु, अनेक स्थलों में वह चलित-स्खलित हो गई है। 'करीबन चार-पाँच सौ ग्रामीण पुस्तकालयों का परिदर्शन करने का अवसर मिला' (पृ० सं० १६); 'किसी एक आदमी को नियुक्ति कर दिया जाता था' (पृ० सं० ४४); 'किसी की पकड़-धड़ कर या १०-२०) रुपये माह पर पुस्तकाध्यक्ष नियुक्त कर देते हैं, (पृ० सं० ४५) आदि वाक्य-प्रयोग इसके उदाहरण होंगे। अनेक शब्द-प्रयोग भी चिन्त्य हैं, जैसे—'अनाधिकार प्रयास', 'कालीदास', 'वैमनस्यता', 'अभी भी', 'उपरोक्त', 'वैयाकरणी पाणिनी', 'संग्रहित', 'भावनाओं का कद्र' आदि। प्रतिपृष्ठ में प्रूफ की असंख्य अक्षम्य अशुद्धियों के लिए लेखक ने, प्रकारान्तर से, कश्चित् संपादकविशेष को उत्तरदायी बनाया है ! मुद्रण अस्वच्छ रहते हुए भी आवरण अनाकर्षक नहीं।

---

१. लेखक—श्री अनुज शास्त्री; प्रकाशक—भारती-प्रकाशन, भागलपुर—२; मूल्य—डेढ़ रुपये मात्र।

'इंसान की जिन्दगी'[1] पुस्तक में श्री श्यामलकिशोर जी की आठ कहानियाँ संगृहीत हैं। छठी कहानी 'इंसान की जिन्दगी' इस संग्रह का शीर्षक है। आठों कहानियों में 'वचन के धनी' शीर्षक पहली कहानी सबसे अच्छी है। क्योंकि उसमें, सही अर्थ में साहित्य की आत्मा प्रतिबिम्बित है। कहानी की चरित्रनायिका नटी रनिया प्रेम के लिए अपना बलिदान कर नटजाति का वरदान बन गई है। इसमें की यही कथावस्तु बड़ी सहजता के साथ संयत और सरस रीति से चित्रित हुई है। कथा में, अननुमेय नारी-हृदय की अगाध वेदना को विह्वल वेधकता मिल गई है। आदर्श की रक्षा में भाव की गहराई कहीं कम नहीं हुई है। फलतः, यह कहानी कला-पद की अधिकारिणी हो गई है।

संग्रह की अन्यान्य कहानियों में, कुल मिलाकर, आज के जीवन की भौतिक अपूर्णता का अनावश्यक परिदेवनमात्र है। मानता हूँ, आज के जीवन में अनेक प्रकार की अस्वस्थताएँ आ गई हैं। जागतिक चेतना को नाड़ी-व्रण हो गया है। मनुष्य अपने अनुदात्त जीवन में रेंगते-रेंगते विलीन होता जा रहा हैं। फिर भी, उसे उदात्त जीवन नसीब नहीं हो रहा है! इस प्रकार की यथार्थता का प्रतिबिम्ब अनुभवी कथाकार के कथा-साहित्य में स्वभावतः आ जाता है और आना चाहिए, किन्तु अतियथार्थ रूप में नहीं। 'निगेटिव' फोटो की मलिनता को दूर कर स्वच्छ 'पाजिटिव' फोटो तैयार करना ही फोटोकार की उपलब्धि है। कहानीकारों पर भी यही बात लागू होती है। परन्तु, प्रस्तुत कहानी-संग्रह में कहानीकार की उक्तविध निरूपण-निपुणता का अपेक्षाकृत अभाव है। अतएव, इनकी कहानियों के सम्बन्ध में परिचयदाता की यह उक्ति—'इन कहानियों को देखकर बरबस प्रेमचंद की याद हो जाती है और...ऐसा दावे के साथ कहा जा सकता है कि प्रेमचंद की परम्परा, जो कुछ दिनों के लिए लुप्त हो गई थी, पुनः अबाध गति से बहेगी।'—अत्युक्ति से युक्त हो गई है। प्रेमचन्द की परम्परा कभी लुप्त नहीं हुई, प्रत्युत उसमें अपने को पंक्तिबद्ध करनेवाले कहानीकार ही उनकी कथा-वस्तु की उपस्थापन-विधि तथा दृष्टिकोण से पूर्ण परिचित होने में सर्वथा असमर्थ प्रमाणित होते हैं। फिर भी, इतना अवश्य है कि इन कहानियों में एक दृढ़ता और आस्था सर्वत्र परिलक्षित होती है। लेखक की भाषा भी, परिचयदाता के संकेत के विपरीत, प्रेमचन्द की भाषा से सर्वतः अस्पृष्ट ही है, परन्तु उसमें लेखक का अपना व्यक्तित्व जीवन्त दृष्टिगत होता है। पुस्तक के मुद्रण में और अधिक स्वच्छता अपेक्षित थी।

o

'इंसान की लाश'[2] पुस्तक में श्री बेचनजी की चौदह छोटी-छोटी कहानियाँ संगृहीत हैं। यद्यपि, कहानियाँ कायतः कृश हैं, परन्तु अन्तर से बड़ी ही भावगर्भ। कहानियाँ सब-की-सब

---

१. लेखक—श्री श्यामलकिशोर झा, बी० ए०; प्रकाशक—भारती-प्रकाशन, भगवान् पुस्तकालय, भागलपुर-२; मूल्य—सवा रुपये मात्र।

२. लेखक—श्री विष्णुकिशोर बेचन; प्रकाशक—भारती-प्रकाशन, भगवान् पुस्तकालय, भागलपुर-२; मूल्य—सवा रुपये मात्र।

अच्छी हैं, लेकिन 'पइसवा बेरी', 'पचास वर्ष', 'सिगरेट जल रहा है' और 'भेल साओन मास' कहानियाँ कहानी-तत्त्वों की आपेक्षिकता की दृष्टि से अधिक समृद्ध हैं। प्रस्तुत कहानी-संग्रह की महार्घता इसलिए भी है कि इसमें अधुनातन साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक समस्याओं का चित्रीकरण कहानी के साँचे में हुआ है, जिसमें कहानीकार का व्यक्तित्व विरूप नहीं होने पाया है। युग-वेदना के साधारणीकरण की लक्ष्यभ्रष्टता से कहानीकार ने निरन्तर बचने का प्रशंसार्ह प्रयास किया है। कहानियों में कहानीकार के 'अहम्' के विस्फोट के बजाय उसका सहज सम्प्रसारण ही हुआ है। फलतः, कोमल अनुभूतियों की अभिव्यक्ति संकीर्ण भावावेश की पंकिल परिधि में आबद्ध होने के दोष से सर्वथा मुक्त है। इसलिए, भावों में कृत्रिमता का आभास नहीं मिलता।

प्रत्येक कहानी का अन्त मर्मिल, नाटकीय नहीं, रीति से होने के परिणामस्वरूप पाठकों के हृदय में एक उद्वेल, किन्तु स्थायी स्पर्श अंकित हो जाता है। कहानीकार ने प्रवाहपूर्ण शैली में सरल संयत भावोज्ज्वल भाषा को चलता रूप दिया है। छपाई-सफाई और आवरण के आकर्षक न रहते हुए भी यह कहानी-पुस्तक औसत पाठकों की अभिरुचि को अनुकूलित करेगी, ऐसा विश्वास है।

०

'सिन्दूर'[१] पुस्तक में श्री 'प्रेम' जी की सत्रह कहानियाँ, तीन अंशों में विभक्त होकर, संगृहीत हैं। प्रथम अंश में 'सिन्दूर', जो इस कहानी-संग्रह का अभिधान भी है, द्वितीय अंश में 'वंशीवाला' और तृतीय अंश में 'तस्वीर', ये तीन कहानियाँ भावाभिव्यञ्जन की दृष्टि से अधिक मनोरञ्जन करती हैं। क्योंकि, इनमें जीवन की एषणा के साथ ही युग की प्रेरणा प्रस्पंदित है। प्रथम अंश की कहानियाँ मुक्तक कविताओं के रूप में लिखी गई हैं। लगता है, लेखक स्वभावतः कविहृदय है, लेकिन लिखता है कहानी। फलतः, उसका कवि उसके कहानीकार के व्यक्तित्व को दुर्बल कर डालती है। 'किस्मत का सितारा' शीर्षक कहानी उदाहरण के लिए :

"उसने घूँघट की ओट से देखा।
उसका देवता!
सुन्दर! स्वस्थ!! दिलकश!!!
उसने सर उठाया।
अर्थी (!) दूर जा चुकी थी।
चूड़ियाँ फूट चुकी थीं।
और किस्मत का सितारा डूब चुका था।"

बस कहानी समाप्त! अन्य दो अंशों की अधिकांश कहानियाँ भी, जो चलचित्र-जगत् की कथा-शैली से अनुविद्ध हैं, छोटी-छोटी और नाटकीयता से पूर्ण हैं। लेखक एक साथ ही कवि, कहानीकार और नाटककार बनने की अहमहमिका में विच्छिन्नव्यक्तित्व हो

१. लेखक—श्री प्रेमचन्द 'प्रेम'; प्रकाशक—नरसिंह-प्रकाशन, त्रिवेदी-सदन, धनबाद; मूल्य—एक रुपया मात्र।

गया है। फलतः, उसकी कलात्मक दृष्टि दूरंगम होने की अपेक्षा एक सीमित परिधि में पर्यवसित हो गई है।' यह दोष लेखक के उत्कंठित मन की अनीप्सित कुण्ठा को संकेतित करता है। फिर भी, संतोष का विषय है कि लेखक का अन्तस्तल आवर्त्तन-विवर्त्तन से आलोड़ित होते हुए भी अनाविल है। उसमें मानस तत्त्वों की संवेदनशील कलात्मक अभियोजना की शक्ति है, क्योंकि उसे उत्प्रेरण और प्रोत्साहन पर आस्था है। साथ ही, उसमें लिखने की लगन भी है, जैसा उसने अपनी भूमिका में निवेदित किया है। शब्द-ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण हुई अपरिष्कृत प्रयोगबहुलता के बावजूद भाषा में अर्थ-व्यञ्जना है। प्रूफ की अशुद्धियाँ अप्रसन्न करनेवाली हैं।

## 'गुजराती कवि दयाराम की हिन्दी-कविता'–संबंधी एक पत्र

'साहित्य', वर्ष ७, अंक २, पृष्ठ ३५–४३ तक, 'कवि दयाराम की हिन्दी-कविता' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ है, जिसके प्रथम पृष्ठ पर ही मेरे 'खड़ी बोली हिंदी-साहित्य का इतिहास' का उल्लेख है। इसकी टिप्पणी में लिखा गया है कि मैंने 'कवि का जन्म-संवत् १८३३ और मृत्यु-संवत् १५०५ माना है, जो गुजराती-साहित्य के इतिहास के अनुसार ठीक नहीं है।' इसके लिए प्रमाण-रूप में लेखक ने श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी के 'माइल स्टोन्स इन गुजराती लिटरेचर' का उल्लेख किया है। यह ग्रन्थ सन् १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ था, जिसका गुजराती अनुवाद 'गुजराती साहित्य ना मार्ग-सूचक स्तंभों' मेरे पास पहले से ही है। यह अनुवाद स्वयं ग्रन्थकार के द्वारा किया हुआ है और अपने इतिहास के लिखने में यह भी मेरा आधार रहा है, पर यह ग्रंथ कुछ प्राचीन अवश्य पड़ गया है। उक्त टिप्पणी में संवत् १५०५ अशुद्ध है, संवत् १९०९ होना चाहिए। दयाराम जी के सम्बन्ध में मेरा मुख्य आधार श्री श्यामलाल भैरवलाल मेढ़, एम्० ए०, एल्० एल्० बी० का लिखा हुआ 'दयाराम की हिंदी-कविता' शीर्षक लेख रहा है, जो आठ-दस वर्ष पहले लिखा गया था। श्री मेढ़जी का बड़ौदा से बहुत संपर्क है और दयाराम जी भी वहीं के निवासी थे। ऐसी अवस्था में मेरी विशेष आस्था श्री मेढ़ जी के लेख पर ही हुई।

झवेरी जी ने जन्म का केवल ईसवी-सन् १७६७ दिया है, पर श्री मेढ़जी ने विक्रमाब्द-तिथि भाद्रपद शुक्ल ११, संवत् १८३३ (सन् १७७६ ई०) दी है। दोनों में लगभग नौ वर्ष की भिन्नता पड़ती है। झवेरी जी ने पृ० १६५ पर मृत्यु-दिन, ९ फरवरी, सन् १८५२ ई०, दिया है और श्री मेढ़ जी ने माघ कृ० ५, संवत् १९०९। इनके सन्-संवत् तो एक ही हैं और तिथियाँ भी मिलान करने पर एक ही निकलेंगी। मृत्यु के समय एक हिसाब से इनकी अवस्था पचासी वर्ष की और दूसरे से छिहत्तर वर्ष की आती है।

दयाराम जी जिस प्रकार गुजराती-साहित्य के उत्कृष्टतम तीन कवियों में परिगणित हैं, उसी प्रकार खड़ीबोली हिंदी के कवियों में भी उनका मान्य स्थान है।

—श्री व्रजरत्न दास (काशी)

# संकलन

## उर्दू-तज्किरे और हिन्दी-साहित्यिक

अरबी-फारसी और उर्दू में एक विशेष प्रकार के साहित्य का सदा से ही बड़ा चलन रहा है और वह है वार्त्ता या परिचय-साहित्य, जिसे 'तज्किरा' कहते हैं। तज्किरा बहुवचन है जिक्र का और जिक्र का अर्थ है परिचयात्मक उल्लेख; जैसा उसके बहुवचन रूप से ही स्पष्ट है। ये तज्किरे व्यक्तिगत होते हुए भी एकोद्दिष्ट नहीं होते। कोई तज्किरा तो किसी कालविशेष के, कोई किसी स्थानविशेष के, कोई किसी शासन या राज्यविशेष के और कोई किसी वर्गविशेष के लगभग सभी विशिष्ट या संस्मरणीय जनों की जीवन-सम्बन्धी घटनाओं का एक संग्रह-सा होता है। ये संस्मरणमात्र होते हैं और कभी उनमें उल्लिखित व्यक्तियों की पूरी जीवनी की जीवनी होती है। यह सभी जानते हैं कि इस प्रकार के साहित्य का हिन्दी में एक प्रकार से अभाव-सा है, किन्तु अरबी-फारसी और उर्दू का, विशेषकर फारसी का, भारतीय साहित्य-भांडार इस प्रकार के ग्रन्थों से भरा-पड़ा है। हिन्दी-संसार को शायद यह नहीं मालूम कि इन तज्किरा-संज्ञा-प्राप्त कई ग्रन्थों में बहुत से ज्ञात एवं अज्ञात हिन्दी-साहित्यिकों के भी परिचय यत्र-तत्र निहित हैं और इसलिए इन तज्किरों का हमारे लिए बड़ा महत्त्व है। हिन्दी में भक्तमाल, चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता, दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता आदि कुछ इने-गिने ग्रन्थों को छोड़कर इस प्रकार का साहित्य है ही नहीं और इसीलिए हमें अपने साहित्यिकों की स्फुट या ग्रन्थाकार कृतियाँ तो प्राप्त हो जाती हैं, किन्तु उनके जीवन के सम्बन्ध में हम उनके ग्रन्थों से ही, जिसे अन्तःसाक्ष्य कहते हैं, थोड़ा-बहुत ढूँढ़-ढाँढ़ कर निकाल लें तो निकाल लें, नहीं तो बिलकुल अंधकार में ही रह जाते हैं। किन्तु, ये तज्किरे हमारे जिन साहित्यिकों से हमें परिचित कराते हैं उनकी कृतियों के नमूने ही देकर नहीं रुक जाते, अपितु उनके जीवन पर भी काफी प्रकाश डालते हैं। इस दृष्टि से इन तज्किरों का महत्त्व हमारे लिए और भी अधिक है।

इस देश में अरबी और फारसी के एक बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं, मौलाना मीर गुलाम अली आजाद। आजाद विद्वानों और कवियों की पुरानी खानि, हमारे विख्यात कवि रसलीन की जन्म-भूमि बिलग्राम (जिला हरदोई) के एक उज्ज्वल रत्न थे। ये केवल अरबी और फारसी के ही विद्वान् नहीं थे, हिन्दी के भी पूर्ण ज्ञाता थे। इन्होंने अरबी और फारसी में अन्य ग्रन्थों के अतिरिक्त कई तज्किरे लिखे हैं। आजाद के इन तज्किरों में जो सबसे अधिक विख्यात है, वह है उनका 'सर्वे आजाद'।

'सर्वे आजाद' प्रकाशित हो चुका है। इसकी रचना आजाद ने सन् ११६६ हिजरी में, जो विक्रमाब्द १८०९-१८१० पड़ता है, की थी। पूरा ग्रन्थ दो भागों में है और दूसरा भाग भी दो खंडों में विभक्त है। दूसरे भाग के प्रथम खंड में १४३ फारसी-कवियों के और द्वितीय में बिलग्राम के ही ८ हिन्दी-कवियों के संस्मरण दिये गये हैं और साथ ही उन

सब की कविताओं के नमूने भी अंकित हैं। इन हिन्दी-कवियों में से बहुत से फारसी के भी कवि हो चुके हैं। इसलिए, उनका कुछ परिचय प्रथम खंड में भी दिया हुआ है। जिन ८ हिन्दी-कवियों का इस ग्रन्थ में वर्णन है, वे ये हैं —

१. शेख शाह मोहम्मद और उनकी स्त्री चम्पा, २. सैयद निजामुद्दीन उपनाम मधनायक, ३. दीवान सैयद रहम तुल्ला, ४. मीर अब्दुल जलील, ५. सैयद गुलाम नबी रसलीन, ६. सैयद बरकतुल्ला प्रेमी, ७. मीर अब्दुल वाहिद जौकी और ८. मोहम्मद आरिफ।

हिन्दी-संसार ने अभी तक इनमें से मीर अब्दुल जलील, सैयद गुलाम नबी रसलीन और सैयद बरकतुल्ला प्रेमी को छोड़कर औरों के नाम तक नहीं सुने हैं। केवल मिश्रबन्धु-विनोद के संक्षिप्त इतिहास-प्रकरण के अन्तर्गत प्रौढ़ माध्यमिक-कालीन कवियों के वर्णन में शेख शाह मोहम्मद और चम्पा के विषय में इतना भर लिखा है कि बिलग्राम के शाह मोहम्मद और उनकी स्त्री चम्पा ने भी इसी समय में कविता की। चम्पा का उल्लेख 'गार्सां द तासी' ने भी किया है, पर केवल उर्दू-कवयित्री के रूप में और उसे शेख शाह मोहम्मद की नहीं, बल्कि नवाब हिसामुद्दौला की पत्नी बतलाया है। या तो वह चम्पा दूसरी चम्पा है या यह परिचय ही गलत है।

आजाद का ही एक दूसरा तज्किरा है 'यद बैजा'। इसमें दो ऐसे हिन्दी-कवियों का उल्लेख है जिनके अभी तक किसी ने नाम ही नहीं सुने हैं। इनमें से एक है ईरान-निवासी 'जमीर' और दूसरा है 'दाना'। ये दोनों आलमगीर औरंगजेब के शासन-काल में यहां थे और 'जमीर' तो मनसबदारों में भी था। जमीर के विषय में कहा गया है कि वह यद्यपि भाषा और संस्कृत के शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर सकता था, तथापि हिन्दी में निहायत बर्जस्ता अशआर कहता था। उसका उपनाम था पथी या पन्थी। लिखा है कि उसने हिन्दी से फारसी में यार-जातक का अनुवाद भी किया था। यह पता नहीं कि यार-जातक कौन-सा ग्रन्थ था और उसमें क्या लिखा था। दाना के विषय में भी लिखा है कि 'नज्म हिन्दी बिसियार खूब गुफ्ता' अर्थात् हिन्दी में प्रचुर मात्रा में और सुन्दर कविता कह गया है। आजाद का ही लिखा एक और तज्किरा है 'सोहबतुल मरजान'। यह फारसी में नहीं, अरबी भाषा में है। इसमें एक और हिन्दी-कवि का उल्लेख है, जिनका नाम 'शेख गुलाम मुस्तफा' और उपनाम 'इनसान' था। 'सोहबतुल मरजान' में आजाद ने इनके कई हिन्दी-छंदों का फारसी अनुवाद दिया है। फारसी में एक और सुविख्यात तज्किरा है, 'तज्किरे शोअरा'। इसके रचयिता मीर हसन नामक एक विद्वान् थे। उन्होंने अपने 'तज्किरे शोअरा' में सम्राट् जहाँगीर के शासन-काल के एक कवि का उल्लेख किया है, जिसका नाम था 'गवासी'। लिखा है कि 'गवासी' ने 'तूतीनामा' नामक एक ग्रन्थ लिखा था जिसकी एक पंक्ति फारसी में थी और दूसरी हिन्दी में।

फारसी में एक और बहुत बड़ा तज्किरा है, जिसका नाम है 'तब्सीर तुन्नाजिरीन'। इसके रचयिता थे हिन्दी के सिद्धहस्त कवि मीर अब्दुल जलील बिलग्रामी के पुत्र सैयद

मोहम्मद और इसका रचना-काल है सन् ११८२ हिज़री या संवत् १८२५। इस ग्रन्थ की केवल एक ही हस्तलिखित प्रति प्राप्त है और वह है पटना के प्राच्य-लोक-पुस्तकालय या खुदाबख्श-लाइब्रेरी में। यह ग्रंथ तीन भागों में विभक्त है। पहले में, जिसका नाम 'मुकद्दमा' है, बिलग्राम के विशिष्ट सैयदों की, जिनमें बहुत से हिन्दी-कवि भी आ गये हैं, जीवनियाँ हैं। दूसरे में, जिसका नाम 'मकाला' है, बिलग्राम के सुविख्यात निवासियों के ऐतिहासिक संस्मरण हैं और तीसरे में, जिसका नाम 'खातिमा' है, सूर्यग्रहणों आदि के अभिलेख हैं।

उर्दू-तज्किरों में मुझे इस समय केवल दो के ही नाम याद आ रहे हैं, वैसे हैं तो बहुत। एक है, मुंशी अमीर अहमद मीनाई का 'यादगार इन्तिखाब' और दूसरा है, सैयद वसीउल हसन बिलग्रामी का 'नस्ब व हालत सैयादात जैदी अलवास्ती बिलग्राम'। पहले में, रियासत रामपुर के हिन्दू और मुसलमान विशिष्ट जनों के तज्किरे हैं और दूसरे में बिलग्राम के ख्यातनामा सैयदों के। अमीर मीनाई के 'यादगार इन्तिखाब' में निम्नलिखित हिन्दी-कवियों के सोदाहरण परिचय दिये गये हैं—

१. पंडित बिदीचन्द, २. बलदेवदास तेवारी उपनाम बलदेव चौबे, ३. मौलवी हफीजुल्ला उपनाम बन्दा; ४. प्राणसुख उपनाम प्राण, ५. साहेबजादा इमदादुल्ला खाँ उपनाम ताब, ६. सैयद हुसेन शाह हुसेन, ७. पं० दत्ताराम उपनाम दत्त, ८. पं० धनसिंह तेवारी, ९. रघुनाथ प्रसाद तेवारी उपनाम रघुनाथ चौबे, १०. पं० सत्यनारायण, ११. पं० धनसिंह तेवारी पिता चौबे किशोरदास तेवारी उपनाम किशोर, और १२. प्रसिद्ध कवि ग्वालराय कवीश्वर उपनाम ग्वाल।

ग्वाल के जीवन-चरित्र के विषय में यदि कहीं कुछ मिलता है, तो इसी ग्रन्थ में। इस ग्रन्थ को एक विशेषता और है कि इसमें उदाहरणस्वरुप जितने छन्द दिये गये हैं, उनके साथ ही उर्दू में उनकी व्याख्या भी दे दी गयी है।

उपर्युक्त दूसरे तज्किरे, अर्थात् 'नस्ब व हालत सैयादात जैदी अलवास्ती बिलग्राम' में हमें हिन्दी के निम्नलिखित कवियों के उल्लेख मिलते हैं—

१. हिन्दी में पूर्ण रस के रचयिता सैयद रहमतुल्ला, २. सैयद गजनफर हुसेन, ३. सैयद अब्दुल जलील, ४. सैयद निजामुद्दीन मधनायक, सैयद बरकतुल्ला प्रेमी और ६. सैयद गुलाम हुसेन उपनाम कदर बिलग्रामी।

इनमें से सैयद रहमतुल्ला, मीर अब्दुल जलील, सैयद निजामुद्दीन मधनायक और सैयद बरकतुल्ला प्रेमी के इससे अधिक विस्तृत उल्लेख 'सर्वे आजाद' में विद्यमान हैं। किन्तु, सैयद गजनफर हुसेन और सैयद गुलाम हुसेन कदर के नाम उसमें नये मिलते हैं।

—श्री गोपालचन्द्र सिंह

[ 'हिन्दी-अनुशीलन' ( प्रयाग ); वर्ष ८ : अंक ३ ]

०

## तेलुगु-कवि श्री श्री

तीन करोड़ की आबादी में से विरला ही कोई ऐसा तेलुगु-भाषी होगा, जो श्रीरंगम् श्रीनिवासराव (श्री श्री) के नाम से परिचित न हो। सन् १९१० ई० की जनवरी में इनका जन्म विशाखापट्टणम् जिले में हुआ। यह वर्ष हमारे आन्ध्र देश के इतिहास में युग-प्रवर्त्तक है। उसी साल कवि ब्रह्म श्रद्धेय गुरजाड़ा अप्पाराव ने कृत्रिम ग्रान्थिक पण्डिताई की बू से सराबोर भाषा के खिलाफ अपनी आवाज बुलन्द की थी और पुराने पाषाण-छन्दों को तिलांजलि देकर जनता की समझ में आनेवाले नये छन्द 'मुत्यालसरम्' की सृष्टि की थी, और चलती भाषा की बुनियाद डाली थी। उसी वर्ष आन्ध्र देश की नवचेतना के मूलपुरुष प्रातःस्मरणीय वीरेशलिंगम् पन्तुलु की देखादेखी बरहमपुर नगर में जात-पाँत पर लात मारकर सह-पंक्ति-भोज आयोजित किया गया, जिसमें सारे मजहब के अनुयायी और अखिल वर्ण और वर्ग के लोग पहली बार शामिल हुए थे। उसी समय विनायक दामोदर सावरकर ने लन्दन के इण्डिया-हाउस में एक विप्लव-संस्था की स्थापना की थी, जिसके सदस्यों में से कई आन्ध्र भी थे। उसी साल, यूरोप के सारे राष्ट्र विश्व की पहली लड़ाई के लिए सामग्री जुटाने में संलग्न थे। ऐसे संघर्षमय और सामाजिक सुधार होनेवाले शुभ समय में इन्होंने जन्म लिया। अब इसमें ताज्जुब करने की बात ही क्या रह गई है, कि ये आगे चलकर एक इन्कलाबी शायर निकले और अपनी पीढ़ी के युवक कवियों के लिए काव्य-क्षेत्र में एक नया रास्ता बनाया और उनके पथ-प्रदर्शक बन गये।

आधुनिक तेलुगु-कविता में दिलचस्पी रखनेवाले सब लोग आपके नाम से भली-भाँति परिचित हैं। खासकर, नवयुवक-मण्डली में आपको विशेष सम्मानित और सर्वप्रथम स्थान प्राप्त तो हुआ है ही। आपकी अनेक कविताएँ लाखों आन्ध्रों को कण्ठस्थ हैं। आधुनिक कविता की समीक्षा करते हुए जितने भी मजमून प्रकाशित हुए हैं, उन सबमें श्री श्री का, खण्डन या मण्डन के तौर पर, जिक्र अवश्य पाया जाता है।

इनके पिताजी का नाम है वेंकटरमणप्पा जी। ये विशाखापट्टणम् के विद्यालय में गणितशास्त्र के अध्यापक थे। जब श्री श्री डेढ़ साल के ही थे, उनकी माता का देहान्त हो गया। बचपन में ही मातृ-स्नेह से वंचित हो गये। पिता ने दूसरी शादी की, लेकिन इनकी सौतेली माँ सुभद्रम्मा जी ने इनका लालन-पालन किया बड़े लाड़-प्यार से। वह भी बाद में चल बसीं। अपना पहला कविता-संग्रह 'प्रभवा' इन्हीं सौतेली माँ के पाद-पद्मों में समर्पित कर श्री श्री ने इनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि प्रकट की। जैसा रिवाज है, श्री श्री का अक्षरा-भ्यास पाँच साल की उम्र में किया गया। जब श्री श्री की आयु सात बरस की थी, उन्होंने अपनी पहली कविता बनाई, 'कन्द' नामक छन्द में। कविता की ओर अपने पुत्र का झुकाव देखकर पिता ने 'सुलक्षणसारम्' तथा 'अप्पकवीयम्', जो छन्दों और अलंकारों की पुस्तकें हैं, श्री श्री के हाथों में सौंप दीं। उनके अध्ययन के बाद ये तेलुगु के प्रसिद्ध प्रबन्ध-काव्य 'मनुचरित्र' एवं श्रीनाथ और रामकृष्ण कवि के पढ़ने में दत्तचित हुए।

सन् १९१९ ई० में जगन्मित्र-समाज नाटक-मण्डली में, जिसमें सारी भूमिकाएँ

धारण करनेवाले बालक ही होते थे, श्री श्री ने कई पात्रों के रूप में काम किया। वे दिन गाँधी-युग के थे। उन दिनों हर-एक आन्ध्र-निवासी देश-भक्ति से परिपूर्ण होकर अपने को एक राजपूत वीर समझ रहा था। उसी साल वीर-भावना से अनुप्रेरित होकर श्री श्री ने एक उपन्यास लिख डाला। उसका नाम है 'वीरसिंहविजयं'। सन् १९२० ई० से हमारे आन्ध्र-देश के साहित्य-क्षेत्र में एक रोमांटिक युग का श्रीगणेश होता है। साहिती-समिति के नाम से एक संस्था की स्थापना भी हुई है। साहिती-समिति के कवियों की कविताएँ भाव-कविता के नाम से हमारे देश में प्रसिद्ध हैं। प्रेम, संयोग, वियोग, बहार, कोयल, बुलबुल, प्रकृति-प्रेम आदि उन दिनों की कविता की वस्तुएँ बन गईं। इस संस्था के कई लब्धप्रतिष्ठ कवि श्री श्री के आराध्यदेव बन गये।

सन् १९२५ ई० में उनका विवाह हुआ। उसी साल 'परिणय-रहस्य' उपन्यास प्रकाशित हुआ। यह एक जासूसी उपन्यास है। तत्काल के लिए उनकी गद्य-रचना बन्द हो गई और वह जी-जान से कविता की ओर झुके। साहिती-समिति से प्रेरणा पाकर अपनी बस्ती विशाखापट्टणम् में उन्होंने कई और कवि-मित्रों के साथ, सन् १९२६ ई० में, कविता-समिति की स्थापना की।

यह दशाब्द श्री श्री के विकास का प्रथम चरण है। अब तक संस्कृत, आन्ध्र और अँगरेजी-साहित्य का उन्होंने गम्भीर अध्ययन कर लिया था। साहिती-समिति की भाव-कविता से भी काफी प्रभावित हो चुके थे। यह विकास सन् १९३० ई० तक परिमित था। इस चरण में उनकी कई स्फुट कविताएँ निकलीं और ये प्रसिद्ध 'भारती' मासिक में प्रकाशित हुईं। 'प्रलयनर्त्तन', 'अहमुर्वम्', 'अन्धकार', 'निशीथ-सान्त्वना', 'सुमार्चना', 'खण्डशशि' आदि इनकी कविताएँ प्रसिद्ध हैं। पुरातन-पन्थियों के बताये हुए छन्दों का ही वह प्रयोग करते रहे और शैली भी वही जो मुद्दत से आ रही थी।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि तेलुगु-साहित्य में मुक्त छन्द, गद्यात्मक पद्य, भिन्नतुकान्त या स्वच्छन्द छन्द के जन्मदाता यही माने जाते हैं। आजकल के दैनिक साप्ताहिक, पाक्षिक या मासिक तेलुगु-अखबार का कोई भी अंक ऐसा नहीं निकलता, जिसमें एक या दो मुक्त छन्द की रचनाएँ पढ़ने को न मिलें। इसका पूरा श्रेय अकेले श्री श्री को ही देना चाहिए। गत दो दशकों में सैकड़ों की संख्या में तेलुगु के नये कवि निकल पड़े और हर-एक पर श्री श्री का असर स्पष्ट रूप से नजर आता है। इसीलिए, हैदराबाद के प्रसिद्ध आलोचक आचार्य कुरुमंडि सीतारामय्या जी जब श्री श्री को भावी नव्य-आन्ध्र-साहित्य के मार्गदर्शी की उपाधि प्रदान करते हैं, तब हमें उनसे सहमत होना पड़ता है।

—श्री वेङ्कटाचार्युलु

[ 'आजकल' (दिल्ली); अगस्त १९५६ ई० ]

०

## पत्थरों का सौदागर !

आप कहानी या कविता को इसलिए पसन्द करते हैं कि उसके पढ़ने से आपके ज्ञान में कुछ वृद्धि हो गयी। स्वास्थ्य की रक्षा के नियम, विवाहित जीवन, दार्शनिक सिद्धान्त, राजनीतिक परिस्थितियाँ, ऐतिहासिक घटनाएँ, सामाजिक प्रथा, विज्ञान के चमत्कार या इसी प्रकार की कुछ बातें आपको मालूम हो गयीं। अगर आपकी पसन्द की कसौटी ज्ञान प्राप्त करना या शिक्षा पाना है, तो कहानी या कविता पढ़ने की अपेक्षा 'इनसाइक्लोपीडिया' या जनरल नालेज की पुस्तकें पढ़ी जायँ। कहानी या कविता पढ़ने से अधिक स्पष्ट प्रत्यक्ष सही सीधे ढंग से आप सब बातें मालूम कर सकते हैं। क्योंकि, खतरा यह है कि कहानी या कविता में आप कोलम्बस की तरह भारत ढूँढ़ने निकलें और अमरीका पहुँच जायँ। आजकल अनगिनत ऐसी लाभदायक वस्तुएँ और पुस्तकें मिलती हैं, जिनसे आप ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। इसलिए जब यह कहा जाता है कि साहित्य रोटी के आन्दोलन या बेहतर जिन्दगी के लिए प्रेरित करता है तो 'सफल जीवन' जैसी पुस्तकें पढ़नी चाहिए। इस सम्बन्ध में डेल कारनेगी की पुस्तकें, बुक आफ नालेज, ज्ञान-भांडार, मनुष्य की कहानी, दुनिया के अजूबे इत्यादि कई पुस्तकें मौजूद हैं। स्पष्ट है कि ज्ञान प्राप्त करने के लिए आप कहानी या कविता नहीं पढ़ेंगे। इसलिए, आपकी पसन्द की कसौटी ज्ञान प्राप्त करना या शिक्षा पाना नहीं हो सकता।

यह ठीक है कि कुछ लोग शिक्षात्मक बातें कहने-सुनने में विश्वास रखते हैं और कहानी और कविता इसलिए पढ़ते हैं कि इससे उन्हें बुराई या हानि के परिणाम का पता चलता है, या उन्हें मालूम होता है कि साँच को आँच नहीं; जाको राखे साइयाँ, मार सके ना कोय; झूठ के पाँव नहीं; परमात्मा के घर में देर नहीं; सामान सौ बरस का है, पल की खबर नहीं—इत्यादि, कहानी या कविता को पसन्द करने की इस कसौटी पर मुझे कोई आपत्ति नहीं। ऐसे ही, जब लोग जासूसी उपन्यास और शर्मनाक कहानियाँ पढ़ते हैं, जहाँ तक उनके साहित्य होने का सम्बन्ध है, हम उन्हें किसी दूसरे वर्ग में शामिल कर देते हैं। बात यह है कि ये मनुष्य के बचपन की वस्तुएँ हैं और हम आपसे वयस्क के नाते बातचीत कर रहे हैं।

बात वास्तव में यह है कि जब मनुष्य पैदा होता है तो उसके पैदा होने में एक बात है। कोई रहस्य की बात नहीं। यदि कोई रहस्य है तो यह खुला रहस्य है कि वह पैदा ही इसीलिए हुआ कि वह जीवित रहे। लेकिन, जीवित तो मनुष्य के अतिरिक्त दूसरे प्राणी भी रहते हैं। इसलिए, उसका स्तर दूसरे प्राणियों के स्तर से भिन्न होगा। वर्ना, मनुष्य और पशु में कोई अन्तर नहीं रह जाता। यह स्तर है मानव का बौद्धिक जीवन। उसके बौद्धिक जीवन में विज्ञान, दर्शन, धर्म, नैतिक शास्त्र, साहित्य और कला शामिल हैं। बात, क्योंकि, साहित्य की हो रही है, इसलिए प्रश्न यह पैदा होता है कि साहित्य मनुष्य के बौद्धिक जीवन में क्या पार्ट अदा करता है या उसके बौद्धिक जीवन को किस तरह प्रभावित करता है? साहित्य विज्ञान की तरह ज्ञान देकर या धर्म की तरह दान-पुण्य की दुहाई देकर नहीं, बल्कि

सौन्दर्य-सर्जन करके पढ़नेवाले में सौन्दर्य-अनुभूति पैदा करता है। आप पूछ सकते हैं कि यह काम तो प्रकृति से भी लिया जा सकता है। बेचारे साहित्यकार को क्यों परेशान किया जाय। उदाहरणतः, कली के चटकने, फूल के खिलने, उसके स्पर्श, सुगन्ध से भी हम सौन्दर्य की अनुभूति कर सकते हैं। आपकी बात ठीक है। लेकिन, इस फूल को सब वैसा ही देखेंगे जैसा कि प्रकृति ने पेश किया है, एक निपुण माली उसके सौन्दर्य को अधिक सुन्दर ढंग से भी पेश कर सकता है। लेकिन, फिर भी उसे आपके मानसिक स्तर तक नहीं ला सकता। यह काम तो केवल कलाकार ही कर सकता है। फूल के सौन्दर्य को अपनी अनुभूति में समोकर वह एक ऐसे सौन्दर्य का सर्जन करता है कि फूल पहले से अधिक सुन्दर नजर आने लगता है। न केवल अधिक सुन्दर ही नज़र आता है, बल्कि उसमें मनुष्य के हृदय की धड़कनों की आवाज भी सुनाई देती है और आपको एक ऐसा आनन्द मिलता है जो विज्ञान के ज्ञान, धर्म के सिद्धान्त, दर्शन के तर्क, नैतिकता के नियमों, और रोटी खाकर पेट पर हाथ फेरने से भिन्न, उच्चतर, गहरा, विशाल, मानवीय, विश्वजनीन और मनोहर होता है। सम्भव है कि उसके साथ-साथ आपको बहुत-सी ऐसी बातें मालूम हो जायँ, जिनका ज्ञान आपको पहले नहीं था। इस सम्बन्ध में साहित्यकार की नहीं, बल्कि आपकी बुद्धि की प्रशंसा करनी चाहिए।

आप इस बातचीत से यह तो समझ गये होंगे कि वह आनन्द दूसरी सब खुशियों से भिन्न है। लेकिन आप यह प्रश्न कर सकते हैं कि इस सब बातचीत का अर्थ यह हुआ कि कहानी या कविता पढ़ने का उद्देश्य आनन्द प्राप्त करना है। आपने ठीक समझा है। बशर्ते कि आप यह न भूल गये हों कि वह आनन्द शून्य से प्राप्त नहीं होता, बल्कि वह उस सौंदर्य की उत्पत्ति है जिसका सर्जन कहानीकार या कवि ने किया है। और, यही कारण है कि वह दूसरी सब खुशियों से भिन्न है। मेरे विचार में आपने कहानी या कविता इसीलिए पसन्द की है कि इसमें आपको जो विशेष सन्तुष्टि मिली है, वह दूसरी सब वस्तुओं से भिन्न है और उसका कोई बदल नहीं। लेकिन, जब हम इस स्थान पर पहुँचते हैं तो कहानी या कविता की परख करनेवाले यह कह देते हैं कि हम तो 'साहित्य-सौन्दर्य के लिए' का नारा लगा रहे हैं, हालाँकि हमारी जिद है कि हम तो जीवन की बात कर रहे हैं। न केवल इसको कायम रखने के लिए, बल्कि उसमें सौन्दर्य को सम्मिलित करने के लिए, उच्चतर, गहरा, विशाल और विश्वजनीन बनाने के लिए, आनन्द के स्रोत तक ले जाने के लिए। बात वास्तव में यह है कि साहित्य की परख इस तरह करनेवाले पूर्वोक्त फूल-वाली बात को भूल जाते हैं, जो यथार्थ है, जीवित यथार्थ। और, हम यह भी जानते हैं कि जीवन में केवल फूल ही नहीं, शूल भी हैं और फूल मसलनेवाले भी। और, अगर कोई फूल मसलनेवाला फूल तोड़कर अपने निर्दयी पाँव के नीचे मसलने की कोशिश करता है तो हमारी सौन्दर्य-अनुभूति को चोट लगती है। साहित्यकार इसी दुःख या ट्रेजेडी को अपने दिल में महसूस करता है और आपको महसूस कराता है। स्पष्ट है कि वह इस दुःख की अनुभूति आपको उस समय तक प्रभावशाली ढंग से नहीं करा सकता, जब तक कि वह इस फूल के लिए

आपके अन्दर सौन्दर्य-अनुभूति न पैदा कर चुका हो, जिससे आपका आनन्द सम्बद्ध है। बात छोटी-सी है कि सौन्दर्य से आनन्द सम्बद्ध है। सौन्दर्य-स्रष्टा और आपके बीच कहानी या कविता ही सम्बन्ध स्थापित कराती है। इसके बावजूद, अगर आपमें कोई अनुभूति पैदा नहीं होती और आप कहानी या कविता को नापसन्द कर देते हैं तो आपको मानसिक प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में परख करनेवाले से भी मशवरा कर लेना चाहिए, बशर्ते कि वह स्वयं सर्जन की क्रिया से परिचित हो और बुद्धिमान् पढ़नेवाला हो। अन्यथा, वह केवल पत्थरों का सौदागर है, उससे बेहतर हम और आप स्वयं ही कहानी या कविता की ठीक परख कर सकते हैं।

—श्री देवेन्द्र इस्सर

[ 'कल्पना' (हैदराबाद); जुलाई-अगस्त, १९५६ ई० ]

०

## चिरदासता और भारत की सांस्कृतिक चेतना

चिरदासता के कारण भारत की सांस्कृतिक चेतना घोर रूप से ध्वस्त हो चुकी है एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि कुण्ठित, विच्छिन्न, प्रच्छन्न-सी है। साहित्य जहाँ देश के बौद्धिक संस्कारों को जागरित और समुन्नत कर सकता है, वहाँ देश के उद्योगीकरण और कृषि को विज्ञान-सम्मत बनाने में उसे बहुत बड़ा भाग लेना है और संभवतः हमारा साहित्य ही देश के पुनर्निर्माण-आन्दोलन का सबसे सहज, सबसे सशक्त और सबसे ठोस माध्यम हो सकता है। तर्क ठीक है कि साहित्य का आधार पूर्वनिश्चित—लिखित संयोजनाएँ नहीं रही हैं, न रहेंगी और रहना भी संगतियुक्त नहीं कहा जा सकता। साहित्य की समुन्नति का आधार तो संस्कारजन्य है; स्वतःसर्जन पर अवलम्बित है और उसका श्रेयस् भी उतना लोकपरक (अथवा भौतिकवादी) नहीं होता, जितना संस्कृतिपरक (या बुद्धिपरक)। भारत की मनोभावनाएँ आधारभूत रूप में संस्कृतिपरक हैं; भौतिकवादी नहीं और हमारे साहित्य पर जो घोर असंस्कार-सा, अभिशाप-सा व्यापक रूप में परिलक्षित होता है उसके निराकरण के लिए साहित्यिक क्षेत्र को, साहित्य-कार्य को बाध्यतः योजनाबद्ध, संकल्पबद्ध होकर चलना ही चाहिए। दुरवस्था का निराकरण, संभवतः, सबसे आवश्यक, सबसे अपरिहार्य है। साहित्य-सम्बन्धी सभी गति-विधियों, सभी क्षेत्रों को योजना-आयोग, केन्द्रीय और राज्यीय प्रशासन-पंचवर्षीय योजनाओं के अन्य अंगों की भाँति एक अंग के रूप में स्वीकार करें और साहित्य की समुन्नति के लिए कृतसंकल्प हों। चिरदासता के अनन्तर राष्ट्र के पुनर्निर्माण की इस सद्यः वेला में साहित्य और संस्कृति का अन्ततः महत्त्वपूर्ण और विशिष्ट योग हो सकता है।

—सम्पादकीय

[ 'अजन्ता' (हैदराबाद); जुलाई, १९५६ ई० ]

## सम्मेलन का इतिहास

ले०—स्व० श्री रामधारी प्रसाद जी

इस पुस्तक में बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का इतिहास लिखा गया है। इसके लेखक साहित्य-सम्मेलन के अन्यतम संस्थापक भी थे। उन्होंने सम्मेलन के जन्म-काल से लेकर अपने जीवन के अन्त काल तक का सम्मेलन का इतिहास प्रामाणिक ढंग से लिख दिया है। उसके बाद से रजत-जयन्ती-महाधिवेशन तक का इतिहास प्राप्त और प्रकाशित विवरणों के के आधार पर लिख दिया गया है। इसके अतिरिक्त मूल लेखक ने बिहार की उस साहित्यिक परिस्थिति और प्रगति का भी विश्वसनीय विवरण दे दिया है जो सम्मेलन के जन्म से पहले बिहार की थी। इस प्रकार, इस पुस्तक से बीसवीं सदी के गत पचास वर्षों के बिहार की साहित्यिक गतिविधि का दिग्दर्शन सुलभ हो जाता है। इसके आवरण-पृष्ठ पर सम्मेलन-भवन का भव्य चित्र मुद्रित है। पृष्ठ-सं० चौंसठ। मूल्य एक रुपया। वी० पी० भेजने का नियम नहीं है। कृपया रजिस्ट्री डाकखर्च-सहित एक रुपया बारह आना भेजकर शीघ्र मँगा लीजिए; क्योंकि, गत महोत्सव के समय वितरित होने के कारण बहुत थोड़ी प्रतियाँ बच गई हैं।

प्राप्तिस्थान—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३

---

## बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के आगामी प्रकाशन

१. मध्य एशिया का इतिहास—प्रथम और द्वितीय खण्ड ( सचित्र )—श्री राहुल जी
२. दोहा-कोश (बौद्ध-सिद्ध-सरहपा) सं०—श्री राहुलजी
३. भोजपुरी के कवि और काव्य—श्री दुर्गाशंकरप्रसाद सिंह
४. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (पिशल-कृत, मूल जर्मन से अनूदित) डा० हेमचन्द्र जोशी
५. शिवपूजन-रचनावली—द्वितीय और तृतीय खण्ड—श्री शिवपूजन सहाय
६. हिन्दी को मराठी सन्तों की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा (नागपुर-वि० वि०)

---

## 'बिहार का हिन्दी-साहित्य का इतिहास'

'बिहार का हिन्दी-साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के लिए सामग्री-संग्रह का कार्य अभी तक पूर्ववत् हो रहा है। अब तक जितनी सामग्री संगृहीत हो चुकी है, उसका संपादन-कार्य अब शीघ्र ही आरम्भ किया जानेवाला है। अतः, जिन साहित्यसेवी सज्जनों ने अब तक अपना जीवन-परिचय और चित्र न भेजा हो, वे अविलम्ब भेज देने की कृपा करें। साथ ही, अपने आसपास के परिचित साहित्यकारों से जीवन-परिचय लिखवा कर और विस्मृत तथा स्वर्गीय साहित्यकारों के विषय में, स्वयं जो कुछ जानते हों, उसे स्पष्ट लिखकर भेजने का कष्ट करें।

संचालक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना-३

# बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् (पटना) के चौबीस अनमोल ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी। अजिल्द २॥)
२. यूरोपीय दर्शन—स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा। सजिल्द, सवा तीन रुपये।
३. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन-डा० वासुदेवशरण अग्रवाल। मूल्य ६।)
४. विश्वधर्म-दर्शन—श्रीसाँवलियाबिहारीलाल वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
५. सार्थवाह—डा० मोतीचन्द्र। मूल्य ग्यारह रुपये। सौ चित्र, दो दुरंगे मा[illegible] चित्र।
६. वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा-डा० सत्यप्रकाश। मूल्य साढ़े [illegible]ठ रुपये।
७. सन्त कवि दरिया : एक अनुशीलन—डा० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री। मूल्य ९)
८. काव्यमीमांसा (राजशेखर-कृत) अनुवादक, पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत। मू० ६॥)
९. श्री रामावतार शर्मा-निबन्धावली—स्व० म० म० रामावतार शर्मा। मूल्य ८॥)
१०. प्राङ्मौर्य बिहार—डा० देवसहाय त्रिवेद। मूल्य सवा सात रुपये।
११. गुप्तकालीन मुद्राएँ—डा० अनन्त सदाशिव अल्तेकर। मूल्य साढ़े नौ रुपये।
१२. भोजपुरी भाषा और साहित्य—डा० उदयनारायण तिवारी। मूल्य १३॥)
१३. राजकीय व्यय-प्रबन्ध के सिद्धान्त—श्री गोरखनाथ सिंह। मूल्य डेढ़ रुपया।
१४. रबर—श्री फूलदेव सहाय वर्मा। मूल्य साढ़े सात रुपये।
१५. ग्रह-नक्षत्र—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, आइ० सी० एस्०। मूल्य सवा चार रुपये।
१६. नीहारिकाएँ—डा० गोरख प्रसाद। चित्र २१। मूल्य सवा चार रुपये।
१७. हिन्दू धार्मिक कथाओं के भौतिक अर्थ—श्री त्रिवेणीप्रसाद सिंह, मूल्य तीन रुपये।
१८. ईख और चीनी—प्रो० फूलदेव सहाय वर्मा। मूल्य साढ़े तेरह रुपये।
१९. शैवमत—अनुवादक, डा० यदुवंशी। मूल्य आठ रुपये।
२०. मध्यप्रदेश : ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सिंहावलोकन-डा० धीरेन्द्र वर्मा, मू० ७)
२१. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण (खण्ड २) डा० धर्मेन्द्र शास्त्री; मू० २॥)
२२. शिवपूजन-रचनावली—(भाग १) श्री शिवपूजनसहाय, मूल्य पौने नौ रुपये।
२३. राजनीति और दर्शन—डाक्टर विश्वनाथप्रसाद वर्मा। मूल्य चौदह रुपये।
२४. बौद्धधर्म-दर्शन—स्व० आचार्य नरेन्द्र देव। मूल्य सत्रह रुपये।

सभी पुस्तकों की मजबूत जिल्द पर कलापूर्ण रंगीन सचित्र आवरण है। हिन्दी-संसार के प्रमुख विद्वानों और पत्र-पत्रिकाओं ने उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

प्रकाशक—बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, पटना-३ : मुद्रक—योगी प्रेस, पटना-१